भारतीय न्यायशास्त्र

डा. चक्रधर बिजल्वान

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग ग्रन्थांक—258

भारतीय न्यायशास्त्र

लेखक
डॉ० चक्रधर बिजल्वान



उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
(हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन
६, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ—226001

प्रकाशक
दिनकर दुबे
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
लखनऊ

मानव संसाधन विकास मंत्रालय भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग, उ० प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : १९८३
द्वितीय संस्करण : १९९८
(संशोधित एवं परिवर्द्धित)

प्रतियाँ : ११००

मूल्य : १३१.०० रुपये

मुद्रक :
पनार मुद्रक
११७, नजीराबाद, लखनऊ

दो शब्द

जीवन और जगत के आंतरिक अवेक्षण की प्रवृत्ति भारतीय ऋषियों में आरम्भ से ही उद्भूत हो गयी थी अत: तत्त्व चिन्तन से सम्बन्धित अनेक शास्त्रों का प्रणयन इस देश में हुआ। भारतीय षड्दर्शन अपनी इन्हीं आन्तरिक उपलब्धियों के कारण प्राचीन काल से ही विश्व भर में प्रसिद्ध रहे हैं।

भारतीय दर्शनशास्त्रों में जहाँ तत्त्व-मीमांसा का प्राधान्य है वहीं तत्त्व के अवगम की प्रक्रियाओं का सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक निर्धारण भी उनकी अपनी देन है। 'न्यायशास्त्र' अथवा न्याय-विद्या का विकास इसी संदर्भ में हुआ और उसने अपनी एक विशद चिन्तन युक्त परिपाटी स्थापित की। कहना न होगा कि न्याय की यह तर्क पद्धत्ति जहाँ न्यायशास्त्र की उपलब्धियों का आधार है, वहीं यह अन्य शास्त्रों को भी आन्तरिक आधार प्रदान करती है। चिन्तन की प्रक्रिया को सुस्पष्ट करना इस न्याय विद्या का सर्वोपरि कार्य है, इसीलिए इसकी व्यापकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। पश्चिम के तर्कशास्त्र और भारतीय न्यायशास्त्र में अपना एक तारतम्य तो है ही, यद्यपि दोनों की प्रणाली में भिन्नता भी है।

भारतीय न्यायशास्त्र का महत्त्व इससे भी आँका जा सकता है कि इसका उपयोग किसी एक सम्प्रदाय तक सीमित नहीं रहा। बौद्ध और जैन दर्शनों में भी इसकी पद्धत्तियाँ विकसित हुईं। वैदिक परम्परा की प्राचीन न्याय पद्धति के साथ ही नव्य-न्याय के रूप में इसका विशेष रूप से भी विकास हुआ।

न्यायशास्त्र जहाँ उद्देश, लक्षण और परीक्षा की खोज करता है, वहीं विचारणीय विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन और विषय के अधिकारी की पात्रता का भी निर्धारण करता है। प्रमा, प्रमाण और प्रमेय-देखने में तो ये तीनों शब्द बहुत लघु आयाम वाले प्रतीत होते हैं परन्तु इनके चिन्तन का विस्तार और

उनकी भेदक मीमांसाएँ कितनी गहन हैं, इसका अनुभव न्यायशास्त्र के गंभीर अध्ययन के बिना संभव नहीं है।

यह प्रसन्नता की बात है कि इस ग्रंथ के विद्वान लेखक डा० चक्रधर बिजल्वान (पूर्व प्राचार्य, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, लखनऊ) ने भारतीय न्याय-शास्त्र के समस्त विचारणीय अंगों का व्यापक अध्ययन तो प्रस्तुत किया ही है, पाश्चात्य चिन्तन को भी यथास्थान तुलनात्मक रूप में प्रस्तुत किया है।

भारतीय न्याय-शास्त्र विश्वविद्यालयों में अध्ययन का विषय है। बड़े ही वैज्ञानिक रूप से वर्गीकृत, सरल भाषा में विवेचित, विषय की व्यापकता में पूर्ण तथा विद्वानों एवं छात्रों के लिए समान रूप से उपयोगी इस ग्रंथ का सर्वत्र स्वागत हुआ है।

इस ग्रंथ के संशोधित एवं परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण के प्रकाशन के अवसर पर हर्ष होना स्वाभाविक है।

डॉ० शरण बिहारी गोस्वामी

कार्यकारी उपाध्यक्ष

प्रकाशकीय

डॉ० चक्रधर बिजल्वान (पूर्व प्राचार्य, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, लखनऊ) द्वारा रचित 'भारतीय न्यायशास्त्र' शीर्षक पुस्तक का द्वितीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें हर्ष एवं संतोष का अनुभव हो रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम संस्करण सन् 1983 में प्रकाशित हुआ था। इतनी अल्पावधि में ही पुस्तक के द्वितीय संस्करण के प्रकाशन का संयोग आ जाना ही पुस्तक की उपयोगिता और उसकी लोकप्रियता का स्पष्ट प्रमाण है।

विद्वान लेखक ने पुस्तक का प्रणयन इस उद्देश्य से किया है कि भारतीय परम्परा में प्रचलित न्यायविद्या के अवगमन में सुधी एवं जिज्ञासु अध्येताओं को यथापेक्षित प्रमेयमीमांसा से सम्बन्धित प्रमाणमीमांसा का विकासात्मक, तुलनात्मक और समीक्षात्मक विश्लेषण यथासम्भव, सरल भाषा और बोधगम्य शैली में सुलभ हो सके।

आशा है कि यह पुस्तक विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए यथेष्ट रूप से उपयोगी सिद्ध होगी तथा अखिल भारतीय स्तर पर विद्यार्थियों तथा शिक्षकों द्वारा इसका स्वागत होगा। उच्चस्तरीय अध्ययन हेतु हिन्दी के मानक ग्रन्थों के अभाव की बात कही जाती रही है। विश्वास है कि इस अभाव की पूर्ति हो सकेगी और शिक्षा का माध्यम हिन्दी में परिवर्तित होने का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा।

दिनकर दुबे
निदेशक

भूमिका

'**भारतीय न्यायशास्त्र**' नामक प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन इस उद्देश्य से किया गया है कि भारतीय परम्परा में प्रचलित न्यायविद्या (लाजिक) के अवगम में रुचि रखने वाले अधीतियों को यथापेक्षित प्रमेयमीमांसा से सम्बलित प्रमाणमीमांसा का विकासात्मक, तुलनात्मक और समीक्षात्मक विश्लेषण यथासम्भव सरल शब्दावली एवं बोधगम्य शैली में एकसाथ सुलभ हो जाए।

भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय द्वारा प्रायोजित विश्वविद्यालय-स्तरीय मौलिक ग्रन्थनिर्माण योजना के अन्तर्गत इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण का प्रकाशन उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा सन् 1983 में किया गया था। अध्येताओं की रुचि और कृपा के कारण इस ग्रन्थ की सभी मुद्रित प्रतियाँ बहुत शीघ्र बिक गईं, जिससे कि इसके द्वितीय संस्करण के प्रकाशन की प्रबल माँग होने लगी। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के अध्यक्ष और निदेशक सन् 1987 में ही इसका पुनः प्रकाशन करने के लिए उद्यत थे, किन्तु कतिपय विषय विशेषज्ञ बन्धुओं ने यह सुझाव दिया कि भारतीयदर्शनपरक अनुसन्धान तथा अखिल भारतीय स्तर तक की प्रतियोगिता परीक्षाओं में प्रवर्तित या विहित नवीन तकनीक और पाठ्यचर्या को भी ध्यान में रखते हुए यदि इस ग्रन्थ में नव्यन्याय की संकल्पनाओं का कुछ अधिक समावेश कर दिया जाए तो यह ग्रन्थ अधिक उपयोगी रहेगा। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान से जब मुझको उपर्युक्त सुझाव प्राप्त हुआ तो मैंने तदनुरूप अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए यह संशोधित संस्करण तैयार किया। यदि भारतीय चिन्तन और विशेषकर आन्वीक्षिकी के प्रति अभिरुचि बढ़ाने में मेरा यह प्रयास कुछ अंशों में भी सफल हो सका तो मैं इसे अपना परमसौभाग्य समझूंगा।

भारतीय न्यायशास्त्र के क्षेत्र में प्रवर्तित अनुसन्धान के परिणामस्वरूप इन दिनों कोई मौलिक उद्भावनाएँ या कोई विशेष परिवर्तन परिवर्द्धन तो सामने

नहीं आये हैं किन्तु प्राचीन न्याय-वैशेषिक पर कुछ अच्छे विश्लेषणात्मक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं और नव्यन्याय की संकल्पनाओं के प्रतीकात्मक निरूपण की दिशा में भी कतिपय विद्वानों ने अच्छा कार्य किया है। प्रो० सुरेन्द्र बारलिंगे का ग्रन्थ **'तर्करेखा'** राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा बहुत पहले (1972 में) छापा गया था। गदाधर के **'विषयतावाद'** का आङ्गलभाषा में अनुवाद और विश्लेषण डा० शिवपूजन भट्टाचार्य द्वारा किया गया, जो कि सन् 1990 में भारतीय दर्शन परिषद् द्वारा प्रकाशित हुआ था। ये ग्रन्थ नव्यन्याय के अध्येताओं के लिए उपादेय हैं। **'माथुरी पञ्चलक्षणी'** की हिन्दी व्याख्या स्वनामधन्य आचार्य बदरीनाथ शुक्ल जी ने लिखी और उसका ग्रन्थाकार में प्रकाशन राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा सन् 1984 में किया गया। गुरुवर बदरीनाथ शुक्ल जी से मैं यदा-कदा कुछ सीखने का प्रयास करता रहता था। आचार्य जी की ब्रह्मलीनता के अनन्तर मैंने नव्यन्याय की संकल्पनाओं के अवगम में उनके ग्रन्थों से सहायता ली। अतः दिवंगत—आचार्य बदरीनाथ शुक्ल जी के प्रति तथा उनके द्वारा रचित ग्रन्थों में निहित सारस्वत सत्य के प्रति अपना श्रद्धाभाव सादर समर्पित करना मैं अपना परम पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ।

इस तथ्य को प्रायः सर्वसम्मत मान्यता मिलती रही है कि न्यायशास्त्र अन्य सभी विद्याओं का भी दीपक है। वैसे जो लोग परलोकसाधना या लोक-कल्याण जैसे सत्कार्यों में अपना जीवन निछावर कर देते हैं, उनके लिए तो प्रायः किसी भी प्रकार के सैद्धान्तिक या औपचारिक ज्ञान के अर्जन की कोई विशेष अनिवार्यता नहीं है, किन्तु जो बौद्धिक या शास्त्रीय उहापोह में रुचि रखते हैं, प्रायः उनके लिए यह सम्भव नहीं है कि वे न्यायविद्या का यथापेक्षित आश्रयण किये बिना अपने शास्त्रीय अध्ययन में समग्रता ला सकें। हाँ जिनको जन्मजात प्रतिभा, गुरु द्वारा शक्तिपात या साधनाजन्य अनुभूति का सौभाग्य प्राप्त हो गया हो, उनके लिए तो न केवल शास्त्रों का अपितु बाह्य औपचारि-कताओं का भी कोई विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। यह सब होते हुए भी सामान्यतया ऐसा मानना समुचित है कि न्यायविद्या अपने आप में तो महत्त्व-पूर्ण है ही, इस दृष्टि से भी इसका महत्त्व है कि यह अन्यशास्त्रों के अवगम में सहायक होती है।

प्रमिति (ज्ञान) के साधनभूत प्रमाणों के स्वरूप, संख्या और समुपयोग के संदर्भ में न केवल विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के अपितु समान या एक ही

सम्प्रदाय के विभिन्न आचार्यों में भी मतविभिन्नता पाई जाती है। प्राचीन न्याय में प्रमाणों के साथ प्रमेयों का विश्लेषण भी उपलब्ध होता है। नव्यन्याय में प्रमेय विवेचन को छोड़ दिया गया। न्यायशास्त्र का आधारभूत ग्रन्थ अक्षपाद गौतम का न्यायसूत्र है और नव्यन्याय का प्रमुख ग्रन्थ गङ्गेश रचित तत्त्व-चिन्तामणि है। प्राचीन न्याय और नव्यन्याय की परम्परा में अनेक आचार्यों ने भी अपने-अपने ग्रन्थों द्वारा महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। प्राचीन न्याय के मध्यवर्ती आचार्यों में जयन्त भट्ट का अपना अप्रतिम स्थान है। उनके द्वारा रचित न्यायमञ्जरी वस्तुतः भारतीय दार्शनिक चिन्तन का एक विश्वकोश है। जयन्त ने अपने मन्तव्यों का प्रतिपादन बड़े ही व्यापक दृष्टिकोण से किया है। सूक्ष्मतया देखाजाए तो ऐसा लगता है कि न्यायमञ्जरी में नवीं शती तक के भारतीय चिन्तन के ऐतिहासिक विकास क्रम का तुलनात्मक समीक्षण किया गया है। मैंने अपने अध्ययन की प्रक्रिया में आचार्य जयन्त भट्ट का यथासम्भव अनुकरण करने का प्रयास किया है। जयन्त का यह कथन है कि न्यायशास्त्र की परम्परा में उन्होंने नया कुछ नहीं जोड़ा, जो पहले से चले आ रहे तथ्य या मत थे, उनका ही उन्होंने अपने ढंग से विश्लेपण मात्र किया है। किन्तु इसके साथ ही जयन्त ने अपने पाठकों का ध्यान इस बात की ओर भी दिलाया कि जैसे एक ही प्रकार के फूलों से गुँथी जाने पर भी प्रत्येक माला फूलों के विन्यासक्रम आदि के कारण नवीन लगती है और अपना निजी विशिष्ट कुतूहल पैदा करती है, वैसे ही पूर्व प्रचलित विचार विन्दुओं से ग्रथित रचना भी वचो-विन्यास की दृष्टि से अपूर्व मानी जा सकती है। जयन्तभट्ट की न्यायमञ्जरी तो वस्तुतः सभी दृष्टियों से नवीन और अपूर्व है, परन्तु उनके कथन से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि जब जयन्त जैसे महनीय आचार्य भी न्यायशास्त्र की परम्परा में किसी नवीनता की स्थापना का दावा करना उचित नहीं समझते तो भला मुझ जैसा न्यायशास्त्र का साधारण विद्यार्थी अपने इस ग्रन्थ के बारे में इससे अधिक क्या कह सकता है कि इसमें ग्रथित तथ्य तो परम्परा-गत ही हैं, हाँ उनके सरल विन्यासक्रम से आन्वीक्षिकी के समुसासकों का कुछ अंशों में भी यदि परितोष हो सके तो इसे मैं अध्येताओं की सद्‌भावना और ईश्वर की कृपा का ही फल मानूंगा।

इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण के प्रणयन के समय मेरे पूज्य पिता पं० नारायणदत्त बिजल्वान (वैद्य) निवासी ग्राम भट्टकोट पट्टी बनगढ़स्यू जिला पौड़ी गढ़वाल जीवित थे, अब मेरे पिता और मेरे पितृव्य पं० बच्चीराम ज्योतिषी भी गोलोकवासी हो गये हैं। उन्होंने मुझको संस्कृत के अध्ययन

की ओर उन्मुख किया था। मेरी माँ स्वर्गीया महेश्वरी देवी ने मेरे लिये कितने कष्ठ झेले, यह तो मैं याद नहीं रख पाया, किन्तु उनकी यह बात मुझे सदा याद रहती है कि प्रत्येक मनुष्य को अपना कार्य सच्ची निष्ठा और लगन के साथ करना चाहिए, तभी उसमें सच्ची सफलता मिल सकती है। इस ग्रन्थ को तैयार करते समय मुझे अपने स्वर्गीय माता-पिता और पितृव्य चरणों के अनुस्मरण से बड़ी प्रेरणा मिलती रही है, अतः यह स्वाभाविक ही है कि मैं उनके प्रति अपना श्रद्धाभाव समर्पित करूँ।

इस ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण को तैयार करते समय मेरी धर्मपत्नी श्रीमती इन्दु गुर्दे की खराबी की बीमारी से ग्रस्त हो गई थीं। फिर भी उन्होंने मुझको यह प्रेरणा दी कि मै इस कार्य को पूर्ण करदूँ। इस प्रकार भयंकर कष्ट और चिन्ता की अवधि में भी यदि उन्होंने मेरा मनोबल न बढ़ाया होता तो यह कार्य यथासमय नहीं हो पाता। अतः औपचारिकता की आवश्यकता न होते हुए भी अपनी सहधर्मिणी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना रचना-धर्म की दृष्टि से तो मेरे लिए आवश्यक है ही। मेरी यह मान्यता है कि सूत्रों में महर्षियों द्वारा निबद्ध शास्त्रीयज्ञान भी प्रायः परम्परागत होता है। जो लोग मौलिक प्रतिभा से ज्ञान सम्पन्न होते हैं, उनपर भी पूर्वजन्म या पूर्व परम्परा के संस्कारों का प्रभाव रहता है, और जो लोग अपने अध्ययन और अध्यवसाय से ज्ञानार्जन करते हैं, वे भी उसे पूर्वपरम्परा से ही प्रमुखता अर्जित करते हैं, हाँ, अपवाद तो प्रायः सभी नियमों और क्षेत्रों में होते ही हैं। मैंने भी इस ग्रन्थ के प्रणयन में अनेक पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों से मार्गदर्शन प्राप्त किया है, अतः मैं उन सबके प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ और उनका स्सरण करते हुए यह निवेदन करता हूँ कि **"त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्प्यते।**

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के सभी सम्बद्ध अधिकारियों की सक्रिय रुचि और कार्यपरता के बिना यह कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता था। मैं उन सबके प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ। इस ग्रन्थ का मुद्रण प्नार मुद्रक लखनऊ द्वारा किया गया। यह सारा कार्य उ० प्र० हिन्दी संस्थान की देखरेख में हुआ। यदि जाने-अनजाने इसमें कथ्य प्रस्तुति प्रूफ आदि की अशुद्धियाँ रह गयी हों तो उसके लिए मैं क्षमा याचना करता हूँ तथा प्नार मुद्रक का इस बात के लिए धन्यवाद करता हूँ कि उन्होने मुद्रण कार्य को तत्परता के साथ सम्पन्न किया।

मैं अपने उन सब शुभचिन्तकों, मित्रों, सहयोगियों, छात्रों और पाठकों का बहुत ऋणी हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ के लेखन के लिए मुझको प्रोत्साहित

किया और इसके प्रथम संस्करण का भरपूर स्वागत किया। मुझे आशा है कि यह संशोधित संस्करण उन अधीतियों, शोधार्थियों, प्रतियोगिता परीक्षाओं में सफलता के इच्छुक अभ्यर्थियों विश्वविद्यालयस्तरीय छात्रों और आम पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकेगा, जिनकी आवश्यकताओं और अनुरोध को ध्यान में रखते हुए उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान ने इस ग्रन्थ के संशोधित एवं परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण को प्रकाशित करने का उपक्रम किया है।

डॉ० चक्रधर बिजल्वान

विषय-सूची

अध्याय 1

भारतीय न्यायशास्त्र का ऐतिहासिक सर्वेक्षण

क्रम सं०			पृष्ठ सं०
1.	'न्याय' की परिभाषा	...	1
2.	भारतीय दर्शनों में न्याय का स्थान	...	3
	(i) चार्वाक दर्शन और न्याय	...	4
	(ii) बौद्ध दर्शन और न्याय	...	7
	(iii) जैन दर्शन और न्याय	...	8
	(iv) वैशेषिक दर्शन और न्याय	...	10
	(v) सांख्य दर्शन और न्याय	...	12
	(vi) योगदर्शन और न्याय	...	14
	(vii) मीमांसा दर्शन और न्याय	...	15
	(viii) वेदान्त दर्शन और न्याय	...	16
3.	पाश्चात्य 'तर्कशास्त्र' और भारतीय 'न्यायशास्त्र' में साम्य तथा वैषम्य	...	18
4.	भारतीय न्यायशास्त्र के ग्रन्थ और ग्रन्थकार	...	21
	(क) जैन न्याय परम्परा	...	21
	(ख) बौद्ध परम्परा	...	27
	(ग) वैदिक परम्परा	...	36
	(i) प्राचीन न्यायधारा	...	36
	(ii) नव्यन्याय धारा	...	46
	(iii) प्रकरण ग्रन्थ धारा	...	54
5.	न्यायशास्त्र की रचना-विधि	...	58

क्रम सं० | पृष्ठ सं०

(i) प्रवृत्तित्रय (क) उद्देश, (ख) लक्षण, (ग) परीक्षा ... 58
(ii) अनुबन्ध चतुष्टय—(क) विषय, (ख) सम्बन्ध ... (ग) प्रयोजन, (घ) अधिकारी ... 62
(iii) न्यायशास्त्रीय व्यावहारिकताएँ ... 64
(iv) चतुरंगवाद ... 65
6. न्यायशास्त्र की उपयोगिता ... 65
सन्दर्भ ... 68

अध्याय 2

ज्ञान (प्रमा) और अज्ञान (अप्रमा) का स्वरूप

1. ज्ञान की परिभाषा ... 75
2. ज्ञान के सत्यत्व की कसौटी : प्रामाण्यवाद ... 79
3. अज्ञान की परिभाषा ... 87
(i) विपर्यय (आत्मख्याति आदि) ... 87
(ii) संशय ... 91
(iii) स्मृति ... 93
(iv) तर्क ... 94
4. प्रमाण की परिभाषा ... 96
5. प्रमाण-भेद ... 101
6. प्रमाण-संप्लव ... 103
7. प्रमाण मीमांसा का महत्त्व ... 103
सन्दर्भ ... 106

क्रम सं० पृष्ठ सं०

अध्याय 3

प्रत्यक्षप्रमाण का स्वरूप

1. प्रत्यक्ष की परिभाषा ... 111
2. इन्द्रियाँ और उनके विषय ... 133
   (क) इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति ... 133
   (ख) इन्द्रिय की परिभाषा ... 133
   (ग) इन्द्रियाँ भौतिक या अभौतिक ? ... 136
   (घ) इन्द्रियों की संख्या (1) घ्राण, (2) रसन, (3) चक्षु, (4) त्वक् (5) श्रोत, (6) मन ... 139
   (ङ) इन्द्रियों की प्राप्यकारिता ... 140
3. प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में आत्मा का स्थान ... 142
4. प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में मन की भूमिका ... 143
5. प्रत्यक्ष के कुछ विशिष्ट विषय ... 145
   (क) अभाव का प्रत्यक्ष ... 145
   (ख) ज्ञान का प्रत्यक्ष ... 150
   (ग) त्रिपुटी प्रत्यक्ष ... 154
6. इन्द्रियों का विषयों से सन्निकर्ष ... 156
   (क) लौकिक सन्निकर्ष—(1) संयोग, (2) संयुक्त समवाय, (3) संयुक्त समवेत समवाय, (4) समवाय, (5) समवेत समवाय, (6) विशेष्य-विशेषणभाव ... 156
   (ख) अलौकक सन्निकर्ष—(1) सामान्य लक्षण (2) ज्ञान लक्षण, (3) योगज ... 159
7. प्रत्यक्ष के भेद ... 161
8. निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का प्रमात्व ... 173

क्रम सं०			पृष्ठ सं०
9.	प्रत्यक्ष प्रमाण के सम्बन्ध में भारतीय तथा पाश्चात्य संकलपनाएँ	...	175
10.	प्रत्यक्ष प्रमाण की उपयोगिता	...	175
	संदर्भ	...	178

अध्याय 4

अनुमान प्रमाण का स्वरूप

1.	अनुमान की परिभाषा	...	189
2.	अनुमान (न्यायवाक्य) के अवयव	...	198
	(क) पंचावयवी परम्परा	...	200
	(ख) दशावयवी परम्परा	...	206
	(ग) चतुरवयवी परम्परा	...	207
	(घ) त्र्यवयवी परम्परा	...	208
	(ङ) द्व्यवयवी परम्परा	...	209
	(च) एकावयवी परम्परा	...	209
	(छ) अरस्तू का न्याय वाक्य और उसके अवयव	...	210
3.	अनुमान के भेद	...	211
	(क) गौतम प्रवर्तित अनुमानभेद	...	211
	(ख) वैशेषिक प्रवर्तित अनुमानभेद	...	213
	(ग) सांख्य प्रवर्तित अनुमानभेद	...	214
	(घ) बौद्ध प्रवर्तित अनुमानभेद	...	215
	(ङ) उद्योतकर तथा नव्यन्याय प्रवर्तित अनुमान भेद	...	215
	(च) जैन प्रवर्तित अनुमान भेद	...	217
4.	अनुमान का तार्किक आधार : व्याप्ति	...	218

क्रम सं० पृष्ठ सं०

(क) व्याप्ति का अर्थ ... 218

(ख) व्याप्ति का लक्षण ... 220

(ग) व्याप्ति के भेद ... 230

(i) अन्वयव्यतिरेक व्याप्ति ... 230

(ii) सामान्य विशेष व्याप्ति ... 231

(iii) समव्याप्ति—विषम व्याप्ति ... 231

(iv) अन्तर्-बहिर् व्याप्ति ... 231

(v) तथोत्पत्ति अन्यथानुपपत्ति ... 231

(vi) सहभाव नियम-क्रमभावनियम ... 231

(घ) व्याप्ति ग्रह की विधियाँ ... 232

(i) मानस प्रत्यक्ष ... 232

(ii) अन्वय-व्यतिरेक सकृद्दर्शन ... 233

(iii) अन्वय व्यतिरेक भूयोदर्शन ... 233

(iv) तर्क ... 234

(v) तर्क सहकृत भूयोदर्शन ... 234

(vi) नियत सहचार दर्शन ... 235

(vii) व्यभिचारादर्शन सहकृत सहचार दर्शन ... 235

(viii) अर्थापत्ति ... 235

(ix) तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति सिद्धान्त ... 236

पंचकारणी विधि ... 236

5. अनुमिति का करण ... 239

(i) लिंग ज्ञान की करणता ... 240

(ii) व्याप्तिज्ञान की करणता ... 240

(iii) लिंगपरामर्श की करणता ... 241

6. अनुमिति का मनोवैज्ञानिक आधार : पक्षधर्मता ... 243

क्रम सं० | | पृष्ठ सं०

7. अनुमिति का प्रतिबन्धक : उपाधि ... 244
(i) उपाधि का अर्थ ... 244
(ii) उपाधि-निरूपण का उद्देश्य ... 244

8. हेतु और उसके प्रकार ... 246
(क) हेतु की परिभाषा ... 246
(ख) हेतु-रूपों की परम्पराएँ ... 247
(ग) हेतुओं के प्रकार ... 249

9. अनुमानाभास (न्यायाभास) ... 253
(क) पक्षाभास (प्रतिज्ञाभास) ... 253
(ख) हेत्वाभास ... 254
(ग) दृष्टान्ताभास (निदर्शनाभास या उदाहरणाभास) ... 267
(घ) उपनयाभास ... 270

10. अनुमान की प्रक्रिया के आनुषंगिक तत्त्व
प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, कथा, छल, जाति ... 271

11. निग्रहस्थान ... 291

12. अनुमान के सम्बन्ध में भारतीय तथा पाश्चात्य मान्यताओं का साम्य-वैषम्य ... 298

13. अनुमान की उपयोगिता ... 302
सन्दर्भ ... 304

अध्याय 5

उपमान प्रमाण का स्वरूप

1. उपमान का स्वरूप ... 320

क्रम सं०			पृष्ठ सं०
2.	उपमान का पृथक् प्रमाणत्व	...	322
3.	उपमान और पाश्चात्य सादृश्यानुमान	...	325
4.	उपमान प्रमाण की उपयोगिता	...	326
	सन्दर्भ	...	327

अध्याय 6

शब्द प्रमाण

1.	शब्द प्रमाण का स्वरूप	...	329
	(क) चार्वाक मत	...	329
	(ख) बौद्ध मत	...	330
	(ग) जैन मत	...	331
	(घ) वैशेषिक मत	...	331
	(ङ) सांख्य मत	...	332
	(च) योग मत	...	332
	(छ) मीमांसक मत	...	333
	(ज) वेदान्त मत	...	333
	(झ) न्याय मत	...	333
2.	वाक्य का स्वरूप	...	335
	(क) वाक्य गठन के आधारभूत तत्त्व	...	337
	(1) आकांक्षा	...	338
	(2) योग्यता	...	338
	(3) आसत्ति (सन्निधि)	...	339
3.	वाक्यार्थबोध की विधियाँ	...	340
	(क) अभिहितान्वयवाद	...	341

क्र० सं०		पृष्ठ सं०
	(ख) अन्विताभिधानवाद ...	343
	(ग) समुच्चयवाद ...	344
	(घ) तात्पर्यवाद ...	345
4.	पद का स्वरूप ...	346
	(क) पद के लक्षण और भेद ...	346
	(1) यौगिक पद ...	349
	(2) रूढ़पद ...	349
	(3) योगरूढ़ पद ...	349
	(4) रूढ़यौगिक पद ...	349
	(ख) पद और पदार्थ (शब्द और अर्थ) का सम्बन्ध ...	352
	(1) मीमांसा मत ...	353
	(2) व्याकरण मत ...	354
	(3) वैशेषिक मत ...	356
	(4) सांख्ययोग मत ...	357
	(5) जैन मत ...	358
	(6) बौद्ध मत ...	359
	(7) न्याय मत ...	360
	(ग) पद (शब्द) के संकेतित अर्थ (शक्ति) का स्वरूप ...	361
	(1) व्यक्तिवाद ...	362
	(2) आकृतिवाद ...	362
	(3) जातिवाद ...	362
	(4) अपोहवाद ...	363
	(5) जात्याकृतिव्यक्तिवाद ...	363
	(घ) शब्द नित्य है या अनित्य ? ...	366

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
	(1) न्याय-वैशेषिक मत ...	366
	(2) सांख्य-योग मत ...	367
	(3) मीमांसा-वेदान्त मत ...	367
	(4) जैन मत ...	368
	(5) बौद्ध मत ...	368
	(ङ) पद की वृत्तियाँ ...	369
	(1) अभिधा ...	369
	(2) लक्षणा ...	369
	(च) अर्थसम्प्रत्यय के साधन ...	371
	(1) व्याकरण, (2) उपमान; (3) कोश (4) आप्तवाक्य, (5) व्यवहार, (6) वाक्यशेष (7) विवृत्ति, (8) सिद्ध पद सान्निध्य।	
5.	न्यायशास्त्रीय अर्थविज्ञान ...	373
	(क) अपोहवाद ...	374
	(1) अपोहवाद का इतिहास ...	374
	(2) अपोहवाद का खण्डन ...	375
	(ख) स्फोटवाद ...	375
	(1) वैयाकरणों का मत ...	377
	(i) स्फोट का लक्षण ...	377
	(ii) स्फोट के भेद ...	377
	(2) स्फोटवाद का खण्डन ...	379
	(i) न्याय वैशेषिक मत ...	379
	(ii) सांख्य मत ...	380
	(iii) योग मत ...	381
	(iv) मीमांसा मत ...	382

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
	(v) वेदान्त मत	... 384
	(vi) जैन मत	... 384
6.	शब्द प्रमाण की उपयोगिता	... 385
	संदर्भ	... 392

अध्याय 7
अर्थापत्ति

1.	अर्थापत्ति का स्वरूप	... 407
2.	अर्थापत्ति के भेद	... 408
3.	अर्थापत्ति और अनुमान	... 410
	(क) अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव	... 410
	(ख) अर्थापत्ति में अनुमान का अन्तर्भाव ?	... 411
4.	अर्थापत्ति और प्राक्कल्पना	... 411
5.	अर्थापत्ति की उपयोगिता	... 412
	संदर्भ	... 413

अध्याय 8
अनुपलब्धि

1.	अनुपलब्धि का स्वरूप	... 415
2.	अनुपलब्धि का प्रमाणत्व	... 417
3.	अनुपलब्धि प्रमाण की उपयोगिता	... 419
	संदर्भ	... 421

क्रम सं० पृष्ठ सं०

अध्याय 9

नव्यन्याय

1. न्याय और नव्यन्याय में वैषम्य ... 422

(क) मङ्गलाचरण का उद्देश्य ... 423

(ख) प्रमाण के लक्षण और भेदों के निरूपण से सम्बन्धित उद्भावनाएँ ... 423

(ग) प्रत्यक्षज्ञान के भेद ... 424

(1) एकत्र एकावगाही ज्ञान ... 425

(2) उभयत्र एकावगाही ज्ञान ... 425

(3) एकत्र द्वय्वगाही ज्ञान ... 425

(4) समूहालम्बन ज्ञान ... 426

(5) विशिष्ट वैशिष्टयावगाही ज्ञान ... 426

(घ) अनुमान के तार्किक और मनोवैज्ञानिक आधार से सम्बन्धित उद्भावनाएँ ... 427

(ङ) शब्द प्रमाण से सम्बन्धित उद्भावनाएँ ... 428

(1) नव्यन्याय के अनुसार धात्वर्थ ... 428

(2) पद स्वरूप ... 429

(3) शाब्दबोध ... 429

(4) विशेष का व्यावृतत्त्व ... 430

2. नव्यन्याय और प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र ... 430

3. नव्यन्याय में सम्बन्धों की संकलपना ... 431

(1) साक्षात् सम्बन्ध, (2) परम्परासम्बन्ध 432

(3) वृत्तिनियामकसम्बन्ध, (4) वृत्त्यनियामकसम्बन्ध

(5, 6) सामान्य सम्बन्ध और विशेष सम्बन्ध

(7) संयोग सम्बन्ध (8) समवाय सम्बन्ध

(9) स्वरूप सम्बन्ध

क्रम सं०　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　पृष्ठ सं०

4. नव्यन्याय के कतिपय प्रतिपाद्य ... 437

(क) अवच्छेदकता, अवच्छेदक, (ख) पक्षता
(ग) विषयता, (घ) विषयिता, (ङ) प्रकारता
(च) प्रकारिता, (छ) कोटिता, (ज) विशेष्यता
(झ) विशेष्यिता, (ञ) विशेषणता, (ट) निरूप्यता
(ठ) पर्याप्ति, (ड) अनुयोगिता, (ढ) प्रतियोगिता

5. नव्यन्याय की भाषिक प्रविधियाँ ... 450

सन्दर्भ ... 451

अध्याय 10

न्यायशास्त्र में परिगणित प्रमेय

1. आत्मा ... 455

(क) आत्मा का स्वरूप ... 456
(ख) आत्मा का विभुत्व ... 457
(ग) आत्मा और शरीर ... 457
(घ) आत्मा और इन्द्रियाँ ... 459
(ङ) आत्मा और मन ... 460
(च) आत्मा और बुद्धि ... 460
(छ) आत्मा और पुरुष ... 460
(ज) आत्मा और संवित्ति ... 461
(झ) आत्मा और ब्रह्म ... 463
(ञ) आत्मा और जीव ... 466
(ट) आत्मा और पंचस्कन्ध ... 467
(ठ) आत्मा और चेतनता ... 469

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
	(ङ) न्यायमत का सार ...	470
2.	शरीर ...	472
3.	इन्द्रिय ...	473
4.	अर्थ नामक प्रमेय का स्वरूप (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द)	474
	(क) द्रव्य का स्वरूप और भेद (पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन ...	476
	(ख) गुण का स्वरूप और भेद ... रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार	476
	(ग) कर्म का स्वरूप ...	491
	(घ) सामान्य ...	492
	(ङ) विशेष ...	492
	(च) समवाय ...	493
	(छ) अभाव ...	494
5.	बुद्धि का स्वरूप ...	495
	(क) न्यायवैशेषिक मत ...	495
	(ख) सांख्यमत ...	496
6.	मन का स्वरूप ...	498
	(क) न्याय-वैशेषिक मत ...	498
	(ख) चार्वाक मत ...	499
	(ग) जैनमत ...	500
	(घ) बौद्ध मत ...	500

क्रम सं०			पृष्ठ सं०
	(ङ) सांख्यमत	...	501
	(च) योगमत	...	501
	(छ) मीमांसा मत	...	502
	(1) गुरु मत	...	502
	(2) भाट्टमत	...	503
	(ज) वेदान्त मत	...	503
7.	प्रवृत्ति का स्वरूप	...	504
8.	दोष का स्वरूप	...	505
9.	प्रेत्यभाव का स्वरूप	...	505
10.	फल का स्वरूप	...	505
11.	दुःख का स्वरूप	..	506
12.	अपवर्ग का स्वरूप	...	507
13.	ईश्वर का अस्तित्व और स्वरूप	...	508
	संदर्भ	...	516

अध्याय 11

कार्य-कारण-सम्बन्ध

1.	कारण की संकलपना	...	527
2.	कारण का लक्षण	...	527
3.	कारण के भेद	...	529
	(क) समवायिकारण	...	529
	(ख) असमवायिकारण	...	530
	(ग) निमित्तकारण	...	530
4.	कारण और करण	...	531

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
5.	कारण और कार्य ...	532
	(क) स्वभाववाद ...	532
	(ख) आरम्भवाद (असत्कार्यवाद) ...	532
	(ग) संघातवाद ...	533
	(घ) परिणामवाद (सत्कार्यवाद) ...	533
	(ङ) विवर्तवाद ...	533
	(च) प्रतिबिम्बवाद ...	533
6.	समाहार ...	534
	संदर्भ ...	535

अध्याय 12

सामान्य और विशेष

1.	सामान्य का स्वरूप ...	536
	(क) वैशेषिकगत ...	536
	(ख) न्यायमत ...	537
	(ग) बौद्धमत ...	537
	(घ) जैनमत ...	538
	(ङ) मीमांसक मत ...	539
	(1) सामान्य और आकृति में ऐक्य ...	539
	(2) सामान्य और सादृश्य में अन्तर ...	540
	(3) सामान्य और समष्टि में अन्तर ...	540
	(च) वेदान्तमत ...	541
2.	सामान्य और व्यक्ति	541

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
(क) सामान्य की सर्वगतता	···	541
(ख) बौद्धों की आपत्तियाँ	···	542
3. सामान्य और उपाधि में अन्तर	··	543
(क) व्यक्ति का अभेद (आश्रय की एकलता)	···	543
(ख) व्यक्तियों की तुल्यता (पर्यायवाचकता)	···	543
(ग) संकर (दो धर्मों का सांकर्य)	···	543
(घ) अनवस्था (कल्पना का आनन्त्य)	···	544
(ङ) रूपहानि (लक्षणहानि)	···	544
(च) असम्बन्ध (सम्बन्ध का न बन सकना)	···	545
4. सामान्य के भेद	···	545
(क) क्षेत्र की दृष्टि से	··	545
(1) पर	···	545
(2) अपर	···	545
(3) परापर	··	546
(ख) सम्बन्ध की दृष्टि से	···	546
(1) अखण्ड सामान्य	···	546
(2) सखण्ड सामान्य	··	546
5. सामान्य के सम्बन्ध में ग्रीक दार्शनिकों का दृष्टिकोण	···	546
(क) प्लेटो का मत	··	547
(ख) विलियम ओकम का मत	··	547
(ग) अरस्तू का मत	·	547
6. विशेष का स्वरूप	·	547
(क) विशेष और सामान्य	···	547
(ख) विशेष और 'स्वलक्षण'	···	549

क्र०सं० पृष्ठ सं०

7, समाहार ... 550

संदर्भ ... 552

अध्याय 13

समवाय

1. समवाय की संकल्पना ... 554
2. समवाय का स्वरूप ... 555
3. असत्कार्यवाद और समवाय ... 557
4 समवाय का अतिरिक्त पदार्थत्व ... 559
5. समवाय का आश्रितत्व ... 559
6. समवाय का स्वात्मस्वत्व ... 559
7. समवाय के स्वरूप सम्बन्धत्व का निरसन ... 560
8. समवाय का सम्बन्धत्व ... 560
9. समवाय का एकत्व या नानात्व ... 562
10. समवाय सम्बन्ध का नित्यत्व ... 563
11. समवाय की प्रत्यक्षगम्यता ... 563
12. समवाय की अतीन्द्रियता और अनुमानगम्यता ... 563
13. समवाय का खण्डन और उसका समाधान ... 564

संदर्भ ... 568

अध्याय 14

अभाव

1. वैशेषिकों की अभाव विषयक अवधारणा ... 572
2. अभाव का पृथक्पदार्थत्व ... 572

क्रम स०			पृष्ठ सं०
3.	अभाव का लक्षण	...	575
4.	अभाव और असत्कार्यवाद की पारस्परिक सापेक्षता	...	576
5.	अभाव और निषेध की पारस्परिक सापेक्षता	...	577
6.	अभाव और अपवर्ग की पारस्परिक सापेक्षता	...	577
7.	अभाव के पदार्थत्वविरोधी मतों की समीक्षा	...	578
8.	अभाव के भेदोपभेद (क) प्रागभाग (ख) प्रध्वंसाभाव (ग) अत्यन्ताभाव (घ) अन्योन्याभाव	...	580
9.	अभाव की प्रत्यक्षगम्यता	...	584
10.	अभाव का तात्त्विक महत्त्व	...	585
	संदर्भ	...	587

अध्याय 1

भारतीय न्यायशास्त्र का ऐतिहासिक सर्वेक्षण

1. 'न्याय' की परिभाषा

भारतीय ज्ञान-विज्ञान की लगभग सभी शाखाओं के विकास में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वैदिक ऋषियों की अमरवाणी को जिस प्रकार प्रायः प्रेरणास्रोत के रूप में स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार भारतीय लौकिक वाङ्मय में उपलब्ध लगभग सभी संकल्पनाओं को परिभाषित करने का आधार 'न्याय' माना जाता है। इस बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि भारतीय वाङ्मय की आधारभूमि वेद हैं, किन्तु उसको रूपानुसार नाम देने में सबसे बड़ा कार्य न्यायशास्त्र ने किया है। यों तो 'न्याय' का शाब्दिक अर्थ दुरूह नहीं है, किन्तु देश, काल तथा आवश्यकतावश इस शब्द की व्युत्पत्ति और इंगितार्थ के सम्बन्ध में भी आचार्यों में थोड़ा बहुत मतभेद तो है ही। व्यावहारिक या सामान्य बात-चीत में 'न्याय' का अर्थ है—नियमयुक्त व्यवहार[1]। किन्तु जिस शास्त्रीय अर्थ में ज्ञान की अन्य शाखाओं में भी इसका महत्त्व स्वीकार किया जाता है, वह है—प्रतिपाद्य की सिद्धि कराने वाला सिद्धान्त।[2] वात्स्यायन कहते हैं कि—किसी बात को प्रतिपादित करने के लिए हमें कम-से-कम जिन शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है, उनके समूह को 'न्याय' कहते हैं। स्पष्ट है कि शब्दों का ऐसा समूह पंचा-वयवोपेत न्यायवाक्य[3] होता है। और इस दृष्टि से 'न्याय' और 'अनुमान' शब्द समानार्थक हो जाते हैं। पंचावयव का उपयोग परार्थानुमानमें ही होता है। अतः माधवाचार्य और भी गहराई में जाकर 'न्याय' को केवल परार्थानुमान का ही पर्याय मानते हैं।[4] वात्स्यायन यद्यपि न्याय शब्द के उपर्युक्त अर्थ का प्रख्यापन करते हैं, किन्तु पारिभाषिक दृष्टि से उनका यह मत अधिक प्रचलित हुआ कि "प्रमाणों के द्वारा प्रमेयों का परीक्षण (ज्ञान) 'न्याय' है"।[5] आचार्य उद्योतकर भी भाष्यकार के मत का समर्थन करते हैं।[6] प्रमाणों से पदार्थों का अवगम प्रायः सभी शास्त्रों में होता है। इसी कारण न्याय को सब विद्याओं का दीपक भी कहा जाता है।[7] न्याय रत्नाकर जैसे कतिपय मीमांसाग्रन्थ न्याय शास्त्र से संबद्ध

न होते हुए भी न्याय शब्द से अभिहित किये गये हैं। इसका भी कारण यही है कि प्रमाणों के द्वारा अर्थों का विवेचन अन्य दर्शनों के आचार्य भी स्वीकार करते हैं। विषय प्रतिपादन की विधि के रूप में भी न्याय का अपना विशिष्ट महत्त्व है और यही कारण है कि नव्यन्याय के उत्तरवर्ती वाङ्मय में, यहाँ तक कि साहित्य जैसे क्षेत्र में भी, न्याय का अबाध प्रवेश हो गया। इस प्रकार 'न्याय' का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक है, और प्रविधि अथवा पारिभाषिक शब्दावली की दृष्टि से भारतीय वाङ्मय की सभी शाखाएँ इसकी ऋणी हैं। वैसे इस शब्द का अपने शास्त्रीय क्षेत्र में जो पारिभाषिक अर्थ रूढ़ हुआ है, वह प्रमुखतया यही है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के माध्यम से पदार्थों का सम्यक् अवबोधन ही 'न्याय' है।

शास्त्र के रूप में 'न्याय' के नामकरण का भी अपना एक लम्बा इतिहास है। छान्दोग्य उपनिषद् में प्रयुक्त 'वाकोवाक्य' शब्द को कतिपय आचार्यों ने तर्कशास्त्र का पर्याय माना है।[8] शांकरभाष्य में भी इस शब्द का अर्थ 'तर्कशास्त्र' बताया गया है।[9] वाल्मीकि रामायण में हेतुविद्या या तर्कशास्त्र के अर्थ में 'आन्वीक्षिकी' शब्द का प्रयोग हुआ है।[10] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में तो विद्याओं के एक भेद के रूप में 'आन्वीक्षिकी' का बहुत ही स्पष्ट तथा सर्वप्रथम उल्लेख किया गया है।[11] वात्स्यायन के अनुसार 'प्रत्यक्ष और आगम से ज्ञातव्य पदार्थ को भली-भाँति देखने का नाम अन्वीक्षा (अनु=पश्चात्+ईक्षा) है और इस प्रक्रिया पर आधारित शास्त्र आन्वीक्षिकी कहलाता है। इसी को न्यायविद्या और न्यायशास्त्र कहा जाता है।'[12] डा० शतीशचन्द्र विद्याभूषण का यह कथन है कि वेदों और उपनिषदों में चर्चित आत्मविद्या ही बाद में आन्वीक्षिकी कहलाने लगी। आत्मविद्या और आन्वीक्षिकी में यह अन्तर अवश्य है कि आत्मविद्या में आत्मा के सम्बन्ध में कुछ सैद्धांतिक बातें कही गयी हैं, जबकि आन्वीक्षिकी में उन कथनों के साथ कारण भी बताये जाते हैं। आन्वीक्षिकी का सम्बन्ध वस्तुतः दो बातों से है, जिनमें से एक है—आत्मा और दूसरा है हेतु—।[13] इस सन्दर्भ में डा० विद्याभूषण ने वात्स्यायन के इस विचार का भी अपने मत के समर्थन में उल्लेख किया है कि हेतु की चर्चा के बिना तो आन्वीक्षिकी भी केवल उसी प्रकार अध्यात्म विद्यामात्र रह जायेगी, जैसे कि उपनिषद् हैं।[14] आत्मा के अस्तित्व या अनस्तित्व के सम्बन्ध में सांख्य योग और बौद्धदर्शन में भी अनेक युक्तियाँ दी गई हैं, अतः कौटिल्य ने इस रूप में इन दर्शनों को भी आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत परिगणित किया है। आन्वीक्षिकी का आरम्भ उपनिषद् काल से हुआ होगा, किन्तु विशिष्ट शास्त्र के रूप में इसने 650 ई० पू० से पहले कोई निश्चित आकार नहीं लिया। डा० विद्याभूषण का यह कथन समु-

चित प्रतीत होता है कि आन्वीक्षिकी के दो आधारभूत घटकों में से आत्मा के विश्लेषण ने 'दर्शन' का और हेतु के विश्लेषण ने न्यायशास्त्र का रूप धारण किया। हेतु को आधार मान कर चलने के कारण इसको हेतुशास्त्र, तर्क पर बल देने के कारण तर्कशास्त्र या तर्कविद्या तथा प्रमाणों के विश्लेषण में अधिक सन्नद्ध होने के कारण इसे प्रमाणशास्त्र या प्रमाण मीमांसा भी कहा जाता है। पर अधिक प्रचलित नाम 'न्यायशास्त्र' ही है।

2. भारतीय दर्शनों में न्याय का स्थान

एक ही वस्तु को बार-बार देखते रहने या एक ही कालावधि में अनेक वस्तुओं का साक्षात्कार करते रहने पर किसी व्यक्ति का सम्बद्ध ज्ञेय पदार्थों के सम्बन्ध में अपनी शक्ति, रुचि परिवेश आदि की सहायता या प्रेरणा से जो एक विशेष दृष्टिकोण बनता या विकसित होता चला जाता है, वह उस व्यक्ति का 'दर्शन' कहा जा सकता है। जब यही बात एक समुदाय या वर्ग करता है तो इसे उस समुदाय या वर्ग का 'दर्शन' कहते हैं। वैसे दर्शन शब्द का एक बहुत ही सीधा सादा अर्थ है, और वह है—देखने की प्रक्रिया; विधि या नजरिया। जैसे विभिन्न व्यक्तियों की रुचियों, आवश्यकताओं और शक्तियों आदि में अन्तर होता है, उसी प्रकार विभिन्न व्यक्तियों के देखने की विधियों में भी अन्तर होता है। इसके अतिरिक्त सभी दृष्टिकोण इतने ऊँचे स्तर पर नहीं विकसित हो पाते कि वे अपना स्थायी चिह्न छोड़ सकें या बाद के लोग उन्हें याद रखें। स्थायित्व प्राप्ति के लिये सम्बद्ध दृष्टिकोण में अधिक से अधिक लोगों को प्रभावित करने की शक्ति होनी चाहिये। इसीलिये संसार में उत्पन्न असंख्य लोगों के असंख्य मतों की तुलना में 'दर्शन' के नाम से अभिहित संकल्पनाओं की संख्या इनी-गिनी ही है। तात्पर्य यह हुआ कि दर्शन का सामान्य अर्थ भले ही 'देखने की विधि' है, पर पारिभाषिक रूप में दर्शन शब्द से हम चिन्तन के उन मान्य व मानक रूपों का ही ग्रहण करते हैं, जिनकी सहायता से हम जीवन और जगत के सम्बन्ध में समुचित ज्ञान प्राप्त कर सकें।

सांसारिक वस्तुओं के ज्ञान के लिए भी पर्याप्त अनुभव व सधे हुये दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है और ज्ञान का विषय अब पारलौकिक हो, तब तो फिर केवल ऋषि कोटि के महामनीषियों की बात का ही महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है। ऋषियों या ऋषिकल्प लोगों में भी पारस्परिक मतभेद सम्भव है। अतः अज्ञान के निवारण के लिये अपने पूर्वजों की तपः संभृत ज्ञानराशि का सहारा लेते हुये भी हमें इस बात का तो ध्यान रखना ही चाहिये कि

सत्य या वस्तुतत्त्व गहरी गुफा में निहित है और उसके जिस अंश का जिस मनीषी को जैसा भान हुआ, वैसा ही उन्होंने उसका वर्णन किया है। किन्तु इसका यह आशय नहीं कि हमारा परिचय वस्तुतत्त्व के जिस रूप या अंश से है, उससे भिन्न उसका कोई रूप या अंश नहीं हो सकता। विभिन्नता के इस मूलभूत सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर यह बात समझ में आ सकती है कि भारत में दर्शनों की संख्या एक से अधिक क्यों है, प्रत्येक दर्शन में ज्ञान के साधनों के स्वरूप विश्लेषण की आवश्यकता क्यों है और न्यायशास्त्र को सब विद्याओं का दीपक क्यों कहा गया है।

भारतीय दर्शन प्रमुखतया आस्तिक और नास्तिक इन दो वर्गों में विभक्त हैं। यह वर्गीकरण वेद को वृत्त मानकर किया गया है। वेद के प्रामाण्य या महत्त्व को स्वीकार कर चलने वाले दर्शनों की संख्या छः है और अन्य प्रमुख दर्शनों की संख्या तीन है। आस्तिक दर्शन हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त; और नास्तिक दर्शन हैं—चार्वाक, बौद्ध तथा जैन। कुछ विद्वानों के मत में यह वर्गीकरण निराधार है और पाणिनि के सूत्र 'अस्तिनास्ति दिष्टं मतिः' (4-4-30) के अनुसार परलोक की सत्ता को मानने वाले दर्शन आस्तिक और न मानने वाले नास्तिक कहलाने चाहिये। ज्ञातव्य है कि यदि इस व्युत्पत्ति को मान लिया जाये तो इस प्रकार बौद्ध और जैन दर्शन, नास्तिक नहीं कहला सकते हैं। 'अद्वैत' के सिद्धान्त के आधार पर यदि भारतीय दर्शनों का वर्गीकरण किया जाये तो वेदान्त, मीमांसा और व्याकरण अभेदवादी दर्शन माने जाएँगे और बाकी सब भेदवादी। अभेदवादी दर्शन श्रौत नाम से और भेदवादी दर्शन तार्किक नाम से भी प्रसिद्ध हैं। माधवाचार्य ने सर्वदर्शन संग्रह में निम्नलिखित सोलह दर्शनों की चर्चा की है—चार्वाक दर्शन, बौद्ध-दर्शन, आर्हत दर्शन, रामानुज दर्शन, (विशिष्टाद्वैत वेदान्त), पूर्णप्रज्ञ दर्शन (द्वैत-वेदान्त), नकुलीश-पाशुपतदर्शन, शैवदर्शन, प्रत्यभिज्ञा दर्शन, रसेश्वर दर्शन, औलूक्य दर्शन (वैशेषिक), अक्षपाददर्शन (न्याय), जैमिनिदर्शन (मीमांसा), पाणिनि-दर्शन (व्याकरण), सांख्यदर्शन, पातंजल दर्शन (योग), तथा शांकर-दर्शन (अद्वैत वेदान्त)। यहाँ हम आस्तिक और नास्तिक के परंपरीण वर्गीकरण को अपना कर अन्य प्रमुख भारतीय दर्शनों में उपलब्ध न्यायशास्त्रीय तत्त्वों का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

(i) चार्वाक दर्शन और न्याय

षड्दर्शन समुच्चय के टीकाकार गुणरत्न का कथन है कि जो पुण्य-

पाप आदि परोक्ष वस्तुओं का चर्वण (नाश) कर दे, वह चार्वाक है। एक अन्य व्युत्पत्ति के अनुसार चार्वाक उन व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होने वाला शब्द है, जिनका कथन आपात रमणीय होता है।[15] व्युत्पत्ति की दृष्टि से उपर्युक्त अर्थों का बोधक होने के साथ ही चार्वाक शब्द भारतीय दर्शन में सामान्यतया उस व्यक्ति का वाचक है, जो नास्तिक मत का मुख्य प्रतिपादक तथा बृहस्पति का शिष्य बताया जाता है। चार्वाक दर्शन लोकायत के नाम से भी पुकारा जाता है।[16] शंकर, भास्कर आदि सुप्रसिद्ध भाष्यकार इस मत को लोकायतिक कहते हैं।[17] बिना प्रयास या उपदेश के भी लोग सामान्यतया इस मत का अनुगमन स्वाभाविक रूप से करते रहते हैं, अतः इसका लोकायत नाम युक्तिसंगत ही है। कुछ विद्वानों के मत में लोकायत चार्वाकों का एक सम्प्रदाय विशेष है।

इस मत का प्रतिपादक मूलग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। अन्य दर्शनों के ग्रन्थों में इसकी चर्चा मिलती है। सर्वदर्शन संग्रह में चार्वाक दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों का संग्रह किया गया है। चार्वाक के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार महाभूत ही तत्त्व हैं। शरीर चार महाभूतों का परिणाम है। चैतन्ययुक्त शरीर ही आत्मा है। महाभूत जब शरीर का रूप, धारण करते हैं, तो शरीर में चैतन्य उसी प्रकार अन्तस्फूर्त होता है, जैसे पान, सुपारी और चूने के योग से पान की लाली उत्पन्न होती है। चार्वाकों की दृष्टि में स्त्री आदि के आलिंगनादि से उत्पन्न सुख ही पुरुषार्थ है। काँटा आदि गड़ने से उत्पन्न पीड़ा ही नरक है। सांसारिक शासक ही परमेश्वर है। शरीर का नाश ही मुक्ति है।[18] चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। न्याय शास्त्र के आचार्यों ने चार्वाक दर्शन के इसी अंश का अधिकतर उल्लेख किया है। नैयायिकों ने चार्वाकों के इस मत का खंडन किया है।

कतिपय विद्वानों ने सर्वदर्शन संग्रह में परिगणित इन सोलह भारतीय दर्शनों का वर्गीकरण निम्नांकित आरेख के अनुसार भी किया है—

- भारतीय दर्शन
  - आस्तिक
    - निर्गुण आत्मवादी
      - तार्किक
        - निरीश्वर (सांख्य)
        - सेश्वर योग
      - श्रौत (शांकर वेदान्त)
    - सगुण आत्मवादी
      - तार्किक
        - प्रच्छन्न तार्किक
          - प्रच्छन्न द्वैतवादी (रामानुज)
          - स्पष्ट द्वैतवादी (माध्व)
        - स्पष्ट तार्किक
          - भोगसाधन अदृष्टवादी
            - विदेह मुक्तिवादी
              - आत्मभेदवादी
                - कर्मनिरपेक्ष ईश्वरवादी (नकुलीशपाशुपत)
                - कर्मनिरपेक्ष ईश्वरवादी (शैव)
              - आत्मैक्यवादी (प्रत्यभिज्ञावादी)
            - जीवन्मुक्तिवादी (रसेश्वर)
          - उत्पत्तिसाधन अदृष्टवादी
            - शब्द को प्रमाण मानने वाले (नैयायिक)
            - शब्द को प्रमाण न मानने वाले (वैशेषिक)
      - श्रौत
        - वाक्यार्थवादी (मीमांसक)
        - पदार्थवादी (वैयाकरण)
  - नास्तिक
    - आध्यक्षिक (चार्वाक)
    - तार्किक
      - क्षणिकवादी (बौद्ध)
      - स्याद्वादी (जैन)

(ii) बौद्धदर्शन और न्याय

महात्मा बुद्ध ने अपने युग व समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप जनभाषा पालि में अपने उपदेश दिये थे। 570 ई०पू० के (लगभग) गौतम बुद्ध का जन्म हुआ तथा 490 ई० पू० के लगभग परिनिर्वाण। कहा जाता है कि बौद्ध धर्म और दर्शन का आख्यान विभिन्न तथागतों ने विभिन्न समयों में किया। किन्तु इस समय जिस बौद्धदर्शन की हम चर्चा कर रहे हैं वह शाक्यमुनि गौतम द्वारा प्रवर्तित तथा उनके अनुयायियों द्वारा राजगृह, वैशाली तथा पाटिलपुत्र में अजातशत्रु, कनिष्क तथा अशोक के समय (क्रमश: 590 ई०पू०, 390 ई०पू० तथा 255 ई०पू०) में संपन्न संगीतियों में निर्मित त्रिपिटक में सिद्धांतबद्ध किया गया और जिसमें उत्तरवर्ती आचार्यों का भी पर्याप्त योगदान रहा।

त्रिपिटक में न्यायशास्त्र से सम्बन्धित विषयों पर कोई चर्चा उपलब्ध नहीं होती। विज्ञान का वर्गीकरण चक्खुविज्ञान, सोत विज्ञान आदि दस भागों में किया गया है पर इस बात को न्याय की कोटि में गिनना उपयुक्त न होगा। कुछ श्रमणों का 'तक्कि' के रूप में उल्लेख भी कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। वस्तुत: बौद्धधर्म के उद्भव से लेकर चौथी शती तक, बौद्धों ने न्याय की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध एक थे किन्तु बाद में उनके अनुयायी चार सम्प्रदायों में बँट गए। इन सम्प्रदायों के नाम हैं—

(1) माध्यमिक (शून्यवाद), (2) योगाचार, (3) सौत्रान्त्रिक तथा (4) वैभाषिक। प्रथम तथा द्वितीय महायान से सम्बद्ध हैं तथा तृतीय और चतुर्थ हीनयान से।

इन बौद्ध सम्प्रदायों का संक्षिप्त विवरण दिये बिना इनके आचार्यों द्वारा न्याय के क्षेत्र में किये गये योगदान का उचित आकलन नहीं हो पाएगा।

माध्यमिक मत को ही शून्यवाद भी कहते हैं। इसका प्रवर्तन नागार्जुन ने किया था। इस सम्प्रदाय के अनुसार संसार असत् या शून्य है। ज्ञाता, ज्ञेय ज्ञान सभी भ्रम हैं। शून्य का अर्थ है चतुष्कोटि अर्थात सत्, असत्, सदसत् तथा असन्नासत् से विलक्षण[19]। ज्ञातव्य है कि शंकर ने भी माया को त्रिकोटिशून्य बताया है। उन्होंने असन्नासन् का उल्लेख नहीं किया। माध्यमिक सम्प्रदाय का प्रसिद्ध ग्रन्थ है—माध्यमिक कारिका।

विज्ञानवाद का दूसरा नाम योगाचार भी है। असग, वसुबन्धु, दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति इसी मत के समर्थक रहे हैं। बौद्धन्याय के पिता दिङ्नाग वसुबन्धु

के शिष्य थे ।[20] इस सम्प्रदाय के अनुसार बाह्य पदार्थ तो शून्य हैं, पर चित्त असत् नहीं हो सकता । मनोगत धारणाएँ ही बाह्य वस्तुओं के रूप में भ्रमवत् दिखाई देती हैं । विषयी बाह्य पदार्थों पर अपनी धारणाओं का आरोपण करता है । सारांश यह कि अन्य सब पदार्थ तो असत् हैं किन्तु शुद्ध चैतन्य सत है । लंकावतारसूत्र में इस सम्प्रदाय के प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है । राहुल सांकृत्यायन का मत है कि योगाचार शब्द असंग के सबसे बड़े ग्रन्थ 'योगाचार-भूमि' से लिया गया है ।[21]

सौत्रान्तिक : शून्यवादियों के मत में मानसिक और बाह्य दोनों पदार्थ असत् हैं । विज्ञानवादियों के अनुसार मानसिक पदार्थ सत और बाह्य पदार्थ असत हैं, किन्तु सौत्रान्तिक बौद्धों के मत में मानसिक और बाह्य दोनों पदार्थ सत् हैं । सूत्रपिटक से अधिक सम्बन्धित होने के कारण यह मत सौत्रान्तिक कहलाता है । सब कालों की सत्ता मानने के कारण इसे **सर्वास्तिवाद** भी कहते हैं । सौत्रान्तिक बौद्ध बाह्य पदार्थों को अनुमेय मानते हैं ।

वैभाषिक : अभिधर्म महाविभाषा नामक ग्रन्थ में वर्णित सिद्धान्तों के आधार पर प्रवर्तित होने के कारण इस सम्प्रदाय का नाम वैभाषिक पड़ा । वैभाषिक बौद्ध बाह्य पदार्थों को प्रत्यक्षगम्य मानते हैं । इनका मत है कि पहले से अग्नि का प्रत्यक्ष जिस व्यक्ति ने न किया हो, वह धूम को देखकर अग्नि का अनुमान नहीं कर सकता ।

न्याय के सन्दर्भ में हमारा अध्ययन मुख्य रूप से 'बौद्धमत के विज्ञानवाद' से सम्बद्ध होगा । चौथी शताब्दी में आचार्य दिङ्नाग के आविर्भाव से पूर्व बौद्ध न्याय की अवस्थिति नगण्य थी । दिङ्नाग वस्तुतः न केवल बौद्धन्याय के पिता अपितु समग्र भारतीय न्यायशास्त्र के एक मेरुमणि हैं । उन्होंने न्याय की एक ऐसी लम्बी परंपरा को जन्म दिया, जिसने शताब्दियों तक गहरे ऊहापोह के साथ भारतीय न्याय को निखारा व परिष्कृत किया । बौद्ध नैयायिकों, उनके ग्रन्थों और मुख्य सिद्धान्तों की चर्चा आगे चलकर यथावसर की जाएगी । यहाँ पर तो इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि भारतीय न्यायशास्त्र के विकास में बौद्ध नैयायिकों का योगदान वैदिक नैयायिकों से किसी भी तरह कम नहीं रहा ।

(iii) जैनदर्शन और न्याय

जैन दर्शन और धर्म न तो ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है और न वेद के प्रामाण्य को । जैनधर्म के तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ ऐतिहा-

सिक पुरुष थे। उनका जन्म ईसा से 800 वर्ष पूर्व हुआ था। उनसे 250 वर्ष बाद भगवान् महावीर का आविर्भाव हुआ। उनके प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम थे। उन्होंने भगवान् महावीर के उपदेशों को बारह अंगों में निबद्ध किया। इस प्रकार जैनधर्म व दर्शन के विपुल साहित्य का भण्डार खड़ा हुआ।

धर्म के रूप में जैन सम्प्रदाय दो वर्गों में बँटा है—श्वेताम्बर तथा दिगम्बर। इन सम्प्रदायों के आपसी मतभेद कर्मकाण्डीय अनुष्ठानों को लेकर हैं। साथ ही श्वेताम्बर मत के अनुसार जैन धर्म के धर्मग्रन्थों में से 14 पूर्व खो गए हैं, किन्तु 12 अंग अभी शेष हैं। दिगम्बर मत के अनुसार 12 अंग भी खो गए हैं और जो अंग इस समय हैं, वे मूल नहीं हैं। अंगों के बारे में जैनों का मतभेद होने पर भी वे ही प्राचीनतम जैन साहित्यिक कृतियाँ हैं। इनका अन्तिम सम्पादन 454 ई० में हुआ। जैन दर्शन के क्रमबद्ध निरूपण के लिए ऐसा मूलभूत ग्रन्थ उमास्वाति का 'तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र' है, जिसे दोनों सम्प्रदायों की मान्यता प्राप्त है। जैन परम्पराओं के लम्बे इतिहास में अनेक धुरन्धर तार्किक हुए। इनमें प्रमुख हैं—अकलंक, जिन्हें दोनों परम्पाएँ मानती हैं। इससे पहले श्वेताम्बर सिद्धसेन और दिगम्बर समन्तभद्र हुए।

जैन दर्शन में न्याय के तत्त्व तो बारहवें अंग **'दृष्टिवाद'** में भी ढूंढे जा सकते हैं, किन्तु जैनन्याय का वास्तविक आधार आचार्य उमास्वाति, स्वामी समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक और हेमचन्द्र के ग्रन्थ माने जाते हैं। भारतीय न्याय एक त्रिकोण है, और उसमें जैन न्याय की अपनी एक विशिष्ट भूमिका रही है। जैनदर्शन में न्याय को जो महत्त्व दिया गया है, वह जैनन्याय के विशाल ग्रन्थ भाण्डार से स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है।

जैन मनीषियों ने तत्त्व-चिन्तन में अनेकान्त दृष्टि का उपयोग किया है, अतः जैन न्याय भी अनेकान्तवाद पर ही आधारित है और इसके लिए उन्होंने 'स्याद्वाद' की भाषा शैली को अपनाया है। स्याद्वाद की शैली के दो प्रमुख घटक या तत्त्व हैं—सापेक्षता तथा समन्वय। हमारे कथन में अनन्त धर्मात्मक वस्तु के केवल एक धर्म का प्रतिपादन किया जाता है। क्योंकि हम समग्रता को एकसाथ नहीं जान सकते। सापेक्षता का सिद्धान्त हमें खण्डों की पृष्ठभूमि में विद्यमान अखण्डता या समग्रता के प्रति जागरूक रखता है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वत्व में निरपेक्ष नहीं हैं। व्याप्ति या अविनाभाव के नियमों का निर्धारण सापेक्षता के सिद्धान्त पर ही होता है। स्थूल जगत् के नियम सूक्ष्म जगत् में खण्डित हो जाते हैं। इसलिए विश्व की व्याख्या दो नयों से की गई है—सूक्ष्म

जगत् या वास्तविक सत्य की व्याख्या निश्चय नय से तथा स्थूल जगत् या दृश्य सत्य की व्याख्या व्यवहार नय से। स्याद्वाद का दूसरा अंग 'समन्वय' है। जैन मनीषियों ने विरोधी धर्मों का एक साथ होना असंभव नहीं माना है। उदाहरणतया शब्द नित्य है या अनित्य—इस सम्बन्ध में दो विरोधी मत हो सकते हैं। जैन मतानुसार विरोध भी समन्वय का जनक होता है। सारांश यह है कि जैन आचार्यों ने न्याय के क्षेत्र में जो महत्त्वपूर्ण योगदान किया, उसका आकलन किए बिना वैदिक न्याय का अध्ययन अपूर्ण ही रहेगा।[22]

(iv) वैशेषिक दर्शन और न्याय

वैशेषिक और न्याय समानतन्त्र शास्त्र हैं। इनकी एक दूसरे के साथ इतनी अधिक निकटता है कि अधिकतर विद्वान् न्याय और वैशेषिक का पृथक्-पृथक् विवेचन अनुपयुक्त समझते हैं। 'वैशेषिक' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। कुछ लोगों का कथन है कि अन्य शास्त्रों, विशेषकर सांख्य से विशेषता बताने के लिए इसका नाम वैशेषिक पड़ा। कतिपय लोगों का मत है कि द्रव्य, गुण आदि पदार्थों में धर्म और धर्मी का विशेष रूप से विवेचन करने के कारण इस शास्त्र को 'वैशेषिक' कहा जाता है। एक मत यह भी है कि विशेष को भी पदार्थ मानने के कारण इसको वैशेषिक कहते हैं। इनसे पूर्व 'विशेष को किसी ने पदार्थ नहीं माना था। परन्तु अधिक प्रचलित और युक्तिसंगत मत यह है कि 'विशेष' नामक पदार्थ पर जोर देने और उसका समीचीन विवेचन करने के कारण इस शास्त्र का नाम वैशेषिक पड़ा।[23] योगसूत्र पर अपने भाष्य में व्यास ने इसी मत का समर्थन किया है।[24] वैशेषिक सूत्र रचयिता कणाद माने जाते हैं। गिरे हुए अन्नकणों को चुनकर और उन्हें ही खाकर अपनी जीविका चलाने के कारण वे कणाद कहलाये। उदयनाचार्य के कथनानुसार ये कश्यप गोत्र के ब्राह्मण थे। वायुपुराण में बताया गया है कि वे प्रभास तीर्थ में रहते थे और शिव के अवतार थे। इनके पुत्र का नाम सोमशर्मा था। किन्तु परम्परा के अनुसार यह माना जाता है कि ये उलूक ऋषि के पुत्र थे। एक जनश्रुति यह है कि ईश्वर ने उलूक का रूप धारण कर उन्हें छः पदार्थों का उपदेश दिया। उपर्युक्त जनश्रुतियों के आधार पर ही इस दर्शन को औलूक्य दर्शन भी कहा जाता है। प्रो० गार्बे और डा० राधाकृष्णन् प्रभृति विद्वानों का विचार है कि वैशेषिक सूत्र का निर्माण न्यायसूत्र से पहले हुआ था। अतः इनका प्रभाव न्यायसूत्र के अतिरिक्त चरक संहिता पर भी है जबकि वैशेषिक सूत्रों पर न्याय का प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता।[25]

वैशेषिक सूत्र में 10 अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय दो-दो आन्हिकों में विभक्त हैं। इसमें कुल मिलाकर 370 सूत्र हैं। प्रशस्तपाद (450 ई०) का पदार्थ धर्म-संग्रहवैशेषिक सूत्र का प्रामाणिक भाष्य है। उत्तरवर्ती समस्त वैशेषिक साहित्य का आधार प्रशस्तवाद का भाष्य ही रहा। इसकी टीकाओं में व्योमशिवाचार्य (980 ई०) की व्योमवती, उदयनाचार्य (984 ई०) की किरणावली, श्रीधर (991 ई०) की न्यायकन्दली तथा श्री वत्स (1025 ई०) की लीलावती प्रमुख हैं। कणाद सूत्रों पर रावण भाष्य का भी उल्लेख मिलता है। शंकर मिश्र (1425 ई०) की कणादसूत्र पर उपस्कार तथा प्रशस्तपाद भाष्य पर कणाद रहस्य टीका भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं। वैशेषिक दर्शन पर स्वतन्त्र ग्रन्थों में ज्ञानचन्द्र (600 ई०) की दशपदार्थी, उदयन की लक्षणावली, शिवादित्य (1050 ई०) की सप्तपदार्थी, वल्लभाचार्य (12वीं शती) की न्याय लीलावती तथा लौगाक्षिभास्कर (1325 ई०) की तर्ककौमुदी के नाम विशेषरूप से उल्लेख-नीय हैं। प्रकरण ग्रन्थों में से विश्वनाथ पंचानन के भाषा परिच्छेद और अन्न भट्ट के तर्कसंग्रह में वैशेषिक के सिद्धान्तों का सरल भाषा में विवेचन किया गया है।

न्याय और वैशेषिक की अपनी-अपनी लम्बी परम्पराएँ रही हैं, पर वे एक दूसरी के साथ इतनी अधिक घुल-मिल गई हैं कि एक को दूसरी से पृथक् करके देख सकना भी कठिन है। इस निकटता का यह आशय नहीं कि इन दोनों शास्त्रों में कहीं भी मतभेद नहीं। वस्तुतः कई अंशों में उनमें बड़ा अन्तर है। उदाहरण के रूप में नैयायिक चार प्रमाण मानते हैं, किन्तु वैशेषिकों के अनुसार 'उपमान' और 'शब्द' प्रमाण कोटि में नहीं आते। न्याय में सोलह पदार्थ और नौ द्रव्य माने गए हैं, जबकि वैशेषिक सात पदार्थ और नौ द्रव्य मानता है। न्याय पाँचों इन्द्रियों के पाँच प्रत्यक्ष यानी चाक्षुष, श्रावण, रासन, घ्राणन और स्पार्शन मानता है परन्तु वैशेषिक केवल चाक्षुष प्रत्यक्ष को ही स्वीकार करते हैं। न्याय के अनु-सार समवाय का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है जबकि वैशेषिक इसके लिए अनुमान का सहारा लेता है। पाकजोत्पत्ति के सम्बन्ध में वैशेषिक पीलु (परमाणु) पाक-वादी है जबकि नैयायिक पिठर (घट) पाकवादी।

न्याय के अनुसार हेत्वाभास पाँच हैं—असिद्ध, विरुद्ध, सव्यभिचार, सत्प्रतिपक्ष और बाधित, जबकि वैशेषिक—विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध इन तीन को ही हेत्वाभास मानता है। इसके अतिरिक्त कर्म की स्थिति, द्वित्व संख्या की उत्पत्ति, विभागज विभाग जैसे कई अन्य प्रश्नों पर भी न्याय और वैशेषिक के चिन्तन में विभिन्नता है। दोनों के समान तत्त्वों का परिगणन किया जाय तो कहा जा सकता है कि न्याय और वैशेषिक ये दोनों माहेश्वर सम्प्रदाय हैं। चरक संहिता में न्याय

और वैशेषिक के विषयों के साथ-साथ विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि उस समय तक न्याय वैशेषिक में कोई भेद नहीं था। बौद्धों के ग्रन्थों से भी ऐसा पता चलता है कि वे पाँचवीं शताब्दी तक न्याय और वैशेषिक को पृथक्-पृथक् शास्त्र नहीं मानते थे। वैसे भी दोनों दर्शन वस्तुवादी हैं और असत्कार्यवादी भी।

गोल्डस्टकर वैशेषिक दर्शन को न्यायदर्शन की एक शाखा मानते हैं। जबकि चन्द्रकान्त ने वैशेषिक दर्शन की भूमिका में यह प्रतिपादित किया है कि वैशेषिक न्याय से प्राचीन है। इस मत की पुष्टि वात्स्यायन के इस कथन से भी होती है कि गौतम के न्यायसूत्र के कतिपय अस्पष्ट अंशों की पूर्ति वैशेषिक दर्शन से होती है। इससे प्रतीत होता है कि गौतम वैशेषिक के मूल सिद्धान्तों से परिचित थे। कुछ विद्वानों का यह भी कथन है कि वैशेषिक के सिद्धान्तों की सिद्धि के लिए ही न्याय का उद्भव हुआ होगा।

इस प्रकार इतना तो निश्चित ही है कि न्याय के विकास में वैशेषिक का और वैशेषिक के विकास में न्याय का पर्याप्त हाथ रहा और प्रकरण ग्रन्थों ने तो दोनों को समानतन्त्र की स्थिति से उठाकर लगभग एकतन्त्र की स्थिति में पहुँचा दिया है।

यद्यपि प्रमाणों की संख्या के बारे में बौद्धों और वैशेषिकों का मत मिलता है। किन्तु वैशेषिक तो अनुपलब्धि का प्रत्यक्ष में, उपमान अर्थापत्ति आदि का अनुमान में अन्तर्भाव कर लेते हैं, जबकि कार्य, स्वभाव और अनुपलब्धि हेतु से जन्य ज्ञान को ही अनुमान मानने के कारण, बौद्ध अनुमान में उनका पूर्ण अन्तर्भाव नहीं होता।

प्रकरण ग्रन्थों में न्याय वैशेषिक का समन्वय हुआ। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आरम्भ में भी कई दृष्टियों से दोनों को एक ही समझा जाता था। अतः स्पष्ट है कि न्याय और वैशेषिक दर्शन एक दूसरे से पर्याप्त सम्बद्ध रहे हैं और इसीलिए उनको समानतन्त्र कहा जाता है।

(v) सांख्य दर्शन और न्याय

सांख्य दर्शन के जन्मदाता कपिल माने जाते हैं। कुछ विद्वानों का यह कथन है कि आज जो सांख्यसूत्र उपलब्ध होता है, वह कपिलकृत नहीं बल्कि उत्तरकालीन किसी अन्य आचार्य की रचना है। कपिल के उत्तरवर्ती आसुरि, पंचशिख, विन्ध्यवासी आदि आचार्यों का उल्लेख तो कई ग्रन्थों में मिलता है किन्तु उनके ग्रन्थों का पता नहीं चलता। ईश्वरकृष्ण की सांख्य- कारिका ही आजकल

सांख्य का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। सांख्यकारिका की प्रसिद्ध टीकाओं में माठरवृत्ति, युक्तिदीपिका, गौड़पादभाष्य, जयमंगला सांख्यतत्त्व कौमुदी आदि प्रमुख हैं। अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु ने सांख्यसूत्र पर क्रमशः अनिरुद्धवृत्ति और सांख्यप्रवचन भाष्य लिखे हैं। कहा जाता है कि 'षष्ठितन्त्र' भी सांख्य दर्शन का ही एक ग्रन्थ था जो अब उपलब्ध नहीं है।

सांख्य सर्वाधिक प्राचीन दर्शन है। वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों तथा पुराणों में सांख्य के सिद्धान्त पुष्कल मात्रा में उपलब्ध होते हैं। गार्बे तथा हरप्रसाद शास्त्री ने भी अनेक युक्तियों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि सांख्य दर्शन का काल बुद्ध से पहले का है। गार्बे का यह कथन भी उल्लेखनीय है कि ईश्वर कृष्ण 500 ई० में रहे होंगे और वर्तमान सांख्यसूत्र एक जाली ग्रन्थ है, जिसका निर्माण सांख्य और वेदान्त में सामंजस्य स्थापित करने के लिए किसी व्यक्ति ने 1400 ई० के लगभग किया है।[26] विज्ञान भिक्षु के भाष्य के सम्बन्ध में भी गार्बे का यह कथन है कि वह सांख्य के मूल सिद्धान्त (निरीश्वरता) का प्रतिपादन नहीं करता। अतः भ्रामक है। सांख्य को वेदान्त की परिधि में पहुँचाने के कारण सांख्य का एक सम्प्रदाय के रूप में ह्रास ही हुआ विकास नहीं।[27]

'सांख्य' शब्द की व्युत्पति अनेक प्रकार से की जाती है। कुछ विद्वानों का यह मत है कि यह शब्द सम् (सम्यग्) + ख्यात् (चक्षिङ्) के योग से बना है।[28] इसका अर्थ यह हुआ सम्यक् ज्ञान, विवेकबुद्धि जिसको सत्व-पुरुषान्यथा-ख्याति भी कहा गया है। अन्य विद्वानों का मत है कि सांख्य दर्शन में तत्त्वों की संख्या बताई गई है अतः 'तत्त्वगणक' होने के कारण इसे सांख्य कहा जाता है। सांख्य प्रवचन भाष्य की भूमिका में भी इसी मत का उल्लेख किया गया है।[29]

सांख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष के द्वैत को मान कर चलता है। सांख्य के अनुसार समस्त विश्व सत् है। सत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति मानने के कारण सांख्य सत्कार्यवादी कहलाता है। इस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि बौद्ध असत् कारण से सत् कार्य का उद्भव मानते हैं, वेदान्ती सत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। नैयायिक असत् कार्यवादी हैं यानी वे कार्य की सत्ता उत्पत्ति के पूर्व कारण में नहीं मानते। सांख्य सत्कार्यवाद की सिद्धि के लिए यह तर्क देता है कि (1) असत्य से सत् का निर्माण नहीं हो सकता, (2) विशेष कार्य के लिए विशेष कारण की आवश्यकता पड़ती है इससे प्रतीत होता है कि कार्य अव्यक्त रूप से कारण में रहता है, (3) शून्य से शून्य का ही निर्माण हो सकता है, (4) शक्त कारण से ही कार्य का निर्माण होता है, (5) सम्बन्ध

सत् वस्तुओं के बीच ही हो सकता है, तथा (6) कारण और कार्य के बीच अभेद सम्बन्ध है।[30]

सांख्य के अनुसार प्रमाण तीन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। वाचस्पति मिश्र की सांख्यतत्त्वकौमुदी और विज्ञानभिमुक्षु के सांख्य प्रवचन भाष्य में प्रमाणों पर चर्चा की गई है। अतः न्याय के प्रमुख विषय को सांख्य में भी स्थान दिया गया है। सांख्य के प्रमाण विषयक सिद्धान्तों का न्याय के ग्रन्थों में खण्डन किया गया है।

(vi) योगदर्शन और न्याय

योगदर्शन के प्रवर्तक महर्षि पतंजलि हैं। सांख्य द्वारा परिगणित तत्त्वों में पतंजलि ने ईश्वर को भी जोड़ दिया, अतः इसे सांख्य प्रवचन या सेश्वर सांख्य भी कहते हैं। कहा जाता है कि पतंजलि से पहले हिरण्यगर्भ, याज्ञवल्क्य आदि आचार्यों ने भी योग का प्रवचन किया था। कालांतर में उनके मतों की पतंजलि ने बोधगम्य शैली में योगसूत्र में निबद्ध किया। इसीलिए इसको 'पतंजलि दर्शन' के नाम से पुकारा जाता है। योगसूत्र का विभाजन चार पादों में किया गया है—(1) समाधिपाद, (2) साधनपाद, (3) विभूतिपाद और (4) कैवल्यपाद।

दासगुप्त प्रभृति कतिपय विद्वान् महाभाष्यकार पतंजलि (द्वि० श० ई० पू०) और योगसूत्रकार पतंजलि को एक ही व्यक्ति मानते हैं, जबकि जैकोबी ने योगसूत्र का समय 450 ई० निर्धारित किया है। ये सब अनुमान मात्र हैं। वस्तुस्थिति यह है कि योग की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। सिन्धु सभ्यता के ध्वंशावशेषों में ऐसी प्रस्तर मूर्तियाँ मिली हैं, जिनमें यौगिक क्रियाओं के चित्र हैं।[31]

योग और न्याय का सम्बन्ध जोड़ने में सम्भवतः इस मान्यता ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया कि ज्ञान-प्राप्ति के साधनों में योग क्रियाओं द्वारा जनित अनूठा अनुभव भी सम्मिलित है। दिङ्नाग और धर्मकीर्ति जैसे विद्वानों ने भी यह स्वीकार किया कि प्रत्यक्ष ज्ञान चार प्रकार का होता है जिनमें ऊँची कोटि का ज्ञान योगजनित है। धर्मोत्तर ने कहा कि योगजनित प्रत्यक्ष का विषय है बुद्ध द्वारा प्रतिपादित 'चार आर्य सत्य'[32]। कुमारिल जैसे कुछ दार्शनिकों ने योगजनित अनूठे अनुभव को व्यक्तिगत कल्पना-तरंग का नाम देते हुए किसी दार्शनिक मत की सिद्धि में उसको अनुपयोगी बताया,[33] परन्तु इस खण्डन-मण्डन से योग में न्याय की ओर न्याय में योग की चर्चा का प्रवेश तो हो ही गया।

(vii) मीमांसा दर्शन और न्याय

मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक जैमिनि माने जाते हैं। यद्यपि मीमांसा की परम्परा काफी पुरानी है, पर मीमांसा सूत्रकार जैमिनि के समय के सम्बन्ध में यह अनुमान लगाया जाता है वे 200 ई० पू० से 200 ई० की अवधि में होंगे। जैमिनि ने 2500 सूत्रों के द्वारा कर्मकाण्ड सम्बन्धी ब्राह्मण वाक्यों की संगति बिठाने का प्रयास किया है। कुछ विद्वानों का यह भी कथन है कि 'जैमिनि' मीमांसासूत्र के रचनाकार का नाम होने के अतिरिक्त किसी प्राचीन गोत्र या कबीले का नाम भी था, क्योंकि सामवेद की एक शाखा और ब्राह्मण का नाम भी जैमिनि है। स्वयं मीमांसासूत्र में ही 'जैमिनि' नाम का एक बार किसी विरोधी के नाम के रूप में भी उल्लेख हुआ है।[34] 'मीमांसा-सूत्र' पर 'शाबर-भाष्य' उपलब्ध होता है। शबर का समय भी अनिश्चित है। डा० गंगानाथ झा का कथन है कि वे 400 ई० से बाद के व्यक्ति नहीं हो सकते।[35] शबर स्वामी से पहले अन्य आचार्यों ने भी मीमांसा-सूत्र पर टीकाएँ लिखी होंगी, क्योंकि शबर ने स्वयं कुछ आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है। परन्तु वे अब उपलब्ध नहीं हैं। अत: उत्तरवर्ती मीमांसा साहित्य का आधार शबर भाष्य ही रहा। 7वीं शताब्दी में मीमांसाशास्त्र के दो बहुत ही प्रभावशाली आचार्य हुए—कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र। कुमारिल ने श्लोकवार्तिक, तन्त्र-वार्तिक तथा टुप्टीका की रचना की। प्रभाकर मिश्र ने भी बृहती और लघ्वी नाम से दो टीका-ग्रन्थों का निर्माण किया। कुमारिल और प्रभाकर का अनेक बातों में मतभेद था। फलत: मीमांसा में भाट्टमत और गुरुमत ये दो सम्प्रदाय प्रचलित हो गये। पार्थसारथि मिश्र की शास्त्रदीपिका, भाट्टमत का और शालिकनाथ मिश्र (9वीं शताब्दी) की प्रकरण पंजिका गुरुमत का अच्छा विश्लेषण करती हैं। एक उत्तरकालीन रचना 'मानमेयोदय' में इन दोनों मतों की अन्य दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में समीक्षा की गई है।

मीमांसा इस बात का जीता जागता उदाहरण है कि भारतीय दर्शन के एक आस्तिक (अर्थात् वेदभक्त) सम्प्रदाय के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करे। आधुनिक विद्वानों में से कुछ का यह कथन है कि मीमांसा निरीश्वरवादी नहीं है, किन्तु खन्डदेव मिश्र ने भाट्ट-दीपिका में यह स्पष्ट कर दिया है कि उत्तरकालीन मीमांसकों ने मीमांसा में भले ही ईश्वर का समावेश कर दिया है, किन्तु आरम्भिक मीमांसकों ने ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया था। इस संदर्भ में डा० राधाकृष्णन् का यह

कथन भी ध्यान देने योग्य है कि 'पूर्वमीमांसा की यह दरार (अर्थात् ईश्वर की मान्यता का अभाव) इतनी असन्तोषजनक थी कि परवर्ती रचनाकार धीरे-धीरे करके चोरीछिपे ईश्वर को ले आये।'

मीमांसा शास्त्र के अन्य प्रमुख सिद्धान्तों में भाट्टमत का ज्ञानानुमेयवाद (ज्ञातता द्वारा ज्ञान का अनुमान) तथा प्रभाकर का त्रिपुटि संवित् का सिद्धान्त पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। मीमांसकों की यह मान्यता है कि इस लोक में किये गये कर्म एक अदृष्ट शक्ति को उत्पन्न करते हैं, जिसे अपूर्व कहा जाता है। अपूर्व की सत्ता का ज्ञान वेद से होता है। वह स्वसंचालित है।

मीमांसा में न्याय के सिद्धान्तों का प्रमुख रूप से विश्लेषण भी कुमारिल और प्रभाकर ने आरम्भ किया। जहाँ एक ओर इन्होंने बौद्धों के तर्कों का खन्डन किया, वहाँ न्याय-वैशेषिक के कई सिद्धान्तों को भी आड़े हाथ लिया। परिणाम-स्वरूप न्याय के उत्तरवर्त्ती आचार्यों ने भी इनके मतों की तीखी आलोचना की। प्रमाणों की संख्या भाट्ट मीमांसकों ने छः तक पहुँचा दी। ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य का मीमांसकों ने प्रबलता से प्रतिपादन किया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मीमांसा मूल रूप में भले ही कर्म- काण्ड का विश्लेषण शास्त्र रहा हो, किन्तु अपने विकसित रूप में वह न्याय की समस्याओं से इतना उलझ गया कि न्याय की किसी भी समस्या के विश्लेषण में मीमांसकों के मत का उल्लेख आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी हो जाता है।

(viii) वेदान्त और न्याय

वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग या चरम रहस्य (वेद+अन्त उपनिषदों) से सीधा सम्बद्ध होने के कारण उपनिषदों को वेदान्तदर्शन का आधार माना जाता है। किन्तु उपनिषदों में विभिन्न मतों के बीज उपलब्ध होते हैं, अतः उन मतों को एक सुसंगत और क्रमबद्ध रूप देने का कार्य महर्षि बादरायण ने अपने हाथ में लेकर ब्रह्मसूत्र की रचना की। उपनिषदों में परमार्थ सत् अथवा चरम सत्ता को ब्रह्म नाम दिया गया है अतः बादरायण की कृति अन्वर्थक ही मानी जाती है। बाद में उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता ये तीनों मिलकर प्रस्थानत्रय नाम से वेदान्त दर्शन के मूल आधार माने गये। बादरायण ने कब ब्रह्मसूत्र की रचना की, इस सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से कुछ कह सकना कठिन है। संस्कृत के परम्परावादी विद्वान तो बादरायण और वेदव्यास को एक ही व्यक्ति समझते हैं और उनका समय महाभारत काल के आसपास मानते हैं। प्रो० दासगुप्त

ब्रह्मसूत्र का रचनाकाल 200 ई० पू० मानते हैं, किन्तु जैकोबी के अनुसार यह काल 200 ई० और 500 ई० के बीच हो सकता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, उपनिषदों में उपलब्ध मतों को सुसंगत रूप में प्रस्तुत करने के लिये ब्रह्मसूत्र की रचना हुई। किन्तु स्वयं ब्रह्मसूत्र इतना अस्पष्ट या बह्वर्थक सिद्ध हुआ कि उसकी भी विभिन्न व्याख्याएँ की जाने लगीं। दूसरे शब्दों में कहें तो ब्रह्मसूत्र ने एक ओर उपनिषदिक मतान्तरों को तो संगतिबद्ध किया किन्तु दूसरी ओर स्वयं भी कई मतों को जन्म दे दिया। फलत: ब्रह्मसूत्र पर जो प्रमुख भाष्य लिखे गये, उनके आधार पर वेदान्त में निम्नलिखित सम्प्रदायों का विकास हुआ—

शारीरक भाष्य :
1. अद्वैतवाद (शंकर : 8वीं शती)
2. विशिष्टाद्वैतवाद : (रामानुज : 11वीं शती)
3. द्वैताद्वैतवाद (निम्बार्काचार्य : 12वीं शती)
4. शुद्धाद्वैत : वल्लभाचार्य (12वीं शती)
5. द्वैतवाद (मध्वाचार्य : 13वीं शती)

शंकर द्वारा रचित भाष्य के बाद वेदान्तदर्शन में एक क्रान्ति सी आ गई। शंकर का समय 788-820 ई० माना जाता है। 32 वर्ष की अल्पायु में ही इन्होंने भारतीय दर्शन को अपनी अमूल्य कृतियों से ऐसा विभूषित किया कि शंकर के बिना भारतीय दर्शन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। शंकर के दर्शन की व्याख्या करते समय डा० राधाकृष्णन् ने यह ठीक ही कहा है कि 'उनका दर्शन सम्पूर्ण है, उसमें न पूर्व की आवश्यकता है न पर की। चाहे हम सहमत हों अथवा नहीं उनके मस्तिष्क का प्रकाश हमें प्रभावित किये बिना नहीं छोड़ता'।[36] यों शंकर के गुरु गोविन्दपाद तथा उनके भी गुरु गौड़पाद ने अद्वैत वेदान्त पर गौड़पाद कारिका लिखी थी पर अद्वैत वेदान्त का प्रभावी शिलान्यास शंकर के ही हाथों हुआ। शंकर ने ब्रह्मसूत्र की अद्वैतवादी व्याख्या की। इसके शारीरक भाष्य पर टीका-प्रटीकाओं की झड़ी लग गई। वाचस्पति मिश्र (नवीं शती) की भामती टीका, श्री हर्ष (बारहवीं शती) का **खन्डनखन्डखाद्य**—चित्सुखाचार्य (तेरहवीं शती) की चित्सुखी, विद्यारण्य (चौदहवीं शती) की पंचदशी, विवरण प्रमेय संग्रह और जीवन्मुक्ति विवेक, सदानन्द (सोलहवीं शती) का वेदान्तसार तथा मधुसूदन सरस्वती की अद्वैत सिद्धि आदि में अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या की गई है।

वेदान्त के सभी सम्प्रदाय प्रस्थानत्रयी का आश्रय लेते हैं, किन्तु जीव, ब्रह्म व जगत् के स्वरूप के सम्बन्ध में उनमें मतभेद है । मैक्समूलर आदि आधुनिक विद्वानों ने भी यह ठीक ही कहा है कि शंकर वेदान्त का सार है—'ब्रह्मसत्य है जगत् मिथ्या है और जीव और ब्रह्म एक ही है ।'[37]

न्याय की समस्याओं पर वेदान्त के आचार्यों में से धर्मराजाध्वरीन्द्र ने विस्तृत विचार किया है। उनके ग्रन्थ का नाम है—वेदान्तपरिभाषा। शंकर के अनुसार प्रमाण अविद्या की निवृत्ति करते हैं, ज्ञान नहीं देते। प्रमाणों में प्रमेय और प्रमाता का भेद होता है, जबकि ज्ञान सब प्रकार के भेदों से परे है । अविद्या के हटने और ज्ञान के होने में कोई अन्तर नहीं है। प्रमाण अविद्या के ही क्षेत्र में कार्य करते हैं। ज्ञान अर्थात आत्मा स्वयं प्रकाश है, वह स्वयं अपना प्रमाण है, उसको किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। किन्तु पारमार्थिक ज्ञान प्राप्त होने तक व्यावहारिक जगत में प्रमाणों के महत्त्व से शंकर ने इनकार भी नहीं किया है। श्रुति और तर्क से सामान्यतया तो वे श्रुति का ही समर्थन करते हैं, पर कहीं-कहीं उन्होंने तर्क को श्रुति का सहायक भी बताया है। वैसे शंकर का स्पष्ट कथन है कि तर्क से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती ।[38] गौड़पाद-कारिका के भाष्य में उपलब्ध शंकर के इस कथन पर कि 'ब्रह्म तर्क से भी जाना जा सकता है'[39] कतिपय विद्वानों का यह विचार है कि शंकर ने तर्क को माना तो है, किन्तु श्रुति को उससे श्रेष्ठ बताया है।

वेदान्त में प्रमाणों पर विवेचन उत्तरकालीन आचार्यों, विशेष रूप से धर्म-राजाध्वरीन्द्र ने किया, अतः न्याय के प्राचीन ग्रन्थों में उनका खण्डन-मण्डन नहीं मिलता। तत्त्व मीमांसा पर चर्चा के समय अवश्य ही नैयायिकों ने वेदा-न्तियों के कथनों का भी विश्लेषण किया है। और उपर्युक्त विवरण के आधार पर इतना स्पष्ट ही है कि वेदान्त में न्याय की समस्याओं पर यद्यपि आरम्भिक आचार्यों ने विशेष बल नहीं दिया, किन्तु उत्तरवर्ती आचार्यों ने न्याय की शैली को अपनाने के अतिरिक्त न्याय के विषयों पर भी चर्चा की है।

3. पाश्चात्य 'तर्कशास्त्र' और भारतीय 'न्यायशास्त्र' में साम्य तथा वैषम्य

भारत में विदेशी शासन की स्थापना का प्रभाव भारतीय समाज और साहित्य पर तो पड़ना स्वाभाविक ही था, किन्तु भारत की अत्यन्त पुरानी मान्यताओं, भारतीय संस्कृति के स्रोतों और यहाँ तक कि भारतीय दर्शन के मूल आधारों में से अनेक के बारे में भी कतिपय पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने

जो भ्रान्त धारणाएँ फैलाईं, उनको देखकर आश्चर्य होना भी अस्वाभाविक नहीं है। (भारत के स्वतन्त्र होने के बाद भी ऐसी धारणाओं का पूरी तरह निवारण नहीं हो पाया है)। कुछ लोग सदा ही इस मान्यता के आधार पर चलते हैं कि भारत में जो कुछ भी 'चिन्तन' प्राचीन काल में रहा, वह ग्रीक लोगों की मान्यताओं या ज्ञान-परम्पराओं के अनुकरण का ही परिणाम था। भारतीय न्याय और पाश्चात्य तर्कशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में भी कुछ विद्वानों की यही धारणा है।

इस संदर्भ में सर्वप्रथम विचारणीय बात तो यह है कि क्या संसार के विभिन्न क्षेत्रों में एक ही कालावधि में विभिन्न लोग एक ही प्रकार की बात नहीं सोच सकते? अनुभव बताता है कि इस बात के निषेध का कोई सर्वसम्मत प्रामाणिक आधार नहीं है। बल्कि 'सभी महापुरुष एक जैसा ही सोचते हैं'—जैसी कहावतें इस मत का समर्थन करती हैं कि एक ही समयमें विभिन्न चिन्तक एक दूसरे से अपरिचित या अप्रभावित रहते हुए भी एक ही प्रकार की बात सोच सकते हैं। यदि इस दृष्टि से पूर्व मताग्रह को छोड़कर भारतीय न्याय और पाश्चात तर्कशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए, तो हमारे सामने निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट हो सकते हैं—

न्यायसूत्र, जो कि भारतीय न्यायशास्त्र का आधार है, ऊपर से थोपा हुआ या एकाएक लिखा हुआ ग्रन्थ नहीं, अपितु भारतीय समाज में एक लम्बी परम्परा से चली आ रही रचनात्मक वाद-विवाद की प्रणाली का परिणाम है। न्यायसूत्र के आन्तरिक साक्ष्य के अतिरिक्त शेर्वात्स्की जैसे विद्वानों के कथनों से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि न्यायसूत्र वस्तुतः काफी बड़ी सीमा तक सार्वजनिक वाद-विवाद की प्रविधि पर लिखा गया एक सूत्रात्मक निबन्ध है। विभिन्न देशों की यदि एक जैसी सामाजिक परिस्थितियाँ हों तो उनमें एक जैसी विचार-धारा का भी विकास हो सकता है। कार्नफोर्ड, टामसन, फैरिस्टन आदि विद्वानों के अनुसंधानों से जिस प्रकार यूनानी सामाजिक परिस्थितियों पर प्रकाश पड़ा, उस प्रकार का अनुसन्धान प्राचीन भारत की सामाजिक परिस्थितियों का नहीं हुआ, अतः कुछ लोगों का यह कथन कि भारतीयों ने यूनानियों के विचारों को अपना लिया, एक कल्पना मात्र तथा विवाद का विषय है। इस संदर्भ में श्री देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय का यह कथन उल्लेखनीय है कि 'न्याय वैशेषिक' में दिमोकेतस, प्लेटो और अरस्तू के प्रभाव को शामिल करने के बावजूद भी और बहुत कुछ है'। यह हो सकता है कि भारतीय और यूनानी चिन्तकों में कुछ का एक दूसरे से सम्पर्क

रहा हो, पर भारतीय न्याय का विकास भारत की भूमि पर ही हुआ, इसमें कोई सन्देह नहीं है। निम्नलिखित तथ्य भी इस मत की पुष्टि करते हैं—

भारत में तर्कशास्त्र और प्रमाणशास्त्र का विकास सम्मिलित रूप से हुआ है, किन्तु पाश्चात्य दार्शनिकों ने इन दोनों शास्त्रों का विश्लेषण अलग-अलग किया है। न्यायशास्त्र 'यथार्थ' को उद्देश्य मानकर चलता है, जबकि पाश्चात्य तर्कशास्त्र का प्रयोजन 'सत्य' की प्राप्ति है। विचारों की संगति ही सत्य है। शुद्ध विचार के अनुकूल कोई वस्तु संसार में है या नहीं, इस पर पाश्चात्य तर्कशास्त्र विचार नहीं करता, जबकि भारतीय न्यायशास्त्र के अनुसार किसी विचार का सत्य होने के साथ यथार्थ होना भी आवश्यक है। सत्य की पहचान व्यावहारिक सफलता से होती है न कि मात्र विचारों की संगति से। तर्कशास्त्र में 'पूर्णव्यापी वाक्य' की स्थापना तथा पुष्टि क्रमशः वैज्ञानिक 'आगमन' तथा निगमन द्वारा की जाती है, जबकि न्यायशास्त्र इसके लिए अलौकिक प्रत्यक्ष का सहारा लेता है। तर्कशास्त्र का विषय मुख्यरूप से अनुमान है, किन्तु न्यायशास्त्र प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के विवेचन में भी समान बल देता है। तर्कशास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द इन तीन प्रमाणों को स्वीकार किया है, जबकि न्यायशास्त्र में उपमान को भी प्रमाण माना गया है।

पाश्चात्य तर्कशास्त्र में सत्य को दो भागों में विभक्त किया गया है—आकारिक सत्यता और वास्तविक सत्यता। भारतीय न्याय में इस प्रकार का विभाजन स्वीकार नहीं किया गया और सत्य एक पूर्ण इकाई माना गया है। भारतीय नैयायिकों की दृष्टि में वास्तविक सत्यता के अभाव में आकारिक सत्यता का कोई महत्त्व नहीं है। 'सोने का पहाड़ है'—इस वाक्य में पाश्चात्य तर्कशास्त्र के अनुसार आकारिक सत्यता है और 'पत्थर का पहाड़ है' इस वाक्य में वास्तविक सत्यता। पर भारतीय नैयायिकों के अनुसार आकारिक सत्यता का व्यावहारिक जीवन में कोई उपयोग नहीं है। इसके अतिरिक्त वास्तविक सत्यता में आकारिक सत्यता भी रहती ही है, अतः सत्य के दो रूप मानने की आवश्यकता नहीं। पाश्चात्य तर्कशास्त्र के निगमन और आगमन के नाम से दो भेद भी, जो क्रमशः आकारिक और वास्तविक सत्यता को आधार मान कर चले हैं, भारतीय नैयायिकों को मान्य नहीं हैं, क्योंकि इन दोनों में से कौन पहला है, इसका निराकरण संभव नहीं है और इस प्रकार का विभाजन मानने से तर्क-प्रक्रिया भी खंडित हो जाती है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र के अनुसार ज्ञान की सत्यता की जाँच पूर्व अनुभूति के आधार पर होती है, परन्तु न्यायशास्त्र के अनुसार ज्ञान की यथार्थता

उसकी व्यावहारिक सफलता पर निर्भर है। तर्कशास्त्र में 'सिलागिज्म' में चार आकार (फिगर) और उन्नीस योग (मूड) माने जाते हैं जबकि भारतीय न्यायशास्त्र के सभी अनुमान प्रथम आकार के बार-बार योग में ही समाविष्ट हो सकते हैं। मीमांसक और वेदान्ती लोग न्याय वाक्य के और नैयायिक भी स्वार्थानुमान के तीन ही अवयव मानते हैं। अतः अरस्तू के 'सिलागिज्म' से उनका कोई अन्तर नहीं है, पर परार्थानुमान के भारतीय नैयायिकों ने पाँच अवयव माने हैं। परार्थानुमान के अवयवों और अरस्तू के सिलागिज्म के क्रम में भी अन्तर है। निष्कर्ष यह है कि भारतीय न्यायशास्त्र और पाश्चात्य तर्कशास्त्र का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है।

4. भारतीय न्यायशास्त्र के ग्रन्थ और ग्रन्थकार

यों तो न्यायशास्त्रीय विषयों की चर्चा भारत के सभी दर्शनों में उपलब्ध होती है और इस प्रकार किसी भी ऐसे दार्शनिक को, जिसने प्रमाणों के सम्बन्ध में कुछ लिखा, न्यायशास्त्र के ग्रन्थकारों में समाविष्ट किया जा सकता है, फिर भी भारतीय न्याय, जैसा कि पहले भी कहा गया है, तीन परम्पराओं में पल्लवित हुआ—वैदिक, बौद्ध तथा जैन। सांख्य, योग, मीमांसा-वेदान्त आदि आस्तिक दर्शनों में उपलब्ध प्रमाण मीमांसा को इस दृष्टि से वैदिक न्याय के अन्तर्गत ही परिगणित किया जाता है। यहाँ हम उन्हीं मुख्य आचार्यों के ग्रन्थों की चर्चा करेंगे, जो प्रमुख रूप से वैदिक न्यायशास्त्र के ही प्रवर्तक या पक्षधर रहे हैं।

न्यायदर्शन के विकासक्रम का एक लम्बा इतिहास है। सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने न्याय के इतिहास के तीन सोपान बताये हैं—(1) प्राचीन, (2) मध्ययुगीन और (3) नव्य।[40] डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के अनुसार (1) दिङ्नागपूर्व, (2) दिङ्नागकालीन और दिङ्नागोत्तर—इन तीन कालावधियों में न्याय के इतिहास को विभक्त करना अधिक युक्तिसंगत है। मेरे विचार में न्याय के इतिहास को निम्नलिखित चार सोपानों में विभक्त करना युक्तिसंगत होगा—(1) प्राचीन न्याय, (2) मध्ययुगीन न्याय, (3) नव्यन्याय, (4) नव्यन्यायोत्तरवर्ती न्याय[41]। यहाँ हम काल-विभाजन के मूल सिद्धान्तों या उनके औचित्य के विवाद में न उलझकर न्याय शास्त्र के ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की तीनों धाराओं या परम्पराओं में उनके ज्ञात कालक्रम के अनुसार संक्षेप में चर्चा करेंगे।

(क) जैन न्याय परम्परा

जैन न्याय परम्परा के चार सोपान उपलब्ध होते हैं, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार रखे जा सकते हैं—(1) आगमयुग, (2) अनेकान्तस्थापनायुग, (3) न्याय-

प्रमाण स्थापन युग और (4) नव्यन्याययुग।[42] कुछ विद्वान जैन न्याय का काल विभाजन इस प्रकार करते हैं—(1) अकलंकदेवपूर्व काल, (2) अकलंककाल और (3) अकलंकोत्तरकाल। म० म० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने (क) आरम्भिक जैन न्याय और (ख) क्रमवार जैन न्याय—इस प्रकार के शीर्षकों के अन्तर्गत जैन नैयायिकों का विवरण प्रस्तुत किया है। अभी तक अधिकतर जैन नैयायिकों की तिथियों का कोई निर्विवाद निर्धारण नही हो पाया, अतः यहाँ हम काल-विभाजन की समस्या में न उलझकर केवल कतिपय प्रमुख जैन नैयायिकों का सामान्य परिचय दे रहे हैं।

भगवान महावीर (599-527 ई० पू०) से लेकर वलभी में वीर सम्वत् 930 (453 ई०) में आयोजित जैन संगीति में देवर्धिगणि (क्षमाश्रमण) द्वारा जैन धर्म को एक शास्त्रीय रूप देने तक जैनाचार्यों द्वारा जो आगम साहित्य रचा गया, उसमें मुख्य रूप से आचार के निरूपण अहिंसा, संयम, तप आदि पर बल दिया गया तथा जड़-चेतन का विश्लेषण किया गया था। खण्डन-मण्डन की तार्किक रीति को आगम साहित्य में विशेष स्थान नहीं मिला। जैनागम इस युग की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

जैसाकि पहले भी कहा जा चुका है, कर्मकाण्ड के आधार पर जैनधर्म (1) श्वेताम्बर और (2) दिगम्बर—इन दो सम्प्रदायों में बँट गया। श्वेताम्बरों के अनुसार जैन धर्म ग्रन्थों में से 14 पूर्व तो खो चुके हैं, किन्तु 12 अंग अभी शेष हैं, और इस समय वही मूल आगम है। किन्तु दिगम्बरों के अनुसार 12 अंग भी खो गये हैं और अंगों के नाम से जो आगम अब उपलब्ध हैं, वे जाली हैं। अतः जैनों के दोनों सम्प्रदायों द्वारा समानरूप से जो ग्रन्थ सर्वप्राचीन जैन ग्रन्थ के रूप में मान्य है, वह है उमास्वाति का तत्त्वार्थाधिगमसूत्र।

दिगम्बर सिद्धान्त ग्रन्थों में षट्खंडागम (आचार्य पुष्पदन्त और भूतवलि द्वारा विरचित) महाबंध, कषायप्राभृत (गुणधर-विरचित) और कुन्दकुन्दाचार्य के पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार आदि मुख्य हैं।

(1) **कुन्दकुन्द**—आचार्य कुन्दकुन्द ईसा की पहली दूसरी शताब्दी में हुए थे। इन्होंने अपने ग्रन्थों में ज्ञान की चर्चा की है। उसी को आधार बनाकर भावी जैन नैयायिकों द्वारा की गई प्रमाण चर्चा भी प्रभावित होती रही है। आचार्य कुन्दकुन्द संभवतः सर्वप्रथम आचार्य थे, जिन्होंने ज्ञान की स्वपरप्रकाशकता के सिद्धान्त का प्रवर्तन किया। प्रवचनसार में प्रत्यक्ष और परोक्ष का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहा है कि 'इन्द्रियाँ अनात्म रूप होने से द्रव्य हैं, अतः

इन्द्रियों के द्वारा उपलब्ध ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। वह परोक्ष ही है।' इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रबल तर्कों द्वारा जैन सिद्धान्तों के अनुसार प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों का निरूपण किया है।

(2) **उमास्वाति (मि)**—उमास्वाति कुन्दकुन्द के शिष्य थे। इनका समय 179–220 ई० बताया जाता है। तत्त्वार्थसूत्र की प्रशस्ति के अनुसार इनका दूसरा नाम गृद्धपिच्छ था।

आचार्य उमास्वाति (मि) का तत्त्वार्थसूत्र जैन धर्म का सर्वप्रथम संस्कृत ग्रन्थ है। इसमें जीव, अजीव, सात तत्त्वों का विस्तार से निरूपण किया गया है। इन्होंने '**प्रमाण नैयरधिगमः**' इस सूत्र के माध्यम से प्रमाणचर्चा का अवतरण किया है। इन्होंने प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद से प्रमाणद्वैविध्य का उल्लेख किया और '**मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिरोध इत्यनर्थान्तरम्**' इस सूत्र के माध्यम से अन्य दर्शनों में स्वीकृत प्रमाणों का परोक्ष में अन्तर्भाव कर दिया। इनके ग्रन्थों के आधार पर भावी जैन नैयायिकों का मार्ग प्रशस्त हुआ।

(3) **स्वामी समन्त भद्र**—भारत में जिस समय बौद्धदर्शन के पिता दिङ्नाग का प्रखर प्रताप फैला हुआ था, और वैदिक नैयायिक भी अपनी पूरी शक्ति से स्वपक्ष का मण्डन और परपक्ष का खण्डन करने में लगे हुए थे, उस समय जैन न्याय में अनेक विद्वानों का उदय हुआ, जिनमें समन्तभद्र भी एक थे। स्वामी समन्तभद्र दक्षिण भारतीय थे और दिगम्बर सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे। आपका जन्म का नाम शान्तिवर्मा था। इन्होंने उमास्वाति के तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पर गन्धहस्तिमहाभाष्य नामक टीका लिखी, जिसके आरंभिक भाग का नाम आप्त-मीमांसा भी है।[43] इनकी अन्य रचनाओं में युक्त्यनुशासन तथा स्वयम्भूस्तोत्र उल्लेखनीय हैं। कुमारिल, वाचस्पति मिश्र, प्रभाचन्द्र और विद्यानन्द ने इनका उल्लेख किया है। समन्तभद्र ने अपने ग्रन्थों में स्याद्वाद,[44] सुनय, सप्तभंगीवाद की प्रक्रिया, सुनय, दुर्नय आदि का विश्लेषण किया और प्रमाण का लक्षण और फल बताया।[45]

इनके समय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। सतीशचन्द्र विद्याभूषण के अनुसार इनका समय 800 ई० है, जबकि अधिकतर जैन विद्वान् इनका समय ई० श० 2 मानते हैं (जै० सि० को०)।

(4) **सिद्धसेन दिवाकर** : विद्याभूषण के मत में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर उन जैन आचार्यों में सर्वप्रथम गणनीय हैं, जिन्होंने जैन न्याय का क्रमबद्ध निरूपण करते हुए न्याय के ग्रन्थ लिखे। इनकी कृतियों में सम्मतितर्कसूत्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह प्राकृत भाषा में है और तीन काण्डों में विभक्त है। इसमें 166 पद्य हैं। प्रथम काण्ड (नय) में ग्रन्थकार ने नयवाद और सप्तभंगीवाद की चर्चा की है। सिद्धसेन ने सात नयों का छः में अन्तर्भाव किया है। उनके मतानुसार नैगम कोई नय नहीं है। इन्होंने प्रमाण के लक्षण में 'बाधविवर्जितम्' विशेषण देकर उसको समृद्ध किया है।

इनका समय 480-550 ई० के लगभग माना जाता है। ये श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे।

(5) **अकलंक**—भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में सातवीं, आठवीं और नौवीं शताब्दियों का अपना विशिष्ट महत्त्व है। इन्हीं दिनों धर्मकीर्ति ने वैदिक नैयायिकों पर तीव्र प्रहार आरम्भ किये थे। यद्यपि कुछ मुद्दों में जैन और बौद्ध दर्शन में समानता भी है, किन्तु क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि के सम्बन्ध में बौद्धों के ऐकान्तिक विचारों का जैन नैयायिकों के लिए खण्डन आवश्यक हो गया था। वैदिकन्याय को धर्मकीर्ति के प्रबल आक्षेपों से बचाने के लिए प्रभाकर, कुमारिल, जयन्त भट्ट, तथा वाचस्पति मिश्र प्रभृति ने जो बीड़ा उठाया उसका प्रभाव बृहती, श्लोक-वार्तिक, न्यायमंजरी तथा न्याय-वार्तिक, तात्पर्यटीका जैसे महान ग्रन्थों के रूप में परिलक्षित हुआ। इधर इसी त्रिकोणात्मक संघर्ष के युग में जैन न्यायधारा में भी दो दिग्गज विद्वान् हुए, जिनमें से एक थे अकलंक और दूसरे हरिभद्र। इन्होंने बौद्धों के साथ जमकर शास्त्रार्थ किये। जैन नैयायिकों को बौद्धों के अतिरिक्त कुमारिल भट्ट जैसे उद्भट वैदिक विद्वानों के तर्कों का भी निरसन करना था। अतः इनके ग्रन्थ खण्डन-मूलक हैं। इस संदर्भ में एक मनोरंजक तथ्य यह भी है कि जैन नैयायिकों को बौद्धों के खण्डन में वैदिक ग्रन्थों से और वैदिकों के खण्डन में बौद्ध ग्रन्थों से पर्याप्त सहायता मिली। कुछ भी हो उस युग में शास्त्रार्थों की धूम मची रहती थी। संभवतः भारत के महान् दार्शनिक शंकर के ग्रंथों की उपयोगिता और प्रभाव की वृद्धि करने में इस वातावरण का बड़ा हाथ रहा।

अकलंक देव (भट्ट) लहुहव्व नृपति के ज्येष्ठ पुत्र थे और दक्षिण भारतीय दिगम्बर सम्प्रदाय से सम्बद्ध सुप्रसिद्ध नैयायिक थे। उन्होंने जैन परम्परा के सभी तत्त्वों का निरूपण तार्किक शैली से संस्कृत भाषा में उसी प्रकार किया, जिस

प्रकार वैदिक और बौद्ध परम्पराओं में पहले ही हो चुका था। धर्मकीर्ति और कुमारिल ने समन्तभद्र जैसे जैन तार्किक का खण्डन किया था। अकलंक ने बौद्ध और वैदिक ग्रन्थों का गहन अध्ययन कर जैन मन्तव्यों की पुन: स्थापना की। न्याय विनिश्चय के आरम्भ में अकलंक ने स्वयं ही इस तथ्य का उद्घाटन किया है।[46] अकलंक के प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, अष्टशती, लघीयस्त्रय सविवृत्ति (इसमें प्रमाण के भेद, स्वरूप, विषय, फल आदि तथा नयों का सुन्दर वर्णन है)।

अकलंक के काल के सम्बन्ध में कई मत हैं। सामान्यतया इनका समय 640-680 ई० माना जाता है। इसका आधार यह कथन है कि अकलंक का विवाद बौद्धों के साथ विक्रम की सातवीं सदी में हुआ था।[47]

(6) **विद्यानन्द**—अकलंक के पश्चात् उनके चार प्रमुख टीकाकारों में प्रमुख थे—विद्यानन्द। इन्होंने अकलंक की अष्टशती पर अष्टसहस्री नामक जो व्याख्याग्रन्थ लिखा, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। विद्यानन्द ने भी कुमारिल की प्रखर आलोचना की और उनके मीमांसा श्लोक वार्तिक की पद्धति पर तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक की रचना की। इनका समय 775-840 ई० के लगभग माना जाता है।

विद्यानन्द के छ: ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—अष्टसाहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमाण परीक्षा, आप्तपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, पत्रपरीक्षा।

(7) **माणिक्यनन्दि**—जैन न्याय को सूत्र रूप में निबद्ध करने का कार्य माणिक्यनन्दि ने किया। 'परीक्षामुखसूत्र' इनकी सुप्रसिद्ध कृति है, जिसके वृत्तिकार (टीकाकार) अनन्तवीर्य के अनुसार माणिक्यनन्दि ने अकलंकदेव के वचनसमुद्र का मन्थन करके न्यायविद्यारूपी अमृत का उद्धार किया था।[48] इस सूत्रग्रन्थ में छ: उद्देश हैं—प्रमाण, प्रत्यक्ष, परोक्ष, विषय, फल, तदाभास। इस ग्रन्थ के निर्माण से न्यायविषयक जो सिद्धांत अकलंक तथा विद्यानन्द के ग्रन्थों में इतस्तत: विस्तृत थे, उन सबका सूत्र रूप में क्रमबद्ध, संकलन हो जाने से जैन न्याय के भावी आचार्यों और अध्येताओं के लिए सुविधा हो गई। सतीशचन्द्र विद्याभूषण के अनुसार इनका समय लगभग 800 ई० माना जा सकता है।

(8) **अभयदेव**—अभयदेव श्वेताम्बर मत के अनुयायी थे। इनका काल 10वीं ई० के लगभग माना जाता है। अभयदेव सूरि ने सिद्धसेन के वादमहार्णव और सम्मतितर्क पर टीकाएँ लिखीं।

(9) **वादिदेवसूरि**—वादिदेवसूरि ने प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार नामक सूत्रग्रन्थ तथा उस पर स्याद्वादरत्नाकर नामक व्याख्याग्रन्थ लिखा। कतिपय विद्वानों के मतानुसार इनके सूत्रग्रन्थ को मणिक्यनन्दि कृत परीक्षामुखसूत्र का अपने ढंग से तैयार किया गया नवीन संस्करण कहा जा सकता है। स्याद्वाद-रत्नाकर को पढ़ लेने पर प्रभाचन्द के दोनों ग्रन्थों का विषय स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है।

(10) **हेमचन्द्र**—इन्होंने पाँच वर्ष की आयु में देवचन्द्रमणि से दीक्षा ली थी। ये श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे।

आचार्य हेमचन्द्र महाराज जयसिंह सिद्धराज तथा राजर्षि कुमार पाल की राजसभाओं के राजपण्डित थे। ये सभी शास्त्रीय विषयों के असाधारण विद्वान् थे। इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ प्रमाणमीमांसा का जैनन्याय में विशिष्ट स्थान है। इनकी अन्य कृतियों के नाम इस प्रकार हैं–सिद्धहेमशब्दानुशासन, प्राकृतव्याकरण, अभिधानचिन्तामणिकोष, अनेकार्थसंग्रह, देशीनाममाला, काव्यानुशासन, छन्दा-नुशासन, अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशतिका, अध्यात्मोपनिषद्, योगशास्त्र, द्वयाश्रय-महाकाव्य, निघंटु शेष, वीतरागस्तोत्र, अन्तरश्लोक और त्रिषष्ठिपुरुषचरित। सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने इनका समय लगभग 1088-1172 ई० बताया है।[49]

(11) **प्रभाचन्द्र**—आचार्य प्रभाचन्द्र माणिक्यनन्दि के शिष्य थे और धारा नगरी में रहते थे। हीरालाल जैन के अनुसार न्यायकुमुदचन्द्रिका की प्रस्तावना के लेखन ने इनका समय 925-1023 ई० बताया है। सतीशचन्द्र इनका समय लगभग 825 ई० मानते हैं। इन्होंने आचार्य माणिक्यनन्दि के परीक्षामुखसूत्र पर प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा अकलंकदेव के लघीयस्त्रय पर न्यायकुमुदचन्द्र नामक टीकाग्रन्थ लिखे हैं। प्रभाचन्द्र ने अपनेपूर्ववर्ती वैदिक दार्शनिकों की कृतियों का भी सम्यक् अध्ययन करके उनके मतों का निरसन किया है। इन्होंने प्रशस्त-पादभाष्य की व्योमवती टीका, न्याय भाष्य, न्यायवार्तिक, न्यायमंजरी, शाबर-भाष्य, श्लोकवार्तिक, प्रमाणवार्तिकालंकार (प्रज्ञाकर गुप्त) तत्त्वसंग्रह आदि ग्रन्थों में उपलब्ध कई एक जैनेतर सिद्धांन्तों का पूर्वपक्ष उपस्थापित कर उनकी समीक्षा की है और जैनन्याय की एक नयी शैली प्रदान की। जिन प्रमुख पर-पक्षों का खण्डन प्रभाचन्द्र ने किया वे इस प्रकार हैं[50]—

1. सांख्ययोग—इन्द्रियवृत्तिवाद, अचेतनज्ञानवाद, प्रकृतिकर्तृत्ववाद।
2. न्यायवैशेषिक—कारकसाकल्यवाद, सन्निकर्षवाद, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञान-वाद, षोडशपदार्थवाद, ईश्वरवाद, पाँचरुप्यहेतुवाद, षट्पदार्थवाद।

3. बौद्ध—निर्विकल्पप्रत्यक्षवाद, चित्राद्वैतवाद, शून्यवाद, साकार ज्ञानवाद, त्रैरूप्यहेतुवाद, अपोहवाद, क्षणभंगवाद।
4. वैयाकरण—शब्दाद्वैतवाद, स्फोटवाद।
5. मीमांसक—अभावप्रमाणवाद, परोक्षज्ञानवाद, वेदापौरुषेयत्ववाद, शब्दनित्यत्ववाद।
6. श्वेताम्बर—केवलिकवलाहारवाद, स्त्रीमुक्तिवाद।
7. वेदान्त—ब्रह्मवाद।

(12) **यशोविजय**—यशोविजय श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य थे। आपका जन्म वि० 1880 में हुआ। ये जैन न्यायशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे। नव्य-न्याय का अध्ययन करने के अनन्तर नवीन पद्धति से जैनन्याय को प्रस्तुत करने वाले ये एकमात्र जैन नैयायिक थे। विद्यानन्द की अष्टसाहस्री पर इन्होंने नव्यन्याय की शैली पर 'विवरण' की रचना की। इनके द्वारा रचित जैनतर्कभाषा नामक ग्रन्थ बहुत ही लोकप्रिय हुआ है। कहा जाता है इन्होंने संस्कृत में अनेक ग्रन्थ लिखे थे। स्याद्वादमंजरी पर इन्होंने स्याद्वादमंजूषा नाम की टीका लिखी थी।

(ख) **बौद्धपरम्परा**—भारत में बौद्धमत के इतिहास को तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है। इन तीनों कालों को बौद्धों ने तीन चक्र कहा है। 500 ई० पू० से 1000 ई० तक के समय को तीन भागों में बाँटने पर तीनों कालों की पाँच-पाँच सौ वर्ष की सीमारेखा खींची जा सकती है। इन तीनों कालों की प्रमुख अवस्थाओं को शेरवात्स्की ने निम्नलिखित आरेख द्वारा प्रस्तुत किया है।[51]

काल	प्रथम		मध्य		अन्तिम	
केन्द्रीय धारणाएँ	बहुत्ववाद (पुद्गलशून्यता)		एकतत्त्ववाद (सर्वधर्मशून्यता)		आदर्शवाद (बाह्यार्थशून्यता)	
	उग्र	अनुग्र	उग्र	अनुग्र	उग्र	अनुग्र
सम्प्रदाय	सर्वास्तिवादी	वात्सीपुत्रीय	प्रासंगिक	स्वातंत्रिक		
प्रमुख प्रवर्तक			नागार्जुन	भव्य	असंग और वसु बंधु	दिङ्नाग और धर्मकीर्ति

कतिपय विद्वान बौद्ध न्याय के इतिहास को (1) दिङ्नाग पूर्वकाल (2) दिङ्नागकाल और (3) दिङ् नागोत्तरकाल—इन तीन सोपानों में विभक्त करते हैं।[52] सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने बौद्ध न्याय के सोपानों का उल्लेख इस प्रकार किया है :--

(1) प्राचीन बौद्ध साहित्य में उपलब्ध न्याय, (2) आरम्भिक बौद्ध न्याय तथा (3) क्रमबद्ध बौद्ध न्याय।[53]

यों तो बौद्धन्याय के अधिकतर ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु उनमें से मूल रूप में जो बचे रह सके अथवा जिनका चीनी या तिब्बती भाषा में अनुवाद किया गया था, उनके आधार पर बौद्ध न्याय के ऐतिहासिक विकासक्रम का निरूपण करने में पर्याप्त सहायता मिली है। इस संदर्भ में म० म० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने जो खोज की है वह बहुत महत्त्वपूर्ण तथा अद्वितीय है। शेरवात्स्की का प्रयत्न भी सराहनीय है।

उपलब्ध बौद्ध ग्रन्थों, पाण्डुलिपियों, सम्बद्ध अनुषंगी साहित्य तथा मुख्य रूप में म० म० विद्याभूषण द्वारा रचित भारतीय न्याय के इतिहास तथा शेरबात्स्की द्वारा रचित बौद्ध न्याय के आधार पर बौद्ध नैयायिकों की जो ऐतिहासिक परम्परा अभी तक ज्ञात हो पाई है, उसके अनुसार ही यहाँ बौद्ध परम्परा के प्रमुख ग्रन्थों व ग्रन्थकारों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

(1) **नागार्जुन**—का जन्म विदर्भ में हुआ था। भिक्षु बनने पर उन्होंने कृष्णा नदी के समीप श्री पर्वत (नागार्जुनीकोंडा, गुन्टूर) की गुफा में बहुत समय ध्यान करने में लगाया और श्री पर्वत को अपना निवासस्थान बनाया। वे 'शरह' के शिष्य थे और आन्ध्र नरेश गौतमीपुत्र यज्ञश्री के समकालीन बताये जाते हैं।[54] बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार ये बुद्ध के निर्वाण के 400 वर्ष पश्चात् अर्थात् ईसा के 33 वर्ष पूर्व हुये थे। किन्तु म० म० विद्याभूषण के अनुसार इनका जन्म 300 ई० के आसपास हुआ होगा। नागार्जुन के निम्नलिखित ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

माध्यमिक कारिका, युक्तिषष्ठिका, प्रमाणविध्वंसन, उपायकौशल तथा विग्रहव्यावर्त्तनी कारिका। नागार्जुन ने विग्रहव्यावर्त्तनी में अक्षपाद के प्रमाण-सिद्धांत और विरोधी तर्कों का खण्डन करने के साथ-साथ (कान्ट के वस्तुसार के विपरीत) वस्तु शून्यता (वस्तुओं के भीतर कोई स्थिर तत्त्व नहीं) के सिद्धान्त का प्रवर्तन किया। शून्यता को ही प्रतीत्य समुत्पाद भी कहा गया है। नागार्जुन प्रतीत्य समुत्पाद के दो अर्थ करते हैं—एक तो यह कि सभी वस्तुएँ प्रत्यय (हेतु

या कारण) से समुत्पन्न हैं अर्थात् वस्तुएँ सत्ता में आने के लिए दूसरे किसी पूर्व प्रत्यय पर आश्रित होती हैं। दूसरा अर्थ इस प्रकार है कि पूर्व प्रत्यय के नष्ट होने पर ही उत्तर प्रत्यय की स्थिति निर्भर है। इस प्रकार हर उत्पाद का कोई प्रत्यय होता है। एक प्रत्यय के विनाश के बाद दूसरे की उत्पत्ति होती है। प्रतीत्य समुत्पाद कार्य-कारण के नियम को अविच्छिन्न नहीं अपितु विच्छिन्न प्रवाह मानता है। इसी विच्छिन्न प्रवाह के सिद्धान्त पर नागार्जुन ने शून्यवाद का विकास किया है। अतः उनके अनुसार सत्ता विच्छिन्न प्रवाहमात्र है।

'प्रमाण विध्वंसन' में नागार्जुन ने प्रमाणवाद का खण्डन किया है। इसमें प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों का उल्लेख किया गया है। उपायकौशल में भी निग्रहस्थान, जाति आदि के बारे में चर्चा की गई है। राहुल सांकृत्यायन का कथन है कि 'अक्षपाद के न्यायसूत्र का प्रमाण-सिद्धि प्रकरण तथा विग्रह-व्यावर्तिनी एक ही विषय के पक्ष-प्रतिपक्ष जैसे हैं।'[55]

गौतम ने न्याय को सब शास्त्रों का प्रकाशक होने के साथ अपने को भी प्रकाशित करने वाला दीपक बताया, किन्तु नागार्जुन ने उनके मत का खण्डन करते हुए कहा कि दीपक में अन्धकार रहता ही नहीं, अतः उसको प्रकाशित करने का प्रश्न ही नहीं उठता।[56]

(2) **आर्य देव (लगभग 320 ई०)**—आर्यदेव माध्यमिक सम्प्रदाय के आचार्य थे। उनका जन्म दक्षिण भारत में हुआ था। उनका समय 320 ई० के आसपास माना जाता है। वे चन्द्रगुप्त के समकालीन थे। न्यायशास्त्र पर इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

शतकशास्त्र, भ्रमप्रमथनयुक्ति हेतुसिद्धि।[57]

(3) **मैत्रेय (लगभग 400 ई०)**—मैत्रेय योगाचार सम्प्रदाय के आचार्य थे। ये युद्ध के निर्माण से 900 वर्ष बाद (लगभग 400 ई०) हुए थे। इनके निम्नलिखित ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है—

1. बोधिसत्त्वचर्या निर्देश, 2. सप्तदशभूमिशास्त्रयोगाचार, 3. अभिसमयालंकार कारिका।

(4) **आर्य असंग (लगभग 405-470 ई०)**—असंग पहले तो हीनयान की वैभाषिक शाखा से सम्बद्ध रहे, किन्तु बाद में इन्होंने महायान के योगाचार सम्प्रदाय को अपना लिया। कहा जाता है कि इन्होंने बारह ग्रन्थों का निर्माण

किया था, जो अब केवल चीनी या तिब्बती अनुवादों में उपलब्ध होते हैं। इनका जन्म गान्धार में हुआ था। ये मैत्रेय के शिष्य थे और कहा जाता है कि कुछ समय तक नालन्दा विश्वविद्यालय में पण्डित के पद पर आसीन रहे। इनके ग्रन्थ महायान—सम्परिग्रह शास्त्र का चीनी भाषा में 531 ई० में अनुवाद हुआ था। अतः इनकी तिथि उससे पहले ही रही होगी।

(5) **वसुबन्धु (लगभग 410-490 ई०)**—इनका जन्म गान्धार में हुआ था। इनके पिता का नाम कौशिक था। अपने ज्येष्ठ भ्राता असंग के कहने पर इन्होंने योगाचार मत ग्रहण कर लिया। इनका देहान्त 80 वर्ष की अवस्था में अयोध्या में हुआ। वामन (9वीं शती) ने इनका उल्लेख किया है। संभवतः ये कुमार गुप्त, स्कन्दगुप्त, पुरगुप्त और बामादित्य (लगभग 410 से 490 ई०) के समय विद्यमान थे। कहा जाता है कि इन्होंने (1) वादविधि, (2) वादमार्ग और (3) वादकौशल नामक ग्रन्थ लिखे थे, जो अब उपलब्ध नहीं होते। दिङ्-नाग इनके शिष्य थे।

(6) **दिङ्नाग (लगभग 480 ई०)**—बौद्ध दर्शन में चार सम्प्रदायों के विकास के साथ-साथ चारों सम्प्रदायों के आचार्य अपने सिद्धान्तों की पुष्टि और अन्य मतों (विशेष रूप से वैदिक न्याय) के खण्डन के लिए न्याय का सहारा लेने लगे। परिणामस्वरूप बौद्ध नैयायिकों की एक लम्बी परम्परा चल पड़ी। यद्यपि ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि से नागार्जुन का स्थान पहले है किन्तु महत्त्व की दृष्टि से जिन्हें बौद्धन्याय के पिता के रूप में अत्यधिक ख्याति मिली, वे हैं—दिङ्नाग।

दिङ्नाग का जन्म कांची (कांजीवरम्) के पास सिंहवक्र में हुआ था। इन्होंने पहले वासीपुत्रीय सम्प्रदाय के पण्डित नागदत्त से और बाद में आचार्य वसुबन्धु से शिक्षा ग्रहण की। कहा जाता है इन्होंने बौद्धों के देवता मंजुश्री के दर्शन कर उनसे धर्म की प्रेरणा प्राप्त की। नालन्दा में शास्त्रार्थ में विजय मिलने पर ये तर्कपुंगव कहलाने लगे। ये प्रायः तेलंगाना में रहते थे, किन्तु महाराष्ट्र और उड़ीसा में भी इन्होंने काफी समय बिताया और अनेक विद्वानों को बौद्धधर्म में दीक्षित किया। इनका समय 480 ई० के आसपास माना जाता है। दिङ्नाग अपने समय के अप्रतिम विद्वान् थे। उन्होंने अपना सारा जीवन शास्त्रीय विवादों में लगा दिया। अपनी मृत्यु के अनन्तर भी ये उत्तरवर्ती विद्वानों के मस्तिष्क पर छाये रहे। प्रतिपक्षी आचार्यों ने इनकी घोर निन्दा की। उद्योतकर ने इनको कुतार्किक कहा। कालिदास ने उनका उल्लेख 'स्थूलहस्त'

के रूप में किया। वाचस्पति की दृष्टि में वे 'भ्रान्त' थे। कुमारिल, पार्थसारथि मिश्र आदि ने भी उन पर भीषण आक्रमण किये। वेदान्तियों, जैनों और यहाँ तक कि उनके अपने सम्प्रदाय के ही धर्मकीर्ति आदि कई आचार्यों ने भी उनकी आलोचना की, किन्तु आचार्य दिङ्नाग न्यायजगत पर पाँचवी शती से लेकर 11वीं शती तक आलोच्य के रूप में ही सही, पूरी तरह छाये रहे। इस प्रकार बौद्ध न्याय के पिता के रूप में ही नहीं अपितु समग्र भारतीय न्याय के परिवर्द्धक के रूप में भी उनका योगदान महत्त्वपूर्ण है।

दिङ्नाग ने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया था, जिनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं—

प्रमाणसमुच्चय, न्यायप्रवेश, हेतुचक्रडमरु, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, आलम्बन-परीक्षा, आलम्बनपरीक्षावृत्ति, त्रिकालपरीक्षा।

प्रमाणसमुच्चय की रचना करते समय जब ईश्वर कृष्ण नामक एक ब्राह्मण ने व्याघात पहुँचाया तो कहा जाता है कि बोधिसत्व मंजुश्रीकल्प ने दिङ्नाग को दर्शन दिये और ग्रन्थ को पूर्ण करने की प्रेरणा दी।

प्रमाण समुच्चय संस्कृत में अनुष्टुप छन्द में था। उसका मूलरूप उपलब्ध नहीं है। उसका तिब्बती अनुवाद, (जो तत्कालीन भारतीय विद्वान हेगवर्मा और तिब्बती दुभाषिया दाद पहीशेषरू ने तैयार किया था) मिलता है। ग्रन्थ में छः अध्याय हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—(1) प्रत्यक्ष, (2) स्वार्थानुमान, (3) परार्थानुमान (4) हेतु दृष्टान्त, (5) अपोह और (6) जाति।

दिङ्नाग के दूसरे ग्रन्थ न्यायप्रवेश का भी तिब्बती रूपान्तर ही उपलब्ध है। यही स्थिति हेतुचक्रडमरू, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति आदि अन्य ग्रन्थों की भी है।

बौद्ध न्याय पर क्रमबद्ध रूप से लिखने वाले कतिपय अन्य बौद्ध नैयायिकों के नाम व ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

(7) **परमार्थ**—(498 से 569 ई०) ने चीनी भाषा में अनेक ग्रन्थों का अनुवाद किया, जिनमें वसुबन्धु का तर्कशास्त्र भी था। यह भी कहा जाता है कि इन्होंने न्यायसूत्र का भी चीनी अनुवाद किया था और न्यायभाष्य नामक कोई ग्रन्थ भी लिखा था, जो अब उपलब्ध नहीं है।

(8) **शंकरस्वामिन्**—(500 ई० के लगभग) संभवतः दिङ्नाग के शिष्य थे। कहा जाता है कि शंकर स्वामिन् आदि 10 आचार्यों के माध्यम

से ही बौद्ध-न्याय शालिभद्र तक पहुँचा था जो कि ह्वेनसांग (635 ई०) के भारत वास के समय नालन्दा विद्यापीठ का अध्यक्ष था। उन्होंने हेतुविद्या, न्यायप्रवेश-शास्त्र की रचना की थी, जिसका ह्वेनसांग ने चीनी भाषा में अनुवाद किया था।

(9) **धर्मपाल**—(600-635 ई०) कांचीपुर के राजमन्त्री के ज्येष्ठ पुत्र थे। ये धर्मकीर्ति के गुरु और शीलभद्र से पहले नालन्दा विश्वविद्यालय के अध्यक्ष थे। ये योगाचार मतावलम्बी थे। इनके ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—

(1) आलम्बन प्रत्ययध्यानशास्त्रव्याख्या, (2) विद्यामात्रशास्त्रसिद्धि-व्याख्या, (3) शतशास्त्र वैपुल्यव्याख्या।

(10) **शीलभद्र**—(635 ई०) बंगाल के राजा समतट के कुटम्बी थे। ये धर्मपाल के शिष्य थे और नालन्दा विश्वविद्यालय में धर्मपाल के बाद अध्यक्ष बने। ये बड़े नैयायिक थे। ह्वेनसांग (635 ई०) इनका शिष्य था।

(11) **धर्मकीर्ति**—(लगभग 635-650 ई०) बौद्ध न्याय के सन्दर्भ में दिङ्-नाग के बाद धर्मकीर्ति का नाम ही सर्वाधिक विश्रुत है। ये अल्पायु में ही विभिन्न शास्त्रों में पारंगत हो गये थे। अन्य सम्प्रदायों के गुप्त रहस्यों का अध्ययन करने के लिए ये वेष भी बदल लिया करते थे। धर्मकीर्ति ने वसवन्धु के एक शिष्य धर्म-पाल (जिसका उल्लेख हुएन्त्सांग ने किया है) से दीक्षा ली। इत्सिंग (जिसने भारत में 671-695 ई० तक यात्रा की) ने धर्मकीर्ति का उल्लेख किया है। न्याय में रुचि होने और दिङ्नाग के जीवित न होने के कारण इन्होंने दिङ्नाग के शिष्य ईश्वर सेन से दिङ्नाग की पद्धति से न्याय पढ़ना आरम्भ किया। इस कार्य में ये ईश्वर सेन से भी आगे बढ़ गये। धर्मकीर्ति का जन्म दक्षिण में त्रिम-लय (तिरुमल्ल) क्षेत्र के एक ब्राह्मण वंश में हुआ था। आरम्भ में इन्हें ब्राह्मण धर्म की शिक्षा मिली थी, किन्तु बाद में बौद्धधर्म में अधिक रुचि हो जाने के कारण ये उसमें दीक्षित हो गये। धर्मकीर्ति ने उद्योतकर की आलोचना की और वाचस्पति मिश्र ने धर्मकीर्ति का खण्डन किया। अतः उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये सातवीं शती में हुए थे। इनके ग्रन्थ इस प्रकार हैं—(१) प्रमाणवार्तिककारिका, (2) प्रमाणविनिश्चय, (3) न्याय-बिन्दु, (4) हेतुबिन्दु, (5) वादन्याय, (6) समानान्तर सिद्धि, (7) सम्बन्ध परीक्षा, (8) सम्बन्धपरीक्षावृत्ति।

(12) **देवेन्द्रबोधि**—(लगभग 65० ई०) धर्मकीर्ति के समकालीन थे। कहा जाता है कि धर्मकीर्ति के प्रमाण वार्तिक पर इन्होंने प्रमाण वार्तिक-पंजिका नामक टीका ग्रन्थ की रचना की। इस सन्दर्भ में यह कहानी प्रचलित है कि

धर्मकीर्ति ने अपने ग्रन्थ पर टीका लिखने के लिए देवेन्द्रबोधि को खुद चुना था, किन्तु पहली बार टीका पूर्ण करके जब देवेन्द्रबोधि ने धर्मकीर्ति को दिखाई तो धर्मकीर्ति ने उसको पानी से धो डाला, दूसरी बार दिखाने पर उसको आग में जला दिया। तीसरी बार जब देवेन्द्रबोधि ने इस टिप्पणी के साथ टीका दिखाई कि 'अधिकतर लोग आपकी रचना को समझने में अक्षम हैं। समय चला जा रहा है। मैंने यह टीका अल्प बुद्धि वाले लोगों के लिए लिखी है। तो धर्मकीर्ति ने टीका को अपनी स्वीकृति दे दी।

(13) **शाक्यबोधि**—(लगभग 675 ई०) देवेन्द्रबोधि का शिष्य था। इन्होंने प्रमाणवार्तिक पंजिका टीका की रचना की है।

(14) **विनीतदेव**—(लगभग 700 ई०) नालन्दा में राजा ललित चन्द के समय में विद्यमान थे। इनके ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं—(1) न्यायबिन्दु टीका, (2) हेतुबिन्दु टीका, (3) वादन्यायव्याख्या, (4) सम्बन्ध परीक्षा टीका, (5) आलम्बनपरीक्षा टीका, (6) सन्तानान्तर-सिद्धिटीका।

(15) **रविगुप्त**—(लगभग 725 ई०) कश्मीर में जयन्त से पहले हुए थे। इनका शिष्य सर्वज्ञमित्र (जो प्रसिद्ध तान्त्रिक था), सातवीं शती के मध्य में विद्यमान था, अतः रविगुप्त सातवीं शती के पूर्वार्द्ध में रहे होंगे। इन्होंने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक पर प्रमाणवार्तिकवृत्ति नामक ग्रन्थ लिखा था।

(16) **जिनेन्द्रबोधि**—(लगभग 725 ई०) सम्भवतः वही आचार्य थे, जिन्होंने पाणिनि व्याकरण पर न्यास लिखा था। इन्होंने विमलामलवती प्रमाण समुच्चयटीका नामक ग्रन्थ की रचना की।

(17) **शान्त रक्षित** (लगभग 705 ई०) शान्तरक्षित की तिथि का निश्चित पता तो नहीं है, किन्तु कहा जाता है कि उनका जन्म आठवीं शती में बंगाल में हुआ, जबकि वहाँ गोपाल (705 ई०श०) का राज्य था। वे माध्यमिक सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इन्होंने कुछ समय तक नालन्दा में अध्यापन किया। १३ वर्ष तक (762 ई० श० तक) ये तिब्बत में रहे और वहाँ इन्होंने सर्वप्रथम बौद्धमत की स्थापना की। शान्त रक्षित ने निम्नलिखित ग्रन्थों का निर्माण किया था—(1) वादन्यायवृत्ति, (2) विपंचितार्थ तत्त्वसंग्रह।

(18) **कमलशील** (लगभग 728-786 ई०) कमलशील शान्तरक्षित के अनुयायी थे। कुछ समय तक ये नालन्दा में प्राध्यापक भी रहें। तिब्बत में बौद्ध धर्म की शिक्षा देने के लिए ये राजा खि्स्तोन ड्यूतसान (728-786 ई०) के

निमन्त्रण पर गये थे। वहाँ इन्होंने चीनी साधु महायान होशांग को शास्त्रार्थ में हराया था।[58] इनके निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—

(1) न्याय बिन्दु पूर्वपक्ष संक्षिप्त, (2) तत्त्वसंग्रह पंजिका

(19) **कल्याण रक्षित**—(लगभग 829 ई०) महाराज धर्मपाल के समकालीन और धर्मोत्तराचार्य के गुरु थे। इनके निम्नलिखित ग्रन्थ हैं—(1) सर्वज्ञसिद्धिकारिका, (2) बाह्यार्थसिद्धिकारिका, (3) श्रुति परीक्षा, (4) अन्यापोह्वविचारकारिका, (5) ईश्वरभंगकारिका।

(20) **धर्मोत्तराचार्य**—(लगभग 847 ई०) का उल्लेख श्रीधर (लगभग 991 ई०) ने किया है। ये कश्मीर निवासी थे। इनके निम्नलिखित ग्रन्थ हैं—(1) न्यायबिन्दुटीका, (2) प्रमाण परीक्षा, (3) अपोहनामप्रकरण, (4) परलोकसिद्धि, (5) क्षणभंगसिद्धि, (6) प्रमाणविनिश्चयटीका।

(21) **मुक्तकुम्भ**—(900 ई० के बाद) ने क्षणभंगसिद्धिव्याख्या नामक ग्रन्थ लिखा है।

(22) **अर्चट**—(लगभग 900 ई०) के निम्नलिखित ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है—(1) हेतुबिन्दुविवरण।

(23) **अशोक**—(लगभग 900 ई०) के दो ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है—(1) अवयविनिराकरण, (2) सामान्य दूषण दिक् प्रसारिता।

(24) **चन्द्रगोमि**—(कनिष्ठ) (लगभग 925 ई०) के निम्नलिखित ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है—(1) न्यायालोकसिद्धि।

(25) **प्रज्ञाकर गुप्त**—(लगभग 940 ई०) के निम्नलिखित दो ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है—(1) प्रमाण वार्तिकालंकार (2) सहावलम्ब निश्चय।

(26) **आचार्य जेतारि**—(940-980 ई०) के निम्नलिखित ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है—(1) हेतुतत्त्व उपदेश, (2) धर्मधर्मिविनिश्चय, (3) बाला वतारतर्क।

(27) **जिन**—(लगभग 940 ई०) ने प्रमाणवार्तिकालंकार ग्रन्थ लिखा था।

(28) **रत्नकीर्ति**—(लगभग 940-1000 ई०) की दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—(1) क्षणभंगसिद्धि, (2) अपोहसिद्धि।

अन्य बौद्ध नैयायिक और उनके ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—

(29) **रत्न वज्र**—(लगभग 979-1040 ई०) युक्तिप्रयोग।

(30) **जिन मित्र**—(लगभग 1025 ई०) न्यायबिन्दुपिण्डार्थ।

(31) **जिन मित्र**—(लगभग 1025 ई०) पुस्तकपाठोपाय ।

(32) **ज्ञानश्रीमित्र**—(लगभग 1040 ई०) कार्यकारणभावसिद्धि ।

(33) **ज्ञानश्रीभद्र**—(लगभग 1050 ई०) प्रमाणविनिश्चयटीका ।

(34) **रत्नाकर शान्ति**—(लगभग 1040 ई०) (1) विनाप्तिमात्रसिद्धि । (2) अन्तर्व्याप्ति ।

(35) **यमारि**—(लगभग 1050 ई०) प्रमाणवार्तिकालंकार टीका ।

(36) **शंकरानन्द**—(लगभग 1050 ई०) (1) प्रमाणवार्तिक टीका । (2) सम्बन्ध परीक्षानुसार । (3) अपोहसिद्धि । (4) प्रतिबन्धसिद्धि ।

(37) **शुभकर गुप्त**—(लगभग 1080 ई०)

(38) **मोक्षाकर गुप्त**—(1100 ई०) बौद्ध तर्कभाषा

5. वैदिक परम्परा

[i] प्राचीन न्यायधारा

(1) **अक्षपाद गौतम**—न्यायशास्त्र के विषय के बीज तो मानव मस्तिष्क में सृष्टि के आरम्भ से ही रहे हैं और भारत में चिंतन शक्ति का विकास भी उस समय हो चुका था, जिस समय के प्रामाणिक इतिहास को जानने के अब हमारे पास कोई साधन नहीं हैं। फिर भी शास्त्र के रूप में न्याय के विषयों को सूत्र-बद्ध करने का कार्य गौतम ने किया और इसीलिए वे ही भारतीय न्यायशास्त्र के जन्मदाता माने जाते हैं। 'गौतम' नाम का उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न व्यक्तियों के लिए किया गया है।[59] अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि इन गौतमों में से 'न्यायसूत्र' का रचयिता कौन है। अधिकतर परम्परावादी लोगों का तो यही विश्वास है कि विदेहराज जनक के पुरोहित, अहल्या के पति तथा मिथिला में दरभंगा के पास (आधुनिक कमतौल रेलवे स्टेशन के समीप) एक आश्रम में रहने वाले जो गौतम मुनि थे, उन्होंने ही न्यायसूत्र की रचना की। रामायण में अहल्या के शापोद्धार की कथा के साथ यह भी उल्लेख है कि राम को वन जाने से रोकने के लिए गौतम ने यह तर्क दिया था कि यदि वनवास का अर्थ सब वनों में रहना (वनेषु वासः) है तो यह चौदह वर्ष में भी पूरा नहीं हो सकता और यदि इसका अर्थ किसी एक जंगल में रहना (वने वासः) है तो राम अयोध्या के निकट ही किसी जंगल में रहकर पिता की आज्ञा का निर्वाह कर सकते हैं।

महाभारत के शान्ति पर्व में गौतम के साथ मेधातिथि शब्द भी जोड़ा गया है और भास के प्रतिमा नाटक में भी मेधातिथि का न्यायशास्त्र के प्रणेता के रूप में उल्लेख किया गया है। अतः कतिपय विद्वानों का यह कथन है कि न्यायसूत्र की रचना पुरोहित गौतम ने नहीं, अपितु मेधातिथि गौतम ने की थी। प्रो० दासगुप्त प्रभृति विद्वान् मेधातिथि को गौतम से भिन्न व्यक्ति मानते हैं।

न्यायभाष्य आदि ग्रन्थों में गौतम के साथ अक्षपाद शब्द का भी उल्लेख है। माधवाचार्य ने तो 'अक्षपाद' शब्द को इतना अधिक महत्त्व दिया कि सर्वदर्शन-संग्रह में न्यायशास्त्र का नाम ही 'अक्षपाद दर्शन' रख दिया। 'अक्षपाद' शब्द के सम्बन्ध में यह किम्वदन्ती प्रसिद्ध है कि गौतम मुनि शास्त्र चिन्तन में व्यस्त रहकर रात में भी भ्रमण करते रहते थे। उन्हें अपनी सुध-बुध नहीं रहती थी। एकदिन वे कुएँ में गिर पड़े। ईश्वर ने इस प्रकार दुर्घटनाओं से भविष्य में उनकी रक्षा करने के लिए उनके पावों में ही दृष्टि शक्ति प्रदान कर दी। तब से गौतम का नाम 'अक्षपाद' पड़ गया।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर गौतम के सम्बन्ध में मुख्य विचारणीय प्रश्न यही रह जाता है कि मेधातिथि, गौतम और अक्षपाद ये एक ही व्यक्ति के विभिन्न नाम थे या अलग-अलग व्यक्तियों के। जहाँ तक मेधातिथि और गौतम का प्रश्न है, अधिकतर विद्वानों की यही राय है कि ये एक ही व्यक्ति के नाम हैं और यदि मेधातिथि कोई भिन्न व्यक्ति था तो न्यायसूत्र की रचना से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। किन्तु अक्षपाद और गौतम को डा० सतीशचन्द्र विद्या-भूषण जैसे कतिपय विद्वानों ने अलग-अलग व्यक्ति माना है और दोनों को ही न्यायसूत्र का रचयिता माना है। उनका कथन है कि न्यायसूत्र का एक अंश आन्वीक्षिकी गौतम ने लिखा और उसको आधार बनाकर दूसरे अंश की रचना अक्षपाद ने की। प्रो० दासगुप्त की मान्यता है कि न्यायदर्शन के दो अंश हैं— अध्यात्म-विद्या और तर्कविद्या। आचार्य विश्वेश्वर ने भी अध्यात्मविद्या और तर्कविद्या को न्याय के दो युगों का नाम देते हुए यह माना है कि अध्यात्म प्रधान युग के निर्माता गौतम और प्रमाण-प्रधान युग के प्रवर्तक अक्षपाद थे। अतः न्यायसूत्र की रचना अक्षपाद (तथा) गौतम इन दो व्यक्तियों ने की। डा० विद्याभूषण ने इस मत को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि गौतम मिथिला के थे और अक्षपाद प्रभास काठियावाड़ के। न्यायसूत्र में मुख्य रूप से पाँच विषयों का विश्लेषण किया गया है—(1) प्रमाण, (2) प्रमेय, (3) वाद, (4) अवयव और (5) अन्यमतपरीक्षा। इनमें से प्रमेय और वाद तथा संभवतः

प्रमाण का विवेचन गौतम ने आन्वीक्षिकी के रूप में किया था और अवयव तथा अन्यमतपरीक्षा का समावेश अक्षपाद ने आन्वीक्षिकी में करके न्यायसूत्र की रचना की। इस प्रकार जैसे आयुर्वेद के प्रवर्तक अग्निवेश थे और चरक ने उसका परिष्कार कर उसे ग्रन्थ का रूप दिया, उसी प्रकार न्याय दर्शन के वर्तमान रूप के रचयिता तो अक्षपाद ही हैं, किन्तु उन्होंने अपने ग्रन्थ की अधिकतर सामग्री गौतम से ली है। डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के मतानुसार गौतम और अक्षपाद एक ही व्यक्ति के नाम थे। 'अक्ष+पाद' और 'गो+तम' में में अन्तिम अवयव मानार्थक हैं और प्रथम अवयवों यानी 'अक्ष' और 'गौ' का अर्थ है— इन्द्रिय। अत: व्युत्पत्ति की दृष्टि से अक्षपाद और गो(गौ) तम में कोई अन्तर नहीं है। विद्वानों के उपर्युक्त मतवैभिन्य का अपना विशिष्ट महत्त्व अपने स्थान पर है, पर जहाँ तक उत्तरवर्ती नैयायिकों का प्रश्न है उन्होंने न्यायसूत्र के रचयिता का उल्लेख 'अक्षपाद गौतम' इस संयुक्त अभिधान से ही किया है।

न्यायसूत्र के रचनाकाल के सम्बन्ध में भी विद्वान एकमत नहीं हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'न्याय' शब्द का उल्लेख नहीं है। उसमें आन्वीक्षिकी की चर्चा है। इससे कुछ विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि न्यायसूत्र की रचना कौटिल्य से पहले नहीं हुई। गोल्डस्टकर के अनुसार पाणिनि न्याय शब्द से परिचित थे, क्योंकि उन्होंने **'अध्यायन्यायोद्याव-संहाराश्च'**(3.3.122) सूत्र में न्याय शब्द का पञ्चावयववाक्य के अर्थ में प्रयोग किया है। साथ ही उक्थादिगण में न्याय का परिगणन है और **'तदधीते तद्वेद'** से नैयायिक शब्द की सिद्धि होती है। यदि इस बात को मान लिया जाय तो न्यायसूत्र का रचनाकाल कौटिल्य और पाणिनि के समय के बीच माना जाना चाहिए।

कतिपय विद्वानों का यह मत है कि न्यायसूत्र में 'शून्यवाद' का खण्डन किया गया है, अत: न्यायसूत्र की रचना नागार्जुन की माध्यात्मिक कारिका के बाद हुई। नागार्जुन दूसरी शती के आरम्भ में हुये थे।[60] कुछ विद्वानों का यह भी कथन है कि न्यायसूत्र में विज्ञानवाद का भी खण्डन है। विज्ञानवाद के जनक असंग और वसुबन्धु का समय और चौथी शती माना गया है। किन्तु इस मत का जैकोबी ने इस आधार पर खण्डन किया है कि विज्ञानवाद बीज रूप में तो असंग से पहले भी रहा है। न्यायसूत्र में उस विज्ञानवाद का खण्डन नहीं है, जिसका प्रवर्तन असंग ने किया था।[61] अत: अधिकतर विद्वानों का यही मत है कि न्यायसूत्र की रचना दूसरी शती के उत्तरार्ध में हुई होगी।

न्यायसूत्र की विषय-वस्तु :

न्यायसूत्र पाँच अध्याय में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। सूत्रों की कुल संख्या 500 के करीब है। गौतम ने न्यायसूत्र की समस्त विषय-वस्तु का जिन सोलह शीर्षकों के अन्तर्गत विश्लेषण किया है, वे हैं—(1) प्रमाण, (2) प्रमेय, (3) संशय, (4) प्रयोजन, (5) दृष्टान्त, (6) सिद्धान्त, (7) अवयव, (8) तर्क, (9) निर्णय, (10) वाद, (11) जल्प, (12) वितण्डा, (13) हेत्वाभास, (14) छल, (15) जाति और (16) निग्रहस्थान। यों तो इन सब पदार्थों का वर्गीकरण प्रमाण और प्रमेय इन दो भागों में किया जा सकता था, और प्रमाण भी एक प्रकार का प्रमेय ही है। परन्तु न्यायसूत्र में मूलतत्त्वों के आधार पर वैसा वर्गीकरण नहीं किया गया, जैसा कि वैशेषिक सूत्र में किया गया है। अतः न्याय के ये पदार्थ कॅटेगरीज नहीं अपितु विवेचनीय विषय (टापिक) हैं। न्याय के समस्त साहित्य का आधार न्यायसूत्र ही रहा है।

(2) **वात्स्यायन**—न्याय सूत्र पर जो सर्वाधिक प्राचीन भाष्य उपलब्ध होता है, उसके रचयिता हैं—वात्स्यायन। वात्स्यायन और गौतम के बीच की अवधि में संभवतः अन्य लोगों ने भी न्यायसूत्र पर भाष्य लिखे होंगे, क्योंकि वात्स्यायन ने कतिपय सूत्रों के एक से अधिक अर्थ करते हुए एके, केचित् आदि शब्दों के माध्यम से अन्य आचार्यों के मतों की ओर इंगित किया है और कहीं-कहीं सिद्धान्तों का श्लोकबद्ध समाहार भी किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वात्स्यायन से पहले भी न्याय के विश्लेषण की एक लम्बी परम्परा विद्यमान थी और वात्स्यायन ने उस परम्परा से प्राप्त ज्ञान को भी न्यायभाष्य में निबद्ध किया।

न्याय भाष्य में (कौटिल्य 327 ई० पू०) के अर्थशास्त्र और पतंजलि (150 ई० पू०) के महाभाष्य के उद्धरण तथा नागार्जुन (300 ई०) द्वारा न्यायसूत्र पर किये गये आक्षेपों के उत्तर भी मिलते हैं। वात्स्यायन के मत की आलोचना बौद्धदार्शनिक दिङ्नाग (500 ई०) ने की है। अतः अधिकतर विद्वान् वात्स्यायन का समय 300 ई० से 500 ई० के बीच यानी लगभग 400 ई० के आसपास मानते हैं।[62]

हेमचन्द्र की अभिधान चिन्तामणि में वात्स्यायन और कौटिल्य को एक व्यक्ति माना गया है। पर इस श्लोक की प्रामाणिकता सदिग्ध है। कामसूत्र का रचयिता वात्स्यायन भी न्यायभाष्यकार से भिन्न ही कोई व्यक्ति रहा होगा।[63] वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका में तथा माधव ने सर्वदर्शन संग्रह में वात्स्यायन का पक्षिलस्वामी नाम से भी उल्लेख किया है।[64] डा० सतीशचन्द्र

विद्याभूषण का विचार है कि वात्स्यायन कांचीपुर (आधुनिक कांजीवार) में जन्मे थे। कांचीपुर उन दिनों वैदिक तथा बौद्ध अध्ययन का केन्द्र था। दिङ्-नाग (500 ई०) तथा धर्मपाल (600 ई०) का जन्म भी वहीं हुआ था। अतः वात्स्यायन द्रामिल या द्रविड़ भी कहलाते थे। डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री का यह कथन है कि हेमचन्द्र का उपर्युक्त श्लोक अप्रामाणिक है अतः उसके आधार पर कोई मत स्थिर करना समुचित नहीं है।[65]

वात्स्यायन का जन्म कांशीवरम् में हुआ हो या वत्स (इलाहाबाद के पास), इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनका भाष्य भारतीय न्याय के विकास में महत्त्व-पूर्ण स्थान रखता है और समस्त भारत के उत्तरवर्ती नैयायिकों ने उनके ग्रन्थ से बड़ी सामग्री ग्रहण की है।

(3) **भारद्वाज उद्योतकर**—वात्स्यायन के भाष्य पर एक महत्त्वपूर्ण वार्तिक लिखने का श्रेय उद्योतकर को है। न्यायवार्तिक की पुष्पिका में इनका उल्लेख 'पाशुपताचार्य' के रूप में भी हुआ है। भारद्वाज वंश में उत्पन्न होने के कारण ये भारद्वाज भी कहलाते हैं। गौतम के न्यायसूत्र पर बौद्धदार्शनिक नागार्जुन (300 ई०) ने जो आक्षेप किये उनका उत्तर वात्स्यायन (400 ई०) ने दिया। किन्तु बौद्धों में फिर एक धुरन्धर विद्वान हुये—दिङ्नाग (500 ई०)। उन्होंने वात्स्यायन के मत में भी दोष निकाल दिये। इस प्रकार वैदिक नैयायिकों और बौद्ध नैयायिकों द्वारा एक दूसरे के खण्डन के सिलसिले में जब दिङ्नाग की तूती बोल रही थी तो उस समय न्याय के गगन में उद्योतकर का उदय हुआ। उन्होंने न्यायवार्तिक लिखकर दिङ्नाग का प्रबल रूप से खण्डन किया और न्याय के अनेक सिद्धान्तों की नवीन व्याख्या की।

सुबन्धु (640 ई०) ने वासवदत्ता नामक ग्रन्थ में उद्योतकर का उल्लेख किया है और सुबन्धु की वासवदत्ता का उल्लेख वाण ने हर्षचरित में किया। वाण महाराज हर्ष (604-648 ई०) के कनिष्ठ समकालीन थे। उनका समय सातवीं शती का मध्य माना जाता है। धर्मकीर्ति (700 ई०) ने न्यायबिन्दु नामक ग्रन्थ लिखकर उद्योतकर की बातों का उत्तर दिया। अतः उद्योतकर छठी शती में जन्मे होंगे।

विद्याभूषण ने उद्योतकर और धर्मकीर्ति को इस आधार पर समकालीन माना है कि उद्योतकर ने न्यायवार्तिक में 'प्रतिज्ञा' का विश्लेषण करते हुये 'वादविधि' से जो मत उद्धृत किया है, वह धर्मकीर्ति के वादन्याय में भी है।[66] अतः वादविधि और वादन्याय एक ही ग्रन्थ के दो नाम हैं। किन्तु अन्य विद्वानों

ने इस मत का खण्डन इस आधार पर किया है कि यदि उद्योतकर धर्मकीर्ति से परिचित होते तो दिङ्नाग द्वारा दी गई प्रत्यक्ष की परिभाषा में धर्मकीर्ति ने जो सुधार किया, उसका भी वे अपने न्यायवार्तिक में उल्लेख करते। इसके अतिरिक्त विद्वानों की सामान्यतया यह मान्यता भी है कि वादविधि के लेखक वसुबन्धु थे धर्मकीर्ति नहीं। प्रो० रांडले प्रभृति विद्वानों का यह मत है कि उद्योतकर, सुबन्धु और वाण समकालीन थे।[67] उद्योतकर द्वारा न्यायवार्तिक में प्रयुक्त 'स्रुघ्न' शब्द के आधार पर यह मानना उपयुक्त न होगा कि उद्योतकर महाराज हर्ष (604-648 ई०) की राजधानी थानेसर के पास उनके राज्याश्रय में रहते थे।[68]

उद्योतकर का न्यायवार्तिक बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। किन्तु कहीं-कहीं उद्योतकर अपने विरोधियों की उक्तियों को तोड़ मरोड़ कर प्रस्तुत करते हैं। न्यायपक्ष का प्रतिपादन ही उनका मुख्य उद्देश्य था पर ऐसा लगता है कि उनमें विपक्षियों के मत के प्रति वैसी उदारता का अभाव था जैसी कि बाद में वाचस्पति मिश्र और जयन्त भट्ट ने दिखाई।

(5) **वाचस्पति मिश्र**—वाचस्पति ने उद्योतकर के न्यायवार्तिक पर टीका और न्यायसूची निबन्ध नामक पुस्तक लिखी। न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका में इन्होंने न्याय की गुत्थियों को स्पष्ट किया तथा धर्मकीर्ति द्वारा उद्योतकर के मत पर किये गये आक्षेपों का परिहार किया। इन्होंने स्वयं भी यह बात स्पष्ट रूप से कही है कि न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका की रचना न्यायवार्तिक पर विरोधियों द्वारा किये गये आक्षेपों का निराकरण करने के लिए की गई है।[69] इनके गुरु का नाम त्रिलोचन था।[70]

वाचस्पति मिश्र अद्वितीय विद्वान थे। इनकी पैठ सभी शास्त्रों में बड़ी गहरी थी। इसीलिए ये 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' आचार्य तथा षड्दर्शनवल्लभ के नाम से भी विख्यात थे। इन्होंने न्यायदर्शन पर उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त सांख्य पर सांख्य तत्त्वकौमुदी, योग पर तत्त्ववैशारदी, मीमांसा पर न्यायकणिका, मण्डनमिश्र के विधिविवेक पर टीका तथा तत्त्वबिन्दु और अद्वैत वेदान्त (शारीरक भाष्य) पर भामती नामक टीका ग्रन्थों की भी रचना की है। वैदिक दर्शनों में प्रकांड पाण्डित्य के साथ ही ये बौद्धदर्शन में भी बड़े निष्णात थे। कई स्थलों पर तो इन्होंने बौद्ध मन्तव्यों का ऐसा सुन्दर स्पष्टीकरण किया है जैसा कि धर्मकीर्ति आदि के ग्रन्थों में भी नहीं मिलता।

इनका जन्म नवीं शताब्दी में मिथिला प्रान्त के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इन्होंने न्यायसूची निबन्ध की पुष्पिका में स्वयं ही यह लिखा कि उसका निर्माण संवत् 898 में किया गया।[71] गोपिनाथ कविराज के अनुसार यह गणना विक्रम संवत् पर आधारित है न कि शक संवत् पर और इस प्रकार यह ईसवी सन् का 841वां वर्ष बनता है।[72] शक संवत् मानने पर यह 976 ई० माना जायेगा और ऐसा मानना इस दृष्टि से युक्ति संगत नहीं होगा कि उदयनाचार्य ने अपना समय 984 ई० बताया है। उदयनाचार्य वाचस्पति से बाद में हुए क्योंकि उन्होंने न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका पर न्याय-वार्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धि नामक ग्रन्थ लिखा है। बौद्ध दार्शनिक रत्नकीर्ति (1000 ई०) ने वाचस्पति के मत को उद्धृत किया है। अत: इस दृष्टि से भी वाचस्पति नवीं शताब्दी के ही सिद्ध होते हैं। भामती में वाचस्पति ने स्वयं ही यह लिखा है कि उनके आश्रयदाता राजा का नाम नृग था।[73]

वाचस्पति मिश्र से पहले किसी एक ही भारतीय आचार्य ने विभिन्न दर्शनों का समर्थन या विश्लेषण उनकी मान्यताओं के आधार पर नहीं किया था। वाचस्पति मिश्र ने पहली बार एक नया मार्ग अपनाया और जिस दर्शन पर लिखने बैठे उसी के होकर हो गये। उन्होंने वैशेषिक दर्शन तथा चार्वाक बौद्ध व जैन दर्शन पर पृथक् ग्रन्थ नहीं लिखे पर अपने ग्रन्थों में यथास्थान उनके सिद्धान्तों की भी चर्चा की है।

(4) **जयन्त भट्ट**—नैयायिकों की परम्परा में जयन्त भट्ट का एक बहुत ही विशिष्ट स्थान है। जयन्त भट्ट ने भी भारत भूमि को लगभग उसी समय अलंकृत किया जबकि वाचस्पति मिश्र हुए थे।[74] वाचस्पति और जयन्त के पूर्वापरक्रम पर विद्वानों में मतभेद है, किन्तु अब अधिकतर विद्वानों की यही राय है कि जयन्त वाचस्पति के कनिष्ठ समकालीन थे।[75] कुछ विद्वानों का यह मत है कि समकालीन होने पर भी वे एक दूसरे के परिचित न थे। जबकि अन्य विद्वानों का मत है कि जयन्त ने वाचस्पति का उल्लेख आचार्य के रूप में किया और भामती से एक श्लोक भी उद्धृत किया। न्यायमंजरी ग्रन्थिभंग के लेखक चक्र-धर का कथन है कि आचार्य शब्द न्यायवार्तिक के टीकाकार रुचिकार आदि का द्योतक है वाचस्पति मिश्र का नहीं। जयन्त की न्यायमंजरी के कतिपय संदर्भों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि ये कश्मीर के रहने वाले थे और न्यायमंजरी नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ उन्होंने कारागार में लिखा था। ऐसा प्रतीत होता है कि जयन्त कश्मीर में एक विद्याकेन्द्र के आचार्य तथा उससे सम्बद्ध मठ के अध्यक्ष

थे। मठ में काफी धन था। राजा शंकर वर्मा का कोष जब युद्ध के कारण खाली हो गया तो उसने मठ से धन हड़पना चाहा। जयन्त और उनके अनुयायियों ने राजा के इस कार्य का विरोध किया। परिणामस्वरूप शंकर वर्मा ने जयन्त को कारागार में डाल दिया।

जयन्त ने धर्मकीर्ति, कुमारिल, वाण भट्ट आदि का उल्लेख किया। युक्तिदीपिका की आलोचना की है और शिशुपाल वध से एक श्लोक उद्धृत किया है। आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त से भी जयन्त परिचित थे। ये सभी आचार्य व ग्रन्थ 800 ई० से पहले के थे। जयन्त ने कश्मीर के राजा शंकरवर्मन् का एक भूतपूर्व राजा के रूप में उल्लेख किया है। शंकरवर्मन् का समय 887 से 902 ई० के बीच माना गया है। जयन्त के पुत्र अभिनन्द ने कादम्बरीकथासार नवीं शताब्दी के अन्त में लिखा था। अभिनन्द ने अपने पिता जयन्त भट्ट की एक प्रख्यात वृत्तिकार के रूप में बड़ी प्रशंसा की है। अतः अधिकतर विद्वानों की यही राय है कि जयन्तभट्ट नवीं शताब्दी के आरम्भ में हुए।[76]

जयन्त की न्यायमंजरी यों तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है पर उसकी विषय वस्तु का क्रम न्यायसूत्र में परिगणित सोलह पदार्थों पर ही आधारित है। अतः अत्यन्त मौलिक होने पर भी वह एक वृत्ति के रूप में ही अधिक प्रख्यात हुई। जैसा कि जयन्त ने स्वयं भी कहा है, न्याय के सभी सूत्रों की व्याख्या करना उनका उद्देश्य नहीं था। उन्होंने तो कुछ चुने हुए विषय लिये और उस पर उनके समय तक सभी दर्शनों के आचार्यों ने जो कुछ कहा उसका सटीक व प्रामाणिक विश्लेषण कर अपने मत की स्थापना की। अतः न्यायमंजरी अपने आप में भारतीय न्याय का एक महान्, ऐतिहासिक सामग्री सम्पन्न व सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ है। वाचस्पति की न्यायवर्तिकतात्पर्यटीका भी बहुत महत्त्वपूर्ण है पर वह मुख्यरूप से एक टीका है जब कि न्यायमंजरी मुख्यरूप में एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और आनुषंगिक रूप में एक वृत्ति। वस्तुतः जयन्त भट्ट न्याय में एक नई शैली के जनक भी हैं। न्याय में तुलनात्मक विश्लेषण का सूत्रपात जयन्त ने ही किया। उद्योतकर और वाचस्पति मिश्र ने भी बौद्धमत का खण्डन किया था, पर जयन्त पाठक के समक्ष सब मतों को रख देते हैं और कई अवसरों पर पाठकों से यह कहते हैं कि आपको इन मतों में जो अधिक युक्तिसंगत जंचता हो उसे ही आप माने।[77] पाठक का इतना ध्यान रखने वाला या सम्मान करने वाला आचार्य जयन्त से अधिक शायद ही कोई हुआ हो। यद्यपि जयन्त ने तुलनात्मक विश्लेषण के साथ न्याय में कुछ नये सिद्धान्तों की उद्भावना भी की है, पर उनका अपना कहना तो

यही है कि उनकी न्यायमंजरी में तथ्य तो पुराने ही हैं, सिर्फ उनके प्रस्तुत करने की विधि उनकी अपनी और नई है ।[78]

(6) **उदयनाचार्य**—उदयनाचार्य का नाम उन आचार्यों में सर्वप्रथम गिनने योग्य है, जिन्होंने न्याय और वैशेषिक दोनों शास्त्रों पर प्रमाणिक ग्रन्थ लिखे और भावी प्रकरण ग्रन्थों के लिए भी मार्ग प्रशस्त किया । वाचस्पति मिश्र की तात्पर्य टीका पर बौद्धों द्वारा किये गये आक्षेपों का उत्तर देने के लिए उन्होंने परिशुद्धि नामक टीका लिखी और इस प्रकार न्याय की परम्परा में महान् योगदान किया । न्यायकुसुमांजलि में उन्होंने अनेक प्रबल युक्तियों के द्वारा ईश्वर की सिद्धि की । बौद्धदार्शनिकों का खण्डन करने में भी ये बड़े सफल रहे । कतिपय विद्वानों का तो यह भी कथन है कि नव्यन्याय के बीज भी इनके ग्रन्थों में ही सबसे पहले मिलते हैं ।

उदयन के छह ग्रन्थों में से न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धि और न्याय-परिशिष्ट न्याय से संबंधित हैं । किरणावली और लक्षणावली में वैशेषिक के सिद्धान्तों का विवेचन है तथा न्याय कुसुमांजलि और आत्मतत्त्वविवेक स्वतंत्र या प्रकरण ग्रन्थ हैं । लक्षणावली की भूमिका में उसके रचनाकाल 906 शकाब्द (अर्थात् 984 ई०) का उल्लेख उदयनाचार्य ने स्वयं ही कर दिया है ।[79] अत: उदयन का समय 10वीं शताब्दी का अन्तिम भाग है । इनका जन्म मिथिला में दरभंगा के पास एक गाँव में हुआ था ।

बौद्ध दार्शनिक कल्याण रक्षित (829 ई० के लगभग) ने 'ईश्वरभंग कारिका' में ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन किया था । उदयनाचार्य ने उनके तर्कों का कुसुमांजलि में उत्तर दिया । आत्मतत्त्वविवेक में उदयन ने धर्मोत्तर (847 ई० के लगभग) के 'अपोहनाम प्रकरण' और 'क्षणभंग सिद्धि' की तीखी आलो-चना की है । उदयनाचार्य ने न्याय में ईश्वर की सिद्धि की, प्रकरणों की पद्धति को जन्म दिया और नव्यन्याय की आधारभूमि तैयार की । अत: न्याय के इति-हास में उनका अप्रतिम स्थान है । इनके ग्रन्थों की प्रसिद्धि का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि बाद के आचार्यों ने उनको पुष्कल मात्रा में उद्धृत किया और अनेक टीका-प्रटीकाएँ भी उन पर लिखीं ।

(7) **भासर्वज्ञ** —भासर्वज्ञ से पहले वैदिक नैयायिकों ने प्रमाणों के साथ प्रमेयों का विवेचन भी किया, किन्तु भासर्वज्ञ ने अपने न्यायसार में केवल प्रमाणों का ही विश्लेषण करके न्याय में एक नई प्रणाली का सूत्रपात कर गंगेश आदि के लिए मार्ग प्रशस्त किया ।[80] इसके अतिरिक्त इन्होंने उपमान को प्रमाण नहीं

माना। इनके न्यायसार की प्रसिद्धि का पता इससे भी चलता है कि उस पर अठारह टीकाएँ लिखी गई हैं। उनमें से 'न्यायभूषण' सर्वाधिक प्रसिद्ध है और कुछ विद्वानों का तो यह मत भी है कि यह टीका भासर्वज्ञ ने स्वयं लिखी थी। भासर्वज्ञ ने बौद्धों के ग्रन्थों के नमूने पर न्यायसार की रचना की। गुणरत्न ने षड्दर्शन समुच्चय की वृत्ति में यह भी उल्लेख किया कि जयन्तभट्ट ने भी न्यायसार पर 'न्यायकलिका' नामक टीका लिखी।[81] किन्तु न्यायकलिका के अन्तःसाक्ष्य से इसकी पुष्टि नहीं होती।

भासर्वज्ञ ही पहला नैयायिक था जिसने न्याय की पद्धति बौद्धों से ली, और विषयवस्तु प्राचीन नैयायिकों से। जैन और बौद्ध नैयायिकों ने गौतम के समान सोलह नहीं बल्कि केवल एक पदार्थ (प्रमाण) का विश्लेषण किया। भासर्वज्ञ ने भी यही पद्धति वैदिक न्याय में प्रचलित की और न्याय के बाकी सब पदार्थों का विवेचन प्रमाण के ही अन्तर्गत कर दिया। न्यायसार एक प्रकरण ग्रन्थ है।[82] प्रकरण ग्रन्थ चार प्रकार के माने गये हैं—पहले वे, जिनमें केवल प्रमाण को ही एकमात्र पदार्थ माना गया है और बाकी पदार्थों का विवेचन उसके अंगों और उपांगों के रूप में किया गया है। दूसरे वे, जिनमें वैशेषिक के पदार्थों का भी समावेश किया गया है, तीसरे वे, जिनमें मुख्य रूप से वैशेषिक के छः या सात पदार्थों का विवेचन किया गया है और उनमें ही न्याय के पदार्थों का भी समावेश कर दिया गया है और चौथे वे, जिनमें कुछ न्याय के और कुछ वैशेषिक के पदार्थों का भी निरूपण किया गया है। भासर्वज्ञ का न्यायसार प्रथम कोटि का प्रकरण ग्रन्थ है।

धर्मकीर्ति ने विरुद्धाव्यभिचारि को हेत्वाभास का भेद बताया है और न्याय सार में भासर्वज्ञ ने उसका उल्लेख किया है।[83] अतः भासर्वज्ञ का समय धर्मकीर्ति के बाद का है। कश्मीर में बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म 10वीं शती में साथ-साथ विकसित होते रहे। अतः विद्वानों का यह मत है कि भासर्वज्ञ 10 वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में कश्मीर में हुए होंगे।

भासर्वज्ञ ने सांख्यों और जैनों के समान तीन ही प्रमाण स्वीकार किये, बौद्धों के समान अनुमान के स्वार्थानुमान और परार्थानुमान नामक दो भेद माने तथा पक्षाभास तथा उदाहरणाभास का विवरण दिया। मोक्ष और सुख के सम्बन्ध में भासर्वज्ञ का मत प्रभाकर के मत से मिलता है और गौतम के मत से भिन्न है। न्यायसूत्र में उल्लिखित सोलह पदार्थों में से भासर्वज्ञ ने प्रयोजन, सिद्धान्त तथा दृष्टान्त का पृथक् विश्लेषण नहीं किया और बाकी सबका निरूपण प्रमाण के तीन भेदों में से अनुमान के उपभेद परार्थानुमान के अन्तर्गत कर दिया।

कुछ विद्वानों का मत है कि भासर्वज्ञ की विचारधारा पर योग का अत्यधिक प्रभाव है।[84]

(ii) नव्यन्याय धारा

(1) **गंगेश उपाध्याय**—12वीं शती में भारतीय न्याय के इतिहास में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। इस क्रान्ति के अग्रदूत थे गंगेश उपाध्याय उन्होंने तत्त्वचिन्तामणि नामक ग्रन्थ लिखकर नव्यन्याय को जन्म दिया। उनसे पहले प्रमाण विवेचन को न्याय के आचार्यों ने भी तत्त्वज्ञान या निश्रेयस् का साधन तो माना था, किन्तु गंगेश ने प्रमाण विवेचन को दर्शन का साध्य बता कर न केवल न्याय को नया रूप दिया, अपितु समस्त भारतीय दर्शनों पर भी अत्यधिक प्रभाव डाला। यद्यपि तत्त्वचिन्तामणि में मुक्ति का भी विवेचन है, किन्तु प्रमाणमीमांसा की तुलना में वह गौण है। इसे व्यापक दृष्टि से देखा जाये तो गंगेश नव्यन्याय के जनक होने के साथ-साथ समस्त भारतीय दर्शनों के चिन्तन में भी एक नई शैली के प्रवर्तक आचार्य हैं।

गंगेश ने भी अपने जन्मकाल आदि का स्वयं कोई उल्लेख नहीं किया, किन्तु अपने ग्रन्थ में उन्होंने अपने कतिपय पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों से जो उद्धरण दिये हैं उनके आधार पर उनके समय का अनुमान किया जा सकता है। गंगेश ने शिवादित्य (10वीं शताब्दी) का उल्लेख और श्री हर्ष (1186 ई0) के खण्डनखण्ड-खाद्य की आलोचना की है। गंगेश के पुत्र वर्धमान उपाध्याय का समय 13वीं शती के आरम्भ में माना गया है। अतः विद्वानों का यह मत है कि गंगेश 12वीं शती के उत्तरार्ध में हुए होंगे।

तत्त्वचिन्तामणि में चार खण्ड हैं—(1) प्रत्यक्ष खण्ड, (2) अनुमान खण्ड, (3) शब्द खण्ड और (4) उपमान खण्ड। प्राचीन न्याय में विषय का प्रतिपादन उद्देश, लक्षण और परीक्षा शैली से किया जाता था, गंगेश ने एक नई शब्दावली के माध्यम से यह कार्य किया और अवच्छेदक, अनुयोगिता, विषयता, प्रकारता आदि के प्रयोग से नव्यन्याय की भाषा को लच्छेदार बना दिया। इससे न्याय की भाषा में बारीकी तो आई किन्तु यह जनसाधारण की सीमा से परे की वस्तु बन गई। कुछ विद्वानों की तो यह भी राय है कि गंगेश ने प्रमेयों का विश्लेषण तो किया ही नहीं, प्रमाणों का भी जो विवरण प्रस्तुत किया है, उसमें भी कोई नई बात नहीं है। यानी उनका योगदान विषयवस्तु की दृष्टि से बहुत कम है। उनका महत्त्व केवल इसी में है कि उन्होंने न्याय को एक नई प्रविधि व भाषा दी।[85] किन्तु अन्य विद्वानों का कथन है कि गंगेश ने प्रमाणों का विवे-

चन करते हुए न्याय में कई नवीन संकलपनाएँ भी जोड़ी हैं। व्याप्ति जैसी समस्याओं का विवेचन उनका अत्यधिक मौलिक है। भारतीय न्याय शास्त्र को पाश्चात्य तर्कशास्त्र की तरह निर्मित करने का श्रेय भी गंगेश को ही है। तत्त्वचिन्तामणि की टीका-प्रटीकाओं से ही नव्यन्याय के विपुल साहित्य की रचना हुई।

गंगेश का जन्म मिथिला में हुआ था। अत: मुख्य रूप से नव्यन्याय का विकास तो मिथिला में ही हुआ, किन्तु बाद में इसका प्रसार बंगाल में भी हो गया और फलस्वरूप पक्षधर मिश्र के बाद नव्यन्यात की दो शाखाएँ प्रचलित हो गयीं—

(1) मिथिला शाखा और (2) नवद्वीप (नदिया) शाखा।

(2) **वर्द्धमान उपाध्याय**—मिथिला शाखा की परम्परा में गंगेश के सुपुत्र वर्द्धमान उपाध्याय का नाम सर्वप्रथम आता है। इनके ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं:—

1. तत्त्वचिन्तामणि-प्रकाश (तत्त्वचिन्तामणि की टीका)
2. न्यायनिबन्ध-प्रकाश (न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका परिशुद्धि की व्याख्या)
3. न्याय परिशिष्ट-प्रकाश (उदयनाचार्य के न्याय परिशिष्ट पर टीका)
4. प्रमेयनिबन्ध-प्रकाश
5. किरणावली-प्रकाश
6. न्यायकुसुमांजलि-प्रकाश
7. न्यायलीलावती-प्रकाश
8. खण्डन खाद्य-प्रकाश

(2) **पक्षधर मिश्र**—वर्द्धमान के तत्पश्चात् पन्द्रहवीं शती के तीसरे भाग में मिथिला में ही एक उद्भट विद्वान का जन्म हुआ। इनका नाम था पक्षधर मिश्र। जिस पक्ष को लेते थे उसको सिद्ध किए बिना न छोड़ने के कारण इनका नाम पक्षधर मिश्र पड़ा। वैसे इनका वास्तविक नाम जयदेव था। तत्त्वचिन्तामणि पर इन्होंने आलोक नामक टीका लिखी। इसके अतिरिक्त इन्होंने वर्द्धमान के किरणावली प्रकाश पर द्रव्य पदार्थ व न्यायलीलावती प्रकाश पर लीलावती विवेक नामक व्याख्याएँ भी लिखीं। ये न्याय के अप्रतिम आचार्य माने जाते थे।[86] इसके अतिरिक्त प्रसन्नराघव और चन्द्रलोक के रचयिता भी ये ही माने जाते हैं।

(4) **वासुदेव मिश्र**—ये पक्षधर के शिष्य तथा भतीजे थे। पक्षधर के आलोचकों के तर्कों का खण्डन करने के लिए इन्होंने तत्त्वचिन्तामणि पर न्याय-सिद्धान्तसार नामक टीका लिखी।[87] इनका समय 15वीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाता है।

मिथिला शाखा के अन्य नैयायिकों में रुचिदत्त, भगीरथ, महेश ठक्कुर, शंकर मिश्र, वाचस्पति मिश्र, (द्वितीय, 1450 ई०) मधुसूदन ठक्कुर, देवनाथ ठक्कुर आदि के नाम प्रमुख हैं।

(5) **वासुदेव सार्वभौम**—नव्यन्याय की नदिया शाखा की स्थापना का श्रेय वासुदेव सार्वभौम को है। अपने पिता महेश्वर विशारद से संस्कृत व्याकरण, साहित्य और धर्मशास्त्र की अच्छी शिक्षा प्राप्त करने के अनन्तर ये न्याय पढ़ने के लिये मिथिला गये। वहाँ इन्होंने पक्षधर मिश्र से न्याय की शिक्षा प्राप्त की। शलाका परीक्षा में असाधारण सफलता प्राप्त करने के कारण इनके गुरु ने इन्हें सार्वभौम की उपाधि से विभूषित किया। मिथिला के विद्वान् उन दिनों किसी भी न्याय ग्रन्थ की पाण्डुलिपि मिथिला से बाहर नहीं ले जाने देते थे। अतः वासुदेव ने पूरी चिन्तामणि तथा न्यायकुसुमांजलि की कारिकाएँ कण्ठस्थ कर लीं। मिथिला से वे बनारस गये। वहाँ उन्होंने वेदान्त पढ़ा। 15वीं शताब्दी के अन्त में वे बंगाल लौटे। बंगाल में इन्होंने एक विद्यापीठ स्थापित किया। चैतन्य महाप्रभु (1485 ई०) रघुनाथ शिरोमणि, रघुनन्दन आदि इनके कई शिष्य हुये। अपनी वृद्धावस्था में ये बंगाल छोड़कर उड़ीसा चले गये थे और मृत्युपर्यन्त वहाँ के राजा प्रतापरुद्र के राजपंडित तथा पुरी मठ के अध्यक्ष रहे।

(6) **रघुनाथ शिरोमणि**—गंगेश और रघुनाथ तर्क शिरोमणि के बीच की अवधि में कई आचार्यों ने नव्यन्याय की परम्परा की तत्त्वचिन्तामणि की टीका प्रटीकाओं के रूप में आगे बढ़ाया, पर वस्तुतः गंगेश की तत्त्वचिन्तामणि के बाद रघुनाथ तर्कशिरोमणि की 'दीधिति' को ही उत्तरवर्ती नैयायिकों ने सर्वाधिक मान्यता दी। रघुनाथ ने अपने गुरु वासुदेव सार्वभौम तथा पक्षधर मिश्र के मतों को भी अमान्य कर गंगेश के मत का एक नये ढंग से विश्लेषण किया। अतः शास्त्रीय महत्ता की दृष्टि से नव्यन्याय में गंगेश के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण आचार्य रघुनाथ तर्कशिरोमणि ही माने जाते हैं।

कहा जाता है कि रघुनाथ का जन्म सिलहट में हुआ था। उनके पिता गोविन्द चक्रवर्ती का इनके जन्मते ही देहान्त हो गया। इनकी माता सीता देवी

इनको लेकर गंगा स्नान के लिए एक यात्री दल के साथ नवद्वीप में गईं। रास्ते में वह बीमार पड़ गईं तो यात्रीदल उन्हें छोड़कर आगे बढ़ गया। सीतादेवी किसी तरह रघुनाथ को लेकर नदिया में वासुदेव सार्वभौम के आश्रम के समीप पहुँच गईं। वहाँ वासुदेव सार्वभौम ने रघुनाथ को अपना शिष्य बना लिया। कुछ लोगों का यह कथन है कि नवद्वीप में पहुँचकर रघुनाथ 'अग्नि' माँगने के के लिये बिना कोई बर्तन हाथ में रखे वासुदेव सार्वभौम के आश्रम में पहुँचे। आश्रम में जब एक शिष्य ने इनको इस आधार पर आग देने से इनकार कर दिया कि इनके पास बर्तन नहीं है तो इन्होंने उसी समय अपनी अंजलि में रेत उठा ली और कहा कि इस पर आग डाल दो। वासुदेव सार्वभौम ने अचानक ही यह घटना देख ली। वे बालक की प्रत्युत्पन्न मति से बड़े प्रसन्न हुये और उन्होंने उसे अपने विद्यापीठ में प्रवेश दे दिया।

रघुनाथ ने वासुदेव सार्वभौम से सभी शास्त्रों की शिक्षा पाई। न्याय में तो उन्होंने इतनी दक्षता प्राप्त कर ली कि वासुदेव सार्वभौम ने तत्त्वचिन्तामणि पर जो टीका लिखी थी उसमें भी अनेक दोष निकाल दिये। तत्पश्चात् वासुदेव की अनुमति लेकर वे न्याय की जन्मभूमि मिथिला में पक्षधर मिश्र से न्याय पढ़ने के लिये छद्मवेश में गये। रघुनाथ की एक ही आँख थी।[88] पक्षधर मिश्र ने उनको देखते ही उनके काणत्व का उपहास किया तो रघुनाथ ने कहा कि एक अच्छा गुरु वही कहलाता है जो छात्रों को शास्त्ररूपी आँख दे।

प्रवेश के बाद रघुनाथ शीघ्र ही विद्यापीठ की सबसे बड़ी कक्षा में पहुँच गये। वादविवाद में रघुनाथ को हराना पक्षधर को कठिन पड़ने लगा तो उन्होंने रघुनाथ का अन्य प्रकार से अपमान करना आरम्भ कर दिया। जब अपमान असह्य हो उठा तो एक दिन रात में रघुनाथ तलवार लेकर पक्षधर की हत्या करने के लिये उनके घर पर पहुँच गये। जब वे छुपकर अवसर की ताक में थे, उसी समय पक्षधर की पत्नी ने उस रात खिले हुये पूर्णचन्द्र की ओर इशारा करते हुये पक्षधर से पूछा कि क्या इस पूर्णचन्द्र से अधिक प्रकाशमान वस्तु इस संसार में कोई अन्य है ? इस पर पक्षधर ने कहा कि हाँ, बंगाल से जो छात्र इस विद्यापीठ में पढ़ने आया है उसमें विद्वता का प्रकाश इस पूर्णचन्द्र से भी अधिक है। यह सुनते ही रघुनाथ के हाथ से तलवार छूट गई और वे प्रकट होकर गुरु के चरणों में गिर पड़े। पक्षधर भौचक्के तो हुये पर घटना का पूर्वापर जानकर उन्होंने रघुनाथ का आलिंगन किया और दूसरे दिन पंडित सभा में यह घोषणा कर दी कि पांडित्य में रघुनाथ उनसे श्रेष्ठ हैं। यह घटना 1514 ई० के लगभग

हुई। इस विजय के बाद रघुनाथ नवद्वीप लौटे और उनके आचार्यत्व में नदिया विद्यापीठ को भी एक महत्त्वपूर्ण विश्वविद्यालय का गौरव प्राप्त हो गया। इन्होंने तत्त्वचिन्तामणि पर दीधिति नामक जो टीका लिखी, उसकी महत्ता सभी उत्तरवर्ती आचार्यों ने स्वीकार की। इनका देहान्त 70 वर्ष की अवस्था में 1547 ई० के लगभग हुआ।[89] तत्त्वचिन्तामणि दीधिति के अतिरिक्त रघुनाथ के निम्नलिखित ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं—

बौद्धधिक्कार शिरोमणि (उदयनाचार्य के आत्मतत्त्वविवेक पर टीका), पदार्थतत्त्वनिरूपण (इसमें इन्होंने वैशेषिक के पदार्थों-विशेषकर **'विशेष'** का खण्डन किया), खण्डनखण्ड खाद्यदीधिति, न्यायलीलावतीप्रकाशदीधिति, अवच्छेदकनिरुक्ति, न वाद, आख्यातवाद।

रघुनाथ अपनी विद्वता के प्रति स्वयं बड़े सचेत थे।[90] इसके अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने भी उनको बड़ा आदर दिया।[91] आज भी नव्यन्याय की शिक्षा उनकी दीधिति के अध्ययन के बिना अधूरी ही मानी जाती है।

रघुनाथ के बाद नव्यन्याय की नवद्वीप शाखा में कई आचार्य हुये पर उनमें सर्वाधिक प्रसिद्धि मथुरानाथ तर्कवागीश, जगदीश तर्कालंकार गदाधर भट्टाचार्य को मिली। इन तीनों को दीधित्युत्तर 'त्रिक' के रूप में याद किया जाता है।

(7) **मथुरानाथ तर्कवागीश**—रघुनाथ शिरोमणि के शिष्यों में मथुरानाथ तर्कवागीश का नाम सर्वप्रथम गणनीय है। इन्होने अपने पिता श्री राम तर्कालंकार से भी न्याय पढ़ा था, पर अधिकतर विद्वानों का यही मत है कि रघुनाथ ही इनके प्रमुख गुरु थे। प्रतीत होता है कि इनके पिता श्रीराम तर्कालंकार ने भी वासुदेव सार्वभौम तथा रघुनाथ से न्याय की शिक्षा प्राप्त की थी।[92] इनके ग्रन्थ माथुरी नाम से प्रख्यात हुये। इन्होंने नव्यन्याय को सरल भाषा में समझाने का प्रयत्न किया। अतः नवद्वीप के तत्कालीन आचार्यों ने उनके ग्रन्थों में पाण्डित्य न पाकर उन्हें विशेष आदर नहीं दिया पर बाद में नव्यन्याय की जटिलता से जो लोग कठिनाई में पड़ने लगे उनके लिए इनके सरल ग्रन्थ बड़े लाभदायक सिद्ध हुये। इनके ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—

(1) तत्वचिन्तामणि रहस्य; यह फक्किका या माथुरी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है तथा गंगेश की तत्त्व चिन्तामणि पर सीधी टीका है।

(2) तत्त्वचिन्तामणि आलोक रहस्य; यह जयदेव द्वारा तत्त्वचिन्तामणि पर लिखी गई 'आलोक' नामक टीका की प्रटीका है।

(3) दीधिति रहस्य; यह रघुनाथ द्वारा तत्त्वचिन्तामणि पर लिखी गई दीधिति नामक टीका की प्रटीका है।

(8) **जगदीश तर्कालंकार**—जगदीश ने एक संन्यासी से 18 वर्ष की अवस्था में पढ़ना आरम्भ किया था। न्यायशास्त्र की शिक्षा इन्होंने भवानन्द तर्कालंकार से प्राप्त की। न्याय रहस्य में इनके एक कथन से यह भी विदित होता है कि इनके गुरु रामभद्र सार्वभौम थे। इनके पिता का नाम यादवचन्द्र विद्यावागीश था। इनका जन्मकाल 1625 ई० के लगभग माना जाता है। इन्होंने निम्न-लिखित ग्रन्थों की रचना की—

(1) तत्त्वचिन्तामणि-दीधिति-प्रकाशिका, जो जागदीशी के नाम से अधिक विख्यात है,
(2) तत्त्वचिन्तामणि-मयूख, जो सीधे ही तत्त्वचिन्तामणि की एक टीका है।
(3) न्यायादर्श (या न्यायसारावली) जिसमें कारणतावाद का निरूपण किया गया है।
(4) शब्दशक्तिप्रकाशिका—जो व्याकरणिक दर्शन पर एक महत्त्वपूर्ण कृति है।
(5) तर्कामृत।
(6) द्रव्यभाष्यटीका (अपर नाम-पदार्थतत्त्वनिर्णय।
(7) न्यायलीलावती-दीक्षिति-व्याख्या।

उपर्युक्त ग्रन्थों में से शब्दशक्तिप्रकाशिका को विद्वज्जगत में सर्वाधिक ख्याति मिली। कहा भी गया है कि—**जगदीशस्य सर्वस्वं शब्दशक्तिप्रकाशिका।** तर्कामृत के दो काण्ड हैं। प्रथम यानी विषय काण्ड में जगदीश ने पदार्थों के दो भेद किये—(1) भाव और (2) अभाव। द्वितीय यानी ज्ञान काण्ड में चार प्रमाणों का विवेचन किया गया है। जगदीश का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि मुक्ति के लिए आत्मा का ज्ञान और ज्ञान के बाधक तथ्यों का ज्ञान आवश्यक है।

(9) **गदाधर भट्टाचार्य**—गदाधर का जन्म 19वीं शताब्दी के मध्य में पूर्वी बंगाल के लक्ष्मीपासा नामक जिले में हुआ था। इनके पिता का नाम जीवाचार्य था। इन्होंने नवद्वीप पहुँच कर हरिराम तर्कवागीश के विद्यापीठ में न्याय की शिक्षा ग्रहण की। इनके गुरु इनकी योग्यता से इतने प्रभावित थे कि उन्होंने अपनी मृत्यु के समय इन्हें विद्यापीठ का आचार्य बनाने के आदेश दिया। ये पूर्वी बंगाल के थे और परम्परीण पंडित कुल में इनका जन्म नहीं हुआ था।

इसके अतिरिक्त इनके गुरु का इनकी शिक्षा की समाप्ति से पहले ही देहान्त हो गया और इनको कोई उपाधि नहीं मिल पायी थी। अतः नदिया के पुराने छात्रों ने जब इनको गुरु नहीं माना और नये छात्र प्रवेश के लिए नहीं आये तो इन्होंने उस विद्यापीठ को छोड़ दिया। बाद में इन्होंने गंगा की ओर जाने वाले मुख्य मार्ग के किनारे एक बगीचा लगाया और उसमें फूल लगाये तथा वृक्ष उगाये। वहीं पर एक पेड़ के नीचे रहने लगे। वहीं पर इन्होंने अपना नया विद्यापीठ खोल दिया। इनके पास कोई शिष्य नहीं आता था। अतः ये लताओं और फूलों के पौधों को न्याय सुनाया करते थे। धीरे-धीरे इनके बगीचे में फूल तोड़ने के लिये आने वाले पंडितों और अध्ययनार्थियों का ध्यान इनकी ओर जाने लगा। इनके भाषणों से वे बड़े प्रभावित हुये और शीघ्र ही इनके विद्यापीठ में शिष्यों की पर्याप्त संख्या हो गई। इसी अवधि में इन्होंने रघुनाथ शिरोमणि की तत्त्वचिन्तामणिदीधिति पर प्रकाशिका नामक टीका लिखी और फलतः ये बंगाल में अपने समय के प्रमुख नैयायिक माने जाने लगे। न्याय के प्रति इनकी इतनी निष्ठा थी कि मृत्यु के समय जब इनसे कहा गया कि वे राम-राम बोलें तो उन्होंने परमाणु-परमाणु का उच्चारण किया। इनके ग्रन्थ जो कि सामान्यतया गदाधारी के नाम से प्रसिद्ध हैं, इस प्रकार हैं-—

(1) तत्त्वचिन्तामणि दीधिति प्रकाशिका, (2) तत्त्वचिन्तामणिव्याख्या, (3) तत्त्वचिन्तामण्यालोक टीका, (4) मुक्तावली टीका, (5) रत्नकोशवाद-रहस्य, (6) अनुमानचिन्तामणि दीधिति टीका, (7) आख्यातवाद, (8) कारकवाद, (9) नञवाद, (10) प्रमाण्यवाद दीधिति टीका, (11) बुद्धिवाद, (12) मुक्तिवाद, (13) विधिवाद, (14) विषयतावाद, (15) व्युत्पत्तिवाद, (16) शक्तिवाद, (17) स्मृति संस्कारवाद, (18) शब्दप्रामाण्यवाद रहस्य।

नव्य न्याय के कुछ अन्य प्रमुख ग्रन्थकारों और ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं–

(1) रुचिदत्त मिश्र (1275 ई० के लगभग) : तत्त्वचिन्तामणि प्रकाश, न्यायकुसुमांजलिप्रकाश मकरन्द। (2) भगीरथ मेघ ठाकुर; (1400 ई०) जलद (वर्द्धमान के न्याय कुसुमांजलि प्रकाश की व्याख्या), न्यायलीलावती प्रकाश-व्याख्या, किरणावलीप्रकाश प्रकाशिका। (3) महेश ठक्कुर (1400 ई० के लगभग) : पक्षधर मिश्र की चिन्तामणि आलोक पर दर्पण नामक व्याख्या। (4) शंकर मिश्र (1450 ई० के लगभग) : तत्त्वचिन्तामणि मयूख, बौद्ध-धिक्कार टीका। (5) वाचस्पति मिश्र द्वितीय (1450 ई० के लगभग) :

अनुमानखण्ड टीका, खण्डनखण्डोद्धार, न्यायसूत्रोद्धार, शब्दनिर्णय। (6) देवनाथ ठाकुर (1562 ई० के लगभग) : तत्त्वचिन्तामण्यालोकपरिशिष्ट। (7) मधुसूदन ठक्कुर (1575 ई० के लगभग) : तत्त्वचिन्तामण्यालोककण्टकोद्धार। (8) हरिदास न्यायालंकार भट्टाचार्य (1480 ई० के लगभग) : तत्त्वचिन्तामणि प्रकाश (मण्यालोकटिप्पणी)। (9) जानकी नाथ शर्मा (1550 ई० के लगभग) : न्यायसिद्धान्तमंजरी। (10) कणाद तर्कवागीश (1560 ई० के लगभग) : मणिव्याख्या, भाषारत्नम् (वैशे०) अपशब्द खण्डनम्। (11) रामकृष्ण भट्टाचार्य चक्रवर्ती (1560 ई० के लगभग; रघुनाथ शिरोमणि का पुत्र) : गुण शिरोमणि प्रकाशिका। (12) कृष्णदास सार्वभौम भट्टाचार्य : अनुमानदीधिति-प्रसारिणी, अनुमानालोक प्रसारिणी। (13) गुणानन्द विद्यावागीश (1570 ई० के लगभग) : अनुमानदीधिती विवेक, शब्दालोक विवेक (14) रामभद्र सार्वभौम (1680 के लगभग) : दीधिति टीका न्याय रहस्य। (15) रुद्र न्यायवाचस्पति (1700 ई० के लगभग) : तत्त्वचिन्तामणि दीधिति परीक्षा। (16) जयराम न्यायपंचानन (1700 ई० के लगभग) : तत्त्वचिन्तामणि दीधिति-गूढार्थ विद्योतन, तत्त्वचिन्तामण्यालोक विवेक, न्यायसिद्धान्तमाला, शब्दार्थमाला। (17) गौरीनाथ सार्वभौम (1725 ई० के लगभग) : भावार्थदीपिका (तर्कभाषा की टीका)। (18) भवानन्द सिद्धान्तवागीश : तत्त्वचिन्तामणि दीधिति प्रकाशिका (भवानन्दी)। (19) हरिराम तर्कवागीश (1625 ई० के लगभग) : तत्त्वचिन्तामणिटीका विचार। (20) रामभद्र सिद्धान्तवागीश (जगदीश का पौत्र; 1660 ई० के लगभग) : शब्दशक्तिप्रकाशिका पर सुबोधिनी टीका। (21) गोविन्द न्यायवागीश : (1650 ई० के लगभग) : न्यायसंक्षेप। (22) रघुदेव न्यायालंकार (1650 ई० के लगभग) : तत्त्वचिन्तामणि गूढार्थदीपिका। (23) नृसिंह पंचानन (1675 ई० के लगभग) : न्यायसिद्धान्तमंजरीभूषा। (24) रामदेव चिरंजीव (1700 ई० के लगभग) : विद्वानामोदतरंगिणी। (25) रामरुद्र तर्कवागीश (1700 ई० के लगभग) : तत्त्वचिन्तामणि दीधिति टीका। (26) श्री कृष्ण न्यायालंकार (1650 ई० के लगभग) : भावदीपिका (न्यायसिद्धान्त मंजरी की टीका)। (27) जयराम तर्कालंकार (1700 ई० के लगभग) : शक्तिवाद पर टीका। (28) रुद्रराम (1750 ई० के लगभग) : वादपरिच्छेद। (29) कृष्णकान्त विद्यावागीश : उपमानचिन्तामणिटीका, शब्द शक्ति प्रकाशिका टीका। (30) गोपीनाथ मौनी (1650 ई० के लगभग) : शब्दालोक रहस्य। (31) कृष्ण भट्ट आडे : गदाधरीकर्षिका।[93]

(iii) प्रकरण ग्रन्थधारा

प्रकरण एक विशेष प्रकार के ग्रन्थ होते हैं। इनमें संबद्ध शास्त्र की समग्र विषयवस्तु का नहीं अपितु उसके कुछ अंशों का ऐसा विश्लेषण किया जाता है, जो शास्त्र की मान्य परम्परा से भिन्न भी हो सकता है और नये मन्तव्यों से युक्त भी रहता है। न्याय के क्षेत्र में प्रकरण ग्रन्थों की परम्परा काफी पुरानी है। धर्मोत्तर के अनुसार धर्मकीर्ति का न्यायबिन्दु भी एक प्रकरण ग्रन्थ है। वही बात वाचस्पति मिश्र के तत्त्वबिन्दु (मीमांसा पर) उदयनाचार्य की लक्षणावली तथा न्यायकुसुमांजलि आदि के सम्बन्ध से भी कही जा सकती है। यहाँ प्रकरण शब्द उन ग्रन्थों के लिये प्रयुक्त हुआ है, जो न्याय और वैशेषिक के विषयों में से कुछ का संयुक्त या पृथक रूप से विश्लेषण करते हैं। ये प्रकरण ग्रन्थ, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, चार प्रकार के माने गये हैं। किन्तु हम उनका उल्लेख (1) न्यायप्रधान प्रकरण ग्रन्थ और (2) वैशेषिक प्रधान प्रकरण ग्रन्थ—इन दो वर्गों के अन्तर्गत ही करेंगे।

न्याय प्रधान प्रकरण ग्रन्थों में प्रमाण आदि सोलह पदार्थों का विश्लेषण किया गया है और वैशेषिक के सात पदार्थों को 'अर्थ' नामक प्रमेय के अन्तर्गत रखा गया है। कुछ ग्रन्थों में वैशेषिक के प्रमेयों का विवेचन बिल्कुल भी नहीं है। इस वर्ग के प्रमुख ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—

1. भासर्वज्ञ (10वीं शती) : न्याय सार
2. वरदराज (12वीं शती) तार्किक रक्षा।
3. केशवमिश्र (13वीं शती) : तर्कभाषा।

गंगेश की तत्त्वचिन्तामणि भी वस्तुतः इसी कोटि का ग्रन्थ है। पर नव्य-न्याय का प्रवर्तक होने के कारण उसकी गणना सामान्यतया प्रकरण ग्रन्थों में नहीं की जाती।

वैशेषिक प्रधान प्रकरण ग्रन्थों में विषयवस्तु का विवेचन वैशेषिक के पदार्थों के अनुक्रम के अनुसार है और प्रमाणों का विश्लेषण बुद्धि के अन्तर्गत किया गया है। इस वर्ग के प्रमुख ग्रन्थकारों व ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं :—

उदयनाचार्य (10वीं शती) : लक्षणावली
शिवादित्य (10वीं शती) : न्यायलीलावती
अन्नं भट्ट (17वीं शती) : तर्कसंग्रह
विश्वनाथ पंचानन (17वीं शती) : भाषापरिच्छेद; न्यायसिद्धांत मुक्तावली।

जगदीशतर्कालंकार (17वीं शती) : तर्कामृत ।

लौगाक्षिभास्कर (17वीं शती) : तर्ककौमुदी ।

(1) **शिवादित्य**—प्रकरणग्रन्थों की परम्परा में आने वाले आचार्यों में शिवादित्य का नाम सर्वप्रथम माना जाता है। गंगेश ने शिवादित्य के नाम का उल्लेख किया है। इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सप्तपदार्थी है। कहा जाता है कि इन्होंने लक्षणमाला नामक ग्रन्थ की भी रचना की थी। इस तथ्य का उल्लेख श्री हर्ष के खण्डन-खण्ड-खाद्य नामक ग्रन्थ में मिलता है। शिवादित्य के समय के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता किन्तु अधिक सम्भावना इसी बात की है कि वह 10वीं शती में हुये होंगे। उन्होंने सर्वप्रथम अभाव को एक पदार्थ माना। शिवादित्य ने शब्द को प्रमाण नहीं माना है।

(2) **वल्लभाचार्य**—वैशेषिक दर्शन से सम्बद्ध प्रकरण-ग्रन्थकारों में वल्लभाचार्य का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने न्यायलीलावती नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसमें इन्होंने उदयनाचार्य, भासर्वज्ञ आदि का भी उल्लेख किया है, जो कि 10वीं शती से पहले के थे। वर्धमान उपाध्याय (13वीं शती) ने 'न्यायलीलावती प्रकाश' नामक टीका लिखी। अतः वल्लभाचार्य के समय की सीमा 10वीं और 13वीं शती के बीच है। अधिकतर विद्वानों का यह मत है कि उनका जन्म 12वीं शती में हुआ।[94] विद्याभूषण का मत है कि न्यायलीलावतीकार वल्लभाचार्य और वैष्णव मत के प्रवर्तक वल्लभाचार्य दो विभिन्न व्यक्ति थे। इन्होंने वैशेषिक के अनुसार छः पदार्थों का परिगणन करके गुण के भेद बुद्धि के उपभेदों के रूप में दो प्रमाणों का निरूपण किया है। न्यायलीलावती पर निम्नलिखित टीकाएँ हैं—(1) न्यायलीलावती प्रकाश (वर्द्धमान उपाध्याय 1215 ई०), न्यायलीलावतीदीधिति (रघुनाथ शिरोमणि), न्यायलीलावती कण्ठाभरण (शंकर मिश्र), न्यायलीलावती प्रकाश विवेक (मथुरानाथ तर्कवागीश)।

(3) **वरदराज**—वरदराज की 'तार्किकरक्षा' का न्यायशास्त्रीय प्रकरणग्रन्थों में अपना विशिष्ट स्थान है। वरदराज का जन्म संभवतः आन्ध्र में हुआ था। इन्होंने तार्किकरक्षा पर 'सारसंग्रह' नाम से एक सोपज्ञ टीका भी लिखी थी। तार्किकरक्षा में विष्णुस्वामी के शिष्य ज्ञानपूर्ण ने लघुदीपिका तथा मल्लिनाथ ने 'निष्कण्टक' नामक टीका की रचना की। वरदराज ने स्वयं ही वाचस्पति मिश्र और उदयनाचार्य का उल्लेख किया। अतः वरदराज का समय उनके बाद में ही होगा।[95] सर्वदर्शन संग्रह, में भी वरदराज का उल्लेख है, जिसकी

रचना माधवाचार्य ने 14वीं शताब्दी में की थी। अतः वरदराज का समय 12वीं शताब्दी माना गया है। तार्किकरक्षा में वरदराज ने इस बात का विश्लेषण करने का प्रयास भी किया है कि द्रव्य, गुण आदि पदार्थों का ज्ञान मोक्ष प्राप्ति का सीधा साधक नहीं है; अतः उनका गौतम ने निरूपण नहीं किया।[96] तार्किकरक्षा में न्याय दर्शन के अनुसार प्रमाण, प्रमेय, आदि सोलह पदार्थों का निरूपण करते हुये प्रमेय के मध्य में आत्मा, शरीर, आदि बारह पदार्थों के साथ द्रव्य, गुण आदि छः पदार्थों का भी विश्लेषण किया गया है।

(4) **केशवमिश्र**—केशवमिश्र की तिथि के सम्बन्ध में कोई निश्चित तथ्य तर्कभाषा में नहीं मिलते। अतः इस सम्बन्ध में अधिक से अधिक एक सीमा विशेष का ही निर्धारण अभी तक सम्भव हो पाया है। हेत्वाभास के सन्दर्भ में केशवमिश्र ने उदयन के मत का उल्लेख किया है,[97] अतः 10वीं शती (उदयन का समय) उनके समय की पूर्वसीमा माना जा सकता है। केशवमिश्र के समय की अपर सीमा' 14वीं शती मानी जा सकती है, क्योंकि तर्कभाषा के टीकाकारों में से सर्वप्राचीन चिन्न भट्ट ने तर्कभाषा प्रकाशिका की पुष्पिका में इस बात का उल्लेख किया है कि वे विजयनगर में हरिहर महाराज के आश्रय में थे। हरिहर और बुक्काराय दोनों भाई थे और उनका समय 1350-1400 ई० माना जाता है। इस प्रकार केशवमिश्र के समय की सीमा 1000-1400 ई० के मध्य में निश्चित की जा सकती है।

केशवमिश्र का यह कथन यथार्थ है कि प्रमाण आदि से अनभिज्ञ आलसी व्यक्ति को भी थोड़ा-सा परिश्रम करके न्याय के क्षेत्र में प्रवेश कराने के लिए तर्कभाषा का निर्माण किया गया है।[98]

केशवमिश्र ने न्याय के पदार्थों में वैशेषिक के पदार्थों का अन्तर्भाव किया। इसके लिये उन्होंने न्यायसूत्र में परिगणित 'अर्थ' नामक प्रमेय में वैशेषिक के द्रव्य आदि सात पदार्थों का ग्रहण कर लिया। केशवमिश्र ने न्याय और वैशेषिक के सिद्धांतों में जहाँ पार्थक्य है, वहाँ केवल एक ही मत का उल्लेख किया, अन्य मतों का उल्लेख करके विवाद खड़ा नहीं किया। उन्होंने दोनों दर्शनों के सामंजस्य का प्रयत्न किया। वैशेषिक के विशिष्ट विषयों जैसे पाकजोत्पत्ति आदि का निरूपण किया, और बौद्ध, मीमांसा, वेदान्त आदि के मतों का खन्डन भी किया है। तर्कभाषा सरल, सुबोध और संक्षिप्त होने के साथ ही केवल बालकों के लिए ही नहीं अपितु विद्वानों के लिए भी अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं जिनमें से कतिपय इस प्रकार हैं[99]—

टीका		लेखक
तर्कभाषा प्रकाशिका	—	चिन्नं भट्ट
उज्जवला	—	गोपीनाथ
तत्त्वप्रबोधिनी	—	गणेश दीक्षित
तर्क कौमुदी	—	दिनकर भट्ट
तर्कदीपिका	—	केशव भट्ट
तर्कभाषाप्रकाश	—	गोवर्धन मिश्र
तर्कभाषाप्रकाशिका	—	गौरीकान्त सार्वभौम
तर्कभाषा प्रकाशिका	—	बलभद्र
तर्कभाषा प्रकाशिका	—	कौण्डिन्य दीक्षित
तर्कभाषा प्रसादिनी	—	वागीश भट्ट
तर्कभाषासारमंजरी	—	माधवदेव
न्यायप्रदीप	—	विश्वकर्मा
न्यायसंग्रह	—	रामलिंग
परिभाषादर्पण	—	भास्कर भट्ट

आचार्य बदरीनाथ शुक्ल ने ठीक ही कहा है कि 'उचितरूप से अध्ययन कर यदि इस ग्रन्थ को अभ्यस्त रखा जाय तो न्याय, वैशेषिक दोनों दर्शनों के समग्र प्रमेय करामलकवत् हो सकते।'[100]

(5) **अन्नंभट्ट**—अन्नंभट्ट आन्ध्र प्रदेश के चित्तूर जिले के रहने वाले थे। तर्कसंग्रहदीपिका में कांची के राजा त्रिभुवन की चर्चा के आधार पर विद्वानों का यह मत है तर्कसंग्रह एक बालोपयोगी ग्रन्थ है। इसका उल्लेख इन्होंने आरम्भ में किया है।[101] और इसी प्रकार ग्रन्थ की समाप्ति पर भी यह अंकित किया है कि इस ग्रन्थ में न्याय और वैशेषिक सिद्धांतों का एक साथ प्रतिपादन किया गया है।[102] और न्याय के सोलह पदार्थों का वैशेषिक के सात पदार्थों में अन्तर्भाव किया है।[103] अन्नंभट्ट ने इस ग्रन्थ पर 'तर्कसंग्रहदीपिका' नामक एक स्वोपज्ञ टीका लिखी है। 'तर्कसंग्रह दीपिका' पर नीलकण्ठ भट्ट ने प्रकाश नामक टीका लिखी, जो नीलकण्ठी नाम से प्रख्यात है। विद्याभूषण ने इस ग्रन्थ पर लगभग पैंतीस टीकाओं के नामों का उल्लेख किया है। अन्नंभट्ट ने वैशेषिक दर्शन के अनुसार सात पदार्थों का उल्लेख करके गुण के अन्तर्गत बुद्धि और बुद्धि के अन्तर्गत प्रमाणों का विवेचन किया है।

(6) **विश्वनाथ पंचानन**—विश्वनाथ पंचानन रघुनाथ शिरोमणि की शिष्य-परम्परा में गिने जाते हैं। इनका जन्म 17वीं शती के अन्त में हुआ था। इनके एक कथन से ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम विद्यानिवास था।[104] इन्होंने भाषापरिच्छेद नामक ग्रन्थ लिखा, जो कि 'कारिकावली' भी कहलाता है। अपने एक शिष्य पर दया करके उसके आग्रह पर इन्होंने कारिकावली की व्याख्या—'न्यायसिद्धान्त मुक्तावली' लिखी।[105] न्यायसूत्रवृत्ति की पुष्पिका के अनुसार विश्वनाथ ने 1634 ई० में इसका लेखन समाप्त किया।[106] विश्वनाथ नवद्वीप (बंगाल) के निवासी और रघुनाथ शिरोमणि के मतानुयायी थे।

विश्वनाथ ने सात पदार्थों का परिगणन करके उनमें से द्रव्य के एक भेद आत्मा को बुद्धि का आश्रय बताया और इसी सन्दर्भ में बुद्धि के दो भेद किये—(1) अनुभूति और (2) स्मृति। अनुभूति के अन्तर्गत प्रमाणों का निरूपण किया गया।

(7) **लौगाक्षिभास्कर**—इनका असली नाम भास्कर और उपनाम लौगाक्षि था। वे न्याय-वैशेषिक, मीमांसा आदि शास्त्रों में पारंगत थे। इन्होंने मणिकर्णिका घाट का उल्लेख किया। अतः प्रतीत होता है कि ये बनारस में रहते थे। इनका जन्म सम्भवतः 17वीं शताब्दी में हुआ था। इन्होंने तर्क कौमुदी नामक ग्रन्थ की रचना की है। इसमें द्रव्य, गुण आदि सात पदार्थों का उल्लेख करके बुद्धि को आत्मा का गुण बताया गया है। बुद्धि के दो भेद माने गये हैं—अनुभव और स्मृति। अनुभव भी दो प्रकार का है—प्रमा और अप्रमा। प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। इस प्रकार इन्होंने प्रमाण का अन्तर्भाव हो जाने से न्याय के पदार्थों का वैशेषिक के पदार्थों में अन्तर्भाव बताया है।

7. न्यायशास्त्र की रचनाविधि

(i) प्रवृत्तित्रय

न्यायशास्त्र के आचार्य इस बात के प्रति बड़े सचेत थे कि उनके ग्रन्थों का आदर विद्वज्जगत् में तभी होगा जबकि वे सुसम्बद्ध शैली में लिखे जाएँ। इसके लिए यह आवश्यक था कि नैयायिक स्वयं ही ग्रन्थ-निर्माण की एक मानक विधि का निर्माण या निर्धारण भी करें। यह तथ्य, अक्षपाद के ध्यान में भी रहा होगा, पर इसका सर्वप्रथम उल्लेख वात्स्यायन ने किया। यह भी सम्भव है कि न्यायसूत्र में अपनाई गई पद्धति का ही वात्स्यायन ने सामान्यीकरण कर दिया हो। भारत के अधिकतर आचार्यों ने अपने ग्रन्थों के आरम्भ में लिखित मंगलाचरणों द्वारा

ग्रन्थ रचना के उद्देश्य को स्पष्ट करने की प्रणाली अपनायी है और तत्पश्चात् प्रतिपाद्यवस्तु का निर्देश किया है। न्यायसूत्र में गौतम ने प्रमाण आदि सोलह पदार्थों को गिन कर उनके तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस् प्राप्ति का उल्लेख किया है। आगे चलकर गौतम ने अधिकतर पदार्थों के लक्षण बताए और यह भी देखा है कि लक्षण लक्ष्य पर घटा या नहीं। वात्स्यायन ने इस सारी प्रक्रिया को एक पारिभाषिक स्वरूप में ढाला और न्याय की रचनाप्रवृत्तिके नाम से इसका विश्लेषण किया। उत्तरवर्ती नैयायिकों में से प्रायः सबने इसका पालन किया और कुछ ने तो इस विधि की उपयोगिता के सम्बन्ध में और भी तर्क प्रस्तुत किये।

वात्स्यायन कहते हैं कि न्यायशास्त्र की रचना विधि (प्रवृत्ति) तीन सोपानों में विभक्त हैं। ये तीन सोपान हैं—उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा। ये तीनों स्वतंत्र रूप में न्यायशास्त्र के तीन भाग नहीं, अपितु न्यायपरक ज्ञान या विवेचन की तीन क्रमिक सीढ़ियाँ हैं। उद्देश का कथन किये बिना लक्षण का निरूपण नहीं हो सकता और पहले उद्देश तथा तत्पश्चात् लक्षण का निर्देश किये बिना परीक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः इन तीनों में सदा ही क्रमानुसार उद्देश का स्थान प्रथम, लक्षण का द्वितीय और परीक्षा का तृतीय रहता है।

(क) उद्देश : वात्स्यायन के अनुसार नाम लेकर पदार्थमात्र का अभियान उद्देश है। केशव मिश्र ने इसको और स्पष्ट करते हुए कहा है कि प्रतिपाद्य विषय या वस्तु के नाममात्र का सम्यक् उल्लेख या यथार्थ कथन करना ही उद्देश कहलाता है। इसी को नाममात्र से वस्तु का संकीर्तन भी कहा जाता है। यानी जिस वस्तु का निरूपण करना है उसका केवल नाम लिया जाना चाहिए उसके स्वरूप का कथन नहीं किया जाना चाहिये। स्वरूप कथन तो अगले सोपान अर्थात् लक्षण में किया जाना है। यही कारण है कि लक्षण वाक्य जैसे 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' उद्देश की कोटि में नहीं आते। यदि 'नाममात्र' शब्द का प्रयोग न किया जाय और 'वस्तुसंकीर्तन' इतना ही कहा जाय तो 'लक्षण' और 'परीक्षा' में अतिव्याप्ति हो जायगी क्योंकि वस्तु का प्रतिपादन तो उनमें भी होता है। अतः पदार्थ का नाम मात्र लेकर यानी जिस वस्तु का जो प्रसिद्ध नाम है, उस नाममात्र से उसका निर्देश करना ही उद्देश है।[107]

(ख) लक्षण : किसी वस्तु में रहने वाले असाधारण धर्म को लक्षण कहते हैं। लक्षण के दो प्रयोजन माने गये हैं—व्यावृत्ति और व्यवहार। सजातीय तथा विजातीय पदार्थों से भिन्नता व्यावृत्ति है। उदाहरणतया 'सास्नादिमान् प्राणी गाय है'—इस कथन से भैंस आदि सजातीयों तथा मनुष्य आदि विजातीयों से

गाय की भिन्नता सिद्ध होती है। भैंस, घोड़ा, बकरी आदि प्राणियों और मनुष्यों को गलकम्बल नहीं होता, अतः यह लक्षण व्यावर्तक है। यदि गाय का यह लक्षण किया जाये कि 'गोत्ववान् गाय होती है' तो यह लक्षण व्यावर्तक होने के साथ ही व्यवहारसाधक भी है कतिपय लक्षण केवल व्यवहारसाधक होते हैं, व्यावर्तक नहीं जैसे 'ज्ञेय वह है जिसमें ज्ञेयत्व रहता है।' संसार की सभी वस्तुएँ ज्ञेय हैं अतः इससे किसी का भी व्यावर्तन नहीं हुआ।

लक्षण किसी वस्तु का असाधारण धर्म ही हो सकता है। प्राणित्व सभी जीवों का साधारण धर्म है, अतः गाय के लक्षण में उसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। कोई धर्म असाधारण तभी कहला सकता है, जबकि वह लक्ष्य में रहता हो, लक्ष्य के वर्ग की सभी वस्तुओं का उसमें समावेश हो जाता हो तथा लक्ष्य के वर्ग से बाहर की किसी वस्तु में वह न रहता हो। इसी बात को न्याय की भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है कि लक्षण में असम्भव, अव्याप्ति और अतिव्याप्ति नामक दोष नहीं होने चाहिये।[108]

असम्भव दोष तब होता है, जबकि लक्षण के रूप में बताया गया धर्म लक्ष्य में पाया ही न जाय। जैसे 'जिसका खुर फटा हुआ न हो वह गाय है'। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ऐसा खुर घोड़े का होता है, गाय का नहीं। अतः नव्यन्याय की शब्दावली में इसको 'लक्ष्यमात्रावृतित्व' कहा जा सकता है अर्थात् लक्ष्यतावच्छेदक गोत्व के सभी आश्रयों (सभी गौओं) में रहने से एकशफत्व का अभाव लक्ष्यतावच्छेदक का व्यापक है और एकशफत्व उस अभाव का प्रतियोगी है।[109] यह दोष **स्वरूपासिद्ध नामक हेत्वाभास** भी कहलाता है।

अव्याप्ति—यदि कोई लक्षण लक्ष्य के किसी एक भाग में ही घटता है, सब भागों में नहीं, तो उसमें अव्याप्ति दोष होता है। उदाहरणतया यदि यह कहा जाये कि 'जिसमें शुक्लत्व रहता है, वह गाय है', तो ठीक नहीं होगा क्योंकि शुक्लत्व गौसमुदाय के एक बड़े भाग-लाल, काली आदि गौओं में नहीं रहता। यह सही है कि कुछ गौएँ शुक्ल भी होती हैं, किन्तु सभी गौओं में तो शुक्लत्व नहीं रहता। इस प्रकार यह लक्षण लक्ष्य के सभी उदाहरणों में व्याप्त नहीं है। इस दोष को **भागासिद्ध नामक हेत्वाभास** भी कहा जा सकता है।

अतिव्याप्ति—जब लक्षण के रूप में बताया गया धर्म लक्ष्य के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं में भी रहता है तो लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आ जाता है। यदि कोई कहे कि 'जो सींगवाली हो वह गाय है' तो यह उचित नहीं होगा, क्योंकि

गाय के अतिरिक्त भैंस आदि के भी सींग होते हैं। इस प्रकार यह **व्यभिचारि नामक हेत्वाभास** दोष है।

लक्षण के कुछ अन्य दोष भी होते हैं जैसे आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक और अप्रसिद्धि इनका विवेचन आगे यथास्थान किया जायेगा।

इस प्रकार न्यायशास्त्र की रचना-प्रक्रिया के अनुसार विषय के अभिधान के बाद उसे परिभाषित किया जाना चाहिये और परिभाषा में असंभव आदि दोष नहीं होने चाहिये।

(ग) परीक्षा : उद्दिष्ट पदार्थ का जो लक्षण बताया गया है, वह ठीक घटता है या नहीं, उसमें असंभव आदि दोष तो नहीं और अन्य आचार्यों ने जो लक्षण उस पदार्थ के बताये हैं, वे भी कैसे युक्तिसंगत हैं या क्यों युक्तिसंगत नहीं हैं? इन सब बातों का प्रमाणों के द्वारा निर्णय करना ही परीक्षा है। 'परीक्षा' का मुख्य सम्बन्ध लक्षण से है। न्याय की रचना विधि तथा विकास में 'परीक्षा' का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि भाष्यों, टीकाओं आदि में तुलनात्मक विश्लेषण परीक्षा नामक सोपान के अन्तर्गत ही किया गया है।

न्याय की विषयवस्तु के विवेचन में पदार्थों के **विभाग** का भी यत्र-तत्र विधान है अत: ऐसी स्थिति में कतिपय विद्वान न्याय की रचनाप्रक्रिया में 'विभाग' नामक एक अन्य प्रवृत्ति के अस्तित्व की ओर संकेत करते हैं। और कहते हैं कि विभाग नामक प्रवृत्ति का भी वात्स्यायन को उल्लेख करना चाहिये था। किन्तु हाँ, विभाग का स्थान इस प्रक्रिया में यदि हो तो कहाँ होना चाहिये यह भी एक विचारणीय बात है।

उद्योतकर और जयन्त भट्ट ने भी वात्स्यायन द्वारा प्रतिपादित न्याय की त्रिविध प्रवृत्ति के सन्दर्भ में इस बात का उल्लेख किया है कि न्यायसूत्र में ही गौतम ने कहीं-कहीं तो पदार्थ के उद्देश के अनन्तर उसका लक्षण दे दिया है और बाद में उसके विभाग बताये हैं। जैसे कि प्रथम सूत्र में छल का उद्देश किया गया है। प्रथम अध्याय के द्वितीय आह्निक के दसवें सूत्र में उसका लक्षण दिया गया है और उसके बाद उसके विभाग बताये गये हैं। और कहीं लक्षण देने से पहले उद्दिष्ट के विभाग बताकर पश्चात् लक्षण और परीक्षा का विधान किया है, जैसे कि प्रथम सूत्र में प्रमाण का उद्देश किया गया, तीसरे सूत्र में उसका विभाग किया गया और फिर उनके अलग-अलग लक्षण दिये गये।

उद्योतकर और जयन्त ने इस प्रश्न को उठाकर स्वयं ही इसका यह समाधान प्रस्तुत किया है कि 'विभाग' का अन्तर्भाव उद्देश में ही हो जाता है। सामान्य नाम से पदार्थ का कथन उद्देश है और विशेष नाम (प्रकार भेद) से उसका कथन विभाग है अतः विभाग का एक पृथक् प्रवृत्ति के रूप में उल्लेख नहीं किया गया।

वैशेषिक सूत्र पर 'प्रशस्तपाद-भाष्य' की 'न्यायकन्दली' नामक टीका में श्रीधर ने इस प्रवृत्तित्रैविध्य की आलोचना की है, और वैशेषिकशास्त्र के लिए प्रवृत्ति द्वैविध्य को उपयुक्त बताते हुए यह कहा है कि उद्देश और लक्षण तो आवश्यक है, क्योंकि पदार्थों का नाममात्र से कथन न होने पर लक्षण नहीं किया जा सकता, और लक्षण के अभाव में तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता, किन्तु परीक्षा नामक प्रवृत्ति अनिवार्य नहीं है क्योंकि जहाँ लक्षण में मतान्तर के अस्तित्व के कारण तत्त्वनिर्णय में बाधा पड़ रही हो, वहाँ पर पक्षखण्डन के लिए परीक्षा की आवश्यकता है, सर्वत्र नहीं।[110] न्याय सूत्र में भी 'प्रयोजन' के विश्लेषण में गौतम ने स्वयं भी 'परीक्षा' नामक प्रवृत्ति का प्रयोग नहीं किया यानी उसके लक्षण की परीक्षा नहीं की।

इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि वात्स्यायन ने केवल न्यायशास्त्र में तीन प्रवृत्तियों की बात की है, सभी शास्त्रों में नहीं। उनका यह भी कथन नहीं है कि न्याय में भी इन तीनों प्रवृत्तियों का सभी प्रतिपाद्य पदार्थों के विश्लेषण में प्रयोग किया जाता है। इस शास्त्र के प्रमाण, प्रमेय आदि प्रमुख प्रतिपाद्यों के सम्बन्ध में गौतम ने तीन प्रवृत्तियों को अपनाया। अतः वात्स्यायन ने तो 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' के अनुसार सामान्यीकरण किया है।

(ii) अनुबन्ध चतुष्टय

न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र में पदार्थों के निर्देश के साथ ही उनके तत्त्वज्ञान से निःश्रेयम् की प्राप्ति का भी उल्लेख किया गया है। इससे यह तो स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रकार के ध्यान में न्याय का प्रयोजन पदार्थों की गणना के साथ ही आ गया था। और इस आधार पर यह मान लेना भी असंगत न होगा कि उद्दिष्ट विषयों का शास्त्र से या फल का अध्येता या शास्त्र से संबन्ध तथा इस शास्त्रीय ग्रन्थ से लाभ उठाने वाले अध्येताओं के प्रति भी वे सचेत रहे होंगे। इन सब बातों को यदि दर्शनशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली में व्यक्त किया जाये तो कहा जा सकता है कि गौतम ने न्यायसूत्र में अनुबन्ध चतुष्टय का निर्वाह किया है और उत्तरवर्ती नैयायिकों ने भी उसका पूरा ध्यान रखा है।

शास्त्रकारों ने 'अनुबन्ध' उन तत्त्वों को कहा है कि जिनके ज्ञान से किसी ग्रन्थ के अध्ययन में अध्येताओं की अभिरुचि बनती और विकसित होती है। ये प्रवर्तक तत्त्व हैं— विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन तथा अधिकारी। न्यायशास्त्र की रचना-विधि में इन सबका ध्यान रखा गया है। इनके सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातें इस प्रकार हैं—

(क) **विषय** : किसी शास्त्र या ग्रन्थ में जिस पदार्थ का प्रतिपादन अपेक्षित है, वह उस शास्त्र या ग्रन्थ का विषय कहलाता है। किसी ग्रन्थ का अध्ययन प्राय: कोई व्यक्ति तभी करना चाहता है, जबकि उसका अध्ययन व्यक्ति ने पहले न किया हो। इस बात का ज्ञान तभी हो सकता है जबकि ग्रन्थ के आरम्भ में ही प्रतिपाद्य विषय का निर्देश कर दिया जाये। न्यायसूत्र में प्रमाण आदि पदार्थों की गणना करके 'विषय' नामक अनुबन्ध का निर्वाह किया गया है।

(ख) **सम्बन्ध** : किसी ग्रन्थ या शास्त्र में वर्णित विषय का उस ग्रन्थ या शास्त्र से जो सम्बन्ध होता है उसे प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध के नाम से अभिहित किया जाता है। इसका आशय यह है कि आरम्भ में किसी विषय का निर्देश करने पर भी यह सम्भव है कि ग्रन्थकार अवान्तर विषयों पर अधिक ध्यान दे और मुख्य विषय को गौण बना दे। अत: अध्येता के समक्ष पहले ही यह बात स्पष्ट रहनी चाहिये कि ग्रन्थ में जो उद्दिष्ट है उसी का प्रतिपादन मुख्य रूप से किया गया है। कुछ विद्वानों के मत में फल और अधिकारी को मिलाने वाले तत्त्व का ज्ञान भी इस अनुबन्ध के अन्तर्गत समाविष्ट है। न्याय के ग्रन्थों में इस अनुबन्ध का भी पर्याप्त ध्यान रखा गया है।

(ग) **प्रयोजन** : जब तक किसी ग्रन्थ या शास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता का स्पष्ट ज्ञान न हो, तब तक प्राय: लोग उस ग्रन्थ या शास्त्र का अध्ययन नहीं करते। इसके लिए यह आवश्यक रहता है कि ग्रन्थ के आरम्भ में ही प्रयोजन का भी निर्देश कर लिया जाये। न्याय सूत्र में नि:श्रेयस् की प्राप्ति को न्यायशास्त्र का प्रयोजन बताया गया है।

(घ) **अधिकारी** : किसी ग्रन्थ के अध्ययन में किसी व्यक्ति की प्रवृत्ति तभी हो सकती है, जबकि उसे इस बात का पता लग जाये कि वह उस ग्रन्थ के अध्ययन का अधिकारी है। अधिकारी होने का आशय यही है कि अध्येता उस ग्रन्थ के अध्ययन को अपने उद्देश्य की पूर्ति का साधन समझता है और यह भी अनुभव करता है कि वह ग्रन्थ के अध्ययन के लिए अभीष्ट प्रयत्न कर सकता है

या करने के लिए प्रस्तुत है। इस अनुबन्ध की सीधा सबंध यों तो पाठक या अध्येता के परिवेश या सामर्थ्य से ही है पर ग्रन्थकार के लिये भी यह देखना आवश्यक रहता है कि वह किन अध्येताओं के लिये ग्रन्थ का निर्माण कर रहा है। तर्कभाषा, तर्कसंग्रह आदि कतिपय ग्रन्थों में तो आयु या ज्ञान की सीमा का भी स्पष्ट निर्देश किया गया है। न्यायसूत्र में अधिकारी का संकेत प्रयोजन के माध्यम से किया गया है।

(iii) न्यायशास्त्रीय व्यावहारिकताएँ

रचनाविधि के साथ ही शास्त्रार्थ की व्यावहारिकताओं के संदर्भ में कतिपय बौद्ध नैयायिकों ने भी अपने अभिमत प्रकट किये हैं। उदाहरणार्थ, मैत्रेय (लगभग 400 ई०) ने सप्तदशभूमिशास्त्र योगाचार नामक ग्रन्थ में यह बताया है कि—

(1) शास्त्रार्थ का विषय उपयोगी होना चाहिये।

(2) शास्त्रार्थ राजदरबार, सभा या मन्त्री के कार्यालय में विद्वानों के समक्ष होना चाहिये।

(3) साध्य दो प्रकार का होता है—

(क) आत्मसम्बन्ध और,

(ख) परसम्बन्ध। दोनों में से प्रकृत में कौन है यह देखा जाना चाहिये।

(4) शास्त्रार्थियों में निम्नलिखित योग्यताएँ होनी चाहिये—

(क) वे एक दूसरे के शास्त्रों से परिचित हों।

(ख) वे एक-दूसरे का समुचित आदर करें और अनुचित भाषा का प्रयोग न करें,

(ग) वे निडर हों,

(घ) वे बिना रुके और स्पष्ट बोलें,

(ङ) वे उच्चारण में ऐसी यति, गति और मात्रा रखें कि श्रोताओं का मन लगा रहे।

(5) निगृहीत होने पर शास्त्रार्थी को हार मान लेनी चाहिये।

(6) शास्त्रार्थ के लिये जाने से पहले शास्त्रार्थी को देखना चाहिये कि शास्त्रार्थ उसके लिये लाभदायक है या नहीं।

(7) शास्त्रार्थी में आत्मविश्वास होना और दिखाई भी देना चाहिये।

(iv) चतुरंगवाद

शास्त्रार्थ में जहाँ पक्ष या विपक्ष के शास्त्रीय सिद्धान्तों का अपना महत्त्व है, वहाँ शास्त्रार्थियों के ज्ञान की सीमाओं और शास्त्रार्थ के उद्देश्यों और वार्तालाप के समय अपनाई गई विधियों का भी अपना मूल्य हुआ करता है। भारतीय न्याय न केवल तीन धाराओं में चला, अपितु व्यावहारिक शास्त्रार्थ में भी उन धाराओं की विभिन्न प्रविधियों का प्रवर्तन हुआ। वैदिक और बौद्ध न्याय की शास्त्रार्थ विधियों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। जैन न्याय की शास्त्रार्थ विधि की जो निजी विशेषताएँ हैं उनमें चतुरंगवाद प्रमुख है।

वाद का उद्देश्य तत्त्वज्ञान है। वाद के चार अंग हैं—वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति। जैन परम्परा के अनुसार चतुरंगवाद का अधिकारी विजिगीषु होता है। वैदिक नैयायिकों के मत में विजिगीषु वह व्यक्ति होता है, जो छल आदि का प्रयोग करके भी प्रतिवादी को परास्त करना चाहता है; किन्तु अकलंक ने सिद्धिविनिश्चय नामक ग्रन्थ के वाद-विधि प्रकरण में कहा है कि स्वपक्ष के साधन में समर्थ वचन को चतुरंग या जल्प कहते हैं उसकी अवधि फलनिर्णय पर्यन्त होती है।[111]

8. न्यायशास्त्र की उपयोगिता

संसार में अधिकतर बातों या वस्तुओं की उपयोगिता का प्रश्न संबद्ध देश, काल, पात्र आदि की स्थिति के साथ जुड़ा रहता है। भारतीय दर्शन गहरे चिन्तन-मनन के परिणाम हैं। दर्शनों के अतिरिक्त भारतीय ज्ञान की अन्य शाखाएँ भी अधिकतर हमारे पूर्वजों की सतत् तपस्या का ही परिणाम है और न्यायदर्शन भी इसका अपवाद नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि इस शास्त्र के विकास के विभिन्न चरणों में इसकी उपयोगिता में नये आयाम जुड़ते रहे। अतः अन्य दर्शनों की तुलना में न्याय की उपयोगिता का प्रश्न कुछ विभिन्नता रखता है।

चार्वाक के अतिरिक्त सभी भारतीय दर्शनों में किसी-न-किसी रूप में मुक्ति को ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य बताया गया है और यही बात गौतम ने भी न्यायसूत्र में स्पष्टतया प्रतिपादित की है। अतः परम्परीण भारतीय दृष्टिकोण से तो निःश्रेयस् की प्राप्ति ही न्याय के पठन-पाठन का उद्देश्य है। क्योंकि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती, और किसी भी तथ्य का समग्र ज्ञान न्याय की प्रक्रिया को अपनाये बिना नहीं हो सकता।

न्याय को अन्य शास्त्रों का दीपक भी बताया गया है क्योंकि उनके रहस्यों का पता लगाने के लिए और संभावित प्रतिफलों में से सर्वाधिक समर्थ का निश्चय करने के लिए भी बौद्धिक ऊहापोह की आवश्यकता पड़ती है। कौन सा पक्ष, मत या तथ्य अधिक संगत है, इसका निर्णय न्याय की प्रक्रिया से ही अधिकतर संभव होता है। जो लोग श्रद्धा या विश्वास या आप्तवचनों के आधार पर चलते हैं, उनके लिए तर्क भले ही अधिक उपयोगी न हो, पर जीवन व जगत् के अधिकतर क्रियाकलापों का आधार तो कर्ता का विवेक ही है और विवेक का सबसे बड़ा विश्लेषक न्यायशास्त्र है। यद्यपि यह भी एक तथ्य है कि संसार की जनसंख्या के बहुत बड़े वर्ग को अपनी जीवनयात्रा में न्याय जैसे बौद्धिक शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। किन्तु यह बात तो बहुत कुछ अन्य शास्त्रों के बारे में भी कही जा सकती है। बिजली का उपयोग असंख्य लोग करते हैं, पर उससे सम्बद्ध विज्ञान के विधिवत् अध्ययन के उपयोग के प्रति जो लोग सचेत हैं उनकी संख्या तो नगण्य ही है।

संसार में प्रत्येक जाति या समाज की अपनी मान्यताएँ होती हैं। मान्यताओं का आधार वैज्ञानिक भी हो सकता है और विश्वासपरक भी। आधार कुछ भी हो, समय परिवर्तन के साथ-साथ उस जाति के अन्दर से या बाहर से कई लोग उन मान्यताओं पर प्रहार करने लगते हैं। ऐसी स्थिति में जो लोग उन मान्यताओं को ठीक समझते हैं, वे उनके संरक्षण के लिए प्रयत्न करते हैं। यह काम जब बौद्धिक स्तर पर होता है तो शास्त्रीय विवाद का रूप धारण कर लेता है। और वाद-विवाद की पद्धति भी अपने आप में एक शास्त्र बन जाती है। भारत में वेदों का सर्वाधिक धार्मिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व रहा है। किन्तु भारतभूमि में ही चार्वाकों आदि ने उनकी निन्दा आरम्भ कर दी तो वैदिक लोगों के लिए भी यह आवश्यक हो गया कि वे वेदों की महत्ता के पक्ष में बौद्धिक स्तर पर भी कुछ करें। उद्योतकर ने न्यायवार्तिक में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि उन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना बौद्धों के कुतर्कों का खण्डन करने के लिए की है। बौद्ध न्याय का आविर्भाव भी वैदिक न्याय की प्रतिक्रिया के रूप में ही हुआ। सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त आदि सभी दर्शनों में न्यायपरक समस्याओं के विश्लेषण से भी यह सिद्ध होता है कि सभी शास्त्रों को अपनी परम्परा का समर्थन व विपक्ष का खण्डन करने के लिए न्यायशास्त्र की आवश्यकता पड़ती रही। संभवत: इन्हीं कारणों से मनु ने कहा कि धर्म के तत्त्वों को वही व्यक्ति जान सकता है, जिसने तार्किक दृष्टिकोण से वेदविहित तत्त्वों का अन्वेषण किया हो। याज्ञवल्क्य ने वेद के चार उपांगों में न्याय की गणना

की है। कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी की गणना महत्त्वपूर्ण विद्याओं में तो की ही है और इसके अतिरिक्त उसे सब विद्याओं का दीपक भी बताया है।

न्याय का महत्त्व इस दृष्टि से भी अत्यधिक है कि उसने भारतीय चिन्तन को एक अत्यन्त सूक्ष्म भाषा दी है। न्याय के पारिभाषिक शब्दों का उपयोग करने में न्याय के विरोधी भी पीछे नहीं रहे।

नव्यन्याय के आचार्यों के समय इस शास्त्र ने एक नया मोड़ लिया। जिस आचार्य ने भाषा को अधिक दुरूह करते हुए उसको अधिक लच्छेदार बनाया, उसका समसामयिक आचार्यों ने अधिक सम्मान किया। गंगेश, रघुनाथ शिरोमणि और जगदीश तर्कालंकार के ग्रन्थों में यह प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँची। इस प्रवृत्ति से न्याय की विषयवस्तु का तो कोई विशेष विकास नहीं हुआ; पर भाषा में जो बारीकी आई, उसका अनुकरण साहित्य जैसे क्षेत्र में भी किया गया।

न्याय का आधार संशय है। वात्स्यायन ने स्पष्ट ही कहा है कि यदि कोई विषय निर्णीत है या अस्तित्व में ही नहीं है तो न्याय की आवश्यकता नहीं पड़ती। जहाँ कहीं किसी वस्तु, बात या समस्या का अस्तित्व हो पर उसका निर्णय न हो रहा हो, वहीं न्याय की सहायता अपेक्षित होती है। स्पष्ट है कि ऐसे अवसर आम लोगों के जीवन से लेकर महान् शास्त्रों के विश्लेषण तक सभी जगह उपस्थित होते हैं। अतः न्यायशास्त्र न केवल शास्त्रीय दृष्टि से अपितु व्यावहारिक जीवन-यापन के लिये भी अत्यधिक उपयोगी है।

—o—

प्रथम अध्याय के संदर्भ

1. नियमेन ईयते, नि इ+घ ।
2. नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेन इति न्यायः ।
3. साधनीयस्यार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते स पंचावयवोपेतवाक्यात्मको न्यायः, न्या० भा० ।
4. न्यायस्य पदार्थानुमानपर्यायस्य सकलविद्यानुग्राहकतया सर्वकर्मानुष्ठानसाधनतया प्रधानत्वेन तथा व्यपदेशो युज्यते। सं० द० सं० 487 ।
5. प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः ।
6. समस्त प्रमाणव्यापारादर्थाधिगतिर्न्यायः ।
7. प्रदीपः सर्वविद्यानाम् ।
8. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि''वाकोवाक्यमेकायनं अध्येमि, छा० उ०, 7/1/2 ।
9. वाकोवाक्यं तर्कशास्त्रम् ।
10. अयो० का० 100/38, 39 गीताप्रेस, वि० सं० 2017 ।
11. आन्वीक्षिकी त्रयी वर्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती, इति विद्याः ।
12. प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा । तया प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्, न्या० भा० 1/1/7 ।
13. History of Indian Logic, p. 5.
14. तस्याः पृथक् प्रस्थानाः संशयादयः पदार्थाः तेषां पृथग्वचनमन्तरेण अध्यात्मविद्यामात्रमियं स्यात् यथोपनिषदः ।
15. चारु आपातमनोरमं (वाक्यं) (वाक्) यस्य; पृषो० साधु ।
16. लोके संसारे आयतः व्याप्तः ।
17. ऋतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्, पाणिनि, 4/2/60 ।

18. अत्र चत्वारि भूतानि भूभिवाय्वनलानिला: ।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्य श्चैतन्यमुपजायते ।।
अंगनालिंगनाजन्यसुखमेव पुमर्थता ।
कण्टकादिव्यथाजन्यं दु:खं निरय उच्यते ।।
लोकसिद्धो भवेद्राजा परेशो नापर: स्मृत: ।
देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते ।। स० द० सं० (चार्वाक)
19. न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदु: ।
20. वसुबन्धु समुद्रगुप्त के पुत्र चंद्रगुप्त (विक्रमादित्य) के अध्यापक रह चुके थे और इस प्रकार वह ईसवी चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध में मौजूद थे—राहुल सांकृत्यायन, वादन्याय तथा अभिधर्म कोश की भूमिकाएँ ।
21. बौद्ध दर्शन, सांकृत्यायन, पृ० 93 ।
22. विशेष विवरण आगे देखें—जैनग्रन्थकार 74 :
23. अन्तेषु भवा अन्त्या: स्वाश्रयविशेषकत्वाद्विशेषा: प्र० पा० भाष्य ।
24. योगभाष्य, 1/49 ।
25. Philosophy of Ancient India, p. 20.
26. Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol II, p. 189,
27. T. Stcherbatky, Buddhist Logic, Vol. I., pp. 47-48.
28. मिश्र, आद्याप्रसाद; सांख्यतत्त्वकौमुदी ।
29. संख्यां प्रकुर्वते चैव, प्रकृतिं च प्रचक्षते ।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्या: प्रकीर्तिता: ।
30. असदकरणादुपादानग्रहणाद् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।
31. R P. Chanda—Memoirs of the Archeological Survey of India, Vol XL. 1, p. 25.
32. न्यायबिन्दु टीका, 1-11 ।
33. देखें, श्लोकवार्तिक ।

34. Indian Antiquary, Vol. I, p. 172.

35. Purva Mimamasa in its Sources, 14.

36. History of Indian Philosophy, Vol. II, pp. 446-47.

37. ब्रह्म सत्यं जगन् मिथ्या जीवो ब्रह्मैवनापर: ।

38. नैषा तर्केण मतिरापनेया । उत्प्रेक्षया निरंकुशत्वात् ।

39. शक्यते तर्केणाऽपि ज्ञातुम् ।

40. History of Indian Logic.

41. Bijalwan, C. D. Indian Theory of Knowledge.

42. यह कालविभाग पं० सुखलाल तथा महेन्द्रकुमार आदि द्वारा रचित ग्रन्थों के अनुसार दिया गया है ।

43. स्याद्वाद का शंकर द्वारा खन्डन के प्रसंग में (वेदान्तसूत्र) ।

44. स्यादवाद: सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधि: ।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषक: ।

45. स्वपराभासकं तथा प्रमाणं भुवि लक्षणम्, स्व० स्तो० 63 ।
उपेक्षाफल माद्यस्य शेषस्यादानहानधी: आ० मी०, 102 ।

46. बालानां हितकामिनामतिमहापापै: पुरोपार्जितै:,
माहात्म्यात्तमस: स्वयं कलिबलात् प्रायो गुणद्वेषिभि: ।
न्यायोऽयं मलिनीकृत: कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरै: ।।

47. विक्रमार्कशताब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि ।
काले कलंकयतिनो बौद्धैर्वादो महाभूत् । जैनेन्द्र कोश, पृ० 30 ।

48. अकलंकवचोम्भोधेरुदधे येन धीमता
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ।।

49. H. I. L. p. 205.

50. जैन न्याय, पृ० 40 शास्त्री, कैलाशचन्द ।

51. बौद्धन्याय (हिन्दी सं०) प्रस्तावना, पृ० 17 ।

52. Shashtri, D. N.; Critique of Indian realism.

53. H. I. L. pp. 225-346.

54. विन्टरनिट्ज–History of Indian Literature, Vol, II, pp. 346-48.

55. बौद्धदर्शन, पृ० 84।

56. न्या० सू० 2-1-19;
प्रदीप: स्वपरात्मनो: सम्प्रकाशयिता यथा।
प्रदीपे नान्धकारोऽस्तियत्र चासौ प्रतिष्ठित:॥
अप्राप्यैव प्रदीपेन यदि वा निहतं तम:।
इहस्थ: सर्वलोकस्थं स तमो निहनिष्यति॥
माध्यमिक कारिका, अध्या० 7.

57. H. I. L. p. 262.

58. H. I. L. p. 327.

59. ऋक् 1 अष्टक 5 अध्याय 62 सूक्त;
शतपथ 1 कान्ड 4 अध्याय;
वृह० उ० 2 अध्याय, 2 ब्राह्मण;
महाभारत, शा० प० 266 अ०;
मनु० 1 अ०

60. Critique of Indian Realism p. 98.

61. Jacobi : Dates of the Philosophical Sutras of Brahamans, JAos, 1911.

62. History of Indian Logic, p. 116.

63. वात्स्यायनो मल्लनाग: कौटिल्य श्चणकात्मक:।
द्रामिल: पक्षिल: स्वामी विष्णुगुप्तोऽगुंलश्च स॥
अ० चि० मर्त्यकाण्ड, 517-518।

64. अथ भगवता अक्षपादेन नि:श्रेयसहेतौ शास्त्रे प्रणीते व्युत्पादिते च भगवता पक्षिलस्वामिना किमपरमवशिष्यते यदर्थं वार्त्तिकारम्भ:, न्या० वा० ता० टी (आरम्भ)।

65. Critique of Indian Realism

66. यद्यपि वादविधौ साध्याभिधान प्रतिसेति प्रतिज्ञालक्षणण् उक्तम्।

67. Indian Logic in the Early Schools, p. 34.

68. Critique of Indian Realism, p. 110
69. इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपंकमग्नानाम् ।
उद्योतकरगवीनाम् अतिजरतीनां समुद्धरणात् ।।
70. त्रिलोचनगुरुन्नीतमार्गानुगमनोन्मुखैः ।
यथान्यायं यथावस्तु व्याख्यातमिदमीदृशम् ।। न्या० वा० ता० टी० ।
71. न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे,
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वंकवसुवत्सरे ।। न्या० सू० नि० ।
72. Gleanings from the History and Bibliography, p. 14.
73. नरेश्वरा यच्चरितानुकारम् इच्छन्ति कर्तुंन च पारयन्ति ।
तस्मिन् महीपे महनीयकीर्तौ श्रीमन्नृगे कारि मया निबन्धः ।। भामती ।
74. Bijalwan, C. D; Indian Theory of knowledge.
75. न्यायमंजरी ग्रन्थिभंग पृ० 44.
76. Bijalwan, C. D.; India theory of knowledge.
77. इत्याचार्यमतानीह दर्शितानि यथाक्रमात्
यदेभ्यः सत्यमामभाति सभ्यास्तदंवलंब्यताम् ।। पृ० 82 ।
78. कुतो वा नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमाः ।
वचोविन्यासवैचित्र्यमात्रमत्र विचार्यताम् ।।
79. तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः ।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम् ।।
80. भासर्वज्ञो न्यायसार तर्कसूत्रविधायकः : गुणरत्न, षड्दर्शन वृत्ति ।
81. भासर्वज्ञप्रणीते न्यायसारेऽष्टादशटीकाः । तासु मुख्या टीका न्यायभूषणाख्या न्यायकालिका जयन्तरचिता न्यायकुसुमांजलितर्कश्च । (संपा०—डा० ऐल सौलि, पृ० 94.)
82. शास्त्रैकदेशसंबद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम् ।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः ।। स० प०
83. न्यायसार
84. Gleanings from the History and Bibliography of the Nyāya—Faiśesika Literature.

85. Critique of Indian realism, p. 121.

86. शंकरवाचस्पत्योः शंकरवाचस्पती सदृशौ ।
पक्षधरप्रतिपक्षी लक्षीभूतो न च क्वापि ।।

87. जयदेव गुरोर्वाचि ये केचिद्दोशदर्शिनः ।
प्रबोधाय मया तेषां दीप्तिर्भूयोऽभिदीष्यते ।।

88. आखण्डलः सहस्राक्षः विरूपाक्षस्त्रिलोचनः ।
अन्ये द्विलोचनाः सर्वे को भवानेकलोचनः ।।

89. History of Indian Logic, p. 265.

90. विदुषां निवहैर्यदैकमत्यात् यददुष्टं यच्च दुष्टम् ।
मयि जल्पति कल्पनाधिनाथे रघुनाथे मनुतांतदन्यथैव ।।

91. न्यायाम्बुधिर्दीधितिकार युक्तिकल्लोलकोलाहलदुर्विगाहः
तस्यापि पातुं न पयः समर्थः किं नाम धीमत् प्रतिभाम्बुवाहः ।।
—यशोविजय : अष्ट साहस्त्री ।

92. Gleanings, p. 60.

93. नव्यन्याय के आचार्यों के ग्रन्थों और समय का यह विवरण म० म० विद्याभूषण के ग्रन्थ (HIL) पर आधारित है ।

94. Critique of Indian realism p. 117.

95. आलोच्य दुस्तर गभीरतरान् प्रबन्धान्,
वाचस्पतेरुदयनस्य तथा परेषाम् ।
सारो मयात्र समगृह्यत यावदूके,
नित्यं कथासु विजिगीषुमिरेष धार्यः ।। ता० र०

96. मोक्षे साक्षादनंगत्वादक्षपादैर्न लक्षितम् ।
तन्त्रान्तरानुसारेण षटकं द्रव्यादि लक्ष्यते ।। ता० र०

97. अत्रोदयनेन व्याप्तस्य हेतोः पक्षधर्मतया प्रतीतिः
सिद्धिस्तदभावोऽसिद्धिः इत्य सिद्धिलक्षणमुक्तम्, त० भा०

98. बालोऽपियो न्यायनये प्रवेशमल्पेन वांच्छत्यलसः श्रुतेन ।
संक्षिप्तयुक्त्यन्विततर्कभाषा प्रकाश्यते तस्य कृते मयैषा ।।

99 तर्कभाषा भूमिका—श्रीनिवास शास्त्री, पृ० 22.

100. तर्कभाषा भूमिका, शुक्ल, बदरीनाथ (मोती० 1968), पृ० 29.

101. निधाय हृदि विश्वेशं विधाय गुरुवन्दनम् ।
बालानां सुखबोधाय क्रियते तर्कसंग्रहः ।।

102. कणादन्यायमतयोर्बालव्युत्पत्तिसिद्धये ।
अन्नम्भट्टेन विदुषा रचितस्तर्कसंग्रहः ।।

103. सर्वेषामपि पदार्थानां यथायथ मुक्तेष्वन्तर्भावात् सप्तैव पदार्था इति सिद्धम्, त० सं०

104. विद्यानिवाससूनोः कृतिरेषा विश्वनाथस्य ।

105. निजनिर्मितकारिकावलीमतिसंक्षिप्तचिरन्तनोक्तिभिः ।
विशदीकरवाणि कौतुकान्ननु राजीवदयावशंवदः ।।

106. रसवाणतिथौ शकेन्दुकाले बहुले कामतिथौ शुचौ सिताहे ।
अकरोन्मुनि सूत्रवृत्तिमेतां ननु वृन्दावनविपिने स विश्वनाथः ।।

107. तत्रनामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देशः (न्याय० भा० 1/1/2)
उद्देशस्तु नाममात्रेण वस्तुसंकीर्तनम् ।

108. असंभवाव्याप्त्यतिव्याप्तिरूपदोषत्रयरहितो धर्मो लक्षणम्, लक्ष्यते प्रतिपाद्यतेऽनेनेति लक्षणम्,
किरणावली, (पृ० 183 बड़ौदा, 1971)

109. शुक्ल, बदरीनाथ, तर्कभाषा भूमिका, पृ० 10

110. पदार्थव्युत्पादनाय प्रवृत्तस्य शास्त्रस्योभयथा प्रवृत्तिः उद्देशो लक्षणं च परीक्षायास्त्वनियमः, न्या० क०

111. समर्थवचनं जल्पं चतुरंगं विदुर्बुधाः ।
पक्षनिर्णयपर्यन्तं फलं मार्गप्रभावना ।।

अध्याय 2

ज्ञान (प्रमा) और अज्ञान (अप्रमा) का स्वरूप

1. ज्ञान की परिभाषा

जब हम सोचते हैं कि 'ज्ञान क्या है?' तब वस्तुत: हम जिन प्रश्नों का एक साथ या सामूहिक उत्तर चाहते हैं, उनका रूप कुछ-कुछ इस प्रकार हो सकता है कि ज्ञान भी एक ऐसा पदार्थ, गुण या तत्त्व है जिसका अनुभव या बोध किया जा सके? यदि ज्ञान एक ग्राह्य वस्तु है तो उसका अपना स्वरूप क्या है तथा उसका ग्राहक या धारक कौन है? यदि ज्ञान उत्पाद्य है तो क्या उसमें भाव, अभाव, ह्रास. विकास जैसी स्थितियाँ भी हैं। यदि ज्ञान को व्यक्तिसापेक्ष, काल सापेक्ष तथा देश सापेक्ष मान लिया जाय तो क्या उसको परिभाषित करना सम्भव है? ज्ञान के स्वरूप, आधार तथा निश्चायक घटकों से सम्बन्धित ऐसे प्रश्नों का कोई सर्वसम्मत उत्तर न पाकर ही सम्भवत: कतिपय ऋषियों ने यह स्वीकार कर लिया था कि ज्ञान स्वयं अज्ञान की इतनी अधिक व मोटी परतों के नीचे छिपा हुआ है कि गहरी छानबीन करने पर भी उसका वास्तविक पता नहीं लग सकता। अज्ञान की परतों को भेद करके जो व्यक्ति जहाँ तक पहुँच सका, वहीं पर उसने ज्ञान की सत्ता मान ली, जबकि तथ्य यह है कि वह 'ज्ञान' अज्ञान के एक आंशिक बन्धन या अभाव से अधिक और कुछ नहीं है। इस कथन का यह आशय नहीं है कि ज्ञान केवल अज्ञान का अभाव है। या ज्ञान का कोई गुणात्मक लक्षण नहीं है। इसका तात्पर्य वस्तुत: यह है कि ज्ञान अपने आप में भले ही एक निरपेक्ष सत्य हो पर उसको जब हम परिभाषित करने लगते हैं, तब वह सापेक्ष सत्य की परिधि में आ जाता है। ऐसी परिधिबद्धता ज्ञान का अपना धर्म नहीं है, वह तो ज्ञाता की सीमित शक्ति के कारण ज्ञान में आरोपित की जाती है। यह ठीक ऐसे ही है जैसे कि हाथी का ज्ञान करने के लिए हाथी को छूने वाले अनेक अन्धों में से किसी ने हाथी की पूंछ छू ली तो उसी को हाथी समझ लिया, किसी ने उसका पाँव छू लिया तो उसी को हाथी समझ लिया। यानी जिसने जिस भाग को छुआ, उसने उसी भाग को हाथी समझ लिया।

हाथी तो वस्तुतः सभी अंगों से युक्त प्राणी है। अतः प्रत्येक अन्धे का ज्ञान उसकी अपनी स्थिति, अनुभव व परिवेश के अनुसार केवल आंशिक या सापेक्ष सत्य है निरपेक्ष नहीं। ज्ञान के सन्दर्भ में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जिज्ञासु सत्य के एक अंश को पकड़ते हैं और प्रायः उसी को समग्र सत्य समझने लगते हैं, इसके अतिरिक्त जब वे अपने ही ढंग से उस अंश को परिभाषित करने लगते हैं तब उस अंश का भी प्रायः एकपक्षीय विश्लेषण ही कर पाते हैं। ऐसे विश्लेषणों को जो परिभाषिक नाम मिलते हैं उसमें भी आंशिक सत्यता ही होती है। अतः ज्ञान के सम्बन्ध में जो कुछ प्राचीन आचार्यों ने कहा है उस पर भी विवाद बना रहा है और जो कुछ आधुनिक विद्वान कहते हैं, उसको भी अन्तिम सत्य नहीं समझा जाता।

यह सब होते हुए भी इतना तो स्पष्ट ही है कि जिस प्रकार जीवन और जगत् के सभी पदार्थों के विश्लेषण का विभिन्न ऋषियों, चिन्तकों, दार्शनिकों आदि ने प्रयत्न किया, उसी प्रकार ज्ञान के स्वरूप का विवेचन भी किया गया। नैयायिक भी इस बात में किसी से पीछे नहीं रहे बल्कि यह भी कहना निराधार न होगा कि इस क्षेत्र में वे सबसे अग्रणी रहे।

न्यायसूत्र में गौतम ने 'ज्ञान' को बुद्धि और उपलब्धि का पर्यायवाची बताया है। प्रशस्तपाद ने ज्ञान के पर्यायों में 'प्रत्यय' शब्द को भी जोड़ा है। संभवतः उस समय 'ज्ञान' के स्थान पर 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग होता था, अतः बुद्धि शब्द को ही प्रधानता दी गई। इस प्रकार न्यायशास्त्र में बुद्धि का जो विश्लेषण किया गया उसी को 'ज्ञान' का विश्लेषण मान लेना अनुपयुक्त न होगा। जहाँ इस शब्द की संक्षिप्त परिभाषा का प्रश्न है, अन्नंभट्ट का यह कथन बहुत ही युक्तिसंगत लगता है कि समस्त व्यवहारों के हेतु को ज्ञान कहते हैं।[1]

वैभाषिक बौद्धों के अनुसार सांसारिक वस्तुओं के दो रूप होते हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। बाह्य रूप से लौकिक कार्यों का सम्पादन किया जाता है। आभ्यन्तर रूप इन्द्रियों से सम्बद्ध होकर जब मन में प्रवेश करता है तो उसी को ज्ञान कहते हैं, अर्थात् विषय के आभ्यन्तरिक स्वरूप का मन में आना ही ज्ञान है। हमारा ज्ञान और ज्ञेय दोनों ही वास्तविक हैं। बाह्य वस्तुएँ प्रत्यक्षगम्य हैं।

सौत्रान्तिक बौद्धों के मतानुसार मानसिक और बाह्य दोनों पदार्थ सत् हैं। बाह्य पदार्थों का ज्ञान अनुमान से होता है। इसके लिए विषय, चित्त, इन्द्रियाँ

तथा सहायक तत्त्वों (प्रकाश आदि) की अपेक्षा होती है। इन चारों के मिलने से एक विचार आइडिया निर्मित होता है। बाह्य वस्तुएँ मन में रहने वाले विषय के प्रतिनिधि मात्र हैं। अतः मानसिक धारणाओं से मन बाह्य विषयों का अनुमान कर लेता है।

विज्ञानवादी बौद्धों के मतानुसार बाह्य पदार्थों की कोई सत्ता नहीं है, किन्तु हमारे ज्ञान की वास्तविकता का निषेध नहीं किया जा सकता। चित्त जो सभी वस्तुओं का ज्ञाता है, असत् नहीं हो सकता। अन्यथा हमारा ज्ञान भी असत् हो जाएगा। विज्ञानों का सन्तान (प्रवाह) है। मानसिक धारणाएँ ही भ्रमवश बाह्य वस्तुओं के रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। आत्मा विषयी (सब्जक्ट) ही बाह्य वस्तुओं पर अपनी धारणाओं का आरोपण करता है। ज्ञाता से भिन्न या बाहर ज्ञेय का कोई अस्तित्व नहीं है। वेदान्त जिसको नित्य और अद्वितीय आत्मा कहता है, उसको योगाचार बौद्ध आलय विज्ञान कहते हैं। नैयायिक आत्मा, विषय और ज्ञान को पृथक्-पृथक् समझते हैं, किन्तु माध्यमिकों के अनुसार ज्ञाता और ज्ञेय भी आलय के ही विभिन्न रूप हैं।

देकार्त के अनुसार सन्देह में भी सन्देह की सत्ता तो माननी ही पड़ेगी। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। संसार विवर्त है और विवर्त का कारण माया है। माया सत्य या असत्य कुछ भी नहीं है। ब्रह्म और जगत् अलग-अलग नहीं है। ब्रह्म अविद्या के कारण जगत् के रूप में आभासित होता है। ज्ञान आत्मा का गुण नहीं बल्कि स्वभाव है। ब्रह्म और आत्मा एक हैं। ज्ञातव्य है कि अद्वैत वेदान्त एकात्मवाद को स्वीकार करता है जबकि अन्य सभी वैदिक दर्शन आत्मबहुत्व को मानते हैं। रामानुजाचार्य के अतिरिक्त सभी वैदिक दर्शन आत्मा को 'विभु' मानते हैं। जैन दर्शन आत्मा को शरीर परिमाण मानता है। रामानुज जीवात्मा को अणु मानते हैं।

कुमारिल ज्ञान को आत्मा का कर्म तथा आत्मा को ज्ञान का कर्त्ता मानते हैं। चैतन्य आत्मा का स्वभाव नहीं है। वह विशेष अवस्था में उत्पन्न होनेवाला एक विशेष धर्म है। नैयायिकों ने ज्ञान को आत्मा का गुण और मीमांसकों ने उसे आत्मा का धर्म कहा है। अतः यह भ्रान्ति हो सकती है कि दोनों मतों में कोई भेद नहीं है, जबकि दोनों में भेद है। उदाहरणतया लालिमा अग्नि का गुण है किन्तु ज्वलनशीलता उसका धर्म है जो उपयुक्त परिवेश पर निर्भर है।

पाश्चात्य दार्शनिकों में से कान्ट, स्पेन्सर वर्गसां, अलेग्जेण्डर हिक्स आदि ने इस मत का समर्थन किया तथा मूरे और बोर्ड ने इसकी तीखी आलोचना की।

प्रभाकर के अनुसार ज्ञान आत्मा का कार्य है और यह बात अनुमान से विदित होती है। प्रभाकर ज्ञान के स्थान पर संवित् शब्द का प्रयोग करते हैं।

नैयायिकों ने इस मत का इस आधार पर भी खण्डन किया है कि ज्ञान को कर्म मानने पर आत्मा में कर्तृत्व दिखाई देना चाहिये जबकि वह नहीं दिखाई देता है। चेतना कर्म नहीं है क्योंकि 'मैं' जानता हूँ ऐसे वाक्यों में क्रियापद कर्म नहीं बल्कि गुण को बताता है। इसके अतिरिक्त यदि 'ज्ञान' कर्म होता तो वात्स्यायन आदि बुद्धि और कर्म को पृथक्-पृथक् क्यों गिनते ? ज्ञान गुण है, जो 'आत्मा' नामक द्रव्य में रहता है। यही कारण है कि ज्ञान को शिवादित्य ने 'आत्माश्रित प्रकाश' कहा है। ज्ञान शब्द का प्रयोग सामान्यता लोग जिन अर्थों में करते हैं, वे हैं—(1) समझना (ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया या अण्डर-स्टैंडिंग) (2) समझ (ज्ञान का साधन या इन्टेलेक्ट) और (3) प्रतीति (ज्ञान का फल या काग्निशन)। इन तीनों सम्भव अर्थों में से गौतम ने तृतीय को प्रमुखता दी और ज्ञान तथा बुद्धि में कोई अन्तर नहीं किया। अतः ज्ञान का न्यायशास्त्रीय अर्थ है उपलब्धि या प्रतीति।

नैयायिकों के अनुसार चैतन्य या ज्ञान आत्मा का स्वभाव नहीं बल्कि आगन्तुक गुण है। आत्मा में चैतन्य का संचार तभी होता है, जबकि उसका मन से, मन का इन्द्रियों से और इन्द्रियों का विषयों से सम्पर्क होता है। इस प्रकार के सम्पर्क के बिना आत्मा में चैतन्य नहीं हो सकता।[2] जयन्त भट्ट के अनुसार मन से संपर्कित आत्मा चेतन और उससे बिना जड़ है। शरीर से मुक्त आत्मा में चैतन्य भी नहीं रहता। वैशेषिकों के अनुसार चैतन्य आत्मा में उसी प्रकार आता है, जैसे कि आग के संयोग से घड़े में लाली आती है।

आत्मा ज्ञान नहीं, बल्कि ज्ञाता है। आत्मा द्रव्य है और उसका ज्ञान नव्य नैयायिको के अनुसार मानस प्रत्यक्ष (मैं हूँ) से होता है, जबकि प्राचीन नैयायिकों के अनुसार इच्छा, द्वेष आदि के आधार के रूप में उसका अनुमान किया जाता है। पाश्चात्य दार्शनिकों में से जान लाक ने भी ज्ञान को गुण ही माना है।

सांख्य ने बुद्धि और ज्ञान को अलग-अलग माना है। सांख्य के अनुसार बुद्धि (महत्तत्त्व) प्रकृति का कार्य है और ज्ञान का साधन है। यानी ज्ञान ऐसे दैहिक प्रतिक्षेपों से निर्मित होता है, जो स्वयं अचेतन होते हैं।

कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों के मत में मन और विषय के बीच के सम्बन्ध को ज्ञान कहते हैं। मूरे ने इस बात का खण्डन करते हुये यह कहा है कि ज्ञान संबन्ध

नहीं बल्कि सम्बन्ध की प्रतीति है। मीमांसकों ने भी इस मत की इस आधार पर आलोचना की है कि कोई भी सम्बन्ध कर्ता के बिना घटित नहीं हो सकता।[3] और सम्बन्ध के साथ कर्त्ता की सत्ता मान लेने पर कर्त्ता में ही प्रमुखता मानी जानी चाहिये सम्बन्ध में नहीं। नैयायिक तो ज्ञान को आत्मा का गुण मानते हैं मन और वस्तु अथवा आत्मा और वस्तु के बीच का सम्बन्ध नहीं।

माध्यमिक बौद्धों के अनुसार संसार असत् या शून्य है। द्रष्टा, दृश्य, दर्शन सभी स्वप्न के समान भ्रम हैं।

2. ज्ञान के सत्यत्व की कसौटी : प्रामाण्यवाद

ज्ञान के स्वरूप-विश्लेषण के साथ ही जिस एक बहुत बड़े प्रश्न पर भारतीय दार्शनिकों ने गहन चिन्तन मनन किया, वह अपने मूलरूप में इस प्रकार है कि ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है और उसकी सत्यता का पता कैसे चलता है? दूसरे शब्दों में, जब हमें किसी पदार्थ का ज्ञान होता है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह कौन-सी कसौटी है, जिसके आधार पर यह पता किया जा सके कि हम जिस वस्तु को जानना चाहते थे हमें उसी का बोध हुआ। इस जिज्ञासा से कम-से-कम तीन पहलू हैं—ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान। इसके साथ ही ज्ञान के जनक कारण और ज्ञापक कारण कौन से हैं, इस पहलू की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। ज्ञान के ज्ञान की इस समस्या पर भारतीय दार्शनिकों ने प्रमाण और प्रमेय के सन्दर्भ में विचार किया है। प्रमाण की परिभाषा और प्रमाण भेद के सम्बन्ध में मतभेद होने पर भी सभी भारतीय दार्शनिकों ने यह प्रतिपादित किया है कि प्रमेयों (पदार्थों) का ज्ञान प्रमाण द्वारा होता है। अत: इस समस्या का स्वरूप स्वभावतः इस प्रकार विकसित हुआ कि जिस प्रमाण से प्रमेय का ज्ञान होता है उस प्रमाण की परिभाषा और प्रमाण के सत्यत्व की कसौटी क्या है। अर्थात् प्रमाण का प्रामाण्य किस तत्त्व पर निर्भर है? उत्तर भिन्न होने पर भी प्रश्न तो एक ही रहा जिस पर प्रायः सभी दर्शनों में प्रामाण्यवाद के अन्तर्गत विचार किया गया है। प्रमाण के प्रमाणत्व पर विचार के साथ ही उसके अप्रमाणत्व का प्रश्न भी सिक्के के दूसरे पाठ के समान अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है, अत: प्रामाण्यवाद में केवल यही बात समाविष्ट नहीं कि प्रमाण के प्रमाण्य का ज्ञान कैसे होता है बल्कि यह भी है कि अप्रमाण के अप्रामाण्य का पता कैसे चलता है।

भारतीय दर्शनों में इस समस्या का अपने अपने सम्प्रदायों के अनुसार विश्लेषण किया गया। जो दार्शनिक यह समझते हैं कि प्रमाण में ही प्रामाण्य

रहता है; वे स्वतः प्रामाण्यवादी कहलाते हैं, और जिनके मत में प्रमाण के प्रामाण्य के लिये अन्य किसी बाहरी तत्त्व की अपेक्षा होती है, वे परत प्रामाण्यवादी कहलाते हैं। ऐसा ही वर्गीकरण अप्रामाण्य के सम्बन्ध में भी है। सांख्य प्रामाण्य और आप्रमान्य दोनों को स्वतः मानता है, जबकि न्याय इन दोनों को परतः मानता है। इस प्रकार एक वर्ग का प्रतिनिधित्व सांख्य करता है और दूसरे का न्याय। अन्य दर्शन विभज्यवादी हैं। उनमें से बौद्ध प्रामाण्य को परतः और अप्रामाण्य को स्वतः मानते हैं, जबकि मीमांसकों का कथन है कि प्रामाण्य स्वतः होता है अप्रामाण्य परतः। इस दृष्टि से देखा जाए तो बौद्धों का मत मीमांसकों से एकदम उल्टा है। यह सब होते हुए भी इस समस्या का सर्वाधिक विस्तृत विश्लेषण न्याय और मीमांसा में ही किया गया है। क्योंकि न्याय प्रामाण्य को परतः मानता है, अतः न्याय के ग्रन्थों में दी गई अधिकतर युक्तियों का उद्देश्य यही सिद्ध करने का रहा है कि ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य का सिद्धान्त अनुपयुक्त है और इस दृष्टि से न्याय का मुख्य लक्ष्य मीमांसकों के मत का खण्डन करना ही रहा है। कुछ भी हो प्रामाण्यवाद न्यायशास्त्र के प्रमुख विवेचनीय विषयों में से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यथार्थ अनुभव की प्रमा या प्रमाण कहते हैं। यथार्थ अनुभव में रहने वाला विशेष धर्म है वही प्रमाणत्व या प्रामाण्य तथा अयथार्थ अनुभव में रहने वाला विशेष धर्म अप्रमाणत्व या अप्रामाण्य कहलाता है। प्रामाण्य के कारण के बारे में जो वाद प्रचलित हुआ वह प्रामाण्यवाद के नाम से पुकारा जाता है। न्याय वैशेषिक की यह मान्यता है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से अतिरिक्त जितने भी ज्ञान हैं उनकी दो श्रेणियाँ हैं यथार्थ और अयथार्थ। यथार्थ ज्ञान के लिए प्रमा और प्रमाण तथा अयथार्थ के लिए अप्रमा और अप्रमाण शब्दों का व्यवहार किया जाता है। जब यथार्थज्ञान के लिए प्रमाण शब्द का प्रयोग किया जाता है तब उसके असाधारण धर्म को प्रामाण्य कहते हैं।

सभी मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी हैं,[4] किन्तु स्वतः प्रामाण्य की संकल्पना के अवान्तर विश्लेषण में प्रभाकर, कुमारिल भट्ट तथा मुरारि मिश्र की मान्यताओं में पर्याप्त अन्तर है। प्रभाकर के अनुसार ज्ञान 'स्वप्रकाश है वह ज्ञानमान ही उत्पन्न होता है। ज्ञान की उत्पादक सामग्री ही ज्ञान की ग्राहक सामग्री भी है। अर्थात् दोनों में कोई भेद नहीं है। घटज्ञान की सामग्री का सन्निधान होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसका आकार 'अयं घटः' नहीं अपितु 'घटमहं जानामि' ऐसा होता है। ज्ञानग्राहक सामग्री ही ज्ञान के प्रामाण्य की भी ग्राहक होती है।

अतः प्रामाण्य के सन्दर्भ में ज्ञान अपने आश्रयभूत घट को अपने आपको ज्ञाता को और प्रामाण्य को भी समाविष्ट करता है। फलतः उसका आकार होगा— 'घटमहं प्रमिणोमि' अतः वह स्वतः प्रमाण भी है। कुमारिल का विचार है कि ज्ञान स्वप्रकाश होते हुए भी अतीण्द्रिय है, अतः घटज्ञान में, यानी घड़े का ज्ञान होने पर घड़े में 'ज्ञातता' नामक एक नवीन धर्म उत्पन्न होता है। घड़े के ज्ञान से जो ज्ञातता उत्पन्न होती है, उसी से घड़े के ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध होता है। क्योंकि घटज्ञान और घटज्ञातता अभिन्न हैं, अतः ज्ञान स्वतः प्रमाण है। मुरारि मिश्र यह मानते हैं कि इन्द्रिय और अर्थ का संयोग होने पर 'यह घड़ा है' ऐसा भान होता। इसके अनन्तर 'मैं घड़े को जानता हूँ'—ऐसा अनुव्यवसाय होता है। इस अनुव्यवसाय से घड़े के ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित होता है। मुरारि के मत का नैयायिकों के मत से यह अन्तर है कि नैयायिकों के अनुसार प्रथम ज्ञान में सन्देह रहता है जबकि मुरारि के मतानुसार प्रथम ज्ञान में भी सन्देह नहीं रहता। नैयायिकों के अनुसार अनुव्यवसाय से ज्ञान का ग्रहण होता है। उसके प्रामाण्य का नहीं जबकि मुरारि मिश्र के मत में अनुव्यवसाय से ज्ञान के प्रामाण्य का भी निश्चय होता है। मीमांसकों के इन तीनों मतों का सामान्यतया यह आशय है कि ज्ञान के उत्पन्न होते ही उसके प्रामाण्य का भी ज्ञान हो जाता है। यह नहीं कि प्रमाणान्तर से परीक्षा करने के लिये हम ठहरे रहें, और जब यह ज्ञान जाँच की कसौटी पर ठीक उतर जाये तब हम उसे ठीक समझें। विश्वास उत्पन्न करना भी ज्ञान का स्वभाव है। यदि ज्ञान के प्रतिकूल ऐसा प्रमाण मिलता है, जिससे वह बाधित या खण्डित हो जाता है तो तभी हम उसकी असत्यता मानते हैं। इसी कारण अप्रामाण्य परतः होता है। क्योंकि उसकी उत्पत्ति ज्ञान सामान्य के कारणों से अतिरिक्त दोष नामक कारण से होती है।

जैसे प्रमाण का कार्य अपने विषय में प्रवृत्ति कराना है, वैसे ही अप्रमाण का कार्य अपने विषय से निवृत्ति कराना है। जब तक ज्ञाता को यह ज्ञान नहीं होता कि यह ज्ञान अप्रमाण है तब तक निवृत्ति नहीं होती। अतः अप्रामाण्य की ज्ञप्ति भी परतः होती है।

मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित स्वतः प्रामाण्य के विरुद्ध नैयायिकों ने जो शंकायें उठाई हैं वे इस प्रकार हैं—

(1) ज्ञानगत जो प्रामाण्यरूप धर्म है, क्या वह अपने आपसे उत्पन्न हो जाता है ?

(2) क्या वह अपने आधारभूत ज्ञान से उत्पन्न होता है ?

(3) क्या वह अपने आधारभूत ज्ञान की साधारण कारण-सामग्री से उत्पन्न होता है ?

(4) क्या वह ज्ञान के जितने साधारण कारण हैं, उनसे उत्पन्न होने वाले विशेष ज्ञान में रहता है ।

(5) क्या वह ज्ञान के साधारण कारणों (सामग्री मात्र) से ही उत्पन्न होने वाले विशेष ज्ञान में रहता है ।

नैयायिकों के अनुसार :—

(1) पहला विकल्प दोषपूर्ण है क्योंकि कार्य और कारण में भेद रहना आवश्यक है । अतः प्रामाण्य अपनी उत्पत्ति स्वयं नहीं कर सकता ।

(2) यदि ज्ञान से प्रामाण्य की उत्पत्ति मानी जाये तो ज्ञान को प्रामाण्य का समवायिकारण मानना पड़ेगा, जबकि ज्ञान गुण है, द्रव्य नहीं और समवायिकारण द्रव्य होता है ।

(3) ज्ञान की बाधा का अत्यन्ताभाव ही प्रामाण्य है। प्रामाण्य का अर्थ है अनेक प्रामाणिक ज्ञानों में रहने वाला एक धर्म । ऐसे धर्म को सामान्य भी कहते हैं । सामान्य के दो भेद हैं—जाति और उपाधि । जाति के रूप में लें या उपाधि के, प्रामाण्य का जन्म नहीं होता, क्योकि जाति और अखण्ड उपाधि नित्य होती है उसका जन्म नहीं होता और सखण्ड का द्रव्यादि में अन्तर्भाव हो जाता है ।

(4) ज्ञान को यदि ज्ञान-सामान्य सामग्री से उत्पन्न माना जाये तो अप्रमा में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि अप्रमा भी ज्ञान की सामान्य सामग्री (इन्द्रिय, प्रकाश आदि) से ही उत्पन्न होती है ।

(5) यदि केवल ज्ञान के कारणों से उत्पन्न होने का अर्थ 'दोषाभाव के साथ ज्ञान के कारणों से उत्पन्न होना' है तो यह तो परतः प्रामाण्य ही हुआ । यदि इसका अर्थ है, दोषाभाव से रहित कारणों से उत्पन्न होना' तो स्पष्ट ही है कि सदोष ज्ञान सामग्री से ज्ञान की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। अत इन आपत्तियों के कारण नैयायिकों का यह कथन है कि स्वतः प्रामाण्य उपयुक्त नहीं है ।

मीमांसकों के तीनों सम्प्रदायों के अनुसार ज्ञान दो दशाओं में उत्पन्न होने के कारण दो प्रकार का होता है—अभ्यास-दशापन्न और अनभ्यास-दशापन्न । और ज्ञान के प्रामाण्य का स्वतस्त्व अभ्यासदशापन्नता में ही है । यहाँ यह प्रश्न पैदा होता है कि क्रिया का पौनः पुन्य तथा बार-बार सफल प्रवृत्ति ही तो अभ्यास कहलाती है और इसका नैयायिकों के प्रवृत्ति संवाद से कोई विशेष अन्तर नहीं है। कुमारिल जिसको 'ज्ञातता' कहते हैं और मुरारि मिश्र के अनुसार जो

अनुव्यवसाय है वह भी तो एक उत्तरवर्ती ज्ञान है, जिसके द्वारा पूर्वज्ञान की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। नैयायिकों की दृष्टि में ज्ञातता के संबंध में एक आपत्ति और भी है और वह यह है कि यदि यथार्थ ज्ञान होने पर ज्ञान से ज्ञातता उत्पन्न होती है तो अयथार्थ ज्ञान होने पर भी ज्ञातता सामान्य के कारण ज्ञातता की उत्पत्ति होगी और इस प्रकार तो अप्रामाण्य भी स्वतः ही हो जायगा। ज्ञातता को स्वीकार कर लेने पर अनवस्था होगी क्योंकि ज्ञातता का ज्ञान प्रामाणिक है या नहीं इसके लिए भी तो ज्ञातताविषयक एक अन्य ज्ञातता अपेक्षित होगी।

बौद्धों में दो प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित हैं। कतिपय बौद्ध विद्वानों के अनुसार प्रामाण्य परतः होता है। उनके अनुसार ज्ञान को प्रमाण तभी समझा जाता है जब वह अर्थ का प्रापक हो। वे प्रामाण्य को स्वतः मानते हैं अतः इस अंश में नैयायिकों का उनसे मतभेद है। शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में यह प्रतिपादित किया है कि अभ्यासदशापन्न ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य स्वतः और अनभ्यासदशापन्न ज्ञान में दोनों ही परतः होते हैं।

बौद्धों का यह कथन है कि ज्ञान के प्रामाण्य का प्रश्न तभी पैदा होता है जब उसकी सत्यता में बाधा पड़ती है। इस प्रकार अप्रामाण्य तो ज्ञान के साथ उसके आरम्भ से ही रहता है और जब अप्रामाण्य का निषेध होता है तभी प्रामाण्य का निश्चय होता है। प्रवृत्ति सामर्थ्य से पहले ज्ञान में सत्यता नहीं रहती, इसी कारण बौद्ध प्रमाण की नकारात्मक परिभाषा करते हुए उसे **अविसंवादक ज्ञान** कहते हैं। इस प्रकार अप्रामाण्य में स्वतस्त्व और प्रामाण्य में परतस्त्व है। इस संबंध में नैयायिकों का यह कथन है कि यदि ज्ञान में स्वतः अप्रामाण्य पहले से ही मान लिया जाए तो लोग जानबूझ कर भ्रान्तिवश क्यों काम करते?

जैन मत में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को उत्पत्ति में परतः तथा ज्ञप्ति में स्वतः माना गया है। जैनों के अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों में ज्ञानसामान्य के कारणों से अतिरिक्त कारण की अपेक्षा होती है। अतः उत्पत्ति में दोनों परापेक्ष हैं। किन्तु ज्ञप्ति में ज्ञानसामान्य के ग्राहक कारणों से अतिरिक्त कारण की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतः ज्ञप्ति में प्रामाण्य और अप्रमाण्य दोनों में ही स्वतस्त्व है।

सांख्य प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों में स्वतस्त्व मानता है। यह मत सत्कार्यवाद पर आधारित है। सत्कार्यवाद के अनुसार कोई कारण उसी कार्य को

उत्पन्न कर सकता है जो कारण में पहले से ही विद्यमान हो। प्रामाण्य और अप्रामाण्य कार्य हैं, वे ज्ञान में पहले से ही रहते हैं अतः स्वतः हैं। इस सिद्धान्त का खण्डन इस तरह किया गया कि सत्कार्यवाद को मानने पर कार्यकारण सिद्धांत ही ध्वस्त हो जाता है। यदि प्रामाण्य और अप्रामाण्य आन्तरिक हों तो ज्ञान और अज्ञान का विभेदक क्या होगा ? जयन्त भट्ट ने सांख्यमत के विरुद्ध यह तर्क प्रस्तुत किया है कि शुक्ति में रजत का ज्ञान यदि प्रमाण है तो उससे प्रवृत्ति सफलता होनी चाहिए और यदि वह अप्रमाण है तो प्रवृत्ति ही कैसे हो सकती है ?[5] जबकि व्यावहारिक जीवन में यह देखा जाता है कि लोगों को भ्रम भी होता है तो वे प्रवृत्त होते हैं और प्रवृत्ति सफल भी नहीं होती।

नैयायिक प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को परतः मानते हैं। वे प्रामाण्य और अप्रामाण्य के आश्रयभूत ज्ञान को व्यवसाय कहते हैं। प्रत्येक व्यवसाय प्रतिकूल परिस्थिति न होने पर अनुव्यवसाय नामक मानस प्रत्यक्ष से गृहीत होता है। किन्तु व्यवसाय का प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य अनुव्यवसाय से नहीं, अपितु सफलप्रवृत्ति हेतुक अनुमान से गृहीत होता है। अतः नैयायिकों के अनुसार जिन कारणों से प्रामाण्य या अप्रामाण्य के आश्रयभूत ज्ञान का ज्ञान होता है, उन्हीं कारणों से प्रामाण्य और अप्रामाण्य का ज्ञान नहीं होता। उसके लिए अन्य कारण अर्थात् अनुमान की आवश्यकता पड़ती है। सफल प्रवृत्ति के संदर्भ में नैयायिकों ने ज्ञान की दो कोटियों का भी उल्लेख किया है—अभ्यासदशापन्न और अनभ्यासदशापन्न। इन दोनों शब्दों के अर्थों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। अभ्यासदशापन्न ज्ञान वह कहलाता है जिस ज्ञान के पूर्व उस प्रकार के अन्य किसी ज्ञान से सफल प्रवृत्ति का होना अवगत नहीं रहता, उस ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उससे प्रवृत्ति का उदय होकर उसकी सफलता का ज्ञान नहीं हो जाता। उसके विपरीत अनभ्यासदशापन्न ज्ञान वह है जो अभ्यासदशा को पार कर चुका है और जिस ज्ञान से पूर्व उस प्रकार के अन्य ज्ञान से सफलप्रवृत्ति का होना विदित रहता है। उस ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय हमें पूर्वज्ञान की सजातीयता के कारण तत्काल हो जाता है। अभ्यासदशापन्न ज्ञान में प्रामाण्य के अवधारण से पूर्व ही मनुष्य विषय के प्रति प्रवृत्त हो जाता है किन्तु अनभ्यासदशापन्न ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय होने के बाद ज्ञाता की विषय के प्रति प्रवृत्ति होती है। कुछ विद्वानों के मत में जहाँ जलज्ञान के बाद ही उसकी प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति हो जाती है वह अभ्यासदशापन्न होता है तथा उससे भिन्न अनभ्यासदशापन्न होता है। यद्यपि

प्रवृत्तिसंवाद न्यायमत का एक महत्त्वपूर्ण अंग है किन्तु यह ज्ञातव्य है कि प्रवृत्ति तो ज्ञानमात्र से भी हो जाती है। प्रवृत्त होने के लिए उससे पहले ज्ञान के प्रामाण्य का अवधारण अनिवार्य रूप से अपेक्षित नहीं होता, क्योंकि व्यावहारिक जीवन में यथार्थज्ञान के अतिरिक्त संशय से भी प्रवृति होती है। संभावना से भी अनेक कदम उठाये जाते हैं। प्रवृत्ति यदि सफल हो जाती है तो उससे संभावना रूप ज्ञान का भी प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है।

नैयायिकों के प्रवृत्ति-विषयक सिद्धान्त के विरुद्ध कुमारिल का यह कथन है कि वस्तु का ज्ञान होने पर उसके संबंध में मनुष्य की तुरन्त प्रवृति नहीं होती। पहले उस वस्तु में ज्ञातता की प्रतीति होती है। फिर ज्ञातता की अन्यथा अनुपपत्ति से ज्ञान का अर्थापत्तिरूप ज्ञान होता है। अर्थात् ज्ञान से उत्पन्न होनेवाली ज्ञातता का जन्म ज्ञान के बिना संभव नहीं है—इस अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञातता से उसके उत्पादक ज्ञान की सिद्धि होती है। ज्ञातता कार्य है और ज्ञान कारण। ज्ञातता का प्रत्यक्ष अनुभव होता है ज्ञान का नहीं। क्योंकि कोई भी कार्य कारण के बिना नहीं हो सकता; अतः ज्ञान का ग्रहण अर्थापत्ति की प्रक्रिया से होता है। अतः किसी वस्तु का ज्ञान होने पर उस वस्तु के विषय में प्रवृत्ति होने के पूर्व ही उस वस्तु के ज्ञान में प्रामाण्य का अवधारण हो जाता है। इस पर नैयायिकों का यह प्रत्युत्तर है कि ज्ञानविषयता (ज्ञान का विषय होना) से भिन्न ज्ञातता नाम का कोई धर्म ही नहीं है, तब उसके कारण रूप ज्ञान की कल्पना ही कैसे की जा सकती है? इसके अतिरिक्त यदि ज्ञानजन्य ज्ञातता के आधार को ही ज्ञान का विषय माना जाएगा तो अतीत और अनागत पदार्थ ज्ञान के विषय न होने कारण अतीत और अनागत पदार्थ में ज्ञानद्वारा ज्ञातता का जन्म न हो सकेगा।

मीमांसकों का यह भी कथन है कि ज्ञानविषयता और ज्ञातता भिन्न-भिन्न धर्म हैं। इस संदर्भ में ज्ञातता कारण है और ज्ञानविषयता कार्य। तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति के बौद्ध सिद्धांतों के आधार पर भी ज्ञानविषयता और ज्ञातता को एक नहीं माना जा सकता। ज्ञान का विषय घट बाह्य पदार्थ है। घटज्ञान (विषय) आन्तरिक है। आन्तरिक और बाह्य का तादात्म्य संभव नहीं है। यदि तदुत्पत्ति से विषयता की व्यवस्था मानी जाएगी तो आत्मा, मन, नेत्र, प्रकाश आदि भी घट ज्ञान के विषय माने जाने लगेंगे। कुमारिल द्वारा इस रीति से ज्ञातता नामक अतिरिक्त धर्म के प्रतिपादन के विरुद्ध नैयायिकों का यह कथन है कि अर्थ और ज्ञान का विषय-विषयिभाव स्वाभाविक है। अतः अतीत

और अनागत पदार्थों के ज्ञान में भी ज्ञानविषयता के उपपादनार्थ किसी अन्य तत्त्व को ही ज्ञानविषयता का नियामक मानना होगा और वह अर्थ और ज्ञान के स्वभाव से भिन्न कुछ नहीं हो सकता। इस प्रकार जब अर्थ और ज्ञान के सहज स्वभाव को ज्ञानविषयता का नियामक माना जा सकता है तब ज्ञातता के बिना भी ज्ञानविषयता की उपपत्ति हो जाने से अर्थापत्ति से ज्ञातता की सिद्धि मानना असंगत है।

यदि कुमारिल के कथनानुसार ज्ञातता को स्वीकार भी कर लिया जाए तो भी नैयायिकों के अनुसार प्रामाण्य का स्वतस्त्व सिद्ध नहीं होता। क्योंकि ज्ञातता से तो केवल ज्ञान का ग्रहण होगा, ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय तो ज्ञान के साथ नियम से रहने वाली विशेष प्रकार की (प्रामाण्य-विशिष्ट) ज्ञातता से ही होगा। यदि यह कहा जाए कि ज्ञान और उसके प्रामाण्य दोनों का निश्चय अव्यभिचारिणी ज्ञातता से एक साथ हो जाता है तब तो यह सिद्धांत अप्रमाण्य पर भी लागू हो सकता है। क्योंकि अप्रामाण्य को मीमांसक भी परतः ही मानते हैं, अतः प्रामाण्य में भी स्वतस्त्व कैसे हो सकता है ?

यदि प्रामाण्य में स्वतोग्राह्यता होती तो ज्ञान के बाद उसके सम्बन्ध में किसी को भी सन्देह नहीं हुआ करता। सन्देह का होना अनुभवसिद्ध है अतः लोकव्यवहार के अनुसार भी प्रामाण्य स्वतोग्राह्य नहीं माना जा सकता।

केशवमिश्र के अनुसार प्रामाण्य के परतस्त्व की प्रक्रिया निम्नलिखित रूप से चरितार्थ होती है—

मानसप्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है।

सफलप्रवृत्ति द्वारा प्रामाण्य का तथा असफल प्रवृत्ति द्वारा अप्रामाण्य का अनुमान किया जाता है।

उदाहरण:—

विवादाध्यासित जलज्ञान प्रमाण है
क्योंकि वह समर्थप्रवृत्ति का जनक है
जो प्रमाण नहीं होता वह सफल प्रवृत्ति
का जनक नहीं होता, जैसे मरीचिका में जलज्ञान।

इस प्रकार न्यायशास्त्र के अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों का अवधारण परतः होता है।

3. अज्ञान की परिभाषा और उसके विभिन्न रूप

लोक व्यवहार में ज्ञान के अभाव को अज्ञान कह दिया जाता है किन्तु शास्त्रों में इसका धनात्मक मूल्य भी स्वीकार किया गया है अर्थात् अज्ञान अपने आप में ज्ञान का अभाव होने के अतिरिक्त स्वयं एक सत्ता भी है। उदाहरण के रूप में मरीचिका को जब कोई जल समझता है तो वह ज्ञान का अभावमात्र नहीं है, बल्कि भ्रम का एक स्वतःस्फूर्त रूप है। यही कारण है कि भारतीय दार्शनिकों ने ज्ञान के साथ अज्ञान की समस्या पर भी पृथक् रूप से विचार किया है। ज्ञान को प्रमा और अज्ञान को अप्रमा के नाम से व्यवहृत किया गया है। न्यायसूत्र में ज्ञान को बुद्धि का पर्यातवाची बताया गया है। परवर्ती न्याय-शास्त्र में ज्ञान के अवान्तर भेदों का भी सम्यक् निरूपण हुआ है। ज्ञान के दो भेद माने गये हैं—स्मृति और अनुभव। अनुभव भी दो प्रकार का होता है—यथार्थ और अयथार्थ। यथार्थ अनुभव को प्रमा कहते हैं और अयथार्थ अनुभव को अप्रभा। अयथार्थ अनुभव तीन प्रकार का होता है—संशय, विपर्यय और तर्क। वैशेषिकों ने विद्या और अविद्या नाम से बुद्धि के दो भेद किये हैं और अबिद्या के चार उपभेद माने हैं—संशय 'विपर्यय' अनध्यवसाय और स्वप्न। यथार्थ अनुभव न्याय के अनुसार चार प्रमाणों से उत्पन्न होता हैं और वह चार प्रकार का बताया गया है—प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शब्द। इनका विश्लेषण यथावसर किया जायगा। यहाँ पर तो ज्ञान के यथार्थ अनुभवेतर रूपों की ही चर्चा अपेक्षित हैं।

जो 'अर्थ' (पदार्थ) जहाँ नहीं है, यदि वहाँ पर उस अर्थ के होने का अनुभव हो तो उस अनुभव को अयथार्थ कहा जाता है। जैसे, रस्सी साँप नहीं होती पर साँप का अयथार्थ अनुभव उसमें भी होता है। न्याय के अनुसार यह दोषसहकृत प्रमाणाभास है, जबकि गुणासहकृत अनुभव प्रमाण कहलाता है।

अज्ञान के विभिन्न रूप इस प्रकार हैं :—

(i) विपर्यय

अयथार्थ अनुभव का सर्वाधिक चर्चित रूप है विपर्यय। अन्नंभट्ट के अनुसार विपर्यय मिथ्या ज्ञान है। जिसमें जिसका अभाव है, उसे उससे युक्त समझना मिथ्या ज्ञान हैं। विज्ञानभिक्षु ने भी योग वार्तिक में यह बताया है कि जो विषय तद्रूप नहीं, उसको उस रूप से युक्त समझना विपर्यय है। विपर्यय का भारतीय दर्शनों में विशेष विवेचन किया गया है। इसका अधिक प्रचलित नाम ख्यातिवाद है। विपर्यय के स्वरूप और सामग्री के विषय में जो पाँच मत सर्वाधिक प्रचलित

हुये हैं, वे ख्यातिपंचक के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। विभिन्न दर्शनों के अनुसार ख्यातियों का विश्लेषण निम्नलिखित प्रकार किया गया है—

(क) **आत्मख्याति**—विज्ञानवादी बौद्धों का कथन है कि जहाँ कहीं पर भ्रम होता है, वहाँ मनुष्य के आतमज्ञान की ही भ्रांत रूप में ख्याति होती है। उदाहरणतया जब कोई व्यक्ति चमकती हुई सीपी को रजत समझता है तो उस समय वह अपने अंतः स्थित ज्ञान का ही बाहर अवलोकन करता है। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है कि पहले कभी जो रजत देखा था, उसके कारण मनुष्य के हृदय में रजताकार वासना विद्यमान रहती है। रजत से मिलती-जुलती सीपी को देखकर वासना जागृत होती है और रजताकार स्मरण उत्पन्न करती है। अंतः सुप्त रजत के स्मरणसहकृत ज्ञान को ग्रहण करने वाले इस अयथार्थ अनुभव को ही भ्रम कहते हैं।

विज्ञानवादी बौद्ध विज्ञान से अतिरिक्त किसी बाह्य पदार्थ की सत्ता स्वीकार नहीं करते। अतः उनके मतानुसार कोई बाह्य विषय ही नहीं है। अतः भ्रांति का कारण विषयगत न होकर ज्ञानगत होता है। सीपी में रजत की जो प्रतीति होती है उसे योगाचार बौद्ध ज्ञानाकार ख्याति या आत्मख्याति कहते हैं।

भ्रांति की इस व्याख्या के संदर्भ में नैयायिकों की मुख्य आपत्ति यह है कि यदि विज्ञानमात्र की ही सत्ता मानी जाएगी तो यथार्थ और अयथार्थ विज्ञान में कोई अन्तर नहीं किया जा सकता।

(ख) **असत् ख्याति**—माध्यमिक बौद्ध असत्‌ख्यातिवाद के समर्थक हैं। उनके मतानुसार सभी पदार्थ पारमार्थिक रूप में असत् या शून्य हैं। अतः सीपी में रजत की जो भ्रांति होती है, उसमें रजत तो असत् है ही सीपी भी असत् है। इस भ्रम का विषय यानी अधिष्ठान भी असत् है अतः यह असत् ख्याति कहलाता है। उनके कथन का तात्पर्य यह है कि भ्रम में असत् की सत् के समान प्रतीति होती है।

यहाँ यह विचारणीय है कि यदि सभी पदार्थ पारमार्थिक रूप से असत् माने जाएँ तो प्रमा से भी असत् का ही ग्रहण होगा और ऐसी स्थिति में प्रमा और अप्रमा में कोई भेद न रहेगा। इसका समाधान शून्यवादियों के द्वारा इस प्रकार किया जाता है कि प्रमा का विषय वस्तुदृष्टि से असत् किन्तु लोकदृष्टि से सत् है और अप्रमा का विषय दोनों ही दृष्टियों से असत् है। इस मत के संदर्भ में एक आपत्ति यह भी है कि यदि वस्तु असत् है तो उसका प्रतिभास

कैसे हो सकता है ? क्योंकि कोई वस्तु असत् भी हो और उसका प्रतिभास भी हो, ये दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं। इसके अतिरिक्त यदि भ्रांत ज्ञानों का आधार असत् माना जाएगा तो भ्रान्तियों में जो अनेकरूपता देखी जाती है, उसका कोई कारण नहीं रहेगा।

नैयायिक इस मत का इस आधार पर भी खण्डन करते हैं कि यदि बौद्ध असत् ख्याति का अर्थ आश्रय का अभाव मानते हैं तो यह असंगत है क्योंकि किसी भी व्यक्ति को अनुपलब्ध विषय का प्रतिभास नहीं हो सकता। यदि वे इसका आशय यह बताते हैं कि—आश्रय कहीं तो विद्यमान है किन्तु वर्तमान स्थान पर नहीं है, तो यह अन्यथाख्याति ही है।

(ग) अख्याति--प्रभाकर मतानुयायी मीमांसकों का विचार है कि सीपी को जब कोई रजत समझते हुए यह कहता है कि यह रजत है (इदं रजतम्) तब 'इदम्' अंश का ग्रहण अनुभव प्रत्यक्ष तथा 'रजतम्' अंश का ग्रहण स्मृति (परोक्ष) से होता है। तिमिरण आदि दोष के कारण इस आंशिक ग्रहण और आंशिक स्मरण में भेद न समझना ही भेदाग्रह, विवेकाग्रह अख्याति या विवेका-ख्याति है। ये दोनों ही अंश अपनी अपनी दृष्टि से यथार्थ हैं पर उनमें भेद की प्रतीति नहीं होती है। विशेष लक्षणों का बोध न होने से सीपी में रजत से अभेद की प्रतीति नहीं होती किन्तु दोषवश रजत का स्मरण होता है। नैयायिक इसको भ्रमात्मक ज्ञान कहते हैं, किन्तु प्रभाकर के कथनानुसार इसमें दो ज्ञान हैं—प्रत्यक्षात्मक और स्मरणात्मक। स्मरणात्मक ज्ञान तिमिरण या मन्द प्रकाश आदि के कारण शुक्ति के विशेष गुणों को न देखकर उसके सदृश रजत के गुणों का स्मरण होने से होता है। सीपी चक्षु का विषय है और रजत मन का। अतः दोनों ज्ञान भिन्न और यथार्थ हैं।

अख्यातिवाद का खण्डन कुछ आचार्यों ने व्युत्पत्ति के आधार पर भी किया है। उनका कथन यह है कि यदि ख्याति के अभाव का नाम अख्याति है तो सुप्तावस्था से उसमें कोई भेद नहीं रहेगा और यदि इसका अर्थ ईषत् ख्याति है और ईषत् का आशय यह है कि जो अर्थ जिस रूप में अवस्थित है, उसका उससे भिन्न रूप में प्रतिभास होता है तो यह विपरीत ख्याति ही हुई। नैया-यिक भ्रम को स्मृति नहीं मानते अतः ऐसे स्थानों पर वे दो ज्ञानों का अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करते।

(घ) अनिर्वचनीय ख्याति—अद्वैतवेदान्त के अनुसार शुक्ति में दीख पड़ने वाली चाँदी 'सत्' नहीं है, क्योंकि शुक्ति की पहचान होने के बाद वह सर्वथा

लुप्त हो जाती है। वह 'असत्' भी नहीं है क्योंकि खरगोश के सींग की तरह उसका सर्वत्र ऐकान्तिक अभाव नहीं है और असत् का अनुभव भी नहीं होता। वह उभयरूप भी नहीं है क्योंकि सत् और असत् दोनों एक रूप नहीं हो सकते न ही वे एक साथ रह सकते हैं। वे परस्पर विरुद्ध हैं। अतः सत्, असत् और उभयरूप से भी अकथनीय होने के कारण यह अनिर्वचीय ख्याति है।

नैयायिकों का इस मत के विरुद्ध यह कथन है कि भ्रांति की निवृत्ति होने पर सीपी का सीपी के रूप में तथा भ्रांति के समय चाँदी के रूप में निर्वचन तो होता ही है। अतः इसको अनिर्वचनीय मानना युक्तिसंगत नहीं है।

(ङ) **विपरीत ख्याति**—कुमारिल के अनुसार अकार्य का कार्य के रूप में भान ही विपर्यय है। यही विपरीत ख्याति है। सीपी में चाँदी को देखकर जब यह कहा जाता है कि 'यह चाँदी है' तो यहाँ उद्देश्य और विधेय दोनों ही सत्य हैं संसार में दोनों का ही अस्तित्व है। भ्रम का कारण यह है कि दो सत् किन्तु पृथक् वस्तुओं को उद्देश्य और विधेय के रूप में जोड़ दिया गया है। अतः भ्रान्ति ज्ञान के विषयों में नहीं, अपितु विषयों के संसर्ग में है। मीमांसकों के अनुसार भ्रम का प्रभाव ज्ञान की अपेक्षा व्यवहार पर अधिक पड़ता है। उनका यह भी कथन है कि साधारणतः प्रत्येक ज्ञान सत्य होता है। उसकी सच्चाई में विश्वास के आधार पर ही मनुष्य का व्यावहारिक जीवन चलता है और इस नियम का अपवाद ही भ्रांति है।

(च) **अन्यथा ख्याति**—नैयायिकों के मतानुसार विपर्यय का अर्थ है एक वस्तु का अन्य वस्तु के रूप में ज्ञान। अथवा एक वस्तु के गुणों की अन्य वस्तु में प्रतीति। शुक्ति में रजत का जो भ्रम होता है, नैयायिकों के अनुसार उसमें सीपी भी सत् है और चाँदी भी। क्योंकि कहीं-न-कहीं इन दोनों चीजों का अस्तित्व है। हाँ वर्तमान उदाहरण में एक वस्तु को अन्य वस्तु के रूप में देखा जा रहा है। यह भ्रम विषयगत न होकर ज्ञानगत है। शुक्ति में भी कान्ति है और रजत में भी, अतः कान्ति नामक सामान्य के आधार पर इन्द्रियादि दोष के कारण एक पदार्थ को देखकर दूसरे का स्मरण हो उठता है। इस स्मरण को भ्रान्ति कहते हैं। इसमें और स्मृति में अन्तर है। क्योंकि स्मृति हम उसी पदार्थ की करते हैं जिसको हमने पहले देखा हो जबकि भ्रान्ति में एक पदार्थ को देखकर दूसरे का स्मरण होता है। जिस व्यक्ति ने पहले कहीं रजत को देखा है, उसे शुक्ति को देखकर रजत का स्मरण होता है। यहाँ ज्ञान और रजतलक्षण का सन्निकर्ष होता है जिसमें उत्पन्न अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा रजत

का अनुभव होता है। अलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभूत रजत के गुणों का आरोप सीपी में करने से भ्रम उत्पन्न होता है। इस भ्रम में किसी वस्तु के स्वरूप का निषेध नहीं होता अपितु अन्य वस्तु के रूप में उसका ज्ञान होता है।

भ्रांति की न्यायशास्त्र द्वारा दी गई इस व्याख्या को कुमारिल, रामानुज तथा जैनों ने भी स्वीकार किया है।

अन्यथाख्याति के सिद्धान्त की भी इस आधार पर आलोचना की जाती है कि भ्रम में अलौकिक प्रत्यक्ष की अवस्थिति युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि इस तरह तो हर समय हर पदार्थ का प्रत्यक्ष होना चाहिये।

इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि भ्रांति के प्रसंग में नैयायिकों ने जिस अलौकिक प्रत्यक्ष का उल्लेख किया है वह प्रत्यक्ष के उस भेद से भिन्न है जिसमें प्रमेय पदार्थ और इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं होता। भ्रांति में रजत और इन्द्रियों का नहीं किन्तु सीपी और इन्द्रियों का तो सन्निकर्ष होता ही है। अतः इस संदर्भ में अलौकिक प्रत्यक्ष का इतना ही आशय है कि वह सामान्य लौकिक प्रत्यक्ष से भिन्न है।

(ii) **संशय**

नैयायिकों ने अयथार्थ अनुभव के एक भेद के रूप में संशय का भी उल्लेख किया है। गौतम ने सोलह पदार्थों में संशय की प्रमाण और प्रमेय के बाद तीसरे स्थान पर गणना करके इसे पर्याप्त प्रमुखता दी है। वात्स्यायन ने संशय को न्याय का अंग मानने का कारण यह बताया है कि न्याय की आवश्यकता उन्हीं मामलों में पड़ती है जो न तो अनुपलब्ध हों और न ही निर्णीत हों। इस प्रकार भारतीय नैयायिकों का यह मत डेकार्ट के इस सिद्धान्त से स्पष्टतः मिलता है कि दर्शन का आरम्भ संशय से होता है। भारत में भी **'वादे-वादे जायते तत्वबोधः'** की जो धारणा प्रचलित है, उसके मूल में भी संशय ही काम करता है। शुद्ध चिन्तन की दृष्टि से इसी को जिज्ञासा भी कहते हैं। यह आवश्यक नहीं कि जिस वस्तु के बारे में हमें संशय हो वह परिणाम में भी संशयग्रस्त ही रह जाये। वस्तुतः संशय की सत्ता तभी तक रहती है, जब तक कि 'विशेष' की उपलब्धि नहीं हो जाती। इस प्रकार संशय वस्तुतः अधिकतर मामलों में तो ज्ञान की पूर्वावस्था है किन्तु फिर भी यह प्रमा की अपेक्षा अप्रमा का ही भेद माना जाता है क्योंकि प्रमा यथार्थ अनुभव को कहते हैं और संशयदशा में यथार्थ और अयथार्थ किसी का भी निश्चय नहीं होता। इतना अवश्य है कि यह यथार्थ न होने के कारण अयथार्थ कहलाता है, न कि अयथार्थता के चिन्हों के कारण।

संक्षेप में अनिश्चय रूप ज्ञान संशय है। इसको वस्तुतः प्रमाभिमुखी अप्रमा भी कहा जा सकता है। यद्यपि संशय में अनुभव तो होता है, किन्तु इसमें निश्चितता का अभाव होने के कारण इसको अप्रमा की श्रेणी में रखा गया है।

गौतम के अनुसार समान धर्मोपलब्धि, अनेक धर्मोपलब्धि, विप्रतिपत्ति, उपलब्धि की अव्यवस्था तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था से विशेष अपेक्षा रखने वाला विमर्श संशय कहलाता है।[6] परिभाषा में ही परिगणित संशय के पाँच भेदों का स्वरूप वात्स्यायन ने निम्नलिखित रूप में बतलाया है—

(क) **समानधर्मोपपत्तिमूलक संशय**—वह होता है, जिसमें आकार, आयतन आदि के कारण दूरस्थित पदार्थ के बारे में यह शंका उत्पन्न हो जाती है कि यह स्थाणु है अथवा कोई पुरुष। प्रमाता यहाँ दोनों वस्तुओं के धर्मों को तुल्यरूप से देखता है। उसे दोनों वस्तुओं में से किसी एक के विशेष धर्म को जानने की अपेक्षा होती है किन्तु वह किसी का निर्धारण नहीं कर पाता।

(ख) **अनेकधर्मोपपत्तिमूलक संशय**—उसे कहते हैं, जिसमें समानजातीय और असमान-जातीय दोनों धर्मों की प्रतीति होती है, परन्तु कोई एक निश्चित विशिष्ट धर्म ज्ञात नहीं होता। जैसे कि शब्द नित्य है अथवा अनित्य ? इस प्रकार का संशय उत्पन्न होता है। इसका कारण यह है कि परमाणु आदि नित्य पदार्थ और घट आदि अनित्य पदार्थों में एक की भी शब्द के साथ समान-धर्मता नहीं देखी जाती है। इसी बात को एक अन्य रूप में इस प्रकार से भी कहा जा सकता है कि शब्द के बारे में यह शंका होती है कि यह द्रव्य है, गुण है अथवा कर्म है ? क्योंकि उसका विभेदक धर्म तीनों में समानरूप से विद्यमान हैं। अतः क्या शब्द द्रव्य होता हुआ गुण, कर्म से भिन्न है या गुण होता हुआ द्रव्य, कर्म से भिन्न है अथवा कर्म होता हुआ द्रव्य, गुण से भिन्न है? इस सन्देह का निवारण नहीं हो पाता क्योंकि किसी एक निश्चित विभेदक धर्म का यहाँ अवधारण ही नहीं होता।

(ग) **विप्रतिपत्तिमूलक संशय**—का आशय है—एक ही विषय या वस्तु के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी सिद्धान्तों की उपलब्धि के कारण किसी निश्चय पर न पहुँचना। विरुद्ध एकार्थ दर्शन को विप्रतिपत्ति कहा गया है। एक दर्शन कहता है कि 'आत्मा है' दूसरा कहता है कि 'आत्मा नही है' ऐसी स्थिति में किसी भी पक्ष का साधक हेतु उपलब्ध न होने के कारण तत्त्व का निश्चय नहीं हो सकता।

(घ) **उपलब्ध्यव्यवस्थामूलक संशय**—उपलब्धि की अव्यवस्था से भी विशेषा-पेक्ष विमर्श को संशय कहते हैं। इन्द्रियों से सत् पदार्थ जैसे तालाबस्थित जल

दिखाई देता है और मिल भी जाता है। इसी प्रकार मृगमरीचिका में जल नही है, पर भान होता है। क्या सत् ही मिलता है या असत् भी मिल जाता है— ऐसा विमर्श भी संशय कहलाता है।

(ङ) **अनुपलब्ध्यव्यवस्थामूलक संशय**—अनुपलब्धि की अव्यवस्था से भी विशेषापेक्ष विमर्श संशय कहलाता है। असत् तो मिलता ही नहीं है पर कभी-कभी सत् भी नहीं मिलता। जैसे मन्त्र आदि से कीलित या वस्त्र आदि से आच्छादित जल।

अनुपलब्धि की अव्यवस्था का आशय है—इस नियम का अभाव कि 'अनुपलब्ध होने वाली वस्तु सदा असत् ही होती है।' उदाहरणतया मध्याह्न में आकाश में तारे नहीं दिखाई देते। वे दिखाई नहीं देते पर असत् नहीं है। असत् दो प्रकार का होता है—अनुत्पन्न तथा निरुद्ध।

ऐसी स्थिति में यह संशय होता है कि क्या असत् ही नहीं मिलता अपितु सत् भी नहीं मिलता।

संशय के इन पाँचों में से अन्तिम दो भेदों को उद्योतकर के मतानुसार समानधर्मोपपत्तिमूलक संशय के अन्तर्गत ही समाविष्ट किया जा सकता है। वैशेषिकों के अनुसार समानधर्मोपत्ति में ही बाकी सब भेदों का अन्तर्भाव हो जाता है। केशव मिश्र ने भी अन्तिम दो संशय—भेदों का उल्लेख नहीं किया है।

विपर्यय में असत् वस्तु की निश्चयात्मक प्रतीत होती है, जबकि संशय में सत् या असत् इन दोनों में किसी का भी अवधारण नहीं होता। संशय वस्तुतः ज्ञान और विपर्यय के बीच की स्थिति है। तर्क में भी दो संदिग्ध कोटियाँ होती हैं पर उनमें से एक की ओर प्रमाता का अधिक झुकाव होता है। इसके विपरीत संशय में दोनों कोटियाँ तुल्य होती हैं। अन्यमनस्कता या स्मृति-क्षीणता के कारण कभी-कभी परिचित वस्तुओं को देखकर ऐसा तो लगता है कि इसे पहले कहीं देखा है, पर पूरा निश्चय नहीं होता। इस प्रकार के अधूरे ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं। अनध्यवसाय की निवृत्ति स्मरण आ जाने पर हो जाती है जबकि संशय की निवृत्ति के लिये विशेष का विमर्श आवश्यक है।

(iii) स्मृति

अप्रमा के भेदों में स्मृति की भी गणना की जाती है। अन्नंभट्ट के अनुसार संस्कारमात्र से उत्पन्न ज्ञान अर्थात् पहले देखी गई या अनुभूत वस्तु की याद करने से जो बोध होता है उसे स्मृति कहते हैं। स्मृति भी अप्रमा का एक भेद है।

परन्तु इसका अप्रमात्व कुछ तकनीकी पहलुओं पर आधारित है। विभिन्न दर्शनों के आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रमा और प्रमाण की परिभाषाएँ बताई हैं। उन्हीं परिभाषाओं के सन्दर्भ में स्मृति अप्रमा की कोटि में आती है। मीमांसक और अद्वैत वेदान्ती उसी अर्थ के ज्ञान को प्रमा मानते हैं, जिसका पहले कभी अनुभव या ज्ञान न हुआ हो। उनके विचार में स्मृति ज्ञान पहले से ही अनुभूत का अनुभव है। स्मृति अनुभूत वस्तु की ही हो सकती है। अतः उनके मतानुसार स्मृति के अप्रमात्व का कारण अनधिगतार्थगन्तृत्व का अभाव है। जयन्त भट्ट भी स्मृति को अप्रमा तो मानते हैं, किन्तु उसके कारण के सम्बन्ध में उन्होंने मीमांसकों के मत का खण्डन करते हुये कहा है कि स्मृति के द्वारा हम जिस वस्तु का अनुभव करते हैं, वह हमारे समक्ष नहीं है। गृहीत-ग्रहण या अनुभूत का अनुभव होने (अर्थात् नया अनुभव न होने) के कारण नहीं, अपितु सम्बद्ध वस्तु के उस समय हमारे समक्ष उपस्थित न होने के कारण ही स्मृति अप्रमा कहलाती है। स्मृति में पदार्थ का ज्ञान पदार्थ के द्वारा नहीं होता। पहले उस पदार्थ को देखा गया था, पर स्मृति के समय वह विद्यमान नहीं है। अतः वह अयथार्थ है क्योंकि वस्तु अयथार्थ है अतः स्मृति भी अप्रमा हुई।

केशवमिश्र ने यह बताया है कि संस्कार नामक गुण के तीन भेद हैं—वेग, भावना तथा स्थितिस्थापक। वेग नामक संस्कार पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन में रहता है। भावना नामक संस्कार केवल आत्मा में रहता है।

स्थितिस्थापक नामक संस्कार स्पर्श के आश्रयभूत विशेष द्रव्यों में रहता है। इस गुण के कारण धनुष्य प्रभृति सुनम्य वस्तुएँ अन्य आकार की बनने के बाद पुनः अपने मूल रूप में आ जाती हैं। भावना नामक संस्कार केवल आत्मा में रहता है। जब वह सादृश्य, अदृष्ट, चिन्ता आदि के द्वारा उद्‌बुद्ध होता है तो स्मृति का उदय होता है। इसका अर्थ यह है कि पूर्वानुभव से जिस वस्तु का संस्कार आत्मा में सुप्तवत् पड़ा रहता है, उस वस्तु के सदृश किसी अन्य वस्तु का दर्शन होने पर (यानी सदृशदर्शनसहकृत भावना से) स्मृति का उदय होता है।[7]

(iv) तर्क

प्रतिवादी के कथन को खण्डित करके अपने पक्ष का परोक्ष रूप से समर्थन करने के लिए वादी द्वारा प्रयुक्त काल्पनिक युक्ति को तर्क कहते हैं। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में इसे इन्डाइरेक्ट प्रूफ या हाइपोथेटिकल आर्ग्यूमेंट के नाम से पुकारा जाता है। नैयायिकों की दृष्टि में तर्क भी अप्रमा या अप्रमाण है। यद्यपि वह

उस तरह का अप्रमाण या अप्रमा नहीं है, जिस प्रकार का विपर्यय है। वस्तुत: तर्क प्रमा न होने के कारण अप्रमा है न कि अप्रमा के लक्षणों के कारण। इसके अतिरिक्त विपर्यय प्रमा के विरोधी धर्मों से युक्त होने के कारण प्रमा का बाधक होता है, जबकि तर्क प्रमा के अवधारण में सहायक होता है।[8] तर्क संशय से एक आगे की कोटि का प्रमानुग्राहक तत्त्व है, अत: वह प्रमा न सही, प्रमा की प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण सोपान तो है ही। गौतम के अनुसार किसी व्यक्ति को यदि किसी विषय का ज्ञान प्राप्त नहीं है, और वह उस विषय का यथार्थज्ञान प्राप्त करना चाहता है और उस विषय की उपपत्ति के दो या अधिक पक्षों में से जिस ओर उपपत्ति अधिक अनुरूप दिखाई दे उसी का समर्थन करता है तो इस प्रक्रिया को तर्क कहते हैं।[9] वात्स्यायन का भी यही कथन है कि तर्क प्रमाणों के अन्तर्गत नहीं माना जाता किन्तु प्रमाणों का अनुग्राहक होने से तत्त्वज्ञान में सहायक होता है।[10] केशव मिश्र के अनुसार 'जब दो पदार्थों में एक के रहने पर दूसरे का होना निश्चित होता है तो एक के होने की ऊहा (कल्पना) करते ही दूसरे की सत्ता न चाहते हुए भी माननी पड़ती है। अनिष्ट (जो वांछित नहीं था) की इस प्रकार की प्राप्ति को ही तर्क कहते हैं।[11] उदाहरणतया जब हम कहते हैं कि 'यदि यहाँ अग्नि का अभाव होता तो धुएँ का भी अभाव रहता' तो यहाँ अग्नि का सद्भाव प्रतिपादित करने के लिए अधूमवत्व (जो कि अनिष्ट था) की आपत्ति की जा रही है।

यहाँ अग्न्यभाव (व्याप्य) के अपारोपण से घूमाभाव (व्यापक) भी आरोपित हो जाता है। क्योंकि पर्वत पर घूम का ज्ञान हमें प्रत्यक्ष से हो रहा है अत: व्याप्य का आरोपण गलत सिद्ध हो जाने के कारण अग्नि की विद्यमानता सिद्ध हो जाती है। इसीलिए तर्क को अप्रत्यक्ष साधक (इन्डाइरेक्ट प्रूफ) भी कहते हैं। यहाँ अधूमवत्व का प्रसंग आवश्यक न होते हुये भी लाया जा रहा है। फिर भी यह तर्क अनुमान का उपकारक है और व्याप्ति के निश्चय में भी सहायक होता है। वरदराज ने तार्किकरक्षा में तर्क के निम्नलिखित पाँच अंगों का उल्लेख किया है।[12] व्यापक सम्बन्ध यथा जहाँ-जहाँ अग्न्यभाव (व्यापक) है वहाँ-वहाँ घूमाभाव (व्यापक) है।[13]

जैसा कि पहले भी कहा गया है, तर्क का उपयोग मुख्यत: विपक्षी की युक्तियों का खण्डन करने के लिए किया जाता है। अत: कई अवसरों पर वक्ता अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए ऐसी काल्पनिक युक्ति भी प्रस्तुत कर सकता है जिसमें दोष हो। इस प्रकार तर्क मुख्यत: दो प्रकार का हुआ—निर्दोष और

सदोष। निर्दोष एक प्रकार का होता है जिसका ऊपर दिये गये उदाहरणों में उल्लेख किया गया और जिसे प्रमाणबाधितार्थ प्रसंग या तदन्यबाधितार्थ प्रसंग जैसे अभिधानों से निर्दिष्ट किया जाता है। पाश्चात्य दर्शन की शब्दावली में यह Reductio ad absurdum कहलाता है। इसमें विरोधी के पक्ष की निस्सारता सिद्ध करके अपने पक्ष का परोक्ष रूप से प्रतिपादन किया जाता है।

सदोष तर्क के निम्नलिखित चार भेद माने गये हैं—

(क) **आत्माश्रय**—जिस अनिष्ट प्रसंग में अपनी ही आवश्यकता पड़ जाए उसे आत्माश्रय कहते हैं।[14] उदाहरणतया यदि गाय का लक्षण यह किया जाये कि 'गाय से भिन्न में न रहने वाली और समस्त गौओं में रहने वाली जाति गौ है' तो यहाँ आत्माश्रय दोष माना जाएगा।

(ख) **अन्योन्याश्रय**—जिस तर्क में उल्लिखित दो पक्ष अपनी सिद्धि के लिए एक दूसरे पर आश्रित हों वह अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त होता है।[15]

(ग) **चक्रक**—यदि पहला तर्क किसी दूसरे तर्क पर, दूसरा तर्क तीसरे पर और तीसरा तर्क पहले पर आश्रित हो तो ऐसी स्थिति में तर्क को चक्रक दोष से ग्रस्त माना जाता है।[16]

(घ) **अनवस्था**—एक तर्क की पुष्टि के लिए दूसरा, दूसरे के लिए तीसरा तीसरे के लिए चौथा और इस प्रकार तर्कों की एक ऐसी लम्बी कड़ी बना दी जाये, जिसका कहीं अन्त न हो तो ऐसी स्थिति में तर्क अनावस्था दोष से ग्रस्त हो जाता है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में इसको Regressus ad infinitum कहा जाता है।

4. प्रमाण की परिभाषा

न्याय दर्शन में प्रमाणों का कितना अधिक महत्त्व है, यह इस बात से ही सिद्ध हो जाता है कि गौतम ने जिन सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस् की प्राप्ति का उल्लेख किया है, उनमें प्रमाण का स्थान सर्वप्रथम है। 'न्याय' शब्द का विश्लेषण करते हुये वात्स्यायन ने भी यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रमाणों के द्वारा पदार्थों के अवधारण को न्याय कहते हैं। यही कारण है कि प्रमाण मीमांसा और 'न्याय' पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। ऐसा होते हुये भी यह कुछ आश्चर्यजनक सा ही लगता है कि गौतम ने स्वयं प्रमाण की परिभाषा नहीं दी और वात्स्यायन ने भी उसकी निरुक्ति मात्र की है। प्रमाण शब्द

उपसर्ग पूर्वक मा धातु में 'ल्युट्' प्रत्यय जुड़कर बना है। प्रमाण शब्द के दो अर्थ हैं—प्रमा और प्रमा का करण। 'ल्युट्' जब भाव में होता है तो इसका अर्थ है—प्रमा, क्योंकि भाव प्रत्यय का प्रकृत्यर्थ से भिन्न या अधिक कोई अर्थ नहीं हुआ करता। किन्तु 'ल्युट्' जब करण अर्थ में किया जाता है तब इसका अर्थ होता है प्रमा का करण। इस प्रकार यद्यपि प्रमाण शब्द के उपर्युक्त दोनों अर्थ हैं, किन्तु इस शब्द का अधिक प्रयोग प्रमा के करण के रूप में ही होता है। जब हम प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं तो इस परिभाषा में आये हुए दोनों शब्दों—यानी **प्रमा** और **करण** का अर्थ भी विचारणीय हो जाता है।

प्रमा—जो वस्तु जैसी हो उसको उसी प्रकार की जानना,[17] जो वस्तु जहाँ हो उसको वहीं का जानना अर्थात् पदार्थ की उसके वास्तविक रूप में प्रतीति करना ही प्रमा है।[18]

प्रमा का अप्रमा से यह भेद है कि प्रमा किसी वस्तु का अन्यथा ग्रहण नहीं करती और उसके आधार पर प्रवृत्त होने वाला मनुष्य अपने प्रयत्न में सफल होता है जबकि अप्रमा से वस्तुओं का अन्यथा ग्रहण होता है और प्रयत्न में सफलता नहीं मिलती।

वाचस्पति मिश्र के अनुसार 'स्मृति' से भिन्न तथा पदार्थों का अव्यभिचरित बोध ही प्रमा कहलाता है,[19] पर ऐसा मानने पर धारावाहिक ज्ञान प्रमा की कोटि में नहीं आ पायेगा।[20] कहा जा सकता है कि धारावाहिक ज्ञान (घटोऽयम् घटोऽयम्) में घटत्व के साथ 'इदंत्व' अर्थात पदार्थ के साथ वर्तमान काल का भी ज्ञान होता है, अतः ज्ञान कालांश में नवीन है। पर इस तरह तो क्रिया, विभाग, पूर्वसंयोगनाश, उत्तर संयोग आदि का यौगपद्य मानने में कठिनाई होगी। अतः यह कथन अनुचित है। मीमांसकों ने भी धारावाहिक ज्ञान को भी प्रमाण माना है। प्रमा के कारण तो प्रमाता, प्रमेय आदि भी हैं, परन्तु उनमें से क्रिया की सिद्धि में असाधारण रूप से उपकारक (साधकतम) कारण को ही करण कहते हैं।[21] एक अन्य परिभाषा के अनुसार व्यापार से युक्त असाधारण कारण ही करण कहलाता है।[22] जैसे प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में इन्द्रिय—संयोग अतिशयित प्रकृष्ट कारण है। क्योंकि इन्द्रिय—संयोग न हो तो प्रमाता और प्रमेय के रहते हुये भी प्रत्यक्षज्ञान नहीं हो सकता। प्रमा का अस्तित्व तीन बातों पर निर्भर है—प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण। अतः वात्स्यायन ने प्रमाण की यह निरुक्ति दी है कि जिस साधन के द्वारा प्रमाता प्रमेय का ज्ञान करता है, वह प्रमाण है।[23] नव्यन्याय के आचार्यों ने करण उसको माना है, जिसकी उपस्थिति के

बाद कार्य के जन्म के लिये किसी कारणान्तर की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती यानी अविलम्ब कार्य सम्पन्न हो जाता है ।

प्रमाण की परिभाषा विभिन्न दर्शनों के आचार्यों ने विभिन्न रूप से की है, किन्तु इस अंश में सभी एक मत हैं कि 'प्रमाण प्रमा की उत्पत्ति का निमित्त कारण हैं ।' यह होते हुए भी न केवल भिन्न-भिन्न दर्शनों में अपितु एक ही दर्शन के विभिन्न आचार्यों द्वारा दी गई परिभाषाओं में भी पर्याप्त अन्तर है । इस अन्तर के दो कारण हैं, पहला तो यह कि दर्शन के क्षेत्र में सामान्यतया तभी कोई कदम उठाने की सोच सकता है, जबकि जिस बात को वह स्वयं अनुभव करता है, उसका पहले किसी ने उल्लेख न किया हो या गलत अथवा अपूर्ण उल्लेख किया हो और दूसरा यह कि संबद्ध शास्त्र या ग्रन्थ के दुरूह होने के कारण उसके सामयिक सरलीकरण की आवश्यकता हो या उसके संबंध में जो आलोचना की गई हो उसका खण्डन अथवा मण्डन करना अपेक्षित हो । प्रमाण का भारतीय दार्शनिकों ने जो विश्लेषण किया, प्रतीत होता है कि उसमें इन दोनों ही तत्त्वों का प्रमुख हाथ रहा है । प्रमाण मीमांसा के आलोक में देखा जाये तो न्यायभाष्य शास्त्र के सरलीकरण तथा न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका और न्यायमंजरी शास्त्रीय खण्डन-मण्डन की दृष्टि से लिखे गये ग्रन्थ हैं । यही कारण है कि न्याय दर्शन के सन्दर्भ में ही प्रमाण का विवेचन करने के लिये भी अन्य दर्शनों के आचार्यों के मतों का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है ।

बौद्धमत—सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक बौद्धों के अनुसार प्रमाण वह है, जिससे वस्तुओं का सम्यक् ज्ञान होता है । नागार्जुन शून्यवादी थे । प्रमाण की सत्ता में उनका विश्वास नहीं था । बौद्धन्याय के पिता विज्ञानवादी आचार्य दिङ्नाग ने अर्थनिश्चायक स्वसंवित्ति को प्रमाण मानते हुए उसको विषयाकार भी बतलाया है ।[24] धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में प्रमाण के लिए सम्यग्ज्ञान शब्द का भी प्रयोग किया और दो अलग-अलग वाक्यों में प्रमाण के लक्षण बतलाये ।[25] उनके कथन का यह सार है कि अविदित अर्थ को बतलाने वाला सम्यक् तथा अविसंवादक ज्ञान प्रमाण है । यह ज्ञातव्य है कि बौद्ध प्रमा और प्रमाण में अन्तर नहीं मानते । जैनों का भी ऐसा ही दृष्टिकोण है । यद्यपि विषय की नवीनता (अनधिगतार्थ) के सम्बन्ध में बौद्धों और मीमांसकों के दृष्टिकोण में समता है पर बौद्ध धारा-वाहिक ज्ञान को प्रमा नहीं मानते जबकि मीमांसकों के अनुसार वह प्रमा है ।

नैयायिकों ने बौद्धों के मत का खण्डन मुख्यत: इस आधार पर किया है कि प्रमा और प्रमाण भिन्न-भिन्न हैं । बोध प्रमाण का फल है प्रमाण नहीं ।

जैन परम्परा में प्रमाण के लक्षण के सम्बन्ध में पर्याप्त उतार चढ़ाव आये हैं। समन्तभद्र के अनुसार 'स्व' और 'पर' का अवभास कराने वाला ज्ञान प्रमाण है।[26] सिद्धसेन ने इसमें वाधविवर्जितम् को भी जोड़ा।[27] अकलंक ने समन्तभद्र के प्रमाण लक्षण में 'स्व' 'पर' और 'अवभासक' के स्थान पर क्रमश: 'आत्मा' 'अर्थ' और 'ग्राहक' शब्दों का प्रयोग किया है। साथ ही वाधविवर्जितम् को हटाकर व्यवसायात्मक पद रखा। विद्यानन्द ने स्वार्थव्यवसायात्मक सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहा।[28]

माणिक्यनन्दि ने समन्तभद्र द्वारा प्रयुक्त 'स्व' तथा अकलंक द्वारा प्रयुक्त 'व्यवसायात्मक' पद रहने दिये। 'अर्थ' के विशेषण के रूप में 'अपूर्व' पद को जोड़ा और इस प्रकार यह निरूपित किया कि अपने और अपूर्व अर्थ का निश्चय कराने वाला ज्ञान प्रमाण है।[29] आचार्य हेमचन्द्र प्रमाण के लक्षण में 'स्व' और 'अपूर्वपद को अनावश्यक समझते हैं।[30] इस प्रकार जैन परम्परा में स्वपर-व्यवसायात्मक सम्यक् ज्ञान को सभी आचार्यों ने प्रमाण माना है। अकलंक, माणिक्यनन्दि आदि कतिपय आचार्य 'अपूर्व' 'अनधिगत' आदि पदों को जोड़कर नवीन ज्ञान को ही प्रमाण मानने के पक्ष में हैं, जबकि हेमचन्द्र प्रभृति आचार्य गृहीतग्रहण में भी प्रमाणत्व की हानि नहीं समझते। ज्ञातव्य है कि जैनों के दो सम्प्रदायों में से दिगम्बर अगृहीतग्राही को ही प्रमाण मानते हैं जबकि श्वेताम्बर गृहीत ग्राही को भी।

जैनों का प्रमाण लक्षण एक प्रकार से बौद्धों और मीमांसकों के प्रमाण-लक्षणों का ही रूपान्तर है। अतः बौद्धों और मीमांसकों का नैयायिकों ने जिन आधारों पर खण्डन किया है, वे ही जैन मत पर भी लागू होते हैं।

सांख्यसूत्र में यह बताया गया है कि असन्निकृष्ट अर्थ का निश्चय करना प्रमा है। प्रमा चाहे, केवल बुद्धि का धर्म हो, केवल पुरुष का धर्म हो अथवा दोनों का, उसके साधकतम कारण को प्रमाण कहते हैं। इस लक्षण के अनुसार यदि प्रमारूप फल का आश्रय पुरुष माना जायेगा तो बुद्धिवृत्ति प्रमाण होगा क्योंकि पुरुषजन्य प्रमा बुद्धिवृत्ति से ही हो सकती है, अन्य से नहीं। पुरुष को ज्ञान से पृथक् समझते हुये यदि प्रमारूप फल को बुद्धि में ही रहने वाला माना जाये, तो इन्द्रियवृत्ति सन्निकर्ष आदि ही प्रमाण होंगे। पुरुष तो प्रमा का साक्षी है। यदि उसको प्रमाता माना जाएगा तो उसमें कर्तृत्व का आरोप करना होगा। यदि पौरुषेय बोध और बुद्धिवृत्ति दोनों को ही प्रमा माना जाये तो दोनों को ही प्रमाण भी मानना पड़ेगा।

नैयायिकों ने सांख्य के प्रमाण लक्षण का इस आधार का खण्डन किया है कि पुरुष के धर्म बुद्धि में और बुद्धि के पुरुष में नहीं रह सकते ।[31]

भाट्ट मीमांसकों के अनुसार अज्ञात अर्थ का ग्राहक ज्ञान प्रमाण है। कुमारिल और पार्थसारथि मिश्र ने यह भी स्पष्ट रूप से कहा है कि प्रमाण अगृहीतग्राही होने के साथ ही कारणदोष तथा बाधक ज्ञान से रहित भी होना चाहिये ।[32] गुरुमतानुयायी मीमांसक अनुभूति को ही प्रमाण कहते हैं। वेदान्त में भी अगृहीत ग्राहित्व को प्रमाण का मुख्य आधार बताया गया है ।

नैयायिकों ने भाट्टमत का मुख्यतः इस आधार पर खण्डन किया कि इस परिभाषा को मान लेने पर धारावाहिक ज्ञान के दूसरे तीसरे आदि उदाहरणों में प्रमा का लक्षण नहीं घटेगा । जबकि बौद्धों के अतिरिक्त सभी दर्शन धारा-वाहिक ज्ञान को प्रमाण मानते हैं ।

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि नैयायिक यथार्थ अनुभव को प्रमा और यथार्थ स्मृति को अप्रमा कहते हैं और इसका प्रकारान्तर से यही आशय हुआ कि नैयायिक भी किसी-न-किसी रूप में अगृहीत-ग्राहित्व को तो स्वीकार करते ही हैं। इस शंका का उत्तर वाचस्पति मिश्र ने इस प्रकार दिया कि स्मृति को अप्रमा लोकव्यवहार के कारण कहा जाता है, गृहीतग्राहित्व के कारण नहीं ।[33] जयन्त भट्ट का इस संदर्भ में यह कथन हैं कि स्मृति का अप्रामाण्य इसलिये नहीं है कि उससे नवीन विषय का ज्ञान नहीं होता, अपितु इसलिये है कि स्मृति के समय विषय (अर्थ) उपस्थित नहीं रहता ।[34]

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक आचार्य कणाद ने प्रमाण के लिये दोषराहित्य आवश्यक बतलाया है। श्रीधर ने अनध्यवसाय शब्द को भी प्रमाण की परि-भाषा में गिनाया है । शंकर मिश्र ने उपस्कार में यह मत प्रकट किया है कि प्रमाण वह है जो ज्ञान का उत्पादक हो ।

जैसा कि पहले भी कहा गया है, न्यायसूत्र में प्रमाण की परिभाषा नहीं दी गई है और न्यायभाष्य में प्रमाण शब्द का निर्वचनात्मक विश्लेषण किया गया। न्यायवार्तिक में उद्योतकर ने यह बताया है कि उपलब्धि के हेतु को प्रमाण कहते हैं। वैसे न्याय की दृष्टि से प्रमाण की सर्वांगपूर्ण परिभाषा जयन्तभट्ट ने प्रस्तुत की है । जयन्त के अनुसार 'वह सामग्री-साकल्य प्रमाण है, जो अव्यभिचारि तथा असंदिग्ध ज्ञान की जनक हो और जिसमें ज्ञान के बोध और अबोध स्वरूप समग्र

कारणों का समावेश हो गया हो'। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि जब प्रमाता प्रमेय आदि सभी कुछ सामग्री के अन्तर्गत हैं तो तमवर्थ (अतिशय विधान) के लिए सामग्री की तुलना किससे की जायेगी। इसका समाधान जयन्त ने इस प्रकार किया है कि सामग्री में समाविष्ट कोई भी पक्ष अकेला ज्ञानोत्पादक नहीं है अतः तुलना का प्रश्न ही नहीं उठता।[35]

उपर्युक्त विश्लेषण का सार यह है कि बौद्ध अविसंवादि विज्ञान को प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर मीमांसकों के अनुसार अनुभूति ही प्रमाण है। भाट्ट मीमांसकों का विचार है कि अनधिगतार्थ गन्तृता में ही प्रमाणत्व रहता है और जयन्त भट्ट आदि नैयायिकों का कथन है कि सामग्री साकल्य ही प्रमाण है।[36]

5. प्रमाण भेद

प्रमा और प्रमाण के स्वरूप के साथ ही प्रमाण के भेदों के सम्बन्ध में भी भारतीय दार्शनिकों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं। इस संदर्भ में एक ओर तो चार्वाक हैं, जो केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं और दूसरी ओर पौराणिक हैं जिनके मतानुसार प्रमाणों की संख्या आठ है। विभिन्न दर्शनों के अनुसार प्रमाणों की तालिका निम्नलिखित है—

चार्वाक — प्रत्यक्ष

बौद्ध — प्रत्यक्ष, अनुमान[37]

वैशेषिक — ,, ,,

सांख्य — प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द[38]

योग — ,, ,, ,,

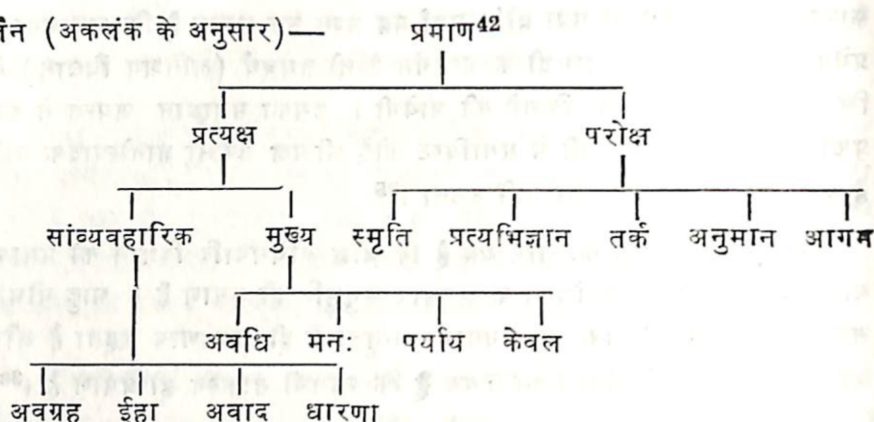
न्याय — ,, ,, ,, उपमान[39]

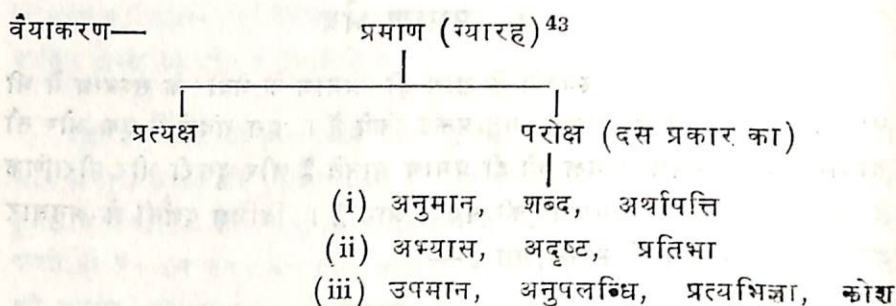
मीमांसा (प्रभाकर) प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति

मीमांसा (भाट्ट) प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि[40]

वेदान्त ,, ,, ,, ,, ,,

पौराणिक[41] प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, ऐतिह्य।





भासर्वज्ञ के अतिरिक्त सभी नैयायिक चार प्रमाणों को मानते हैं। इन चारों प्रमाणों की विस्तार से व्याख्या तथा अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव और ऐतिह्य नैयायिकों की दृष्टि में क्यों प्रमाण नहीं है, इसकी चर्चा अगले अध्यायों में की जायगी। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन ही प्रमाण माने गये हैं और प्रत्यक्ष और शब्द का बहुत संक्षिप्त विवेचन किया गया है। पश्चिमी विद्वानों के मत में अनुमान ही मुख्य प्रमाण है।

जैन परम्परा में अकलंक ने प्रमाणों का जो वर्गीकरण किया, उत्तरकालिक जैनों ने उसको ही आधार मानकर प्रमाणों का विश्लेषण किया।

चार्वाक अनुमान को भी प्रमाण नहीं मानते। उनके मतानुसार प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता क्योंकि प्रत्यक्ष तो निकटवर्ती पदार्थ को ही ग्रहण कर सकता है। वह समस्त पदार्थों को लेकर व्याप्ति का ग्रहण करने में असमर्थ है। अनुमान से व्याप्ति का ग्रहण मानने पर अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। चार्वाकों के इस मत का खण्डन इस आधार पर किया जाता है कि चार्वाक

परलोक, आत्मा, स्वर्ग आदि को नहीं मानते किन्तु इनके अभाव को प्रतिपादित करने के लिए वे वस्तुत: अनुमान की ही तो सहायता लेते हैं।

6. प्रमाण संप्लव

चार्वाक के अतिरिक्त अन्य सभी दर्शनों में प्रमाणों की संख्या एक से अधिक मानी गई है। अत: प्रमाणों के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी उठता है कि प्रत्येक प्रमाण का अपना निश्चित क्षेत्र है या वे अवसरवश एक दूसरे के क्षेत्र में अतिक्रमण भी कर सकते हैं? बौद्धों का यह कथन है कि जिस पदार्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है, उसका ज्ञान अनुमान से नहीं हो सकता। इसी प्रकार जहाँ अनुमान का सहारा लिया जाता है, वहाँ प्रत्यक्ष से काम नहीं चल सकता। इसी सिद्धान्त को वे **प्रमाण-व्यवस्था** के नाम से पुकारते हैं।

नैयायिकों का यह मत है कि विभिन्न पदार्थों का ज्ञान विभिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न प्रमाणों से हो सकता है। इसके अतिरिक्त कई पहलुओं में एक प्रमाण दूसरे प्रमाण का सहायक भी बनता है। उदाहरण के रूप में अनुमान भूयोदर्शन रूप प्रत्यक्ष पर आधारित होता है। व्याप्ति का निश्चय भी प्रत्यक्ष से ही होता है। इसी प्रकार किसी आप्त पुरुष के कथन से हमें यह ज्ञात होता है किसी दूर के स्थान पर आग है, तो हम उस व्यक्ति के वचनों पर विश्वास करके निर्दिष्ट दिशा में आगे बढ़ते हैं और धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान करते हैं। और आगे बढ़ने पर हमें आग का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार अग्नि ज्ञान में हमने शब्द, अनुमान तथा प्रत्यक्ष इन तीनों प्रमाणों का सहारा लिया। ऐसे भी अनेक उदाहरण हो सकते हैं, जहाँ किसी एक प्रमाण का ही अपना निश्चित क्षेत्र रहता है किन्तु अधिकतर प्रमेयों में एक से अधिक प्रमाणों का सांकर्य होता है।[44]

7. प्रमाण मीमांसा का महत्त्व

प्रमाणों के द्वारा अर्थपरीक्षण को न्याय कहा जाता है। प्रमेय, प्रमा और प्रमाण के त्रिभुज में ज्ञान की सारी प्रक्रिया समाहित हो जाती है, अत: न्याय की दृष्टि से प्रमाणों का महत्त्व स्वत: स्पष्ट है।[45] सामान्यतया कई लोग यह कह सकते हैं कि लोकव्यवहार में उन्हें प्रमाण जैसे किसी साधन के स्वरूप के ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती, परन्तु लौकिक जीवन में तो अन्य शास्त्रों के ज्ञान के बिना भी काम चलता ही रहता है। इतना अवश्य है कि शास्त्रों के ज्ञान के बिना भी जो व्यवहार होता है, वह गूंगे के गुड़ के समान स्वयं

गूंगे के द्वारा अवर्णनीय होता है और शास्त्रज्ञान सहित जो कार्य होता है, वह वाकशक्ति सम्पन्न मनुष्य द्वारा उपयोग में लाई जानेवाली वस्तुओं के समान वर्णनीय होता है। मनुष्य एक चेतना सम्पन्न, विवेकयुक्त तथा सामाजिक प्राणी है। ये सब शक्तियाँ यद्यपि उसमें जन्मसिद्ध हैं, किन्तु जिस रूप में इन शक्तियों का विकास हुआ उसमें उसके पूर्वानुभवों के सामान्यीकरण के आधार पर निश्चित किये सिद्धांतों का बहुत बड़ा हाथ है।

जिज्ञासा की प्रवृत्ति भी मनुष्य में जन्मजात है। जिज्ञासा की कई दिशाएँ व उद्देश्य हो सकते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से हम जगत् और जीवन के रहस्यों के बारे में जानकारी प्राप्त करके ऐहिक और आमुष्मिक जीनव को सुखीब नाना चाहते हैं। भौतिक दृष्टि से आम आदमी को ही नहीं अपितु पर्याप्त सुबुद्ध व्यक्तियों को कभी-कभी कई मामलों में भ्रांति हो जाती है। इससे यह प्रश्न स्वाभाविक ही उठ खड़ा होता है कि भ्रम के कारण क्या होते हैं और भ्रम के अभाव यानी ज्ञान के साधन कौन हैं। इस नकारात्मक दृष्टि से देखा जाए तो प्रमाण भ्रम से बचाव के मार्ग भी सिद्ध होते हैं। शंकराचार्य ने तो स्पष्ट ही यह कहा है कि प्रमाण अविद्या की निवृत्ति करते हैं ज्ञान नहीं देते। किन्तु विवेचन के स्तर पर हम भाव और अभाव में से भाव पर अधिक ध्यान देते हैं क्योंकि उसका विश्लेषण प्रायः सुकर होता है। यही कारण है कि प्रमाणमीमांसा पर लगभग सभी भारतीय दर्शनों ने कुछ-न-कुछ चर्चा अवश्य की है। वैसे यह बात भी स्पष्ट ही है कि प्रमाणों का महत्त्व दार्शनिक दृष्टि से ही अधिक है। दर्शनों का विषय प्रमुखतया ज्ञान का विश्लेषण रहा है अतः प्रमाणों को उनमें पर्याप्त स्थान मिलना स्वाभाविक ही था।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य ने वाद-विवाद की पद्धति का भी आविर्भाव व विकास किया और शास्त्रीय प्रश्नों के सुलझाने के लिए प्रमाणों का सहारा लिया। प्राचीन भारत में 'शास्त्रार्थ' एक प्रकार की ऐसी ज्ञानवर्धक प्रतियोगिता थी, जिसमें विभिन्न पदों या पुरस्कारों के लिये विद्वानों का चयन किया जाता था। इन शास्त्रार्थों में वाद-विवाद का विषय चाहे कोई भी हो, किसी-न-किसी अंश में प्रमाणों का सहारा अवश्य लिया जाता रहा है।

प्रमाणों के नाम पर ही उनके द्वारा उत्पन्न ज्ञान का नामकरण किया गया है। प्रमाता और प्रमेय के तद्वत् रहने पर भी यदि प्रमाण में परिवर्तन हो जाता है तो प्रमा का रूप ही परिवर्तित हो जाता है। किसी पदार्थ का ज्ञान अवसर के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान आदि किसी भी प्रमाण से हो सकता है।

प्रमाण के एक रहने और ज्ञेय के परिवर्तित होने पर भी ज्ञान के स्वरूप में परिवर्तन नहीं आता। प्रमाता के रूप 'क' की जगह 'ख' और प्रमेय के रूप में 'अ' के स्थान पर 'ब' होने पर भी प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उत्पन्न ज्ञान का स्वरूप सदा एक सा ही रहेगा।

ज्ञान जब तक प्रमाणित नहीं हो जाता, तब तक उसका कोई मूल्य नहीं है। अतः प्रमाण ज्ञान का साधकतम कारण होने के साथ ही ज्ञान को सत्यता से युक्त भी होना चाहिए। न्यायसूत्र के सोलह पदार्थों में प्रमाण की गणना सर्वप्रथम की गई है। न्याय को बाकी सभी शास्त्रों का प्रदीप भी इसी कारण माना गया है कि उनके विश्लेषण में प्रमाणों की पर्याप्त सहायता ली जाती है। प्रमाण मीमांसा का न्याय में इतना अधिक महत्त्व है कि उदयनाचार्य ने प्रमाण को साक्षात् शिव की तरह माना है और विश्वनाथ पंचानन ने प्रमाण को विष्णु के अर्थ में प्रयुक्त किया है।

यद्यपि न्याय सूत्र में स्वयं गौतम ने भी ऐसे लोगों का उल्लेख किया है जो किसी भी प्रमाण की सत्ता को नहीं मानते, किन्तु ऐसे लोगों द्वारा त्रैकाल्या-सिद्धि के रूप में जो तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं उनका समाधान तो लोकव्यवहार से ही हो जाता है।[16]

—o—

द्वितीय अध्याय के संदर्भ

1. सर्वव्यवहार हेतुर्ज्ञानम्, त० सं०
2. सचेतनश्चिताायोगात् तद्योगेन विना जड़: ।
   नार्थाविभासादन्यद्धि चैतन्यं नाम मन्महे ।।
3. न क्रियाकर्तृसम्बन्धादृते सम्बन्धनं क्वचित्, श्लो० वा० श० 60.
4. स्वत: सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् । नहि स्वतोऽसत्ती शक्ति: कर्तुंमनेन पार्यते, श्लो० वा० 2-47.
5. प्रमाणत्वपरिच्छितौ विसंवदति तत्कथम् ।
   अप्रामाण्यगृहीतो वा तस्मिन् कस्मात्प्रवर्तते ।।
6. समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रति पत्तेरूपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषा-पेक्षो विमर्श: संशय: । न्या० सू० 1.1.23
7. भावनाख्यस्तु संस्कार आतममात्रवृत्तिरनुभवजन्य: स्मृतिहेतु: । स च उद्बुद्ध एवं स्मृतिं जनयति । उद्बोधश्च सहकारिलाभ: । सहकारिणश्च संस्कारस्य सदृशदर्शनादय:, त० भा० ।
8. तर्क: प्रमाणानामनुग्राहक: त० भा०
9. अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्वज्ञानार्थमूहस्तर्क:, न्या० सू०, 1.1.40.
10. तर्कों न प्रमाण संगृहीता न प्रमाणान्तरं प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्त्व-ज्ञानाय कल्पते, न्या० मा० 1.1.1.
11. तर्कोऽनिष्टप्रसंग: । त० भा० ।
12. व्याप्तिस्तर्काप्रतिहतिरवसानं विपर्यये ।
    अनिष्टाननुकूलत्वमिति तर्कागपंचकम् ।।
13. झा, भारतीय दर्शन पृ० 126
14. स्वज्ञानसापेक्षज्ञानविषयत्त्वम् ।
15. स्वज्ञानसापेक्षज्ञानसापेक्षज्ञानविषयत्वम् ।
16. स्वज्ञानसापेक्षज्ञानसापेक्षमानसापेक्षज्ञानविषयत्वम् ।
17. तद्वति तत्प्रकारानुभव:, त० सं०

18. यदर्थविज्ञानं सा प्रमा, न्या० भा०, यथार्थानुभवः प्रमा, त० कौ०
19. अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम् ।
20. अनधिगतार्थगन्तृत्वं च धारावाहिकविज्ञानानामधिगतार्थगोचरणां लोक प्रसिद्ध प्रमाणभावानां प्रामाण्यं विहन्तीति नाद्रियाम्हे। न्या० वा० ता० टी०
21. साधकतमंकरणम् ।
22. व्यापाखदसाधारणं कारणं करणम् ।
23. प्रमाता येन अर्थं प्रमिणोति, तत्प्रमाणम्, न्या० भा० 1. 1. 1.
24. स्वसंवित्तिः फलं चात्रतद्रूपादर्थनिश्चयः।
विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते ।। प्र० सं० 1. 10.
25. अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्, अनधिगतविषयं प्रमाणम् । ना० वि० पृ० 4.
26. स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम् ।
27. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम् न्याय व०, का० 1
28. स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वात् प्र० प० पृ० 5.
29. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्, प० मु०, 1.1.
30. स्वनिर्णयः सन्नपि, अलक्षणम्, अप्रमाणेऽपि भावात्···
गृह्यीष्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रामाण्यम्, प्र० मी० 1. 1.
31. अथ स्वच्छतया पुंसो बुद्धिवृत्यनुपातिनः।
बुद्धेर्वा चेतनाकारसंस्पर्श इव लक्ष्यते ।।
एवं सति स्ववाचैव मिथ्यात्वं कथितं भवेत् ।
चिद्धर्मो हि मृषा बुद्धौ बुद्धिधर्मश्चितौ मृषा ।। न्या० म०, 1. 26.
32. तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ।। श्लो० वा०
एतच्च विशेषणत्रयमुपाददानेन सूत्रकारेण
कारणदोषबाधकज्ञानरहितम्, अगृहीतग्राहि ज्ञानं
प्रमाणम् इति प्रमाणलक्षणं सूचितम् ।। शा० दी०
33. प्रमासाधनं हि प्रमाणम्, न च स्मृतिः प्रमा, लोकाधीनावधारणा हि शब्दार्थसम्बन्धः । लोकश्च संस्कारमात्रजन्मनः स्मृतेरन्वामुपलब्धिं अर्थाव्यभिचारिणीं प्रमाभाचष्टे, तस्मात्तद्हेतुः प्रमाणमिति न स्मृति—हेतौ प्रसंगः । न्या० म० पृ०

34. न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताकृतम् ।
किन्त्वनर्थजन्यत्वं तदप्रामाण्यकारणम् ।

35. कर्तृकर्मविलक्षणा संशयविपर्ययरहितार्थबोधविधायिनी बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम् । न्या० मं०

36. अविसंवादि विज्ञानं प्रमाणमिति सौगताः ।
अनुभूतिः प्रमाणं सा स्मृतेरन्येति केचन ।।
अज्ञातचरतत्त्वार्थनिश्चायकत्त्मथापरे ।
प्रमेय व्याप्तमपरे प्रमाणमिति मन्वते ।।
प्रमानियतसामग्री प्रमाणं केचिदूचिरे ।। ता० र० 5–7.

37. प्रमेयद्वैविध्याद् प्रमाणद्वैविध्यम्,

38. दृष्टमनुमानमाप्तवचनं सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्,
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ।। सां० का० 4.

39. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ।

40. जैमिनेः षट प्रमाणानि चत्वारि न्यायवादिनः ।
सांख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्वैवैशेषिक बौद्धयोः ।।

41. प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतो पुनः ।
अनुमानंच तंचापि सांख्याः शब्दश्च ते उभे ।
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानंच केवलम् ।
अर्थापत्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः ।।
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टवेदान्तिन स्तथा ।
संभवैतिह्य युक्तानि, इति पौराणिका जगुः ।। वेदान्तकारिका ।

42. जैनन्याय, पृ० 113.

43. वा० प०; परमलघुमञ्जूषा

44. प्रायेण प्रमाणानि प्रमेयमभिसंप्लवन्ते, क्वचितु प्रमेये व्यवतिष्ठन्ते अपि। न्या० म० पृ० 33.

45. प्रमाणस्य सकलपदार्थव्यवस्थापकत्वात् मानाधीनामेयसिद्धिः

46. प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः, न्या० सू० 1. 2. 8.

अध्याय 3

प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप

भारतीय दर्शनों में ही नहीं अपितु भारतीय वाङ्मय के सभी भेदोपभेदों में भी प्रत्यक्ष शब्द का अत्यधिक प्रयोग होता आया है। इसके साथ ही '**प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्**' जैसी कहावतों से भी यह स्पष्ट ही है कि न केवल बुद्धिजीवीवर्ग में अपितु आम जनसमाज में भी इस शब्द का पर्याप्त प्रचलन है. अंग्रेजी में 'प्रत्यक्ष' के लिए 'परसेप्सन' शब्द का व्यवहार किया जाता है। भारतीय ज्ञानमीमांसा पर विचार करने वाला शायद ही कोई आचार्य होगा, जिसने प्रत्यक्ष की चर्चा न की हो। न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष का प्रयोग प्रमा और प्रमाण, अर्थात् साधन तथा फल दोनों अर्थों में किया गया है। इस प्रकार के द्विविध अर्थ में अन्य प्रमाणों का प्रचलन नहीं है। उदाहरण के रूप में अनुमान प्रमाण है, किन्तु उससे उत्पन्न ज्ञान को अनुमिति कहते हैं। इसी प्रकार उपमान, उपमिति शब्द और शब्द के रूप में साधन और फल के लिए अलग-अलग शब्दों का व्यवहार पाया जाता है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र के आचार्यों ने प्रत्यक्ष प्रमाण की समस्या पर अधिक ध्यान नहीं दिया। वे प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता के विश्लेषण को संभवत: इसलिए अनावश्यक मानते हैं कि संसार भर में अपनी इन्द्रियों से उपलब्ध ज्ञान को कोई भी व्यक्ति झूठा नहीं मानता। किन्तु भारतीय दार्शनिकों का मत उनसे भिन्न है। भारतीय चिन्तकों ने प्रत्यक्ष प्रमाण पर भी उसी प्रकार विस्तार से विचार किया है, जिस प्रकार पाश्चात्य दार्शनिकों ने अनुमान पर किया है। वैसे भारत में भी कुछ ऐसे चिन्तक हुए हैं, जिन्होंने प्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं माना और दूसरे शब्दों में कहा जाए तो प्रमाण नाम के किसी साधन का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया। स्वयं गौतम ने न्यायसूत्र में ऐसे लोगों के मत की सांकेतिक चर्चा की है जो प्रत्यक्षसमेत किसी प्रमाण के अस्तित्व को मानने को तैयार नहीं हैं।[1] जयराशिभट्ट (700 ई०) ने भी यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया कि प्रमाणों की सत्ता मानना व्यर्थ है।

केशव मिश्र प्रभृति कुछ नैय्यायिक प्रत्यक्ष से उत्पन्न ज्ञान के लिये 'साक्षात्कार' शब्द को उपयुक्त समझते हैं। यद्यपि वे साक्षाप्कार के कारण को

भी प्रत्यक्ष ही कहते हैं । उनके मतानुसार प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग केवल प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए किया जाना चाहिये ।[2]

प्रत्यक्ष की परिभाषा के सम्बन्ध में विभिन्न दर्शनों के आचार्यों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। यहाँ तक कि न्यायशास्त्र की अपनी परम्परा में भी आचार्यों का पूर्ण ऐकमत्य नहीं रहा । प्रत्यक्ष की परिभाषा का मूल आधार तो गौतमीय सूत्र ही रहा, परन्तु उसमें प्रयुक्त शब्दों की उपयोगिता और व्याख्या के बारे में उत्तरवर्ती नैयायिकों ने विभिन्न विचार प्रकट किये हैं । नव्यन्याय के आचार्यों ने तो गौतम की सारी ही परिभाषा को असंगत मानकर प्रत्यक्ष को नये ढंग से परिभाषित किया है। नैयायिकों द्वारा प्रत्यक्ष का जो विवेचन किया गया है वह अन्य समस्याओं के समान अन्य दर्शनों के खण्डन-मण्डन पर भी आधारित है, अत: न्याय की दृष्टि से प्रत्यक्ष की परिभाषा पर विचार करने से पहले इस सम्बन्ध में अन्य दार्शनिकों के मतों का निरूपण भी आवश्यक है ।

प्रत्यक्ष शब्द के दो खण्ड हैं—प्रति और अक्ष । प्रशस्तपाद के अनुसार प्रति का अर्थ है समीप या सामने और अक्ष का अर्थ है आँख । अत: प्रत्यक्ष का शाब्दिक अर्थ हुआ—आँखों के पास या सामने । इस प्रकार अपने विषय में संलग्न अथवा विषय के प्रति क्रियाशील होने से जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह प्रत्यक्ष है ।[3] आँख (जो यहाँ पर अन्य ज्ञानेन्द्रियों, नाक, कान आदि की भी प्रतीक है) के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान है । उद्योतकर के अनुसार प्रत्यक्ष का आशय है—'इद्रियों से सम्बन्धित' जबकि प्रशस्तपाद के विचार में इसका अर्थ है इन्द्रियों पर आधारित ।

इस सम्बन्ध में जयन्त भट्ट का मत विशेष रूप से उल्लेखनीय है । उनके विचार में प्रत्यक्ष शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'अक्षम् प्रति' ग्रहण करने पर जो भी इन्द्रियों पर निर्भर होगा, उसे प्रत्यक्ष मानना होगा और इस प्रकार सुख भी साधारण प्रत्यक्ष की सीमा में आ जाएगा । इसकी अपेक्षा यदि इस शब्द का परम्परा से प्रचलित अर्थ स्वीकार कर लिया जाये तो इसका आशय होगा. वह ज्ञान, जो इन्द्रियों से उद्भूत होता है, न कि केवल वे वस्तुएँ, जो इन्द्रियों से सम्बद्ध हैं । जयन्त का यह भी कथन है कि प्रत्यक्ष शब्द अव्ययीभाव समास का उदाहरण नहीं है, क्योंकि इसका प्रयोग नपुंसक लिंग के अतिरिक्त पुंल्लिग और स्त्रीलिंग में भी होता है ।[4]

प्रत्यक्ष शब्द की उपर्युक्त सभी व्युत्पत्तियों का आकलन करते हुए यह समुचित ही कहा जाता है कि प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग प्रत्यक्ष प्रमा, प्रत्यक्ष प्रमा-

करण, और प्रत्यक्ष प्रमा के विषय के रूप में होता है। ये प्रयोग प्रत्यक्ष शब्द की विभिन्न व्युत्पत्तियों पर आधारित हैं। **'प्रति:विषयं प्रति; गतम् अक्षम्इन्द्रियं यस्मै प्रयोजनाय तत् प्रत्यक्षम्'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ है—इन्द्रियजन्यज्ञान। इसी ज्ञानात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन्द्रिय विषय के प्रति गमन करती है। **'प्रतिगतम्-विषयं प्रतिगतम्; अर्थात् विषय-सन्निकृष्टम् अक्षं प्रत्यक्षम्'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्यक्ष शब्द प्रत्यक्ष प्रमा के करण का बोधक है, क्योंकि विषय-सन्निकृष्ट इन्द्रिय को ही मुख्यरूप से प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है। **'प्रतियं विषयं प्रति, गतम् अक्षं स प्रत्यक्ष.'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्यक्ष शब्द प्रत्यक्ष प्रमा के विषयभूत अर्थ का बोधक होता है। क्योंकि जिस विषय के प्रति इन्द्रिय का गमन होता है अर्थात् जो अर्थ इन्द्रिय सन्निकृष्ट होता है, वही प्रत्यक्ष प्रमा का विषय होता है।[5]

2. प्रत्यक्ष की परिभाषा

(क) बौद्धमत—बौद्धलोग कल्पनारहित और निभ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। कल्पना रहित को ही प्रत्यक्ष कहने का कारण यह है कि कल्पना के लिए अर्थ की उपस्थिति अपेक्षित नहीं है, इसका सीधा सा आशय यही है कि प्रत्यक्ष पदार्थ के सानिध्य में ही हो सकता है। बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार किसी वस्तु की स्वलक्षणात्मक परिभाषा सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रत्येक धारणा अपने प्रतिरूप के साथ सम्बद्ध होती है। जैसे नील और नीलेतर। यदि नील के सम्बन्ध में कुछ कहना अपेक्षित हो तो व्यावृत्ति के नियम का प्रयोग करते हुये यह कहा जा सकता है कि 'नील' वह है जो 'नीलेतर' नहीं है। यही सिद्धान्त बौद्धदर्शन में 'अपोहवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्यक्ष की परिभाषा भी बौद्धों के इस सिद्धान्त से प्रभावित है। यों तो सभी बौद्ध दार्शनिकों ने व्यावृत्ति के नियम से ही प्रत्यक्ष का विवेचन किया है, किन्तु इस पर भी वे स्पष्टत: दो वर्गों में बँटे हुए प्रतीत होते हैं। एक वर्ग प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अभ्रान्त' शब्द का प्रयोग नहीं करता, जबकि दूसरा वर्ग उसका समावेश आवश्यक मानता है। पहले वर्ग के प्रवर्तक आचार्य हैं दिङ्नाग, और दूसरे के धर्मकीर्ति। शान्तरक्षित और कमलशील ने दोनों मतों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया किन्तु उनका झुकाव भी धर्मकीर्ति की ओर अधिक लगता है। न्यायशास्त्र के आचार्यों में से उद्योतकर ने बौद्धमत का खण्डन दिङ्नाग की परिभाषा के आधार पर किया और वाचस्पति मिश्र तथा जयन्तभट्ट ने धर्मकीर्ति की परिभाषा के आधार पर।

दिङ्नाग के अनुसार प्रमाण दो ही होते हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। और प्रत्यक्ष वह धारणा है जो कल्पना, नाम, जाति आदि से संपृक्त न हो।[6] धर्मकीर्ति, उपर्युक्त परिभाषा में अभ्रान्त शब्द को भी जोड़ते हैं। इस प्रकार धर्मकीर्ति के विचार में प्रत्यक्ष वह ज्ञान है, जो निभ्रान्ति हो तथा जिसमें नाम, जाति आदि की कल्पना का समावेश न हुआ हो। धर्मोत्तर संभवतः इस बात के प्रति सचेत थे कि 'कल्पनापोढ़' शब्द में ही 'अभ्रान्त' शब्द के अर्थ का भी समावेश हो सकता है, किन्तु वे धर्मकीर्ति के इस मत का समर्थन करते हैं कि गाड़ी आदि से यात्रा करते हुए लोगों को मार्ग के दोनों ओर पीछे छूटते हुए पेड़ों आदि के चलने या दौड़ने का जो भ्रम होता है, उसका परिहार 'अभ्रान्त' शब्द के प्रयोग के बिना नहीं हो सकता। वैसे वे दिङ्नाग के इस मत को भी उचित समझते हैं कि आनुभविक भ्रमों के सम्बन्ध में कल्पनापोढ़ शब्द ही पर्याप्त है।

धर्मोत्तर के अनुसार धर्मकीर्ति 'अभ्रान्त' शब्द द्वारा इस बात का संकेत करना चाहते थे कि प्रत्यक्ष से हमें स्वलक्षण वस्तु का ज्ञान होता है।[7] असंग के अनुसार अभ्रान्त ज्ञान वह है जो (1) संज्ञा भ्रान्ति, (2) संख्या भ्रान्ति (3) संस्थान भ्रान्ति (4) वर्णभ्रान्ति, तथा (5) कर्म भ्रान्ति से मुक्त हो।

इन भ्रान्तियों में चित्त का जो आग्रह है, वह चित्तभ्रान्ति है तथा उन भ्रमपूर्ण विषयों में जो आसक्ति है वह दृष्टि भ्रान्ति है। इन भ्रान्तियों से विरहित तथा नाम, जाति आदि की योजना से नितान्त अस्पृष्ट जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

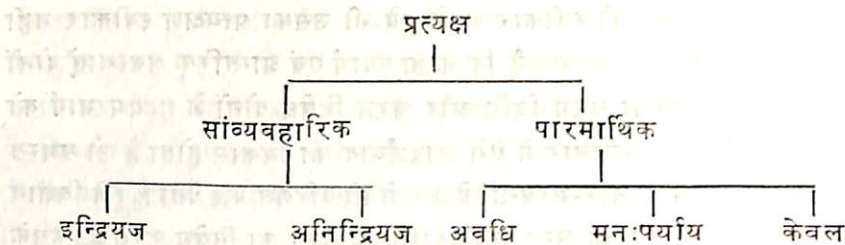
धर्मोत्तर ने प्रत्यक्ष के विषय में यह भी कहा कि जिस प्रकार 'गौ' शब्द गम् धातु से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ 'गमन' है, पर व्यावहारिक दृष्टि से यह विशेष प्रकार के पशु का बोधक है, इसी प्रकार प्रत्यक्ष से अभिप्राय है **'प्रतिगतमाश्रितमक्षम्'**, पर व्यावहारिक दृष्टि से इसका आशय है साक्षात्कार, (**ततश्च यत्किंचिदर्थस्य साक्षात्कारिज्ञानं, तत्प्रत्यक्षमुच्यते**)। धर्मोत्तर का मत है कि धर्मकीर्ति व दिङ्नाग द्वारा दी परिभाषाएँ कुछ विशेषताओं (अकल्पनात्मक, अभ्रमात्मक) की बोधक है। अतः उनके मत में प्रत्यक्ष का आशय है—अर्थसाक्षात्कारित्व (**अर्थसाक्षात्कारित्वम् अर्थेषु साक्षात्कारिज्ञानम्**) शेरबात्सिकी ने भी इस मत का अनुमोदन किया है। परन्तु विनीतदेव व कमलशील के मत में दिङ्नाग व धर्मकीर्ति की परिभाषाएँ भी प्रत्यक्ष के स्वरूप की बोधक हैं, न कि विशेषताओं की। विनीतदेव का मत है कि जो कुछ अकल्पनात्मक व अभ्रमात्मक है, वह प्रत्यक्ष है। बौद्ध परिभाषा का निष्कर्ष संक्षेप में यह है कि प्रत्यक्ष एक ऐसा विज्ञान है जिसके

बाद विकल्प आता है, क्योंकि विकल्प किसी विशेष संदर्भ में कल्पनाचित्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। यह भी ज्ञातव्य है कि बौद्धों के चार संप्रदायों में से वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक यथार्थवादी हैं, तथा योगाचार और माध्यमिक आदर्शवादी हैं। वैभाषिकों की ऐसी मान्यता है कि समस्त संसार प्रत्यक्ष ज्ञान का क्षेत्र है। बिना प्रत्यक्ष के अनुमान नहीं हो सकता क्योंकि यदि प्रत्यक्ष ज्ञान से उचित सामग्री उपलब्ध न हो तो हम व्याप्ति का बोध भी नहीं कर सकते। सौत्रान्तिक बाह्य संसार की सत्ता को स्वीकार करते हुये भी उसका प्रत्यक्षण स्वीकार नहीं करते। माध्यमिकों का यह मत है कि बाह्य पदार्थ एवं आन्तरिक अवस्थाएँ दोनों ही शून्य हैं। यह शाखा चरम विधि और चरम निषेध दोनों के मध्यम मार्ग को स्वीकार करती है। योगाचार में ऐसे आदर्शवाद का विकास होता है जो समस्त यथार्थता को केवल विचार-सम्बन्धों के रूप में ही परिणत कर देता है। वे विज्ञान अथवा चेतना के अतिरिक्त अन्य सब पदार्थों की सत्ता का निषेध करते हैं। इसके अतिरिक्त बौद्ध दार्शनिकों ने नैयायिकों द्वारा दी गई प्रत्यक्ष की परिभाषा में मुख्य रूप से यह दोष बताया है कि वास्तविक प्रत्यक्ष निर्विकल्पकावस्था में ही हो सकता है। प्रत्यक्ष का अपना विषय, कारण और व्यापार होता है। सभी ज्ञानों का यह सामान्य स्वभाव है कि उनका कारण ही उनका विषय भी होता है। प्रत्यक्ष का व्यापार है—अपने विषय का आभास करना। जहाँ तक आभासित वस्तु के नाम रूप आदि का प्रश्न है, वह प्रत्यक्ष की परिधि से बाहर की बात है।

बौद्धों के उपर्युक्त मत का नैयायिकों ने दृढ़ता से खन्डन किया है। बौद्ध प्रत्यक्ष को नाम जाति आदि से रहित मानते हैं और साथ ही 'कल्पनापोढ' शब्द के द्वारा उसका उल्लेख भी करते हैं। नैयायिकों के अनुसार यह स्वतोव्याघात है। इसके अतिरिक्त यदि कल्पनापोढत्व को ही प्रत्यक्ष माना जाय तो 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' का बहिष्कार हो जायेगा। अतः नैयायिकों के मत में बौद्धों द्वारा दी गई प्रत्यक्ष की परिभाषा मान्य नहीं है।

(ख) जैनमत—जैन नैयायिकों ने विशद (निर्मलता या स्वच्छतापूर्वक भासित होने वाले) ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। अकलंक से पहले की जैन परम्परा में प्रमाणों की परिभाषा, संख्या, उपभेद व नामों के सम्बन्ध में पर्याप्त विभिन्नता पाई जाती है। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि अन्य दार्शनिक इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं, किन्तु इन्द्रियां अनात्म होने से परद्रव्य हैं। अतः इन्द्रियों के द्वारा उपलब्ध वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है?[8] किन्तु अकलंक के बाद दोनों ही जैन सम्प्रदायों के आचार्यों ने अकलंक के वर्गीकरण को स्वीकार किया।

अकलंक ने दो प्रकार के प्रमाण माने हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष, प्रत्यक्ष के दो भेद बताये हैं—सांव्यवहारिक और मुख्य। सांव्यवहारिक के चार उपभेद बताये हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा तथा मुख्य के तीन उपभेद किये हैं—अवधि, मनःपर्याय और केवल। यशोविजय गणि (18वीं शती) ने इसमें कुछ परिवर्तन कर प्रत्यक्ष के भेदोपभेदों के नाम इस प्रकार बताये हैं—



उन्होंने जैन तर्कभाषा में यह भी बताया है कि अक्ष यानी इन्द्रिय पर कार्यत्व के लिये निर्भर प्रमाण को प्रत्यक्ष कहते हैं। यशोविजय गणि के अनुसार लोक में प्रवृत्ति और निवृत्ति के बाधारहित समुचित व्यवहार को संव्यवहार कहते हैं। अतः उसका प्रयोजक जो प्रत्यक्ष है, वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है। इन्द्रियों पर आधारित प्रत्यक्ष इन्द्रियज है और मन पर आधारित अनिन्द्रियज। जो केवल आत्मा का ही विषय हो, वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाता है।

प्रत्यक्ष के भेदों की पृष्ठभूमि में विद्यमान संकलपनाओं के वैभिन्न्य के कारण प्रत्यक्ष की परिभाषाओं के तीन रूप प्रचलित हुये—(1) विशद ज्ञान के अर्थ में, (2) आत्मा के अर्थ में और (3) परापेक्षा रहित के अर्थ में।

विशद ज्ञान (पारमार्थिक) के अर्थ में—प्रत्यक्ष एक स्पष्ट, सविकल्प तथा व्यभिचाररहित ज्ञान है, जो सामान्यरूप द्रव्य और विशेषरूप पर्याय तथा अपने स्वरूप का भी बोध कराता है।[9]

आत्मा के अर्थ में :—जो ज्ञान केवल आत्मा से होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।[10] अक्ष, ज्ञा और व्याप् धातुएँ एकार्थवाची हैं। इसलिये अक्ष का अर्थ है आत्मा।[11] अर्थात् मन, इन्द्रिय, परोपदेश, आदि परद्रव्यों की अपेक्षा रखे बिना एकमात्र आत्मस्वभाव को ही कारण रूप से ग्रहण करके सर्व द्रव्य पर्यायों के समूह में एक समय ही व्याप्त होकर प्रवर्तमान जो ज्ञान केवल आत्मा के द्वारा ही उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

परापेक्षारहित के अर्थ में—इन्द्रिय और मन की अपेक्षा के बिना व्यभिचार-रहित जो साकारग्रहण होता है, उसे ही प्रत्यक्ष कहते हैं।[12]

जैनों का सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष वैदिक नैयायिकों द्वारा निरूपित प्रत्यक्ष से मिलता-जुलता है, पर पारमार्थिक प्रत्यक्ष तो एक प्रकार का योगिज्ञान है।

(ग) वैशेषिक मत—प्रशस्तपाद ने प्रत्यक्ष शब्द की जो व्युत्पत्ति दी है, उसके अनुसार प्रत्यक्ष शब्द ज्ञानसामान्य का वाचक है। चाहे वह यथार्थ (प्रमा) हो चाहे अयथार्थ (अप्रमा)।[13] प्रशस्तपाद के अनुसार प्रत्यक्ष उस ज्ञान को कहते हैं, जिसमें वस्तु का सामान्य और विशेष के आगमन से रहित आलोचन मात्र होता है।[14] एक वैकल्पिक परिभाषा यह भी दी गई है कि आत्मा, मन, इन्द्रिय और वस्तुओं के सन्निकर्ष से उत्पन्न निर्दोष तथा शब्द द्वारा अकथनीय ज्ञान प्रत्यक्ष है।[15]

प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अव्यपदेश्य' पद के सन्निवेश के सम्बन्ध में प्रशस्तपाद का यह कथन है कि सन्निहित पदार्थ में चक्षुरिन्द्रिय के व्यापार के पश्चात्, 'गौ है'—ऐसा शब्द सुनकर गौ का जो ज्ञान होता है, उसमें इन्द्रिय (श्रोत्र) भी कारण है, किन्तु वह प्रत्यक्ष नहीं, क्योंकि उस ज्ञान में शब्द ही अतिशय साधक है, इन्द्रिय तो केवल सहायक मात्र है। अतः प्रत्यक्ष के क्षेत्र से ऐसे ज्ञान की व्यावृत्ति के लिए लक्षण में अव्यपदेश्य पद का सन्निवेश किया गया है।

(घ) सांख्य मत—सांख्यशास्त्र में प्रत्यक्ष की परिभाषा के सम्बन्ध में तीन विभिन्न परम्पराएँ मिलती हैं। पहली परम्परा के प्रवर्तक संभवतः स्वयं कपिल थे। दूसरी परम्परा विन्ध्यवासिन या वार्षगण्य ने आरम्भ की थी और तीसरी परम्परा के उद्‌भावक थे ईश्वरकृष्ण। सांख्यसूत्र में दी गई परिभाषा पर या तो विद्वानों का ध्यान ही नहीं गया अथवा उसको अस्पष्ट समझकर छोड़ दिया गया। विन्ध्यवासिन द्वारा दी गई परिभाषा का आचार्य दिङ्नाग, अकलंक, उद्योतकर वाचस्पति मिश्र तथा जयन्त ने खण्डन किया। ईश्वरकृष्ण जैसे अत्यन्त प्राचीन आचार्य की परिभाषा पर नैयायिकों में से केवल जयन्त भट्ट ने विचार किया और उसका खण्डन किया। जयन्त के बाद आचार्य हेमचन्द्र ने ईश्वरकृष्ण की परिभाषा की आलोचना की, पर उन्होंने लगभग वे ही बातें कहीं जो जयन्त भट्ट पहले ही कह चुके थे। वाचस्पति मिश्र ने भी इस पर थोड़ी-सी चर्चा की है, पर इन्होंने ईश्वरकृष्ण के मत का अर्थ स्पष्ट करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया।

सांख्यसूत्रकार ने प्रत्यक्ष की परिभाषा इस प्रकार दी है—**'यत् सम्बन्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्'** अर्थात् प्रत्यक्ष वह प्रमाण है, जो वस्तुओं के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर उनके आकार का ज्ञान कराता है।

विन्ध्यवासिन (रुद्रिल) ने **'श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका'** के रूप में प्रत्यक्ष की परिभाषा दी है। उनसे पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने **'श्रोत्रादिवृतिः प्रत्यक्षम्'** के रूप में प्रत्यक्ष को परिभाषित किया था। विन्ध्यवासिन ने 'अविकल्पिका' पद को जोड़कर उसमें सुधार करने का प्रयत्न किया। सुखलाल जी संघवी का विचार है कि वाचस्पति मिश्र ने वर्षगण्य की जिस परिभाषा का खण्डन किया, वह वस्तुतः विन्ध्यवासिन की ही थी।[16] किन्तु डा० सिंघवी ने अपने मत की पुष्टि के लिए कोई विशेष प्रमाण नहीं दिया।

विन्ध्यवासिन ईश्वरकृष्ण का ही नाम था, ऐसा कथन एक कल्पनामात्र ही प्रतीत होता है। 'अविकल्पिका' शब्द पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्धों द्वारा दी गई परिभाषा में प्रयुक्त 'कल्पनापोढ' से यह मिलता-जुलता है। न्यायमंजरीकार ने इस बात को स्पष्ट रूप से लिखा भी है।[17] गुणरत्न ने विन्ध्यवासिन् की परिभाषा की व्याख्या करते हुये कहा कि—ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के सम्पर्क में आने पर वस्तुओं का आकार ग्रहण कर लेती हैं।[18] ईश्वरकृष्ण के अनुसार विषय के साथ इन्द्रियों का सम्पर्क होने पर उत्पन्न ज्ञान (अध्यवसाय) प्रत्यक्ष है। वाचस्पति मिश्र ने ईश्वरकृष्ण के मत का विश्लेषण करते हुये कहा कि वस्तुओं के साथ इन्द्रियों के सम्पर्क के माध्यम से मन द्वारा वस्तुओं का ग्रहण करना सविकल्पक प्रत्यक्ष है। इस प्रक्रिया में बुद्धि, अहंकार मन और इन्द्रियाँ सब मिलकर प्रत्यक्ष के उपकरण का काम करते हैं। जब कोई वस्तु, इन्द्रियों को अपनी ओर आकृष्ट करती है, तो मन, इन्द्रिय संस्कारों को संकल्पनाओं में परिणित करता है। तत्पश्चात् अहंकार उस संकल्पना को बुद्धि तक पहुँचाता है। इस प्रकार सांख्य मत में इन्द्रियों के माध्यम से बुद्धि का संस्कार (न कि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष) प्रत्यक्ष का कारण है। युक्तिदीपिकाकार का कथन है कि ईश्वरकृष्ण द्वारा प्रयुक्त 'विषय' शब्द में वस्तुओं (स्थूल तथा यौगिक के मामले में सूक्ष्म) तथा अध्यवसाय शब्द के अन्तर्गत बुद्धिव्यापार और वस्तु निश्चय का उल्लेख किया गया है। प्रत्यक्ष की परिधि से सुख-दुःख आदि का निराकरण करने के लिए युक्तिदीपिकार ने एक अनोखा तरीका ढूंढा। उन्होंने कहा कि **'प्रतिविषयाध्यवसाय'** शब्द में एकशेष समास है—**'प्रतिविषयाध्यवसायश्च प्रतिविषयाध्यवसायश्च प्रतिविषयाध्यवसायः'**। प्रथम पद विषयों के सम्पर्क में आने वाली इन्द्रियों का बोधक है, दूसरा पद बुद्धि के व्यापार का संकेतक है; पहले पद

में प्रति का सम्बन्ध 'विषय' से और दूसरे पद में 'अध्यवसाय' से है। संक्षेप में सांख्य दर्शन के अनुसार केवल यथार्थ ज्ञान ही प्रत्यक्ष हो सकता है अयथार्थ नहीं। अत: प्रत्यक्ष की परिभाषा में अध्यवसाय शब्द का प्रयोग अपेक्षित है।

जयन्त भट्ट ने इस मत का खण्डन किया है। उनका कथन है कि इस परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष है, क्योंकि विषयाध्यवसाय तथा आभिमुख्य तो अनुमान आदि में ही होता है। सांख्यवादी यह कह सकते हैं कि प्रत्यक्षण में सामान्य अध्यवसाय तथा अनुमान में लिंग से एवं शब्द प्रमाण में शब्द से विशिष्ट अध्यवसाय होता है, किन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इस तरह तो प्रत्यक्ष का लक्षण देने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अध्यवसाय' पद के ग्रहण द्वारा संशय का वहिष्कार किया गया है क्योंकि जहाँ संशय अनेककोटिक ज्ञान होने के कारण अनिश्चित होता है वहाँ अध्यवसाय तो निश्चय का ही समानार्थक है। 'विषय' पद के ग्रहण से असत्य विषयवाले मिथ्या ज्ञान का बहिष्कार किया है और 'प्रति' पद के ग्रहण से इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष सूचित करके अनुमान, स्मृति इत्यादि का बहिष्कार किया गया है।

वाचस्पति मिश्र ने सांख्य तत्त्वकौमुदी में ईश्वरकृष्ण के मत की व्याख्या बड़े विस्तृत रूप से करते हुये कहा कि जैसे सरोवर का जल प्रवाहशील रहने पर भी, उसके निकलने के मार्ग में यदि कोई प्रतिबन्धक उपस्थित रहे तो वह खेत तक नहीं पहुँच पाता, न तदाकार ही हो पाता है, किन्तु प्रतिबन्धक के हटते ही रास्ता पाकर बाहर निकल पड़ता है, वैसे ही बुद्धिसत्व समस्त विषयों के प्रकाशन करने में स्वाभाविकरूप से समर्थ रहने पर भी प्रतिबन्धक रूप 'तम' की विद्यमानता में अपना कार्य नहीं कर पाता, किन्तु जब चक्षु आदि इन्द्रिय सन्निकर्ष के द्वारा प्रतिबन्धक रूप 'तम' का निरास हो जाता है, तब घटादि विषयों तक पहुँचने में स्वयं असमर्थ रहने पर भी इन्द्रियात्मक नालिकाओं के रास्ते घटादि विषयों तक पहुँच कर तत्तद् विषयों के आकार में परिणत हो जाता है। बुद्धिसत्व के इस विषयाकार परिणाम को ही अध्यवसाय, वृत्ति ज्ञान आदि शब्दों से व्यक्त किया जाता है।

'सांख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा' नाम ग्रन्थ में सुप्रसिद्ध सांख्यतत्त्ववेत्ता प्रो० आद्याप्रसाद मिश्र, वाचस्पति आदि के मन्तव्यों का सुन्दर स्पष्टीकरण करते हुये कहते हैं कि 'सन्निहित विषयों वाली इन्द्रियों का (उन विषयों के साथ) सन्निकर्ष होने पर बुद्धिगत तमोगुण के अभिभूत या न्यून होने के साथ-साथ सत्त्व गुण की

जो प्रबलता या अधिकता होती है, उसी को अध्यवसाय वृत्ति का ज्ञान कहते हैं। यही वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसी (विषयाकार रूप में परिणत) प्रमाणभूत बुद्धि-तत्त्व के द्वारा स्वप्रतिबिम्बित चेतन पुरुष पर होनेवाला (स्वगृहीत विषयों का समर्पण रूप) अनुग्रह प्रत्यक्ष प्रमाण का फल प्रत्यक्ष प्रमा या (पुरुषगत) ज्ञान कहलाता है।' प्रो० मिश्र ने यह भी ठीक कहा है कि जैसे न्याय में इन्द्रिय इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष या निर्विकल्पक ज्ञान—ये त्रिविध प्रत्यक्ष प्रमाण हैं और इनके फल क्रमशः निर्विकल्पक ज्ञान सविकल्पक ज्ञान तथा हानोपादान-बुद्धि रूप से त्रिविध होते हैं जिससे प्रत्यक्ष या साक्षात्कारिणी प्रमा त्रिविध कही जाती है, वैसा सांख्यशास्त्र में नहीं है। इन्द्रिय सन्निकर्ष रूप सहकारी के कारण उत्पन्न 'यह घट है' ऐसा विषयाकार बुद्धि-परिणाम या बुद्धिनिष्ठ ज्ञान ही एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण है। एवं उसके पीछे उत्पन्न हुआ 'मैं घट को जानता हूँ या घट-ज्ञान-युक्त हूँ'—ऐसा पुरुषनिष्ठ ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमा (प्रत्यक्ष प्रमाण का फल) है। न्याय में इसे अनुव्यवसाय कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि सांख्य के अनुसार प्रमाण बोधरूप या ज्ञानरूप है और यह ज्ञान विषयाकार परिणाम के स्वरूप का होने के कारण एकमात्र बुद्धि का ही धर्म है इन्द्रिय इत्यादि का नहीं। इस संदर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि सांख्याचार्यों ने जिस सन्निकर्ष की चर्चा की है, वह नैयायिकों का सन्निकर्ष (संयोग आदि) नहीं अपितु बुद्धि के विषयाकार में परिणत होने में इन्द्रियों का जो साहाय्य विशेष आवश्यक है, वही सन्निकर्ष है। छिद्रों से युक्त घट में स्थित दीप के प्रमाश को बाहर निकलकर फैलने तथा उपस्थित पदार्थों को प्रकाशित करने में छिद्रों द्वारा जैसी सहायता दीपक को दी जाती है, वैसी ही सहायता इन्द्रियाँ बुद्धि को देती हैं।[19]

'नारायण तीर्थ ने अपनी सांख्यचन्द्रिका में 'प्रतिविषयाध्यवसाय' इस समस्त पद का अर्थ 'इन्द्रिय' किया है। **'प्रतिविषयों नियतविषयोध्यवसीयते' निश्चीयतेऽनेनेति प्रतिविषयाध्यवसाय इन्द्रियम् चक्षुरादीनां रूपादिविषकत्वनियमान्नियत-विषयकत्वम्।'** चन्द्रिकाकार की इन पंक्तियों से तो ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें इन्द्रियों का ही करणत्व अभिप्रेत है।' किन्तु गौड़पाद ने इस पद का जो अर्थ किया है **(प्रतिविषयेषु श्रोशादीनां शब्दाविषयेषु अध्यवसायो दृष्टम् प्रत्यक्ष-मित्यर्थः)** वह वाचस्पति मिश्र के अर्थ के सदृश ही है क्योंकि दोनों के अनुसार इन्द्रियकृत अध्यवसाय या ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, न कि इन्द्रियाँ।[20]

सांख्य में जिस संयोग की बात कही गई है, वह दो स्थूल वस्तुओं के संयोग सा नहीं है। इसी संयोग में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसकी छाया पड़ती है। इस छायापत्ति का अर्थ है–तादात्म्य प्राप्ति; अर्थात् चिति और चित्त का अभेद-

ग्रहण। इस प्रकार वस्तुतः प्रामाण्य फल बुद्धिनिष्ठ ही होता है, पुरुषनिष्ठ नहीं, क्योंकि वह असंग होने के कारण प्रमा का आधार हो ही नहीं सकता। वस्तुतः होता यह है कि इन्द्रियसन्निकर्ष द्वारा अर्थ ग्रहण करते समय जब चित्त तदाकार हो जाता है, तब उसमें प्रतिबिम्बित या सङ्क्रान्त हुआ चेतन पुरुष मोहवश उसके साथ अपना ऐक्य या तादात्म्य समझता हुआ स्वय भी अर्थग्रहण करता हुआ सा प्रतीत होता है। इस प्रकार केवल मोह या अविवेक से चित्त और चित्त पुरुष और बुद्धि के अभेद ग्रहण के कारण प्रमा या अर्थ बोध का पुरुष में उपचार होता है। यही बात योगसूत्र में भी कही गई है।[21]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सांख्यों के अनुसार प्रत्यक्ष के विषय बाह्य और आभ्यन्तर दोनों हैं, पृथिव्यादि स्थूल पदार्थ और सुखादि सूक्ष्म पदार्थ। बाह्य प्रत्यक्ष के लिए अन्तःकरण और बाह्येन्द्रिय का संयोग चाहिये, जबकि अन्तः-प्रत्यक्ष के लिये अन्तरिन्द्रिय का। **बुद्धि, अहंकार व मन का सम्मिलित रूप अन्तः करण है।** इसी (विषयाकार रूप में परिणत) प्रमाणभूत बुद्धितत्त्व के द्वारा स्वप्रतिबिम्बित चेतन पुरुष पर होने वाला (स्वगृहीत विषयों का समर्पण रूप) अनुग्रह प्रत्यक्ष प्रमाण का फल, प्रत्यक्ष प्रमा या ज्ञान (पुरुषगत) कहलाता है।

(ङ) **योगमत**—योगदर्शन में प्रमाणों के विषय में विशेष कुछ नहीं कहा गया है। वैसे सांख्य के समान इस दर्शन के अनुसार भी प्रमाण तीन ही माने जाते हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम। हाँ, आचार्य विज्ञानभिक्षु ने प्रमाण का स्वरूप निश्चित करने की चेष्टा की है। क्योंकि उनके मतानुसार प्रमेयों का शुद्ध स्वरूप प्रमाणों से ही जाना जा सकता है। इस क्षेत्र में भी सांखय और योग दर्शन परस्परक पूरक कहे जा सकते हैं। वाचस्पति मिश्र के मतानुसार, जैसाकि पहले भी कहा जा चुका है, बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्बित पुरुष को जो बोध होता है वही प्रमा है।[22] यही पौरुषेय बोध कहलाता है। किन्तु अनिरुद्ध की दृष्टि में पुरुष न कर्त्ता है और न भोक्ता।[23] इसलिए उनके मत में बुद्धिगत ज्ञान ही प्रमा है। महतत्त्वों में प्रतिबिम्बित होने के कारण ही पुरुष को भोग का वृथा अभिमान होता है। विज्ञानभिक्षु ने इन दोनों का खण्डन किया है।[24] इनके अनुसार बुद्धि अपने अर्थाकार रूप से पुरुष में प्रतिबिम्बित होती है। पुरुष में प्रतिबिम्बित होने वाला ज्ञान ही प्रमा है। यही पौरुषेय बोध है। यही सत्य सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार सकलज्ञानप्रक्रिया में दोहरे-प्रतिबिम्बवाद को मानना पड़ता है।[25] पहले चितिच्छायापत्तिरूपपुरुषप्रतिबिम्ब के प्रभाव से अचेतन बुद्धि चेतनवद् होती है और अर्थाकारों में परिणत होती है उसके पश्चात् अपने अर्था-

कारकारित रूप की प्रकृति का प्रतिबिम्ब पुरुष में पड़ता है। वही प्रतिबिम्ब ज्ञान ही प्रमा है। इतना निश्चित हो जाने पर यह स्पष्ट है कि बुद्धिवृत्ति ही प्रमाण है। इसलिए प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तश्रुति नामक बुद्धिवृत्तियों को प्रमाण कहा गया है।

जो विज्ञान वस्तु से सम्बन्धित होकर सम्बन्धित वस्तु का आकार धारण कर लेता है वह विज्ञान या बुद्धिवृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है। अर्थात् अपने अर्थ के सन्निकर्ष से उद्भूत आकार की आश्रयभूत बुद्धिवृत्ति ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाती है। बुद्धिवृत्ति और अर्थ के सन्निकर्ष के लिए तमस् के प्रतिबन्ध को दूर रहना चाहिये। तमः प्रतिबन्ध का दूरीकरण कभी इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से और कभी योगज धर्म से होता है जैसे कि अंजन के संयोग से नेत्रों का मालिन्य दूर होता है। भाष्यकर व्यास ने भी प्रत्यक्ष की व्याख्या उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुरूप ही की है।[26]

(च) मीमांसा मत—मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक महर्षि जैमिनि ने प्रत्यक्ष का विश्लेषण इस प्रकार किया है—**'सत् सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम् अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्।'** इस सूत्र का भी विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से व्याख्यान किया है। शवरस्वामी के मतानुसार इस समस्त सूत्र से यह विदित होता है कि प्रत्यक्ष से धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता। भवदास का कथन है कि इस सूत्र को दो भागों में विभक्त कर दिया जाना चाहिये। प्रथम भाग—**सत् सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्**—प्रत्यक्ष की परिभाषा है अर्थात् विद्यमान वस्तुओं के साथ इन्द्रियों के सम्पर्क से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है। और द्वितीय भाग—**'अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भतत्वात्'** में यह प्रतिपादित किया गया है कि प्रत्यक्ष द्वारा धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता। वृत्तिकार उपवर्ष प्रभृति कुछ आचार्यों के अनुसार प्रत्यक्ष की शुद्ध परिभाषा के लिए इस सूत्र में समाविष्ट शब्दों के क्रम में परिवर्तन करने की आवश्यकता है। यथा—**तत् सम्प्रयोगे पुरुषस्य इन्द्रियाणां बुद्धिजन्म सत् प्रत्यक्षम्।** इस प्रकार 'तत्' और 'सत्' का स्थानव्यत्यय करने पर यह अर्थ निकलेगा कि 'किसी व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियों का केवल उस वस्तु के सम्पर्क से उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष है, जिसका वह प्रत्यक्षण करता है।'

कुमारिल भट्ट शवरस्वामी के मत का समर्थन करते हुये कहते हैं कि सूत्रकार का उद्देश्य सिर्फ यह बताना रहा है कि धर्म का ज्ञान केवल वेद से होता है, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से नहीं। यदि सूत्रकार का उद्देश्य प्रत्यक्ष को परिभाषित करने का होता तो वह अनुमान की भी परिभाषा देते। आगे चलकर कुमारिल

ने यह वैकल्पिक मत भी प्रकट किया है कि यदि इस सूत्र को प्रत्यक्ष की परिभाषा मानना ही हो तो सत् सम्प्रयोगे' का अर्थ होगा—वास्तविक (सत्) वस्तुओं के साथ इन्द्रियों का सम्यक् सम्बन्ध। परिणामस्वरूप कुमारिल के अनुसार ज्ञानेन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्यक् सम्बन्ध होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है।

प्रभाकर के अनुसार साक्षात् प्रतीति ही प्रत्यक्ष है। इसमें मेय, माता और मान इन तीन तत्त्वों का समावेश होता है।[27] इसी को त्रिपुटी प्रत्यक्ष कहा जाता है। प्रत्यक्ष में मेय के अन्तर्गत पदार्थ, जाति और गुण का समावेश होता है। माता की सत्ता तो इसी बात से सिद्ध है कि प्रत्येक ज्ञान में 'मैं जानता हूँ' इस प्रकार का व्यवहार होता है। ज्ञान आत्मा और वस्तु के प्रकाशन के साथ ही स्वयं को भी प्रकाशित करता है। जिस प्रकार एक दीपक स्वयं को भी प्रकाशित करता है, और इस कार्य के लिये दूसरे दीपक की अपेक्षा नहीं करता, उसी प्रकार एक ज्ञान अपने प्रकाशन के लिए दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता। मीमांसकों द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण से जो तीन बातें समक्ष उभरती हैं वे इस प्रकार हैं :

(1) प्रत्यक्ष के लिये विषय की उपस्थिति,
(2) इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष तथा,
(3) पुरुष (आत्मा) की उपस्थिति, जिसमें ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

मीमांसकों द्वारा दी गई परिभाषा नैयायिकों ने स्वीकार नहीं की। मीमांसक आपस में भी एक मत नहीं रहे और कुमारिल जैसे उद्भट आचार्य भी प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत प्रकट नहीं कर पाये। यही कारण है कि नैयायिकों ने मीमांसा मत का अक्षरशः खण्डन कर दिया। नैयायिकों के प्रमुख तर्क निम्नलिखित हैं।

यदि सम्बद्ध मीमांसा सूत्र धर्म के विश्लेषणार्थ है तो प्रत्यक्ष की परिभाषा के संदर्भ में इसकी चर्चा ही व्यर्थ है। यदि यह माना जाये कि इस सूत्र में प्रत्यक्ष की परिभाषा दी गई है तो यह भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि इसके अनुसार संशय और विपर्यय भी प्रत्यक्ष के विषय बन जाएँगे, क्योंकि इन्द्रियार्थ सम्बन्ध (सत्संप्रयोग) तो उनमें भी होता ही है। कुमारिल का इस सम्बन्ध में यह तर्क है कि 'इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्यक् (सम्) सम्बन्ध (प्रयोग) होने पर (सत्) जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है, और इस प्रकार 'संशय' और 'विपर्यय' जैसे असम्यक् सम्बन्ध स्वतः ही प्रत्यक्ष की परिधि से बाहर हो जाते हैं।' परन्तु नैयायिक इस तर्क को भी यह कह कर खण्डित कर देते हैं कि इन्द्रिय-विषय-

सम्बन्ध की सम्यग्ता का ज्ञान तो एक अतीन्द्रिय तत्त्व है। सम्यग्ता प्रत्यक्ष-गोचर नहीं हुआ करती। यदि उत्तरवर्ती प्रभाव के आधार पर उसका अनुमान करने की बात कही जाये तो यह भी इस कारण अंगीकरणीय नहीं है कि सूत्र में 'सत' शब्द ज्ञान के साथ विशेषण के रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ है। यह कहना तो और भी हास्यास्पद होगा कि बोधव्य ज्ञान के साथ 'सत्' विशेषण को स्वयं ही जोड़ लेंगे, क्योंकि यदि बोधव्य इतने ज्ञानी हैं तो उनको प्रत्यक्ष की परिभाषा समझाने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ?

वृत्तिकार उपवर्ष के सुझाव को मानकर 'तत्' और 'सत्' का पारस्परिक स्थानव्यत्यय कर दिया जाये तो भी परिभाषा निर्दोष नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा करने पर भी संशय और विपर्यय पर भी लागू होने के कारण इसमें अतिव्याप्ति दोष तो रह ही जाता है। इसके अतिरिक्त यदि सूत्रकार ने प्रत्यक्ष का उल्लेख केवल इसलिए किया कि वह धर्म के ज्ञान में सहायक नहीं है तब यह प्रश्न भी उठता है कि साधारण और योगिक प्रत्यक्ष में से कौन-सा प्रत्यक्ष धर्म का ज्ञान कराने में असमर्थ हैं ? यदि साधारण प्रत्यक्ष को असमर्थ बताया गया है तो यह कोई नई बात नहीं है और इसके लिये सूत्र बनाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। यदि योगिक प्रत्यक्ष असमर्थ है तो यह मीमांसकों के लिये वदतोव्याघात है, क्योंकि वे योगिक प्रत्यक्ष को कोरी कल्पना समझते हैं। अतः नैयायिकों का यह मत है कि महर्षि जैमिनि के उपर्युक्त सूत्र में न तो प्रत्यक्ष की ठीक परिभाषा दी गई है, न ही धर्म का समुचित लक्षण निरूपित किया गया है।

(छ) वेदान्त मत—वेदान्त के अनुसार ज्ञान चैतन्यस्वरूप है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमा ही होगा अप्रमा नहीं। शंकराचार्य, पद्मपाद आदि ने प्रत्यक्ष का उल्लेख तो किया है किन्तु इसका संक्षिप्त परिचय 'विवरण में और विस्तृत निरूपण वेदान्तपरिभाषा में उपलब्ध होता है। धर्मराजाध्वरीन्द्र ने प्रत्यक्ष प्रमा के करण को प्रत्यक्षप्रमाण बताया हैं और प्रत्यक्ष प्रमा को चैतन्यस्वरूप माना है। इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि वेदान्तवादी प्रमाणावच्छिन्न चैतन्य का विषयावच्छिन्न चैतन्य के साथ अभेद मानते हैं। धर्मराजाध्वरीन्द्र ने प्रमातृ चैतन्य, प्रमाण चैतन्य और विषयचैतन्यभेद से चैतन्य तीन प्रकार का माना है। उनमें घटाद्यवच्छिन्न अर्थात् जितने स्थल में घटादिस्थित है, उतने स्थल में वर्तमान चैतन्य का नाम विषयचैतन्य है। एवं अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्न अर्थात् अन्तःकरण की वृत्ति जितने प्रदेश में रहती है, उतने प्रदेश में रहने वाले चैतन्य का नाम प्रमाणचैतन्य है। ऐसे ही अन्तःकरणावच्छिन्न अर्थात् जितने प्रदेश में अन्तःकरण रहता है, तत्प्रदेश वृत्ति चैतन्य का नाम प्रमातृचैतन्य है।[28]

उन तीनों उपाधियों में से जैसे तड़ाग का जल किसी एक छिद्र द्वारा निकल कर क्षेत्र के केदारों में प्रविष्ट होकर उन केदारों ही की तरह त्रिकोण चतुष्कोणादि आकार को प्राप्त होता है, वैसे ही तेजस् (अर्थात् सूर्य किरण) की तरह स्वच्छ होने से अतिशीघ्रगामी अन्तःकरण भी नेत्रादि इन्द्रिय द्वारा निकलकर घटपटादि विषय देश को प्राप्त घटपटादि विषय रूप से परिणाम को प्राप्त होता है। उसी परिणाम का नाम वृत्ति है। अनुमिति आदि में यह सम्बन्ध नहीं रहता है। अन्तःकरण की वृत्ति संशय, निश्चय, गर्व तथा स्मरण भेद से चार प्रकार की है। इस प्रकार के वृत्ति-भेद से एक ही अन्तःकरण 'मन' 'बुद्धि' 'अहंकार' तथा 'चित्त' इन चार संज्ञाओं को ग्रहण करता है।

अतएव यह कहा गया है कि प्रमाण चैतन्य के साथ विषयचैतन्य का अभेद ही प्रत्यक्ष है। इस रीति से 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि वाक्यजन्य-ज्ञान का विषय सन्निकृष्ट होने और बाह्य निर्गत अन्तःकरण की वृत्ति के स्वीकार करने से देवदत्तावच्छिन्न चैतन्य का तथा तद्विषयक वृत्यवच्छिन्न चैतन्य का परस्पर अभेद होने से 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञान की प्रत्यक्षात्मकता सिद्ध होती है।

प्रत्यक्ष प्रमा के करण षट् इन्द्रियाँ हैं इसलिये प्रत्यक्ष प्रमा षड्विध है। (1) श्रोत्र, (2) त्वक्, (3) चक्षु, (4) रसन, (5) घ्राण, (6) मन—इन इन्द्रियों से जन्य अर्थात् श्रोत्रजन्य यथार्थ ज्ञान श्रोत्र प्रमा, त्वक् इन्द्रियजन्य 'त्वाचप्रमा', नेत्र इन्द्रिय जन्य 'चाक्षुष प्रमा', रसन इन्द्रियजन्य 'रासनप्रमा', घ्राण इन्द्रिय जन्य 'घ्राणजप्रमा' और मन इन्द्रिय जन्य 'मानस प्रमा' कही जाती हैं। 'अद्वैततत्त्वशुद्धि' में प्रत्यक्ष प्रमा को पंचविधा कहा गया है।[29] पूर्वोक्त विषयावच्छिन्न चैतन्याभिन्न वृत्यवच्छिन्न चैतन्यरूप प्रत्यक्ष सविकल्पक व निर्विकल्पक भेद से दो प्रकार का है।

मध्वाचार्य के मत में तीन प्रकार के प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। किसी दोषरहित ज्ञानेन्द्रिय के दोष रहित विषय के साथ संपर्क को प्रत्यक्ष कहते हैं। विषय अत्यधिक दूर होने, अत्यधिक समीप होने, अत्यधिक लघु होने, मध्य में आने वाले अवरोधों से अवरुद्ध होने, अपने समान वस्तुओं के साथ मिश्रित होने, तथा अन्य वस्तुओं के सदृश होने के कारण दोषपूर्ण हो जाते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं—(i) प्रमातृस्वरूप तथा (ii) प्राकृत। ज्ञाता की अन्तःप्रज्ञात्मक शक्ति को साक्षी कहा जाता है।[30] इन्होंने भी प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक व सविकल्पक भेद स्वीकार किये हैं।

वल्लभाचार्य के अनुसार सम्यक् ज्ञान दो प्रकार का हो सकता है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ के सत् सम्पर्क से उत्पन्न होता है।[31]

(ज) **न्यायमत**—अक्षपाद गौतम के अनुसार इन्द्रिय और विषय के संयोग से उत्पन्न ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष है, जो अनिर्वचनीय (अव्यपदेश्य), दोष रहित (अव्यभिचारी) तथा निश्चित (व्यवसायात्मक) हो।[32] गौतम के उत्तरवर्ती नैयायिकों के प्रत्यक्ष विमर्श का मुख्य आधार तो न्यायसूत्र ही रहा, किन्तु गौतम द्वारा प्रयुक्त 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न' 'अव्यपदेश्य' 'अव्यभिचारि' तथा 'व्यवसायात्मक' इन चार शब्दों के विश्लेषण में उन्होंने जो मतभेद प्रकट किया, वह बहुत मनोरंजक है।

वात्स्यायन के अनुसार प्रत्यक्ष शब्द प्रमा तथा प्रमाण दोनों का वाचक है। उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र और जयन्तभट्ट ने इन शब्दों पर विस्तार से विचार किया है। जयन्तभट्ट और वाचस्पति के विचार इस संदर्भ में और भी अधिक उल्लेखनीय हैं। क्योंकि गौतम ने प्रत्यक्ष प्रमाण और प्रत्यक्ष प्रमिति में भेद नहीं माना, और वाचस्पति तथा जयन्त सूत्रकार के इस मत से सहमत नहीं हुए। गौतम के उपर्युक्त समस्त सूत्र को कतिपय आचार्यों ने प्रत्यक्ष की परिभाषा-मात्र माना जबकि कुछ अन्य आचार्यों ने यह कहा कि **'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्'** यह भाग तो परिभाषा है और 'अव्यपदेश्यम्' और 'व्यवसायात्मकम्' इन शब्दों द्वारा सूत्रकार ने प्रत्यक्ष के क्रमशः निर्विकल्पक और सविकल्पक इन दो भेदों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्ति जहाँ वात्स्यायन और उद्योतकर ने गौतम की परिभाषा को स्वतःपूर्ण माना, वहाँ जयन्त और वाचस्पति उसमें 'यतः' शब्द के अध्याहार को आवश्यक समझते हैं।

गौतम द्वारा प्रयुक्त उपर्युक्त चार विशेषणों—इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, अव्यपदेश्य, अव्यभिचारि और व्यवसायात्मक के सम्बन्ध में उत्तरवर्ती नैयायिकों ने जो विचार व्यक्त किये हैं, उनका सार इस प्रकार है—

इन्द्रियार्थसन्निकर्ष—'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' में 'इन्द्रिय' 'अर्थ' और 'सन्निकर्ष' इन तीन शब्दों का योग है। अतः इस समस्त पद का विश्लेषण करने से पहले इसके खण्डों पर भी विचार कर लेना अनुचित न होगा।

इन्द्रिय—इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं—कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय। शरीर के जो अवयव ज्ञान के ग्रहण में साधक होते हैं, वे ज्ञानेन्द्रिय और जो क्रिया करने में साधक होते हैं, वे कर्मेन्द्रिय कहलाते हैं। प्रत्यक्ष का सम्बन्ध पाँच ज्ञानेन्द्रियों से ही है। उनके नाम इस प्रकार हैं—

घ्राण, रसन, चक्षुस्, त्वक् तथा श्रोत्र। मन भी एक इन्द्रिय है। किन्तु यह अन्तरिन्द्रिय है, शेष सभी इन्द्रियाँ बाह्य हैं। मन की उत्पत्ति अभौतिक तत्त्वों से हुई है इसके द्वारा सुख, दुःख राग-द्वेष आदि आन्तरिक तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त होता है। इन इन्द्रियों से क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द का ज्ञान होता है। मन का विषय नियत नहीं है। नाक, जीभ आदि इन्द्रियाँ नहीं, अपितु इद्रिन्यों के अधिष्ठानमात्र हैं। इन्द्रियाँ इनकी सूक्ष्म शक्तियाँ हैं। इन सूक्ष्म शक्तियों का ज्ञान अनुमान से होता है। इनके गुणों या लक्षणों के अनुसार इनका रूप निश्चित किया जाता है। इन्द्रियाँ भौतिक हैं, अतः प्रमुखतया जिस तत्त्व के योग से जिस इन्द्रिय का निर्माण हुआ, उसी तत्त्व को ग्रहण करने की शक्ति प्रत्येक इन्द्रिय में विद्यमान रहती है। प्रत्येक द्रन्द्रिय केवल अपने विषय के प्रति क्रियाशील होती है और उसके मौलिक तत्त्वों को अपनी ओर आकर्षित करती है। अतः प्रत्येक इन्द्रिय से केवल उसके ही विषय का ग्रहण होता है, दूसरी इन्द्रिय के विषय का नहीं।

अर्थ—ज्ञान की प्रक्रिया में ज्ञाता और ज्ञेय का भी बड़ा महत्त्व है। ज्ञेय को ही विषय, पदार्थ, वस्तु तथा अर्थ कहते हैं। जिस इन्द्रिय द्वारा जिस वस्तु या विषय का ज्ञान किया जाता है, वही उस इन्द्रिय का **'अर्थ'** होता है। इन्द्रियाँ स्वयं ही ग्राहक और ग्राह्य नहीं बन सकतीं। आँख अपने को नहीं देख सकती। चाक्षुष ज्ञान के लिये इन्द्रियों से भिन्न किसी पदार्थ का रहना आवश्यक है। आँख का धर्म है देखना। किन्तु यदि विषय न हो तो वह क्या देख सकती है? बाह्य पदार्थों की सत्ता के बारे में विभिन्न दर्शनों के मतों में भिन्नता है। विज्ञानवादी बौद्धों की दृष्टि में बाह्य जगत के विषय कल्पनामात्र हैं। जिन बातों का हम अनुभव करते हैं, वे मानसिक प्रत्यय हैं। शून्यवादी बौद्धों के अनुसार समस्त जगत् शून्य है। वेदान्त के अनुसार विषय के सभी पदार्थ भ्रम मात्र हैं; किन्तु न्याय वैशेषिक बाह्य पदार्थों की सत्ता को स्वयंसिद्ध तथा निर्विवाद मानते हैं। इस मत को वस्तुवाद कहा जाता है।

सन्निकर्ष—इन्द्रियों का विषयों के साथ जो संयोग होता है, उसे सन्निकर्ष कहा जाता है। सन्निकर्ष के छः भेद हैं : संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेत समवाय और विशेषण विशेष्यभाव। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष में इन्द्रियों का विषय के साथ संपर्क होता है, किन्तु जब तक मन का भी इन्द्रियों के साथ संपर्क न हो तब तक ज्ञान नहीं हो सकता। अतः नैयायिकों का यह मत है कि अर्थ का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का मन से, और मन का आत्मा से संपर्क होने पर ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

गौतम द्वारा निर्दिष्ट प्रत्यक्ष के इस लक्षण से सम्बन्धित 'इन्द्रियों' के 'प्राप्यकारित्व' के प्रश्न पर पर्याप्त वैमत्य रहा है। इसके अतिरिक्त नव्यनैयायिकों ने इस विशेषण (इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न) को अनुपयुक्त समझकर इसको प्रत्यक्ष की परिभाषा में स्थान ही नहीं दिया है। किन्तु प्रकरण ग्रन्थकारों में से अन्नंभट्ट ने इस विशेषण को एक प्रकार पुनरुज्जीवित कर दिया है। अतः नव्यनैयायिकों के विरोध के बावजूद न्याय के क्षेत्र में इसका महत्त्व अभी भी बना हुआ है।

अव्यपदेश्य—प्रत्यक्ष के लक्षणों में, जैसे कि ऊपर कहा जा चुका है, गौतम ने अव्यपदेश्य पद का भी परिगणन किया है। वात्स्यायन, उद्योतकर तथा वाचस्पति ने इस पर विस्तार से विचार किया है। परन्तु इसके सबसे अधिक वैकल्पिक अर्थों का उल्लेख जयन्त ने किया। वात्स्यायन के अनुसार अव्यपदेश्य का अर्थ है—'शब्दों में प्रकट न कर सकने लायक'। उन्होंने यह भी कहा कि इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्येक ज्ञान रूप, रस आदि बोधक शब्दों के द्वारा अभिहित किया जाता है। ऐसी स्थिति में यदि अव्यपदेश्य पद को प्रत्यक्ष की परिभाषा में सम्मिलित न किया जाता तो शब्दप्रमाण और प्रत्यक्षप्रमाण में भेद न रह पाता।[33] उद्योतकर के मतानुसार यह सोचना अनुचित है कि शब्द प्रमाण से प्रत्यक्ष का भेद करने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया है, क्योंकि यह उद्देश्य तो प्रत्येक की परिभाषा में परिगणित दूसरे लक्षण 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न' से ही पूरा हो जाता है। वाचस्पति मिश्र ने गौतम के सूत्र को दो भागों में विभक्त किया और 'अन्यपदेश्य' को प्रत्यक्ष के एक भेद निर्विकल्पक का वाचक माना। उन्होंने बड़े ही मनोरंजक ढंग से यह भी कहा कि वात्स्यायन और उद्योतकर ने इस प्रकार के विभाजन का उल्लेख इसलिए नहीं किया कि यह तो बहुत ही स्पष्ट है।

कतिपय आचार्यों का यह कथन है कि जहाँ कहीं किसी उत्तम वृद्ध के कहने पर मध्यमवृद्ध को 'पनस' आदि का ज्ञान होता है वहाँ अथवा इस प्रकार के अन्य उदाहरणों में यह तो स्पष्ट ही है कि उत्पन्न ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य होने के साथ ही उपदेशजन्य भी है। अतः ऐसे उभयज ज्ञान को प्रत्यक्ष की परिधि के बाहर रखने के लिए सूत्र में अव्यपदेश्य पद का उल्लेख किया गया।

किन्तु इस संदर्भ में यह बात भी विचारणीय है कि जिसको शब्दों में व्यक्त न किया जा सके—यदि अव्यपदेश्य का यह अर्थ लिया जाए और इसी आधार पर यह कहा जाए कि शब्दप्रमाण से अन्तर के लिए ऐसा किया गया है तो यह उचित नहीं है, क्योंकि शब्दवाच्यतामात्र से कोई ज्ञान प्रत्यक्षेतर नहीं हो जाता,

और यदि प्रतीति स्वयं ही भ्रान्त हो तो उसके परिहार के लिये सूत्र में प्रयुक्त अव्यभिचारिशब्द पर्याप्त है।

जब हम 'दण्डी' जैसे शब्द को सुनते हैं तो दण्डधारण करनेवाले एक व्यक्ति की मूर्ति हमारे समक्ष आ जाती है। यदि 'दण्डी' शब्द से उत्पन्न संप्रत्यय विशिष्ट न होता तो इससे पुरुय मात्र का बोध होता, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि इससे दण्ड और पुरुष दोनों का परस्पर सम्बद्ध प्रत्यय ही हमारे सामने आता है। कुछ आचार्यों का विचार है कि समस्त शब्द का वह भाग जो विशेष्य होता है, ज्ञान का मुख्य विषय रहता है। 'यह गाय है' इस वाक्य में तो नाम का विशेषण के रूप में प्रयोग भी नहीं हो रहा है अतः यह शब्दप्रमाण का उदाहरण नहीं है।

कुछ अन्य आचार्यों का मत है कि 'यह गाय है' इस वाक्य से जो अर्थबोध होता है, उसके संबंध में यदि यह कहा जाए कि शब्दों को सुनकर वस्तु की स्मृति होती है, वस्तु का ज्ञान नहीं और इस प्रकार अव्यपदेश्य पद से स्मृति का परिहार होता है, तो यह मत भी इस दृष्टि से उचित नहीं है कि नैयायिक तो सविकल्पक प्रत्यक्ष को ही अधिक महत्त्व देते हैं। अतः संकेतग्रह काल तथा विषयग्रहण काल में उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष ही माना जाएगा।[34]

कुछ विद्वानों का यह मत है कि इन्द्रियों का सन्निकर्ष जिन वस्तुओं से होता है, शब्दों द्वारा अभिधेय होने के कारण वे शाब्द हैं। भर्तृहरि के अनुसार संसार में कोई भी ऐसा प्रत्यय नहीं है, जिनका ज्ञान शब्दों के प्रयोग के बिना हो जाये। यानी प्रत्यय शब्दों से अनुविद्ध होने पर ही प्रतिभासित होता है।[35] शब्दों के प्रयोग के अभाव में कोई वास्तविक वस्तु परिभाषित करने के लिए नहीं रहती। यद्यपि संकल्पनाएँ जैसे कि—'यह गाय है', शब्दावच्छिन्न ज्ञान के अन्तर्गत आती हैं, किन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी तो प्रत्यक्ष का महत्त्वपूर्ण अंग है अतः उसको प्रत्यक्ष की सीमा में समाविष्ट करने के लिए सूत्रकार ने 'अव्यपदेश्य' शब्द का प्रयोग किया। जयन्तभट्ट इस मत को इस आधार पर स्वीकार नहीं करते कि 'यह गाय है' ऐसा ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्ष पर निर्भर करता है। इस प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष की सीमा में आता है। वाच्यता वस्तु का धर्म नहीं है। यदि होता तो वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी रहता।[36] अतः यह कहना अनुचित है कि प्रत्यक्ष की परिभाषा की असम्भवता के निवारण के लिए अव्यपदेश्य पद का ग्रहण किया गया।

उत्तरवर्ती नैयायिकों में से विश्वनाथ और अन्नंभट्ट ने, प्रत्यक्ष की परिभाषा का मूल आधार गौतमीय सूत्र को मानने पर भी, 'अव्यपदेश्य' शब्द को छोड़

दिया। क्योंकि शब्दज्ञान के प्रति श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द का सन्निकर्ष कारण नहीं है। अतः शब्द प्रमाण में प्रत्यक्षप्रमाण के लक्षण की अतिव्याप्ति का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता, अतः उसके परिहार के लिए यह विशेषण अनावश्यक है।

अव्यभिचार—वात्स्यान के अनुसार सूत्रकार ने प्रत्यक्ष की परिभाषा में अव्यभिचारि पद का परिगणन इसलिये किया है कि 'भ्रान्ति' में प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति न हो। उदाहरणतया ग्रीष्मकाल में पार्थिव उष्णता से मिलकर सूर्य की किरणें चकाचौंध पैदा करती हुई दूरदेशस्थ पुरुष के नेत्रों के समीप आ जाती हैं, वहाँ इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से जल की भाँति प्रतीत होती है। अतः ऐसे उदाहरणों में भी प्रत्यक्ष का व्यावर्तन करने के लिये अव्यभिचारि विशेषण का प्रयोग किया गया है। वाचस्पति मिश्र ने यह बताया है कि यद्यपि अन्य प्रमाणों में भी अव्यभिचारित्व आवश्यक है, पर वे भी प्रत्यक्ष मूलक हैं अतः प्रत्यक्ष की परिभाषा में इस विशेषण के परिगणन से उनमें भी यह स्वतः ही चरितार्थ हो सकता है।

व्यवसायात्मक—वात्स्यायन का यह मत है कि संशय को प्रत्यक्ष के क्षेत्र से व्यावृत्त करने के लिये प्रत्यक्ष के लक्षण में व्यवसायात्मक शब्द का प्रयोग किया गया है। कोई व्यक्ति दूर से किसी पदार्थ को देखकर यदि ऐसा सोचे कि यह धूम है या धूलि और किसी निर्णय पर न पहुँचे तो यह संशय कहलायेगा। इस प्रकार के संशयात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष की परिधि से बाहर रखने के लिये व्यवसायात्मक शब्द का प्रयोग किया गया है। वाचस्पति मिश्र के मतानुसार व्यवसायात्मक शब्द से सूत्रकार ने सविकल्पक प्रत्यक्ष का उल्लेख किया है। क्योंकि संशय का निवारण तो अव्यभिचारि पद से ही हो जाता है। जयन्तभट्ट का विचार है कि संशय और भ्रम दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं। अतः भ्रम की व्यावृत्ति के लिये अव्यभिचारि तथा संशय की व्यावृत्ति के लिये व्यवसायात्मक शब्द का प्रयोग किया गया है।

(ञ) नव्यन्याय मत—प्राचीन न्याय दर्शन में वैसे तो गौतम की परिभाषा ही प्रमुखतम रही और भाष्यकार वार्तिककार आदि ने इसका अनुमोदन कर इसकी विस्तृत व्याख्या भी की, किन्तु उत्तरवर्ती व्याख्याकार स्पष्टीकरण के रूप में ही सही, इसमें कुछ न कुछ जोड़ते गये। उदाहरणतया वार्तिककार के इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के अतिरिक्त अन्य कारणों का भी उल्लेख किया, जिनके बिना प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव नहीं। जैसे विषय और प्रकाश का संयोग, विषय में स्थित रूप आदि गुण, विषयगत महत्त्व परिमाण, प्रत्यक्षीक्रियमाण पदार्थ का परमाणु

भिन्न द्रव्य से बना होना तथा धर्माधर्म रूप अदृष्ट आदि। प्रवृत्त विचार के लिए वार्तिककार प्रशस्तदेवाचार्य के ऋणी प्रतीत होते हैं। जयन्त भट्ट और वाचस्पति मिश्र ने परिभाषा में आए हुए शब्दों की सुन्दर व्याख्या की।

न्यायसिद्धान्तमंजरीकार ने साक्षात्काररूप प्रमा (ज्ञान) का जो करण है उसको प्रत्यक्ष कहा है। प्राचीन नैयायिक भासर्वज्ञ के अनुसार सम्यग् अपरोक्ष अनुभव का साधन प्रत्यक्ष है।[39] यहाँ अपरोक्ष पद से अभिप्राय है कि अपरोक्ष ज्ञान शब्द व अनुमान से उत्पन्न नहीं होता। तर्कभाषाकार ने भी साक्षात्कारि प्रमा के कारण को प्रत्यक्ष कहा और साक्षात्कारिणी प्रमा को इन्द्रियार्थसन्नि-कर्षजन्य बताया।[40]

भाष्यकार आदि ने उन आक्षेपों के समाधान का भी प्रयत्न किया, जो गौतम द्वारा प्रदत्त परिभाषा पर विपक्षी आचार्यों ने लगाये। उदाहरण के रूप में एक आक्षेप यह भी है कि गौतम ने मनस् को इन्द्रिय नहीं माना, अतएव आत्मादि के ज्ञानों में तथा सुखदुःखादि के ज्ञानों में भी उक्त लक्षण से भिन्न दूसरा प्रत्यक्ष लक्षण सूत्राकर को बनाना चाहिये था। यद्यपि स्वयं सुख इन्द्रियार्थजन्य है, तथापि उसमें प्रत्यक्षता नहीं है, क्योंकि सुख के ज्ञान से ही प्रत्यक्षता हो सकती है। किन्तु भाष्यकार समाधान के रूप में कहते हैं कि मन के इन्द्रिय होने पर भी धर्म के भेद के कारण मन को इन्द्रियो से पृथक् कहा गया है। क्योंकि इन्द्रियाँ भौतिक हैं, जबकि मन अभौतिक है, इन्द्रियाँ प्रतिनियतविषयग्राही हैं, जबकि मन सर्व विषयग्राही है, व मन में गुणयुक्तता होने के कारण इन्द्रियता नहीं है। समानतन्त्र (वैशेषिक दर्शन) में मन को इन्द्रिय माना गया है, इस कारण भी मन में इन्द्रियत्व मानना चाहिये, क्योंकि जो दूसरे का मत अपने शास्त्र में निषिद्ध नहीं होता वह अपने को अभिमत होता है। इसलिये मन के भी इन्द्रिय होने के कारण मनरूप इन्द्रिय तथा आत्मा, सुख आदि अर्थों के संयोगादि सन्निकर्ष होने से आत्मा एवं सुखादि के प्रत्यक्ष में भी लक्षण की संगति हो जाती है। अतः वात्स्यायन के मतानुसार सुख आदि के प्रत्यक्ष के लिये दूसरा लक्षण करने की आवश्यकता नहीं है। नव्यन्याय के प्रवर्तक गंगेश ने तत्त्वचिन्तामणि में गौतम के मत का खण्डन करते हुए कहा कि प्रत्यक्ष साक्षात् ज्ञान है।[41] यह साक्षा-त्कारित्व इन्द्रिय अर्थ व मनसादि के सन्निकर्ष से उत्पन्न है।

प्राचीन न्याय लक्षणों से यह स्पष्ट होता है कि ये परिभाषाएँ लौकिक प्रत्यक्ष की हैं, अलौकिक की नहीं। ईश्वर के प्रत्वक्ष के विषय में ये लक्षण अव्याप्ति दोष से ग्रस्त हैं। नैयायिक भासर्वज्ञ की परिभाषा इस दोष से कुछ अलग सी दिखाई

पड़ती है। यदि इन परिभाषाओं को स्वीकार करें तो योगि प्रत्यक्ष का इसमें समावेश नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि यह इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं होता। इस दोष के परिहार हेतु ही संभवतः नैयायिक विश्वनाथ ने यह कहा कि जिस ज्ञान का कोई अन्य ज्ञान करण नहीं है वह ज्ञान प्रत्यक्ष है।[42] अनुमिति में व्याप्तिज्ञान, उपमिति में सादृश्यज्ञान, शाब्दी प्रमा में पदज्ञान और स्मृति में अनुभव कारण होता है, इसलिये उनमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। यह लक्षण ईश्वर प्रत्यक्ष पर भी घट जाता है, क्योंकि इसमें जीव और ईश्वर दोनों का प्रत्यक्ष आ जाता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के पर्यालोचन से यह स्पष्ट होता है कि नव्यन्याय द्वारा प्रदत्त परिभाषा अधिक संगत है। यद्यपि यह सत्य है कि 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' प्रत्यक्ष की मुख्य विशेषता है, परन्तु यह सभी प्रकार के प्रत्यक्षों के लिए आवश्यक नहीं है। ऐसे उदाहरण अनेक प्राप्त होते हैं, जहाँ हमारी इन्द्रिय का पदार्थ के साथ सन्निकर्ष नहीं होता। यद्यपि इस प्रकार के प्रत्यक्ष अज्ञानता के भी सूचक हो सकते हैं, फिर भी इनके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिए यह कहा जा सकता है इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को नहीं अपितु पदार्थ के साक्षात् ग्रहण को प्रत्यक्ष कहना अधिक उपयुक्त है। इस धारणा की पुष्टि गंगेश द्वारा प्रस्तुत तर्कों से भी होती है।

जैसा कि पहले भी कहा गया है, प्रमाण की गौतम प्रणीत परिभाषा में गंगेश ने तत्त्वचिन्तामणि में अनेक त्रुटियाँ निकालीं और प्रत्यक्ष की एक नवीन परिभाषा की। गंगेश द्वारा उठाई गई आपत्तियाँ इस प्रकार हैं :—

(1) अनुमान तथा स्मृति में भी ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रिय तथा पदार्थ के संयोग से होती है। अतः प्रत्यक्ष की गौतमीय परिभाषा प्रत्यक्षेतर प्रमाणों पर भी लागू होती है।

(2) अलौकिक प्रत्यक्ष के दृष्टिकोण से विचार करने पर इसमें अव्याप्ति दोष पाया जाता है। योगज प्रत्यक्ष में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष नहीं होता, फिर भी योगी दूरस्थ और सूक्ष्म वस्तुओं का ज्ञान भी प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त कर लेता है।

(3) प्राचीन न्याय में प्रत्यक्ष की व्याख्या इन्द्रियों द्वारा और इन्द्रियों की व्याख्या प्रत्यक्ष द्वारा की गई है। प्रत्यक्ष की उत्पत्ति इन्द्रियों द्वारा होती है और इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष के साधन हैं। इस प्रकार इसमें चक्रक दोष है।

प्रत्यक्ष की गौतमीय परिभाषा के बारे में ये आपत्तियाँ भी उठाई जाती हैं कि प्रत्यक्ष में विषय का साक्षात् ज्ञान होना आवश्यक है। इन्द्रिय और सन्निकर्ष का व्यवधान होने के कारण 'साक्षात्कारित्व' के मुख्य गुण का प्रत्यक्ष में समावेश ही नही हो पाता। इन्द्रिय शब्दमात्र से भी यह स्पष्ट नहीं होता कि कर्मेन्द्रियों का प्रत्यक्ष की परिभाषा में समावेश नहीं है।

गंगेश उपाध्याय ने प्रत्यक्ष की नवीन परिभाषा देते हुए प्रत्यक्ष को साक्षात् ज्ञान बताया।[43] साक्षात्कारित्व को पाश्चात्य तार्किकों ने भी प्रत्यक्ष का प्रमुख लक्षण बताया है। इसका आशय यह है कि प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में ज्ञाता और ज्ञेय के बीच इन्द्रिय सन्निकर्ष का व्यवधान नहीं होना चाहिए। ईश्वर की कोई इन्द्रिय नहीं है हम भी अपनी इन्द्रियों से ईश्वर को नहीं देख सकते। जो काम हमारे सामने होता है उसका हमें सीधा ज्ञान होता है उसके लिए अनुमान आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती। साक्षात्कारित्व ऐसा लक्षण है जो केवल प्रत्यक्ष पर घटता है। क्योंकि अनुमानजन्य ज्ञान के पहले व्याप्ति तथा पक्षधर्मता के ज्ञान का व्यवधान रहता है। उपमिति में भी सादृश्य का ज्ञान अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। शब्द-ज्ञान में भी पद का ज्ञान एक अनिवार्य आवश्यकता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ही ऐसा प्रमाण है जिसमें किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति का कारण कोई अन्य ज्ञान नहीं है। इसीलिए गंगेश ने 'साक्षात्कारित्व' के अतिरिक्त प्रत्यक्ष की एक दूसरी परिभाषा देते हुए यह भी कहा है कि प्रत्यक्ष का कारण कोई ज्ञानान्तर नहीं है।[44] प्रत्यक्ष स्वयंमूलक है।

प्राचीन नैयायिकों द्वारा प्रत्यक्ष का जो लक्षण किया गया वह अलौकिक प्रत्यक्ष पर लागू नहीं होता, किन्तु नव्य नैयायिकों द्वारा प्रस्तुत लक्षण अलौकिक प्रत्यक्ष पर भी चरितार्थ होता है।

जैसा कि उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है, प्राय: सभी दार्शनिकों ने अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार प्रत्यक्ष का लक्षण प्रस्तुत किया है। यदि इन लक्षणों का आलोचनात्मक दृष्टिकोण से पर्यालोचन करें तो स्पष्ट होता है कि चार्वाक ने मुख्य रूप से प्रत्यक्ष के स्थूल स्वरूप का अवलोकन किया है। जैन दर्शन में प्रारम्भ में तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष व अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष (स्मृति आदि को) माना गया, परन्तु उत्तरवर्ती जैनतार्किकों ने स्मृति आदि को परोक्ष के अन्तर्गत ही सम्मिलित कर लिया। और इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को ही प्रत्यक्ष की कोटि में समाविष्ट किया। बौद्धाचार्यों ने कल्पनारहितत्व पर विशेष बल दिया।

आस्तिक दर्शनों में से सांख्य-योग के अनुसार प्रत्यक्ष वह बुद्धिवृत्ति है, जो वस्तु को प्राप्त होकर उस वस्तु के आकार में परिणत होती है। इन्द्रियों के सम्बन्ध से होने वाला ज्ञान चित्तवृत्ति रूप प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण है। सांख्य दर्शन के अनुसार इन्द्रियाँ मन को विषय का समर्पण करती हैं, मन उसे अहंकार को व अहंकार बुद्धि को समर्पित करता है। मीमांसा परम्परा प्रवर्तक महामुनि जैमिन का प्रत्यक्ष लक्षण अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त है क्योंकि शुक्ति रूप से वर्तमान वस्तु के साथ नेत्रसन्निकर्ष होने पर 'इदं रजतम्' यह आभास भी उत्पन्न हो ही सकता है। वेदान्तियों के मत में प्रत्यक्ष ज्ञान का करण प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया है। इस प्रकार अन्य दर्शनों की अपेक्षा न्यायवैशेषिक में प्रत्यक्ष के स्वरूप का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। वैसे मूलतः तो न्यायसूत्रकार गौतम द्वारा प्रदत्त परिभाषा ही सर्वाधिक ग्राह्य व अनुमोदित रही, परन्तु कालान्तर में नव्य न्याय के विकास के साथ इसके स्वरूप का अधिक सूक्ष्मतर दृष्टि से विवेचन किया गया। गौतम की परिभाषा में प्रयुक्त 'अव्यभिचारित्व' पद संदेहास्पद है जिसका विवेचन पहले ही किया जा चुका है। यदि किसी प्रकार 'अव्यभिचारित्व' का कोई आपात रमणीय उपयोग मान भी लें, तब भी ईश्वर-ज्ञान में तो अव्याप्ति बनी ही रहती है। क्योंकि ईश्वर-ज्ञान नित्य होने से इन्द्रियसन्निकर्षजन्य नहीं होता। यदि उक्त लक्षण, लौकिक प्रत्यक्ष का ही माना जाय, तब भी अनुमिति में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि अनुमिति भी मन इन्द्रिय और आत्म रूप अर्थ के सन्निकर्ष से जन्य होती है। यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्ष विषय अर्थ के साथ जिस इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर जो ज्ञान होता है, उसे उस इन्द्रिय से सन्निकृष्ट विषय का प्रत्यक्ष कहा जाता है, जबकि वह्निविषयक अनुमिति वह्नि के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष से जन्य नहीं होती, तो भी युक्त योगी के (इन्द्रिय सन्निकर्ष के बिना ही परमाणु आदि विषयक) प्रत्यक्ष में अव्याप्ति होती है। अतः यद्यपि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष प्रत्यक्ष का मुख्य तत्त्व है परन्तु यह सभी प्रकार के प्रत्यक्षों में आवश्यक नहीं। यद्यपि विभ्रम, मूर्च्छा आदि असामान्य प्रत्यक्ष के उदाहरण हैं, परन्तु उन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता, इनमें इन्द्रियार्थसन्निकर्ष नहीं होता है। इसलिये निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है इन्द्रियार्थसन्निकर्ष मुख्य तत्त्व नहीं। इस प्रकार नव्य न्याय द्वारा विकसित परिभाषा अधिक ग्राह्य प्रतीत होती है। गंगेश द्वारा प्रदत्त यह लक्षण—**'प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वं लक्षणम्'** (अर्थात् प्रत्यक्ष तात्कालिक ज्ञान है)—अधिक समुचित, अधिक ग्राह्य व सभी प्रकार के प्रत्यक्षों में लागू होता है। अतएव नव्यनैयायिकों द्वारा किया गया प्रत्यक्ष के स्वरूप का विश्लेषण अधिक उत्कृष्ट प्रतीत होता है।

2. इन्द्रियाँ और उनके विषय

ज्ञान की प्राप्ति में इन्द्रियों की भूमिका के सम्बन्ध में प्रायः सभी दर्शनों में विचार किया गया है। चार्वाक जैसे दार्शनिकों ने तो इन्द्रियात्मवाद जैसी धारणाओं का भी प्रवर्तन किया। यह सब होते हुए भी इन्द्रियों के सम्बन्ध में विभिन्न दर्शनों का अपना-अपना दृष्टिकोण है।

(क) इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति

इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनि के एक सूत्र में उपलब्ध होती है। पाणिनि ने इन्द्र (आत्मा) शब्द में घ (इय) प्रत्यय जोड़कर इसका अर्थ इन्द्र का ज्ञापक, आदि किया है।[45] इस व्युत्पत्ति के अनुसार इन्द्रिय का अर्थ है—आत्म सम्बन्धी। किन्तु इसको मानने पर शरीर आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाएगी। इन्द्रिय पद की ऐसी निरुक्ति पाणिनीय व्याकरण की परम्परा से ही सम्भवतः विशुद्धिमग्ग जैसे बौद्ध ग्रन्थों और तत्त्वार्थ भाष्य जैसे जैन ग्रन्थों में प्रविष्ट हुई। इस निरुक्ति के संदर्भ में एक उल्लेखनीय बात तो यह है कि इसको बौद्ध वैयाकरणों ने अपने ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया, और दूसरी यह कि पाणिनीय सूत्रों के बहुत अर्वाचीन व्याख्या ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य आस्तिक दर्शनों में यह उपलब्ध नहीं होती। बुद्धघोष के अनुसार व्युत्पत्त्यर्थ पाणिनि द्वारा कल्पित है, किन्तु उनका विचार है कि इन्द्र का अर्थ यदि 'सुगत' कर लिया जाए तो कुछ संगति बैठ जाती है। जैनाचार्यों ने इन्द्र पद का अर्थ सामान्यतया जीव या आत्मा ही माना है। माठरवृत्ति जैसे प्राचीन ग्रन्थों में इन्द्रिय उनको बताया गया है, जो विषयों के प्रति दौड़ती हैं।[46] वाचस्पति मिश्र ने भी इन्द्रिय का आशय आत्मा का ज्ञापक ही माना है।[47]

वात्स्यायन के अनुसार इन्द्रियों के जो विभिन्न नाम हैं वे उनके द्वारा प्राप्त किये जाने वाले विषयों की संकल्पना के आधार पर प्रचलित हुए हैं।[48]

(ख) इन्द्रिय की परिभाषा

बौद्धों ने संवेदना के छः प्रकार बताये हैं—चाक्षुष, श्रावण, घ्राणन, रासन, स्पार्शन व मानस। इनके छः आश्रय इस प्रकार हैं—चक्षु, श्रोत्र, नासिका, रसना, त्वक् तथा चेतना। इनके छः विषय हैं—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श व मन। मन को चेतना का आश्रय माना गया है। बौद्धों ने इन्द्रियों की संख्या पाँच ही बताई है—नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना तथा त्वचा। इन्द्रियों से उनका

अभिप्राय वस्तुत: इन्द्रियों के अधिष्ठानों से है, अत: इन्द्रियाँ बौद्धों के अनुसार गोलक हैं और विभिन्न प्रकार के परमाणुओं से निर्मित होने के कारण भौतिक हैं।

जैन आचार्यों ने 'आत्मा' के लिंग को इन्द्रिय कहा है। उनके अनुसार इन्द्रियाँ आत्मा के अस्तित्व की परिचायक के साथ-साथ आत्मा के द्वारा होने वाले संवेदन की साधन भी हैं। जैनों की दृष्टि में उनकी संख्या पाँच हैं—स्पार्शन, रसन, घ्राणन, चाक्षुष, और श्रावण। इनके विषय भी पाँच हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द। इसलिये इन्द्रिय को प्रतिनियत अर्थग्राही माना गया है। यद्यपि आत्मा स्वभाव से ही अनन्त ज्ञानसम्पन्न है, तथापि आवरणों के कारण उसे इन्द्रियों का अवलम्ब लेना पड़ता है। इन्द्रियों से सम्बद्ध समस्याओं व प्रश्नों के निराकरण के लिए जैनाचार्यों ने इन्द्रिय की रचना, इन्द्रिय की ग्राहक शक्ति, इन्द्रिय की ज्ञानशक्ति और इन्द्रिय की ज्ञानशक्ति का व्यापार जैसे पहलुओं पर भी विचार किया है। चक्षु का आकार ठीक होते हुए भी यदि रूप का दर्शन नहीं होता तो इन्द्रिय का विकृत होना स्पष्ट है। आकार और ग्राहक शक्ति होते हुए भी तत्काल मृत व्यक्ति को रूप का दर्शन नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि उस व्यक्ति की ज्ञानशक्ति लुप्त हो गई है। अन्यमनस्क व्यक्ति को भी रूप का दर्शन नहीं होता, जिसका अर्थ है—सम्बद्ध व्यक्ति में प्रयत्न का अभाव। यद्यपि मन भी आत्मा के संवेदन का एक साधन है, परन्तु जैनाचार्य मन को इन्द्रिय नहीं मानते। प्रत्येक इन्द्रिय एकार्थ ग्राहक है, जबकि मन सर्वार्थ ग्राहक है।

सभी प्राणियों में इन्द्रियों का विकास समान रूप से नहीं होता। कुछ प्राणी केवल एकेन्द्रिय होते हैं। इसी प्रकार कुछ द्वीन्द्रिय, कुछ त्रीन्द्रिय कुछ चतुरिन्द्रिय तथा कुछ पंचेन्द्रिय होते हैं। इस विषमता का कारण यह बताया गया है कि जिस प्राणी के शरीर में जितनी ज्ञान ग्राहक शक्तियाँ विकसित होती हैं, उस प्राणी के शरीर में उतनी ही इन्द्रियों की आकृतियाँ बनती हैं। जैनाचार्यों के अनुसार पाँचों कर्मेन्द्रियों (वाक, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ) को त्वक् का ही अवान्तर भेद माना गया है। पाँचों इन्द्रियाँ दो-दो प्रकार की हैं—**द्रव्येन्द्रिय** (इन्द्रियों का बाह्य पौद्‌गलिक रूप) और **भावेन्द्रिय** (इन्द्रियों का आन्तरिक चिन्मय रूप।[49] द्रव्येन्द्रिय के भी दो भाग हैं—**'निवृत्ति'** अर्थात् इन्द्रियों की विविध आकार की रचना, और **'उपकरण'** यानी संवेदन में सहायक स्वच्छ पुद्‌गलों की शक्ति।[50] भावेन्दिय के भी दो भेद हैं—**लब्धि** और **उपयोग**। आवरण से क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाली शक्ति लब्धिभावेन्दिय है और उस

शक्ति का व्यापृत होना उपयोगभावेन्द्रिय है।[51] जैनाचार्यों के मतानुसार चार इन्द्रियां बाह्य पदार्थों (अपने-अपने विषय) के संसर्ग से उत्तेजित होकर अपने विषय का ग्रहण करती हैं, किन्तु चक्षु को संसर्ग की आवश्यकता नहीं है वह प्रकाश व रंग के आधार से ही संवेदन करता है। इस प्रकार चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं और चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी। आँख अपने विषय को छू कर नहीं देखती। वह अंजन को नहीं देख सकती।

इन्द्रिय के सम्बन्ध में यद्यपि न्याय वैशेषिक के लगभग सभी आचार्यों ने अपने मत व्यक्त किये हैं, किन्तु केशव मिश्र ने तर्कभाषा में जो परिभाषा दी है, वह बहुत अधिक प्रचलित हुई है। केशव मिश्र के अनुसार 'जो शरीर से संयुक्त हो, ज्ञान का करण हो और अतीन्द्रिय (अप्रत्यक्ष) हो, उनको इन्द्रिय कहते हैं'।[52] इस लक्षण में प्रयुक्त प्रत्येक पद की अनिवार्यता पर प्रकाश डालते हुए यह कहा गया है कि यदि 'अतीन्द्रियम्' पद न रखा जाए और केवल **'शरीर संयुक्त ज्ञानकरणम्'** इतने मात्र को ही लक्षण किया जाए तो 'प्रकाश' में अतिव्याप्ति हो जाएगी, क्योंकि प्रकाश शरीर से संयुक्त होता है और शरीर के चाक्षुष प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का करण होता है। किन्तु अतीन्द्रिय शब्द का प्रयोग करने पर यह दोष नहीं रहता, क्योंकि प्रकाश इन्द्रियवेद्य होता है, अतीन्द्रिय नहीं। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यहाँ पर अतीन्द्रिय शब्द का अर्थ है— 'लौकिक प्रत्यक्ष का विषय न बनने वाला'। अतीन्द्रिय का अर्थ यदि इन्द्रियों को अतिक्रान्त करनेवाला या 'इन्द्रियों का विषय न होने वाला' ऐसा किया जाएगा तो यहाँ इन्द्रिय शब्द का प्रयोग होने के कारण आत्माश्रय दोष हो जाएगा।[53] यदि लक्षण से **'शरीर संयुक्तम्'** इस अंश को हटा दिया जाए 'ज्ञानकरणम् अतीन्द्रियम्' इतना ही रखा जाए तो 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष' में अतिव्याप्ति हो जाएगी, क्योंकि वह निर्विकल्पकज्ञानरूप व्यापार के द्वारा सविकल्पक ज्ञान का करण और अतीन्द्रिय होता है, किन्तु **'शरीर संयुक्तम्'** को लक्षण का अंग मानने पर यह दोष न होगा, क्योंकि इन्द्रिय का सन्निकर्ष द्रव्यरूप नहीं होता, अतः वह शरीरसंयुक्त नहीं होता। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को अतीन्द्रिय मानने का यह कारण है कि इन्द्रिय तथा अर्थ में से केवल अर्थ का प्रत्यक्ष होता है, इन्द्रिय का नहीं, क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। जिन दो पदार्थों का संयोग होता है, यदि उनमें से एक का भी या दोनों का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण न हो तो उनके संयोग का भी प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण नहीं होता।[54]

यदि 'ज्ञानकरणम्' इस अंश को परिभाषा में से हटाकर **'शरीरसंयुक्तम् अतीन्द्रियम्'** इतने मात्र को ही रखा जाये, तो काल आदि में अतिव्याप्ति हो

जायेगी, क्योंकि काल भी शरीर से संयुक्त और अतीन्द्रिय होता है। किन्तु **'ज्ञानकरणम्'** का समावेश करने पर यह दोष नहीं रहता, क्योंकि कार्यमात्र का साधारण और साक्षात् कारण होने पर भी ज्ञान का करण (व्यापार द्वारा असाधारण कारण) नहीं। यहाँ ज्ञान करण का अर्थ है—'व्यापार द्वारा ज्ञान का असाधारण कारण'।[55]

(ग) इन्द्रियाँ भौतिक या अभौतिक ?

सांख्य दर्शन में प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार और अहंकार से एक और तन्मात्र व दूसरी ओर ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति कही गयी है। अहंकार के तीन भेद बताये गये हैं—वैकारिक, तैजस व तामस। वैकारिक से मन की, तैजस से दस इन्द्रियों की, तामस से तन्मात्राओं की और उनसे पंचमहाभूतों की सृष्टि होती है। मन के अतिरिक्त इस प्रकार दस इन्द्रिय हैं, जिन्हें कि बाह्य करण भी कहा जाता है। इसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन व घ्राण और पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं—वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ और मन (जिसे कि अन्तरिन्द्रिय कहा गया है) को मिलाकर सांख्य दर्शन में ग्यारह इन्द्रियाँ स्वीकृत हैं।[56] यथाक्रम इनके विषय हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध व वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग, आनन्द व स्मृति। सत्वांश की न्यूनता और तमस् अंश की अधिकता के कारण कर्मेन्द्रियों में ज्ञानसाधनता नहीं रहती। किसी ज्ञान के पूरा होने के लिये सबसे पहला पग इन साधनों का अपने विषय के साथ सम्बन्ध होना है, जो निश्चित रूप से बाह्य संसार है। इसके अनन्तर आन्तर साधन अपना कार्य करते हैं, तब ज्ञान पूरा हो पाता है। आन्तर साधनों के तीन स्तर हैं, जो विषय बाह्येन्द्रियों से गृहीत होता है, उसका मनन मन से, अभिमान अहंकार से तथा निश्चय बुद्धि के द्वारा होता है, यह ज्ञान का अन्तिम स्तर है। ज्ञान के इस क्रम में मन जो कार्य करता है, उसके आधार पर उसे केवल करण कहा जा सकता है, इन्द्रिय नहीं। क्योंकि तत्तत्-विषयों के साथ उसका सम्पर्क सीधे नहीं, प्रत्युत बाह्य इन्द्रियों के द्वारा होता है। आन्तरकरण होने से इसकी गणना अन्तःकरणों में की गई है। परन्तु मन का विषय स्मृति कहा गया है। किसी भी विषय की स्मृति तद्विषयक संस्कार अथवा वासनाओं के आधार पर प्रकाश में आती है। संस्कार अथवा वासनाओं का आधार चाहे जो हो, पर स्मृति रूप में प्रकट होने के लिए उनका सीधा सम्पर्क मन से होता है। इसलिये स्मृति के प्रकाशन में मन इन्द्रियरूप से उपस्थित होता है। अतः मन अन्तःकरण होते हुए भी इसी कारण से 'इन्द्रिय' कहा जाता है। ज्ञानेन्द्रियों

में पहले इन्द्रिय का विषय के साथ सम्बन्ध होता है, तब इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध मन अपना कार्य करता है, फिर अहंकार और अन्त में बुद्धि निश्चय करती है। पर कर्मेन्द्रियों में यह क्रम परिलक्षित नहीं होता। वहाँ जिस क्रिया का अनुष्ठान करना होता है, उसके अनुकूल संस्कार (अथवा वासना) किसी उद्बोधक निमित्त के द्वारा मन में स्मृति रूप से उठ आता है मन मनन, अहंकार अभिमान तथा बुद्धि उसका निश्चय कर डालती है। निश्चय के अनन्तर चेतन आत्मा की प्रेरणा से वह कर्मेन्द्रिय क्रियानुष्ठान में तत्पर हो जाती है।

समस्त इन्द्रियों की रचना अहंकार से होती है, अथवा अहंकार के अनन्तर सर्गक्रम में इन्द्रियों की रचना का अवसर आता है, इस कथन में कोई विशेष अन्तर नहीं है। मूल उपादान तत्त्व परिणमित होकर जब एक ऐसे स्तर पर आते हैं, जहाँ वे अहंकार कहलाते हैं, तो उसमें कुछ अन्य परिवर्तन व परिणाम भी होते हैं। उन्हीं को इन्द्रिय कहा जाता है। ऐसी अवस्था में चाहे अहंकार से उत्पादित कहें चाहे अहंकार के अनन्तर उत्पन्न कहें, इसमें कोई भेद इसलिए नहीं है कि उपादानतत्त्व तो वे ही रहते हैं, जिनमें कुछ अन्य परिवर्तन अथवा परिणाम होने पर 'इन्द्रिय' नामक तत्त्व का अस्तित्व उभर आता है। इसी कारण उनको आहंकारिक माना जाता है।[57] वे आहंकारिक होने से ही विषय ग्रहण में समर्थ हैं।[58]

सांख्य दर्शन में निरूपित सर्गक्रमानुसार इन्द्रिय की स्थिति ऐसी निरूपित की गई है कि तन्मात्र के साथ इनका अधिकाधिक सामीप्य प्रतीत होता है। संभवत: इस सामीप्य ने इस भावना को जागृत होने में सहायता दी कि इन्द्रियों का उत्पादन कहीं तन्मात्राओं से तो नहीं होता। कतिपय सांख्य आचार्य इस आभास से प्रभावित भी हुए और उन्होंने इन्द्रियों के भौतिक होने की घोषणा की। सांख्याचार्य पंचाधिकरण ने भी संभवत: इसी कारण इन्द्रियों को भौतिक बताया।[59] सृष्टिक्रम में इन्द्रियों की उत्पत्ति के अनन्तर यानी तत्त्वपरिणाम में कुछ अन्तराल के बाद भौतिक तत्त्वों का उत्पत्तिक्रम आरम्भ होता है, इसलिये इन्द्रियों का इन तत्त्वों के अनन्तर होना सम्भव नहीं। सांख्य में अध्यात्म और अधिभूतरूप से वस्तुस्थिति के अनुकूल सर्गक्रम की जो एक नियत शृंखला प्रस्तुत की गई है, उसमें इन्द्रियों को यदि भौतिक माना जाये तो यह शृंखला टूटकर बिखर जाती है व तत्त्वों के रचनाक्रम की सांख्यशास्त्रीय व्यवस्था अस्तव्यस्त हो जाती है।

ईश्वरकृष्ण ने सात्विक अहंकार से ही इन्द्रियों का उद्भव माना है। पुराणों के अनुसार सात्त्विक अहंकार से मन, राजस अहंकार से दस इन्द्रियाँ तथा तामस अहंकार से पंच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। सांख्यसूत्र के भाष्यकार विज्ञान भिक्षु ने सम्भवत: पौराणिक कथनों से प्रभावित होकर ही यह कहा कि केवल ग्यारहवीं इन्द्रिय 'मन' ही सात्विक है और अन्य दस इन्द्रियाँ राजस हैं, सात्विक नहीं।

वाचस्पति मिश्र का मत इससे भिन्न है। उनका कथन है कि 'प्रकाशकारी तथा क्षिप्र होने के कारण ग्यारह इन्द्रियों का समूह सात्विक है। अत: इन्द्रिय-गण वैकृत (सात्विक) अहंकार से उत्पन्न होता है। तामस अहंकार से पंच-तन्मात्राओं का गण उत्पन्न होता है। यद्यपि अहंकार एक ही है, तथापि गुणों के उद्भव और अभिभव से कार्य भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। तैजस् (राजस्) दोनों (वैकृत और तामस) को प्रेरित करता है।[60]

इस प्रश्न के संदर्भ में कि यदि सभी इन्द्रियाँ सात्विक हैं तो कर्मेन्द्रियाँ भी विषयों का प्रकाशन क्यों नहीं करतीं; यह कहा जा सकता है कि 'उत्कृष्ट तत्त्व प्रधान अहंकार के मन, मध्यम सत्व-प्रधान अहंकार से बुद्धीन्द्रियाँ तथा निकृष्ट सत्व-प्रधान अहंकार से कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। अतएव जहाँ मन सर्वाधिक विषय प्रकाशक है, वहाँ बुद्धिन्द्रियाँ विषय का प्रकाश करती हुई भी मन की तरह नहीं करतीं और कर्मेन्द्रियाँ तो प्रकाश करती ही नहीं है'।[61]

न्याय-वैशेषिक प्रवृति दर्शनों में इन्द्रियाँ भौतिक अर्थात् आकाशादि भूतों से उत्पन्न मानी गयी हैं, किन्तु सांख्याचार्यों का यह कथन है कि अप्रकाशक आकाश आदि से यदि इन्द्रियाँ उत्पन्न होतीं तो वे प्रकाशक कैसे हो सकतीं थीं ?

योग दर्शन में इन्द्रियों के विषय में विशेष कुछ नहीं कहा गया है। व्यास के अनुसार स्थूल व सूक्ष्म इन्द्रियों के दो प्रकार कहे गये हैं।[62] विज्ञान-भिक्षु के अनुसार बुद्धि व अहंकार तो सूक्ष्म इन्द्रियाँ हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ चक्षु, त्वक् श्रोत्र, घ्राणेन्द्रिय व रसनेन्द्रिय व पाँच कर्मेन्द्रियाँ वाक्, पाणि, पादि, पायु व उपस्थ और मन स्थूल इन्द्रियाँ हैं।[63] व्यास का मत है कि मनस् के द्वारा सभी पदार्थों का निश्चयात्मक ज्ञान होता है।[64] योग भाष्य में मन को सर्वार्थग्राही कहा गया है।[65]

(घ) इन्द्रियों की संख्या

इन्द्रिय के छः भेद होते हैं—घ्राण रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र और मन। इनमें से मन आन्तरिक इन्द्रिय है और अन्य बाह्येन्द्रिय। न्यायवैशेषिक दर्शनों

में कर्मेन्द्रियों की मान्यता स्वीकार नहीं की गई है। वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ को न्याय में अवयव माना गया है, इन्द्रिय नहीं। सांख्य, वेदान्त आदि दर्शनों में वाक् आदि को कर्मेन्द्रिय माना गया है।

सांख्यशास्त्र में एकादशेन्द्रिय के अतिरिक्त द्विज्ञानेन्द्रियवाद की चर्चा की गई है। इस मत के अनुसार इन्द्रियाँ दो ही हैं—त्वक् और मन। त्वक् पूरे शरीर में व्याप्त है अत: वह सभी वाह्य विषयों का ग्रहण कर लेती है। इस मत का खन्डन इस तरह से किया गया है कि त्वक् को रूप आदि का ग्राहक मानने पर त्वक् में सभी गुणों का अस्तित्व मानना पड़ेगा। यदि ऐसा माना जाये तो फिर ऐसा मानना होगा कि जैसे मन सुख आदि से हीन होते हुये भी सुख आदि का ग्राहक है, वैसे ही त्वक् भी सर्वग्राहक है। किन्तु यह संभव नहीं, क्योंकि फिर तो त्वक् को वायु प्रकृतिक न मानकर पृथ्वीप्रकृतिक मानना होगा और परिणामस्वरूप यह भी मानना होगा कि पूरे शरीर में उसकी व्यापकता नहीं है क्योंकि पूरे शरीर में किसी अतीन्द्रिय पार्थिव अंश का सद्भाव प्रामाणिक नहीं है।[66] विभिन्न इन्द्रियों के स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(1) **घ्राण**—गन्ध के ग्रहण में साधनभूत इन्द्रिय को घ्राण कहा जाता है।[67] वह नासिका के अग्र भाग में रहती है और घट की तरह गन्धयुक्त होने के कारण पार्थिव है। गन्ध का ग्रहण करने के कारण वह गन्धवत् कहलाती है। जब इन्द्रिय के साथ गन्धयुक्त द्रव्यांश का संयोग होता है तो सयुक्त समवाय सन्निकर्ष से गन्ध का घ्राण द्वारा ग्रहण होता है।

(2) **रसन**—जो इन्द्रिय रस के ग्रहण का साधन हो, उसको रसन कहते हैं।[68] वह जिह्वा के अग्र भाग में रहती है और जल से उत्पन्न होनेवाली है, क्योंकि वह रसयुक्त है। जब कोई रसयुक्त पदार्थ जिह्वा के अग्रभाग से संयुक्त होता है, तो रसनेन्द्रिय संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष से रस की उपलब्धि करती है।

(3) **चक्षु**—रूप की उपलब्धि में साधनभूत इन्द्रिय का नाम चक्षु है।[69] वह आँख की काली पुतली के अग्रभाग में रहती हैं। वह तेज के परमाणुओं से उत्पन्न होने के कारण तैजस कहलाती है।

इस इन्द्रिय में किरण होती है। आँख जब खुलती है तो पुतली से किरणें निकल कर सामने विद्यमान द्रव्य के पास पहुँच जाती हैं। उस द्रव्य के साथ चक्षु का संयोग सन्निकर्ष होता है और द्रव्यगत रूप के साथ चक्षु का संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष होता है। द्रव्यगत रूप की उपलब्धि का साधन होने के कारण चक्षु को इन्द्रिय कहते हैं।

(4) **त्वक्**—स्पर्श की उपलब्धि के साधनभूत इन्द्रिय को त्वक् या स्पर्शनेन्द्रिय कहा जाता है। यह इन्द्रिय वायु के परमाणुओं से उत्पन्न एक वायवीय द्रव्य है। इसकी वायवीयता इस अनुमान से सिद्ध होती है कि 'जो रूप आदि गुणों के केवल स्पर्श का अभिव्यंजक होता है, वह वायवीय होता है, जैसे शरीर में अवस्थित स्वेद की शीतलता की अभिव्यंजक पंखे की हवा'।

(5) **श्रोत्र**—जो इन्द्रिय शब्द की उपलब्धि का साधन हो, उसको श्रोत कहा जाता है।[70] अन्य इन्द्रियाँ पार्थिव हैं किन्तु श्रोत आकाश-जन्य नहीं अपितु आकाशात्मक है। जिस प्रकार घट से घिरा हुआ आकाश घटाकाश कहलाता है, उसी प्रकार कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न आकाश ही श्रोत्र कहलाता है। अदृष्ट के सहायक न होने से बधिर को शब्द का श्रवण नहीं होता। अतः अदृष्ट विशिष्ट आकाश ही श्रोत्र है। जैसे चक्षु आदि इन्द्रियाँ रूप आदि का ग्राहक होने से रूप आदि का आश्रय होती हैं, उसी प्रकार शब्द का ग्राहक होने के कारण श्रोत को भी शब्द का ग्राहक माना जाता है।

(6) **मन**—जिससे मनन किया जाये तथा बाह्य इन्द्रियों के ग्रहण न किये जा सकने वाले सुख दुःखादि का ग्रहण किया जाये, उसको मन कहते हैं। वह अणु परिमाण और हृदयान्तर्वर्ती होता है।[71]

(ङ) इन्द्रियों की प्राप्यकारिता

गौतम ने 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' को प्रत्यक्ष का आधार माना है। सन्निकर्ष का अर्थ है संयोग अथवा एक-दूसरे के पास आना या पहुँचना। यहाँ पर स्वाभाविक रूप से ही यह प्रश्न उठता है कि इन्द्रियाँ विषय के पास जाती हैं या विषय इन्द्रियों के पास आते हैं या दोनों में ही गति होती है? प्राचीन नैयायिक इन्द्रियों में ही प्राप्यकारित्व को मानते हैं। पर प्राप्यकारित्व के निर्वचन में प्राचीन नैयायिकों में भी कुछ मतभेद है। उनका यह कथन है कि केवल चक्षुरिन्द्रिय ही वस्तु तक जाकर उसके रूप का संस्कार लेकर लौटती है। अतः प्राप्यकारी का अर्थ है—जाकर काम करने वाली। अन्य इन्द्रियाँ अपने अधिष्ठानों से बाहर नहीं जातीं। उदाहरण के रूप में श्रोत्रेन्द्रिय कहीं नहीं जाती। शब्द स्वयं वायु की तरंगों में लहराता हुआ प्राणियों के कर्णस्थित आकाश तक आता है। गंधयुक्त द्रव्यों के सूक्ष्म अणु भी स्वयं उड़कर नासिक के पास आते हैं, अतः घ्राणेन्द्रिय भी कहीं नहीं जाती। यही बात त्वगिन्द्रिय और रसनेन्द्रिय के बारे में भी है। तात्पर्य यह है कि ये इन्द्रियाँ अधिष्ठानों से बाहर नहीं जातीं, पर विषय से

संपर्क होने पर वे उसका संस्कार ग्रहण कर लेती हैं। इस प्रकार नैयायिक चक्षुरिन्द्रिय में ही प्राप्यकारिता मानते हैं, अन्य इन्द्रियों में नहीं। जयन्त भट्ट ने प्राप्यकारिता शब्द का निर्वचन एक विशेष ढंग से किया है। उनके मत में प्राप्यकारिता का अर्थ है विषय को पाकर काम करना। इस निर्वचन को ध्यान में रखा जाय तो चक्षु के अतिरिक्त अन्य सब इन्द्रियों में भी प्राप्यकारिता मानी जा सकती है। क्योंकि सभी इन्द्रियाँ विषय को पाकर ही संस्कार को ग्रहण करती हैं। ऐसी स्थिति में इन्द्रियाँ विषय के पास जाएँ या विषय ही इन्द्रियों के पास आएँ, संस्कार ग्रहण रूपिणी प्राप्यकारिता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। तात्पर्य यह कि इन्द्रियों में प्राचीन नैयायिकों के अनुसार प्राप्यकारिता है यद्यपि प्राप्यकारिता के अर्थ के सम्बन्ध में उनमें कुछ मतभेद भी है। नव्य नैयायिकों के सामने ही प्रकरण ग्रन्थकारों में से केशव मिश्र ने भी प्रत्यक्ष के मूल लक्षण में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का तो समावेश नहीं किया,[72] किन्तु प्रत्यक्ष प्रमा के करण के रूप में उसका अस्तित्व स्वीकार करते हुये यह माना है कि इन्द्रियों में वस्तुप्राप्यप्रकाशकारित्व का नियम लागू होता है।[73] नव्य नैयायिक इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को आवश्यक नहीं मानते अतः वे प्राप्यकारिता को भी स्वीकार नहीं करते।

बौद्ध दार्शनिक इन्द्रियों को प्राप्यकारिता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। दिङ्नाग ने इसके विपक्ष में कई तर्क प्रस्तुत किए। उदयनाचार्य ने करणावली में दिङ्नाग के तर्कों का प्रबल रूप से खण्डन किया है। दिङ्नाग का कथन है कि आँख की पुतली शरीर का अवयव है अतः चक्षुरिन्द्रिय शरीर के बाहर जाकर कैसे काम कर सकती है? यदि चक्षुरिन्द्रिय बाहर जाती तो समीपस्थ वस्तु शीघ्र और दूरस्थ वस्तु देर से दिखाई देती। यदि चक्षु में प्राप्यकारिता होती तो पहाड़ जैसी विशाल वस्तुओं का प्रतिबिम्ब हमारी छोटी-सी आँख में कैसे आता? सीसा जैसे पदार्थों का व्यवधान होने पर भी वस्तुएँ दिखाई देती हैं। यदि चक्षुरिन्द्रिय प्राप्यकारी होती तो सीसा आदि पदार्थों से भी रोक दी जाती। उदयनाचार्य ने इन शंकाओं का निराकरण इस प्रकार से किया है कि चक्षुरिन्द्रिय का आशय है 'तेजस्' न कि 'पुतली'। तेजस् चक्षु के निकलकर जाता हैं और प्रकाश की तरह जिस वस्तु पर भी पड़ता है, उसका संस्कार ग्रहण कर लेता है। तेजस् की गति इतनी तेज है कि उसे बहुत दूर जाने में भी जरा भी देर नहीं लगती। अतः दूरस्थ और समीपस्थ वस्तुओं के देखने में कोई अन्तर नहीं पड़ता। तेजस् सम्पूर्ण दृष्टि क्षेत्र में व्यापक है। अतः वह बड़ी-से बड़ी और छोटी-से-छोटी सभी वस्तुओं का संस्कार ग्रहण कर लेता है। सीसा आदि पदार्थ पारदर्शक होने के कारण तेजस् की गति को रोकते नहीं हैं।

नैयायिक इन्द्रियों की प्राप्तकारिता को अनुमान के आधार पर निरूपित करते हैं, वे अनुमान का स्वरूप इस प्रकार बताते हैं—इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि वे बाह्येन्द्रियाँ हैं (हेतु), त्वक् इन्द्रिय के समान (उदाहरण)।

जिस इन्द्रिय से जिस द्रव्य, गुण, या कर्म का प्रत्यक्ष होता है, उसी से तद्गत जाति का प्रत्यक्ष भी होता है। द्रव्य में पाये जाने वाले, गुण, कर्म या जाति के प्रत्यक्ष में संयुक्त समवाय नामक सन्निकर्ष होता है।

आधुनिक वैज्ञानिकों का यह मत है कि चक्षुरिन्द्रिय विषय के पास नहीं जाती अपितु आँख में ही विषय का प्रतिफलन होने से उसका प्रत्यक्ष हो जाता है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि यदि प्रतिफलन का सिद्धान्त सही होता तो पीलियाग्रस्त आँख में भी श्वेत का प्रतिफलन श्वेत ही होना चाहिये था। जबकि तथ्य यह है कि पीलिया ग्रस्त आँख से सभी वस्तुएँ पीली ही दिखाई देती हैं।

कुछ लोगों का मत है कि त्वक् समग्र शरीर में व्याप्त है, अतः उसको ही एकमात्र इन्द्रिय मानना चाहिए चक्षु आदि को नहीं। किन्तु यह कथन अनुचित है, क्योंकि इस तरह तो अन्धे को भी रूप का प्रत्यक्ष हो जाना चाहिए। यदि यह कहा जाए कि चक्षु आदि त्वक् के ही अवयव हैं और उन विभिन्न अवयवों से रूप आदि विभिन्न विषयों का प्रत्यक्ष होता है, तो भी यह उचित नहीं है, क्योंकि यदि अवयव भिन्न होंगे तो इन्द्रियां भी विभिन्न मानी जाएँगी। अवयव और अवयवी को एक नहीं माना जा सकता।

3. प्रत्यक्ष को प्रक्रिया में आत्मा का स्थान

विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा विभिन्न विषयों का प्रत्यक्ष होता है, परन्तु यदि विभिन्न इन्द्रियों की पृष्ठभूमि में कोई एक सत्ता न हो तो दर्शन, स्पर्शन आदि क्रियाओं का अधिकरण भी भिन्न मानना होगा। अनुभव यह बताता है कि विभिन्न ज्ञानों का ज्ञाता एक ही है। उदाहरणतया आँख से हम जिस वस्तु को देखते हैं, हाथ से उसी समय उसका स्पर्श भी कर सकते हैं।[74] इन दोनों का प्रमाता एक ही है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि प्रमाता कौन है? इस संदर्भ में इन्द्रिय, शरीर, मन, बुद्धि की स्थिति पर समुचित विचार के बाद नैयायिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ज्ञान का अधिकरण अर्थात् वह तत्त्व जो विभिन्न इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयों का समन्वित रूप से ग्रहण करता है, आत्मा है।

वात्स्यायन का कथन है कि विषयों का संपक इन्द्रियों से, इन्द्रियों का मन से और मन का आत्मा से होता है वह भौतिक पदार्थों के प्रत्यक्ष की प्रक्रिया है। सुख और दुःख का साक्षात्कार आत्मा स्वयं करता है। अतः प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में आत्मा कहीं सीधे और कहीं इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान का अधिकरण बनता है।

विषयों, इन्द्रियों और मन का आत्मा के साथ संयोग प्रत्यक्ष की प्रक्रिया का अंग है, किन्तु आत्मा और मन का संयोग अनुमान आदि में भी होता है। आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मनसात्मवाद, बुद्धयात्मवाद, के रूप में अनेक मत प्रचलित हैं। इस संदर्भ में नैयायिकों का यह मत है कि आत्मा इन्द्रियों और ज्ञान का अधिष्ठान है। (प्रमेय के रूप में आत्मा का विस्तृत विश्लेषण दसवें अध्याय में किया गया है।)

4. प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में मन की भूमिका

वात्स्यायन का कथन है कि बाह्येन्द्रियाँ स्मृति आदि का निमित्त नहीं हीं सकतीं। इन्द्रियों का अर्थों से युगपत् सन्निकर्ष होने पर भी उनका युगपत् ज्ञान नहीं होता। इसलिए यह अनुमान लगाया जाता है कि इन्द्रियों का सहयोगी ऐसा कोई निमित्त अवश्य है, जिसकी सन्निधि के अभाव में ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी को मन कहते हैं।[75] यद्यपि अंग्रेजी के 'माइण्ड' शब्द और संस्कृत के 'मनस्' शब्द का पर्यायों के रूप में प्रयोग होता है, किन्तु वस्तुतः दोनों की संकल्पनाओं में पर्याप्त अन्तर है। नैयायिक, वैशेषिक मीमांसक तथा सांख्याचार्य मन को एक आन्तरिक इन्द्रिय मानते हैं। इस रूप में अन्य इन्द्रियों के समान मन भी अचेतन है क्योंकि ये दार्शनिक चैतन्य तो केवल आत्मा में ही मानते हैं। मन में और अन्य इन्द्रियों में यही अन्तर रह जाता है कि यह अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है। पाश्चात्य दार्शनिक 'माइण्ड' को चेतना मानते हैं। अतः 'मन' और 'माइण्ड' का पर्यायवाचित्व एक बहुत मोटे रूप में ही माना जा सकता है।

शरीर के जिन अवयवों के द्वारा विषय का ग्रहण होता है, वे इन्द्रिय कहलाते हैं। इन्द्रियां स्वयं अतीन्द्रिय होती हैं। वे भोग की साधन तथा अपने-अपने विषयों की ग्राहक होती हैं।[76] मन के द्वारा आत्मा सुख दुःख का ग्रहण करता है अतः मन आन्तरिक इन्द्रिय है। मन के इन्द्रियत्व के सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिक भी एकमत नहीं हैं। बौद्ध आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं

करते, अतः उनके मत में आन्तरिक इन्द्रिय की भी कोई आवश्यकता नहीं है। शंकर का कथन है कि स्मृतियों के अनुसार मन इन्द्रिय है और श्रुतियों के अनुसार नहीं है। धर्मराज तथा विवरणकार के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि वाह्य प्रत्यक्ष में जैसी प्रक्रिया अपनाई जाती है, वैसी आन्तरिक प्रत्यक्ष में भी अपनायी जाए। इसके अतिरिक्त ज्ञान और आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। कुमारिल के मतानुसार मनस् इन्द्रिय है। ईश्वर कृष्ण का कथन है कि मन अहंकार का परिणाम है। यह अचेतन है और संकल्प तथा इन्द्रिय रूप से उभयात्मक है। इस सम्बन्ध में नव्य नैयायिकों का यह दृष्टिकोण है कि मन आंशिक रूप से इन्द्रिय है और आंशिक रूप से नहीं। वाह्य वस्तुओं के प्रत्यक्षण में यह इन्द्रिय नहीं है क्योंकि यह करण नहीं। जयन्त भट्ट के अनुमार गौतम ने प्रमेयों में इन्द्रियों के अतिरिक्त मन की अलग से गणना इसलिये की है कि मन और अन्य इन्द्रियों में अन्तर है। मन अभौतिक और अनियत विषयक है जबकि अन्य इन्द्रियाँ भौतिक हैं और उनके विषय भी नियत हैं। मन अचेतन है तथा अनुपरिमाण है। वेदान्त, वौद्ध और जैन मतों के अनुसार अन्तःकरण की संशयात्मक अवस्था का नाम ही मन हैं। अद्वैत वेदान्त का मत इस मान्यता पर आधारित है कि आत्मा ही एकमात्र सत् है और उससे भिन्न सभी कुछ अविद्याजन्य और असत् है। मन को वे जड़ तथा परिच्छिन्न मानते हैं। पंचदशी तथा वेदान्तसार में अन्तःकरण के दो कार्य बताये गये हैं—मन और बुद्धि।[77] पंचदशी के अनुसार चित्त का मन में और अहंकार का बुद्धि में समावेश हो जाता है, जबकि वेदान्तसार के अनुसार अवंकार का मन में और चित्त का बुद्धि में समावेश होता है।

न्यायवैशेषिक के अनुसार आत्मा के सुख-दुःखादि गुणों का प्रत्यक्ष बाह्य-करणों (चक्षुरादि) से नहीं होता। मन के द्वारा आत्मा अपने गुणों का प्रत्यक्ष करता है। अतः यह आन्तर तथा मानस प्रत्यक्ष का कारण है इसलिए इसको अन्तःकरण के नाम से भी अभिहित किया जाता है। सूत्रकार गौतम ने भी मन के अस्तित्व में एक काल में एक ही ज्ञान होने के कारण अनुमान को प्रमाण माना है।[78] भाष्यकार ने इसके अतिरिक्त स्मृति, अनुमान, आगम, संशय, प्रतिभा, स्वप्न, ऊह, सुख आदि विषयों के प्रत्यक्ष एवं इच्छा आदि गुणों को मन का लिंग माना है।[79] मन का ज्ञानेन्द्रियों के साथ सन्निकर्ष युगपद् नहीं अपितु क्रम से होता है इससे प्रतीत होता है कि मन अणुपरिमाण है।[80] ज्ञानों में जो कभी-कभी एक साथ ही होने की भ्रान्ति उत्पन्न होती है वह मन की द्रुतगति होने के कारण है—जैसे अलातचक्र के विषय में।[81] क्रमशः ज्ञान

प्राप्ति के कारण ही मन एक है व प्रति शरीर में नियत है।[82] जन्य न होने से मन एक नित्य तत्त्व, अभौतिक व सर्वविषयग्राहक है, जबकि इन्द्रियाँ भौतिक व विशेष गुणों को ग्रहण करने वाली हैं।[83] इसको देह व इन्द्रियों से पृथक् स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है जो कि श्रुति प्रमाणित है।[84] न्याय वैशेषिक के अनुसार आकाश, जल, वायु, अग्नि आदि में भूतत्त्व है, पर मूर्तत्त्व नहीं जबकि मन एक अन्तरिन्द्रिय, अभौतिक, अणु, अवयव रहित व सक्रिय है। प्रतिशरीर नियत होने से मन आत्मा के समान अनन्त है। शिवादित्य ने स्पर्शशून्य क्रियाधिकरण को मन कहा है।[85] यह ज्ञान का करण है, इसलिये अचेतन है। जिस प्रकार लकड़ी काटने की क्रिया में कुठारादि करण चेतन नहीं होते, उसी प्रकार मनस् भी आत्मा में ज्ञानादि रूप क्रिया की अनुभूति में करण होने से अचेतन है। मनस्त्व जाति से युक्त मनस् है, अर्थात् मनस्त्व उसमें रहने वाला सामान्य है।[87] प्रत्येक मनस् का एक विशेष होता है जो उसे दूसरे मनस् से पृथक् करता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के उत्पत्तिस्थल में मन ऐसा साधारण कारण माना जाता है जो कि आत्मा व इन्द्रिय से संयुक्त रहता है। वार्तिककार उद्योतकर मन को न भौतिक मानते हैं और न अभौतिक। मन सक्रिय है। वे मन की गति को प्राणी के अदृष्ट द्वारा ही नियन्त्रित मानते हैं। धर्माधर्मरूप अदृष्ट ही मन को विभिन्न विषयों की ओर प्रवृत्त एवं उनसे निवृत्त करता है। वार्तिककार के मतानुसार आत्मा व मन अतीन्द्रिय हैं अत: उनका संयोग भी अतीन्द्रिय है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि न्याय-वैशेषिक दर्शन में मनस् को अंतरिन्द्रिय, अणु, नित्य अचेतन तथा स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकृत किया गया है (प्रमेय के रूप में मन का विवेचन दसवें अध्याय में किया गया है)।

5. प्रत्यक्ष के कुछ विशिष्ट विषय

वैसे तो लोक व्यवहार में सामान्यतया यह कहा जाता है कि **'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्'** किन्तु कतिपय अवसरों पर 'प्रत्यक्ष हुआ या नहीं' इस पर ही विवाद उठ खड़ा होता है। प्रत्यक्ष से सम्बद्ध इस प्रकार की प्रमुख समस्याओं में अभाव के प्रत्यक्ष, ज्ञान के प्रत्यक्ष और जाति के प्रत्यक्ष की गणना की जा सकती है।

(क) अभाव का प्रत्यक्ष

अभाव एक पदार्थ है या नहीं या अभाव (अनुपलब्धि) स्वयं एक पृथक् प्रमाण है या नहीं? इन प्रश्नों पर दार्शनिकों ने जो चर्चा की है, उसका उल्लेख आगे

किया जायगा। किन्तु यहाँ पर प्रसंगवश यह जान लेना उचित होगा कि अभाव का प्रत्यक्ष होता है या नहीं और यदि होता है तो कैसे होता है ?

न्यायसूत्र और वैशेषिक सूत्र में अभाव के स्वरूप पर विचार नहीं किया गया। वस्तुसत्ता के सन्दर्भ में भले ही उद्योतकर ने भी इसका उल्लेख किया हो, किन्तु सातवें पदार्थ के रूप में अभाव का विधिवत् निरूपण तो शिवादित्य की सप्तपदार्थी में ही उपलब्ध होता है। प्रशस्तवाद ने प्रमाण के रूप में अभाव को अनुमान के अन्तर्गत ही माना है।[88] श्रीधर ने न्यायकन्दली में स्पष्ट उल्लेख किया है कि प्रशस्तपाद ने अभाव को एक अतिरिक्त पदार्थ के रूप में नहीं माना है।[89] अभाव पदार्थ से तात्पर्य है सत्तारहित पदार्थ, जिसमें समवाय आदि सभी सम्बन्धों का अभाव रहता है। अभाव सामान्यतया चार प्रकार का माना गया है, परन्तु अधिकांश विद्वानों के मतानुसार यह मुख्यतया दो प्रकार का होता है :— (1) संसर्गाभाव और (2) अन्योन्याभाव। उनमें से संसर्गाभाव तीन प्रकार का है, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव।[90]

प्रागभाव—उत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्य का जो अभाव होता है वह प्रागभाव कहलाता है, जैसे तन्तुओं में पटाभाव। यह अनादि है साथ ही विनाशी भी।

प्रध्वंसाभाव—जो अभाव सादि है और अनन्त है, वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है, जैसे उत्पत्ति के अनन्तर कार्य का विनाश।

अत्यन्ताभाव—त्रैकालिक अभाव अत्यन्ताभाव कहलाता है जैसे वायु में रूप का अभाव।

अन्योन्याभाव—जो तादात्म्य प्रतियोगिताक अभाव होता है। जैसे घट पट नहीं होता है।

अभाव का ज्ञान कैसे होता है, इस सम्बन्ध में विभिन्न लोगों के विभिन्न मत हैं।

भाट्ट मीमांसक व वेदान्ती अभाव को योग्यानुपलब्धि की संज्ञा देते हैं। उनका मत है कि यह प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञेय नहीं। प्रत्यक्ष में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष की आवश्यकता होती है, जबकि अभाव में किसी प्रकार का इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष संभव नहीं। प्रभाकरानुयायियों व बौद्धों के अनुसार इसे अनुमान द्वारा जाना जाता है। बौद्ध अभाव को स्वतन्त्र सत्ता या प्रमाण के रूप में मानने के पक्ष में नहीं हैं। उनके मतानुसार अभाव की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। जब हम घट रहित

भूतल देखते हैं तो कहते हैं कि घट नहीं है। किसी वस्तु की अनुपलब्धि ही उस वस्तु का अभाव सूचित करती है। घट की अनुपलब्धि होना ही घटाभाव है। जो कि अनुमान द्वारा ज्ञेय है। प्रभाकर का भी यह मत है कि जब हम 'भूतले घटाभाव:' ऐसा कहते हैं तो न घट का प्रत्यक्ष होता है न ही उसके अभाव का; केवल रिक्त भूतल का ज्ञान होता है।[91]

प्रभाकर का यह मत है कि अभाव उसके अधिकरण से भिन्न वस्तु नहीं है। वेदान्तियों के अनुसार भी अभाव केवल अधिकरण ही है। मीमांसकों का इस सम्बन्ध में यह तर्क है कि अभाव को अधिकरण से पृथक मानने पर अनवस्था होगी, क्योंकि घट का अभाव घटाभाव होगा और घटाभाव का अभाव एक अन्य अभाव रहेगा। प्राचीन नैयायिक घटाभाव के अभाव को 'घट' ही कहते हैं। नव्यनैयायिकों के मत में घटाभाव का अभाव न घट है और न घटाभाव, अपितु एक तीसरा अभाव है, जो प्रथम घटाभाव से अभिन्न है। वे कहते हैं कि अभाव का तादात्म्य अभाव से ही हो सकता है, घट जैसी भाववस्तु से नहीं।[92]

एक वस्तु दूसरी वस्तु (अधिकरण) के साथ जिस सम्बन्ध से रहती है, वह संसर्ग सम्बन्ध कहलाता है। संसर्ग दो प्रकार का होता है, संयोग तथा समवाय; घट का पृथ्वी पर होना संयोग सम्बन्ध है एवं गन्ध का पृथ्वी में होना समवाय सम्बन्ध है। घटवद्भूतलम् का अर्थ है—संयोगसम्बन्ध से घटवत्। 'भूतले घटोनास्ति' का आशय है—संयोग सम्बन्धावच्छिन्न भूतलनिष्ट घटाभाव। यह ज्ञातव्य है कि न्याय-वैशेषिक व भाट्ट मीमांसकों ने अभाव की सत्ता को तो (Objective Reality) स्वीकार किया है किन्तु अन्तर यह है कि नैयायिक इसका ज्ञान इन्द्रिय सन्निकर्ष द्वारा मानते हैं, जबकि कुमारिल ने इसके ग्रहण के लिये अनुपलब्धि नामक एक स्वतन्त्र प्रमाण की उद्भावना की है।

अभाव के प्रत्यक्ष की प्रक्रिया--नैयायिकों के अनुसार जहाँ किसी वस्तु के अभाव का प्रत्यक्ष करना होता है, उस अधिकरण से नेत्र आदि इन्द्रियों का संयोग होता है, जैसे कि भूतल में घटाभाव के प्रत्यक्ष के समय नेत्र और भूतल संयुक्त होंगे। नेत्र आदि इन्द्रिय एवं घटाभाव का सम्पर्क संयुक्त विशेषणता अथवा संयुक्त विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध कहलाता है। घटाभाव के साथ चक्षु के सम्बन्ध को ही दूसरे शब्दों में **'इन्द्रिय-सम्बद्ध-विशेषणता'** अथवा **'इन्द्रिय-सम्बद्ध-विशेष्यता'** भी कह सकते हैं। इस प्रकार घटाभाव युक्त भूतल है (घटाभाववद् भूतलम्) इस प्रतीति में (जहाँ भूतल विशेष्य के रूप में प्रतीत होता है) इन्द्रिय संयुक्त-विशेषणता तथा 'भूतल में घटाभाव है' इस प्रतीति में (जहाँ घटाभाव विशेष्य

एवं भूतल विशेषण के रूप में प्रतीत होता है)। संयुक्तविशेषणता सन्निकर्ष होगा। इस प्रकार अभाव प्रत्यक्ष में विशेषण-विशेष्य-भाव-सन्निकर्ष कारण होगा। भूतल में विद्यमान रूप में यदि घटाभाव का प्रत्यक्ष करें तो नेत्र और भूतल का संयोग सम्बन्ध, भूतल और रूप का समवाय सम्बन्ध तथा रूप और अभाव (घटाभाव) का विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध होने से समन्वित रूप में संयुक्त-समवेत-विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध होगा। इसी प्रकार अन्य सम्बन्ध भी ग्राह्य हैं।

भाट्ट मीमांसक अभाव (अनुपलब्धि) को पृथक् प्रमाण मानते हैं। उनका मत है कि अभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, क्योंकि अभाव के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं हो सकता है। सम्बन्ध मुख्यत: दो ही होते हैं—संयोग तथा समवाय। संयोग सम्बन्ध दो द्रव्यों के बीच ही होता है। अत: द्रव्य-भिन्न अभाव तथा द्रव्यात्मक इन्द्रिय में संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता है। समवाय सम्बन्ध भी सम्भव नहीं है, क्योंकि अभाव तथा चक्षुरादि इन्द्रियों में अयुतसिद्धत्व नहीं है। संयोग तथा समवाय की असम्भवता ही संयुक्त-समवाय, संयुक्त-समवेत-समवाय तथा समवेत-समवाय की असम्भावता को भी प्रमाणित कर देती है। **'भूतले घटाभाव:'** और **'घटाभाववत् भूतलम्'** इन दोनों प्रतीतियों के आधार पर घटाभाव को चक्षु: संयुक्त भूतल का विशेषण अथवा विशेष्य नहीं माना जा सकता है, क्योंकि विशेषण-विशेष्य भाव भी संयोग अथवा समवाय आदि प्रसिद्ध सम्बन्धों पर ही व्यवस्थित होता है। जैसे—'दण्डीपुरुष:' में दण्ड विशेषण है और पुरुष विशेष्य है। परन्तु यह विशेषण-विशेष्य भाव दण्ड तथा पुरुष के बीच सम्पन्न संयोग पर आश्रित है। इसी प्रकार 'नीलोघट:' में विशेषण-विशेष्यभाव समवाय सम्बन्ध पर निर्भर है। अत: यह सिद्ध हो जाता है कि **'यत्र-यत्र विशेषण-विशेष्यभाव:, तत्र-संयोगादि सम्बन्ध: ।'** एवंच **'व्यापक निवृत्तौ व्याप्य-निवृत्ति:'** के अनुसार भूतल एवं घटाभाव के बीच संयोगादि सम्बन्ध की व्यावृत्ति से उस पर निर्भर विशेष्य-विशेषण भाव की भी व्यावृत्ति हो जाती है। दूसरी बात यह है कि विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध के लक्षण **'सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्याम् भिन्नो द्विष्ठोऽखण्डश्च'** की समन्विति विशेषण-विशेष्यभाव में नहीं होती है। साथ ही चक्षुरादि इन्द्रिय अभाव के प्रतियोगी के प्रत्यक्ष में ही उपक्षीण हो जाती है अत: उसमें प्रतियोगि-ग्रहण व्यवहितत्व के कारण अभाव ग्रहण की सामर्थ्य भी नहीं रहती है। इस प्रकार मीमांसकों के मतानुसार अभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। अतएव अभाव के साथ 'अदर्शन' आदि हेतु की व्याप्ति भी नहीं बन सकती है, क्योंकि व्याप्य तथा व्यापक का ग्रहण होने पर ही

व्याप्ति ग्रहण हो सकता है। अतः भूतल निष्ठ घटाभाव को अनुमेय भी नहीं मान सकते हैं। उपमानादि तो वैशेषिकों के मत में प्रमाण हैं ही नहीं फिर उनसे अभाव के ज्ञान की तो चर्चा ही व्यर्थ है। अतः अभाव के ग्रहण के लिये अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण मानना चाहिये, यह मीमांसकों का अभिप्राय है।

उपर्युक्त कथन के उत्तर में वैशेषिक का यह समाधान है कि अभाव के प्रत्यक्ष में इन्द्रियों की प्राप्तकारिता का नियम लागू नहीं होता है, यह नियम तो केवल भाव-पदार्थ से सम्बद्ध है। अतः चक्षु के द्वारा असम्बद्ध अभाव का भी ग्रहण होगा। सभी सन्निकृष्ट तथा विप्रकृष्ट देशों में वर्तमान अभावों में चक्षु के साथ असम्बद्धत्व में समानता रहने पर भी अनवस्था नहीं होगी, क्योंकि अभाव का ज्ञान उसके आश्रयभूत भूतलादि के ज्ञान की अपेक्षा रखता है। अतएव जहाँ अभाव के आश्रय का ग्रहण होगा वही अभाव भी ग्राह्य होगा, अन्यत्र नहीं। दूसरे शब्दों में जिस अभाव का चक्षु से संयुक्त भूतलादि के साथ विशेषण भाव होगा उसी अभाव का प्रत्यक्ष होगा अभावान्तर का नहीं। अतः अभाव के साथ चक्षु का भी स्वसंयुक्तविशेषणता आदि सम्बन्ध बन ही जाता है।[93]

यद्यपि यह **'विशेषणता सम्बन्धिभ्याम्भिन्नः'** आदि परिभाषा के अनुसार सम्बन्ध पद वाच्य नहीं है, तथापि विशिष्ट बुद्धि नियामक होने के कारण गौण रूप में सम्बन्ध पद वाच्य हैं। अतएव न्यायकन्दलीकार ने **कश्चित् सम्बन्धः कल्पयिष्यते**' ऐसा कहा हैं।[94]

अभावाधिकरण भूतलादि के प्रत्यक्ष में ही चक्षुरादि की शक्ति उपक्षीण हो जाती है, यह कथन तो अत्यन्त अनुपयुक्त है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो घट के प्रत्यक्ष में ही उपक्षीण चक्षु के द्वारा घटगत रूपादि का भी ग्रहण असम्भव हो जायेगा।[95] दूसरी बात, जैसाकि शिवाचार्य भी कहते हैं, यह है कि उपर्युक्त रीति से अभाव के विशेषणत्व के उत्पन्न हो जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि विशेषणीभूत अभाव के ज्ञात के पूर्व विशेष्यभूत भूतल का ज्ञान नहीं होता।[96]

न्यायसूत्र में जो **'शब्दे ऐतिह्यानर्थान्तरभावात् अनुमानेऽर्थापत्तिः— सम्भवाऽभावाऽनर्थान्तरभावाच्चाऽप्रतिषेधः**' तथा प्रशस्तपाद के पदार्थ धर्मसंग्रह में **अभावोऽप्यनुमानमेव** ऐसा कहा गया है, उसका उद्देश्य तो केवल यह बताना है कि जिस अभाव का प्रतियोगी प्रत्यक्ष योग्य नहीं है उस अभाव का तो प्रत्यक्ष

नहीं हो सकता है, परन्तु जिस अभाव का प्रतियोगी प्रत्यक्ष योग्य है उस अभाव का यथा परिस्थिति प्रत्यक्ष भी हो सकता है।[97] अभाव अपने अधिकरण में तो स्वरूपतः ही विशेषण होता है, परन्तु चक्षुरादि इन्द्रिय के साथ उसका सम्बन्ध संयोगादि सम्बन्धान्यतम-सम्बन्ध-गर्भित होता है। अतः नैयायिकों का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है कि **यदि अत्र 'घटः स्यात् तर्हि भूतलवत् दृष्टोऽपि स्यात्'** इत्याकारक अनुपलम्भ सनाथ तर्क से अनुगत होने पर यथा स्थान अभाव का प्रत्यक्ष भी हो सकता है।[98]

(घ) ज्ञान का प्रत्यक्ष

ज्ञान के ग्रहण की प्रक्रिया के विषय में विभिन्न दर्शनों में प्राचीन काल से विभिन्न मत प्रचलित रहे हैं। जैन, आदर्शवादी बौद्ध, सांख्य, प्रभाकर मीमांसक व अद्वैत वेदान्तियों का कुल मिलाकर यही मत है कि ज्ञान का ग्रहण स्वतः होता है। ज्ञानान्तर से ज्ञान का ग्रहण मानने वाले दार्शनिकों में न्याय-वैशेषिक तथा भाट्ट मीमांसक प्रमुख हैं।

कुमारिल भट्ट व प्रभाकर का ज्ञान-सिद्धान्त अन्य दार्शनिकों के लिये विवाद का विषय रहा है।

कुमारिल भट्ट का मत है कि ज्ञान न तो स्वप्रकाश है और न ही इसका सीधा प्रत्यक्ष होता है। इसका अनुमान **'ज्ञातता'** द्वारा होता है। जब हमें घट का प्रत्यक्ष होता है तो हम घट के ज्ञान का ग्रहण करते हैं। इस प्रकार की विषय की ज्ञातता से हम ज्ञान का अनुमान लगाते हैं। पार्थसारथि मिश्र का मत है कि ज्ञान की प्रक्रिया में ज्ञातृ, ज्ञेय, करणज्ञान व ज्ञातता का ग्रहण होता है। इसलिये ज्ञान का अनुमान **'ज्ञातता'** द्वारा होता है।[99]

केशवमिश्र ने भाट्ट मीमांसकों के सिद्धान्त की व्याख्या करके उसकी आलोचना की है। उसका मत है कि ज्ञातता की अन्यथानुपपत्ति से उत्पन्न अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान के ग्रहण की जो बात कही गई है, वह उचित नहीं है, क्योंकि ज्ञानविषयता के अतिरिक्त ज्ञातता कोई चीज नहीं है।

श्रीधर ने भी कुमारिल के मत की आलोचना करते हुए कहा है कि ज्ञातता से पूर्व ज्ञान की उपस्थिति होती है। अतः ज्ञात का अनुमान ज्ञातता से मानना ठीक नहीं है।

भाट्ट मीमांसकों के विरोध में वाचस्पति मिश्र का भी यह कथन है कि ज्ञातता का पदार्थ के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है और इसी प्रकार ज्ञान का भी।

अतएव ज्ञान व पदार्थ के मध्य में ज्ञातता नामक तत्त्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। शिवादित्य का भी यही मत है। ज्ञातता ज्ञान व पदार्थ के मध्यवर्ती सम्बन्ध के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[100] भाट्टों ने अपने मत की पुष्टि में कहा कि सविकल्पक प्रत्यक्ष सविकल्पक इसलिये हैं कि इसमें विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध का ग्रहण होता है। यह सम्बन्ध ही ज्ञातता है। अतएव सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञातता के अस्तित्व की पुष्टि करता है। उदयन का मत है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष में स्वाभाविक सम्बन्ध का ग्रहण होता है, जिसे कि विषयता कहा जाता है, इसलिये वहाँ ज्ञातता नामक तत्त्व के ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं।

कुमारिल का मत है कि यदि ज्ञान का प्रत्यक्ष माना जायेगा तो ज्ञान को कर्म भी मानना पड़ेगा और कर्म मानने पर अन्य करणज्ञान की आवश्यकता होगी, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ की क्रिया में करण की आवश्यकता है और इस प्रकार असंख्य करणज्ञान की अपेक्षा होगी। इसकी अपेक्षा यदि करणज्ञान को पहले ही अप्रत्यक्ष मानें तो ज्ञान भी अप्रत्यक्ष योग्य ही होगा। जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र ने इस मत की आलोचना की। प्रमातृ, प्रमाण, प्रमिति, प्रमेय के समान ही प्रत्यक्ष के योग्य है, क्योंकि प्राय: प्रतिदिन के व्यवहार से यह सिद्ध है यथा 'मैं' स्वयं द्वारा घट का ग्रहण करता हूँ, इस ज्ञान में प्रमातृ में करण 'मेरे द्वारा प्रमिति 'जानना' उसी प्रकार प्रत्यक्ष के योग्य है जैसे कि प्रमेय 'घट'। यह कोई आवश्यक नियम नहीं कि जिसका भी प्रत्यक्ष हो वह प्रत्यक्ष का कर्म (object) हो। जैनाचार्यों ने भी कुमारिल के सिद्धान्त का खण्डन किया है। जैनाचार्यों का विचार है कि ज्ञान स्वप्रकाश है।

वेदान्ताचार्य वेंकटनाथ ने भी कुमारिल के मत का विरोध किया है। वेंकटनाथ का मत है कि पदार्थ का प्राकट्य ही ज्ञान है।[101] अतएव भाट्टों का ज्ञान का सिद्धान्त उचित नहीं है। ज्ञान का अनुमान ज्ञातता द्वारा नहीं हो सकता।

प्रभाकर का मत है कि प्रत्येक ज्ञान की क्रिया में तीन तत्त्वों का समावेश होता है—प्रमेय, प्रमाता व प्रमाण। ज्ञान स्वयंप्रकाश है। पदार्थ का ग्रहण होने के अनन्तर ज्ञान स्वयं को प्रकाशित करता है। वह पदार्थ व स्वयं के अतिरिक्त आत्मा को भी प्रकाशित करता है। ज्ञान की तुलना दीपक से की गई है। जिस प्रकार दीपक को प्रकाशित करने के लिये अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होती है, ठीक उसी प्रकार ज्ञान के ग्रहण के लिये अन्य प्रकार के ज्ञान की आव-

श्यकता नहीं होती है। दीपक पदार्थ को, स्वयं को तथा अपनी आधारभूत शिखा को भी आलोकित करता है। इसी प्रकार ज्ञान पदार्थ, व स्वयं को तथा अपने आधारभूत आत्मा को भी आलोकित करता है। परन्तु ज्ञान का ग्रहण ज्ञान रूप में ही होता है, न कि ज्ञान के कर्म के रूप में।

श्रीधर ने प्रभाकर के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए यह कहा कि प्रत्येक ज्ञान में आत्मा व स्व का प्रकाशन नहीं होता है। यथा 'यह घट है' यहाँ आत्मा व स्वयं का ग्रहण नहीं हो पाता है।[102]

न्यायवैशेषिकाचार्यों का मत है कि न तो ज्ञान का अनुमान ज्ञातता द्वारा होता है, जैसा कि भाट्टों का मत है और न ही ज्ञान स्वप्रकाश होता है, जैसा कि आदर्शवादी बौद्ध, जैन व वेदान्तियों का मत है। वस्तुतः एक ज्ञान का प्रत्यक्ष अन्य ज्ञान द्वारा होता है,[103] जिसे अनुव्यवसाय कहते हैं। ज्ञान का सीधा ग्रहण आन्तरिक प्रत्यक्ष द्वारा होता है। ज्ञान परप्रकाश है, स्वप्रकाश नहीं है वह अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है, पर स्वयं को नहीं। यद्यपि ज्ञान स्वप्रकाश नहीं होता, पर अन्य ज्ञान द्वारा उसका ग्रहण होता है। यह कार्य मन के माध्यम से सम्पन्न होता है।

परन्तु जैनानुयायी प्रभाचन्द्र ने न्याय-वैशेषिक के इस सिद्धान्त की आलोचना की है। उसका मत है कि जिस प्रकार सुख का ग्रहण स्वयं सुख द्वारा होता है इसी तरह आत्मा में ज्ञान का ग्रहण स्वयं ज्ञान द्वारा ही होता है, अन्य ज्ञान द्वारा नहीं। यदि एक ज्ञान का अन्य द्वारा ग्रहण होता है, और फिर उसका अन्य ज्ञान द्वारा ग्रहण होता है, तो इस तरह आनन्त्य दोष उपस्थित हो जाएगा।

नैयायिक अपने समर्थन में यह तर्क देते हैं कि अलौकिक ज्ञान व मानवीय ज्ञान में अन्तर है। यदि अलौकिक ज्ञान स्वप्रकाश है तो वह स्वयं व अन्य पदार्थों को प्रकाशित करेगा, परन्तु मानवीय ज्ञान स्वप्रकाश नहीं हो सकता। यदि दोनों को समरूप मानें तो ईश्वर के समान मनुष्य को भी सर्वज्ञ मानना पड़ेगा जो कि अनुचित है। किन्तु जैन इस तर्क को खण्डित करते हुए कहते हैं कि ज्ञान तो स्वभाव से ही आत्मा व स्वयं का प्रकाशक है। यह सभी प्रकार के ज्ञानों की विशेषता है न कि केवल अलौकिक ज्ञान की। सर्वज्ञता स्वप्रकाशकत्व के समान सर्वसुलभ विशेषता नहीं है। सूर्य का प्रकाश जो कि अलौकिक ज्ञान है, वह स्वप्रकाशक है। दीपक का प्रकाश, जो कि अलौकिक ज्ञान नहीं है

वह भी स्वप्रकाशक है। अतएव जैनों के अनुसार अलौकिक ज्ञान के समान मानवीय ज्ञान भी स्वप्रकाशक है।

न्याय वैशेषिकों का मत है कि एक ज्ञान का ग्रहण दूसरे ज्ञान द्वारा होता है, परन्तु सांख्य योगाचार्यों का मत है कि एक ज्ञान का ग्रहण यदि दूसरे से, दूसरे का तीसरे से, तीसरे का चौथे से होगा तो इस प्रकार आनन्त्य दोष आ जाएगा। इसलिए अनुव्यवसाय का सिद्धान्त स्वयं में दोषपूर्ण है। साथ ही इसमें स्मृति का भी समावेश हो जाता है। एक ही ज्ञान का ग्रहण यदि दूसरे से हो तो जैसे-जैसे ज्ञानों का उदय होगा वैसे-वैसे संस्कारों का भी उदय होता जायेगा। उनके साथ उतनी ही स्मृतियों का भी उदय होगा। वाचस्पति मिश्र के अनुसार आत्मा अचेतन बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्बित होता है, तम व रजस गुण को अभिभूत कर सत्त्वगुण का प्राबल्य होने पर आत्मा व बुद्धिवृत्ति में एक प्रकार का तारतम्य हो जाता है, जिसके द्वारा आत्मा पदार्थ का ग्रहण करता है। विज्ञानभिक्षु के मतानुसार आत्मा बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्बित होता है। बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्ब फिर आत्मा में प्रतिबिम्बित होता है और इस प्रकार बुद्धिवृत्ति में व आत्मा में एक प्रकार का तादात्म्य स्थापित हो जाता है। इस प्रकार सांख्ययोगाचार्यों के मतानुसार ज्ञान का ग्रहण आत्मा द्वारा होता है, अन्य ज्ञान द्वारा नहीं।

वेदान्त मत—शांकर वेदान्त के अनुसार बुद्धिवृत्ति का अपना विषय होता है इसलिए इसे स्वविषयवृत्ति कहा जाता है। ज्ञान स्वप्रकाशक है, इसका किसी अन्य ज्ञान से ज्ञान नहीं होता है। बुद्धिवृत्ति में केवल साक्षिवेद्यत्व होता है। ज्ञान चेतना का विषय है। इनके मतानुसार न्यायवैशेषिक का अनुव्यवसाय का सिद्धान्त भी आनन्त्य दोष से ग्रस्त है। आदर्शवादी बौद्ध और अद्वैतवेदान्ती इस बात पर तो सहमत हैं कि ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, किन्तु जहाँ बौद्धों का मत है कि ज्ञान अपने स्वरूप को प्रकाशित करता है, वहाँ अद्वैतवेदान्तियों का कथन है कि किसी अन्य ज्ञान से प्रकाशित न होने के कारण वह स्वतः प्रकाशित होता है। शंकर का मत प्रभाकर के सदृश प्रतीत होता है कि ज्ञान का ग्रहण ज्ञान के कर्म के रूप से नहीं बल्कि ज्ञान के रूप से ही होता है।[105]

रामानुज ने शंकर के मत की आलोचना की है। शंकर का मत है चैतन्य ही परम सत्ता है व स्वप्रकाशक है। चैतन्य से भिन्न आत्मा नहीं है। रामानुज ने इस मत का खण्डन किया। उनका कथन है कि चैतन्य का ग्रहण आत्मा व पदार्थ के ज्ञान के अनन्तर ही सम्भव है। निर्विषय संवित् कुछ नहीं है। चैतन्य व विषय का परस्पर तादात्म्य है। चैतन्य सदैव ही स्वप्रकाशक नहीं होता। एक

मनुष्य की चेतना का अनुमान दूसरे के व्यवहार द्वारा होता है। यह आनुमानिक ज्ञान का विषय हो जाता है।

स्वामी विद्यारण्य ने पंचदशी (1/7) में ज्ञान को स्वयंप्रकाश मानने के पक्ष में यह युक्तियाँ दी हैं—

(1) ज्ञान स्वयं प्रकाश है (प्रतिज्ञा)

(2) क्योंकि यह ज्ञान का विषय न होकर अपरोक्ष है (हेतु)

(3) जो वस्तुएँ ज्ञान का विषय होकर अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष होती हैं वे स्वयं प्रकाशित नहीं होती।

पंचदशी में संवित् को स्वयं प्रकाश होने के साथ नित्य भी माना गया है।

उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट होता है कि जैन, बौद्ध, सांख्य, प्रभाकर व अद्वैत वेदान्ती परस्पर कुछ आन्तरिक वैषम्य के साथ यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञान का स्वतः ग्रहण होता है। कुमारिल का मत यह है कि ज्ञान का अनुमान 'ज्ञातता' द्वारा होता है। जबकि न्याय वैशेषिकाचार्यों के मतानुसार ज्ञान का ग्रहण आन्तरिक प्रत्यक्ष द्वारा होता है।

[ग] त्रिपुटी प्रत्यक्ष

ज्ञान के प्रत्यक्ष के सन्दर्भ में प्रभाकर के 'त्रिपुटी संवित्' का सिद्धान्त भी विवेचन योग्य है। प्रत्यक्ष के विषय में प्रभाकर का सिद्धान्त त्रिपुटी प्रत्यक्ष अपना विशिष्ट स्थान रखता है। प्रभाकर ने अपने ग्रन्थ 'वृहती' में इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। प्रभाकर के मतानुलार प्रत्येक ज्ञान में तीन तत्त्वों का समावेश होता है—प्रमाता (Knower), प्रमेय (Knowable) और प्रमिति (Knowledge)।

यथा—'अहं घटम्जानामि' में आत्मा प्रमाता का, घट प्रमेय का व जानना प्रमिति का द्योतक है। प्रभेय पदार्थ का कर्म के रूप में, प्रमाता का कर्त्ता के रूप में व प्रमिति का क्रिया के रूप में ग्रहण होता है। आत्मा व पदार्थ स्वप्रकाशक नहीं होते, वरन् उन्हें ज्ञान पर ही प्रकाशन के लिए निर्भर रहना पड़ता है। ज्ञान स्वप्रकाश होता है। ज्ञान के प्रकाशन के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतएव ज्ञान, जो कि स्वरूप रहित है, अपने स्वभाव से पदार्थ व आत्मा दोनों का प्रकाशन करता है। जिस प्रकार दीपक पदार्थों के साथ स्वयं को भी प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञान के लिए भी अन्य ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। प्रभाकर के मतानुसार कोई भी ज्ञान मातृ से भिन्न नहीं हो सकता।

प्रभाकर ने 'संवित्' व 'ज्ञान' में सूक्ष्म भेद किया है। शालिकनाथ ने 'ऋजुविमला' में इस सिद्धांत की व्याख्या करते हुये संवित् ज्ञान से भिन्नता कई उद्धरणों द्वारा प्रकट की है।[107]

प्रभाकर का यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि संवित् प्रमाण का फल है, जबकि ज्ञान प्रमाण है अथवा संवित् का साधन है।[108] संवित् को संवित् के रूप में ही जाना जा सकता है न कि पदार्थ के रूप में।[109]

प्रभाकर ने ज्ञान का प्रयोग चेतना के फल के रूप में किया, अतएव प्रतीत होता है कि उनके मत में ज्ञान आत्ममनस् सन्निकर्ष के फल के सदृश है। प्रभाकर ने ज्ञान की अनुमेयता के सिद्धांत की पुष्टि नहीं किया, जिसका प्रतिपादन शबर ने किया था, वरन् उसकी आलोचना करने के अतिरिक्त उसने संवित् को व ज्ञान को भिन्न-भिन्न अर्थ में प्रयुक्त किया। प्रभाकर का यह सिद्धान्त भी विद्वानों के लिए आलोचना का विषय रहा। पार्थसारथि मिश्र ने प्रभाकर के मत की आलोचना की है। 'यह घट है' और 'मैं इस घट को जानता हूँ' इन दो वाक्यों में प्रथम में घट का ही प्रकाशन होता है, न कि आत्मा व ज्ञान का; जबकि दूसरे में ज्ञान व आत्मा का भी प्रकाशन होता है। इसलिये प्रभाकर का यह कथन असंगत प्रतीत होता है कि प्रत्येक ज्ञान में तीनों तत्त्वों का अनिवार्य रूप से समावेश होता है।[110]

प्रभाकर का यह भी कथन है कि प्रत्येक ज्ञान में आत्मा, ज्ञान व पदार्थ का साथ-साथ ग्रहण होता है। वे परस्पर एकाकार न होने पर भी परस्पर एकीभूत हो जाते हैं, जैसे कि वर्ण व प्रकाश परस्पर तादात्म्य न होने पर भी उनका ग्रहण साथ-साथ देखा जाता है परन्तु सुचरितमिश्र कहते हैं कि कभी-कभी ऐसा भी होता है कि प्रकाश व वर्ण पृथक्-पृथक् भी देखे जाते हैं। यद्यपि उनका ग्रहण प्रायः साथ-साथ ही होता है। किन्तु प्रभाकर के अनुसार तो आत्मा, पदार्थ व ज्ञान का पृथक्-पृथक् ग्रहण कभी नहीं होता, अतः उनमें तो तादात्म्य मानना पड़ेगा। अतः प्रभाकर यदि प्रकाश और वर्ण की विभिन्नता में एकता का उदाहरण देकर आत्मा, पदार्थ और ज्ञान में भी विभिन्नता में एकता की बात प्रतिपादित करना चाहें तो यह उचित नहीं है।

प्रभाकर के इस मत की भी आलोचना की गई कि किसी भी पदार्थ का ज्ञान मातृ से भिन्न नहीं हो सकता। भाट्टों के मतानुसार यह कहना भी उचित नहीं है कि 'अहंवित्ति, विषयवित्ति, व स्वसंवित्ति सभी में आत्मा का ज्ञान

होता है'। शरीर व इन्द्रियों आदि का तो हो नही सकता, भौतिक तत्त्व होने से। प्रभाकर ने यह स्वीकार किया कि आत्मपरक ज्ञान में आत्मा का शरीर से भिन्न व इन्द्रियों से भिन्न रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। ज्ञान, पदार्थ व आत्मा तीनों का एकीकरण हो जाता है। इसलिए यह अनुचित है क्योंकि दूध व पानी का मिश्रण कर देने से यह नहीं कहा जा सकता कि दूध, पानी अलग हैं ही नहीं। अतएव पदार्थपरक ज्ञान में केवल पदार्थ का ही ज्ञान होता है आत्मा का नहीं। इस प्रकार भट्टों ने कई अन्य तर्कों द्वारा प्रभाकर के इस सिद्धांत का खन्डन किया है।

संक्षेप में कुमारिल व प्रभाकर के मतों में परस्पर यह अन्तर स्पष्ट दीख पड़ता है कि कुमारिल ज्ञान का अनुमान ज्ञातता से मानते हैं, जबकि प्रभाकर का मत है कि ज्ञान स्वप्रकाश है। इस प्रकार प्रत्यक्ष के विषय में प्रभाकर का त्रिपुटी प्रत्यक्ष का सिद्धांत अपरा पृथक् अस्तित्व तो अवश्य रखता है, पर वह अपने आप में सर्वथा दोषरहित नहीं हैं।

6. इन्द्रिय का विषयों से सन्निकर्ष

'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' शब्द के सामान्य अर्थ का निरूपण पहले किया जा चुका है। यह भी बताया जा चुका है कि यह किन अवस्थाओं और किन आचार्यों के मत में प्रत्यक्ष का करण है। जैसे कि पहले भी कहा गया है, केशवमिश्र ने तीन प्रकार के करण बतलाये हैं—इन्द्रिय, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष और ज्ञान। जब इन्द्रिय करण होता है तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष अवान्तरव्यापार होता है और विनिर्वकल्पक ज्ञान फल होता है। जब इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष करण होता है, तो निर्विकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार होता है और सविकल्पक ज्ञान फल होता है तथा जब निर्विकल्पक ज्ञान करण होता है तो सविकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार होता है और हानोपादानोपेक्षाबुद्धि फल की कोटि में आते हैं। इस प्रकार इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को चाहे करण मानें या अवान्तर व्यापार, प्राचीन नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आवश्यक है।

1. सन्निकर्ष के दो भेद हैं :

(क) लौकिक सन्निकर्ष। तथा

(ख) अलौकिक सन्निकर्ष।

(क) लौकिक सन्निकर्ष

(1) **संयोग**—सम्बन्ध दो प्रकार का हो सकता है। एक तो वह जो अस्थायी हो यानी टूट सकता हो, और दूसरा वह स्थायी हो, अर्थात दूर न हो

सकता हो। न्याय की भाषा में प्रथम प्रकार के सम्बन्ध को युतसिद्ध और दूसरे को अयुतसिद्ध कहते हैं। जब हम घड़े को देखते हैं तो आँख और घड़े का संयोग होता है। आँख और घड़ा—दोनों ही द्रव्य हैं और एक दूसरे से संयोग के अभाव में भी विद्यमान रहते हैं। अतः इन दोनों का सम्बन्ध युतसिद्ध है। इसको ही संयोगसन्निकर्ष कहते हैं। इस प्रकार के संयोग में किसी अन्य माध्यम का सहारा नहीं लेना पड़ता। आत्मा और मन भी दो भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं। वे अयुतसिद्ध नहीं हैं अतः 'मैं हूँ' इस प्रकार का जो प्रत्यक्ष होता है, वह भी संयोग सन्निकर्ष पर ही आधारित है।

(2) **संयुक्त समवाय**—अयुतसिद्ध अर्थात् स्थायी रूप में एक-दूसरे के साथ रहने वाले दो पदार्थों के सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। संयुक्त समवाय का आशय है—संयुक्त में समवाय। इस प्रकार के सन्निकर्ष में इन्द्रिय का द्रव्य से संयोग होता है और द्रव्य में वर्तमान गुण, कर्म और जाति समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में रहते हैं, अतः उनके साथ भी इन्द्रिय का संयोग द्रव्य के माध्यम से हो जाता है। उदाहरणतया जब हम घड़ा देखते हैं तो उसमें समवेत नीला आदि रंग भी देखते हैं। यहाँ हमारी इन्द्रिय का संयोग है घड़े से और घड़े में समवाय सम्बन्ध में विद्यमान है नीला रंग। अतः चक्षुरिन्द्रिय के साथ नीले रंग का संयुक्त समवाय सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में चक्षुरिन्द्रिय से घड़े के नीले रंग का प्रत्यक्ष संयुक्त समवाय नामक सन्निकर्ष से होता है। यहाँ पर प्रत्यक्ष दो सम्बन्धों पर निर्भर करता है। आँख और घड़े के बीच वर्तमान संयोग सम्बन्ध तथा घड़े और नीले रंग के बीच वर्तमान समवाय सम्बन्ध पर।

(3) **संयुक्त समवेतसमवाय**—हमारी चक्षुरिन्द्रिय घड़े को संयोग सम्बन्ध से और घड़े के नीलादि रंग को संयुक्त समवाय सम्बन्ध से देखती है। घड़ा और घड़े का नीला रंग इन दो पदार्थों में घड़ा द्रव्य है और नीला रंग गुण है। इसके साथ ही नीले रंग में नीलत्व, जो एक जाति है, उसको भी हम देखते हैं। इस तरह यहाँ पर नीलत्व और आँख के बीच तीन सम्बन्ध हैं—आँख का घड़े से, घड़े का नीले रंग से, और नीले रंग का नीलेपन से। यहाँ नीले रंग की जाति (नीलापन) संयुक्त समवेत (नीले रंग) में समवेत है अतः नील के साथ नीलत्व का जो प्रत्यक्ष होता है, उसका चक्षुरिन्द्रिय के साथ संयुक्तसमवेत समवाय सम्बन्ध है।

(4) **समवाय**—यदि किसी इन्द्रिय का सम्बन्ध ऐसे विषय के साथ हो, जो उस इन्द्रिय में ही अपने गुण के रूप में समवेत हो, तो इस प्रकार के इन्द्रिय-

विषय-सम्बन्ध को समवाय सम्बन्ध कहते हैं। दूसरे शब्दों में गुण, गुणों में समवाय सम्बन्ध से रहता है। श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द में यही सम्बन्ध है। कान की उत्पत्ति आकाश से हुई या यों भी कहा जा सकता है कि श्रोत्र और आकाश में कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि श्रवणेन्द्रिय भी कर्णकुहरस्थित आकाश ही है। शब्द आकाश का गुण है। आकाश गुणी है। आकाश के साथ शब्द का समवाय सम्बन्ध है। शब्द समवेत के रूप में श्रोत्रेन्द्रिय में विद्यमान रहता है। अतः कान से शब्द का ग्रहण समवायसम्बन्ध से होता है।

वैशेषिक सम्प्रदाय के अनुसार समवाय सम्बन्ध का ज्ञान अनुमान से होता है किन्तु नैयायिकों के अनुसार वह प्रत्यक्ष गम्य है। उसका कथन है कि जिस प्रकार विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष से अभाव का ज्ञान होता है, उसी प्रकार इन्द्रिय से ही विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष द्वारा समवाय का भी ग्रहण होता है।

(5) **समवेत समवाय**—शब्द में शब्दत्व नामक जाति भी रहती है। जब हम कान से शब्द के साथ शब्द की जाति या सामान्य का भी ग्रहण करते हैं, तो कान और शब्दत्व का जो सम्बन्ध होता है उसको समवेत समवाय कहा जाता है। [समवाय के पदार्थत्व का विस्तार से विवेचन अध्याय तेरह में किया गया है।]

(6) **विशेष्य-विशेषणभाव**—यदि इन्द्रिय का विषय उस इन्द्रिय से सम्बद्ध विषय का विशेषण हो तो इस प्रकार के इन्द्रिय-विषय संबंध को विशेष्य-विशेषण भाव कहते हैं। यह सन्निकर्ष अभाव के प्रत्यक्ष में चरितार्थ होता है। जब हम किसी वस्तु का अभाव देखते हैं, तो वस्तुतः हम अभाव को नहीं, अपितु उस अभाव से युक्त आधार को देखते हैं। उदाहरणतया जब हम यह देखते हैं कि भूतल पर घड़ा नहीं है तो ऐसी स्थिति में भूतल विशेष्य है और घटाभाव विशेषण। इस प्रकार के प्रत्यक्ष में हमें विशेषण (घटाभाव) के स्वरूप का दर्शन नहीं होता। हम तो अभाव को उसके विशेष्य भूतल की विशेषता के रूप में देखते हैं। इसी प्रकार जब मन से संयुक्त आत्मा में 'मैं सुखरहित हूँ' इस प्रकार सुख आदि के अभाव का ग्रहण होता है, तब मन से संयुक्त आत्मा विशेष्य होता है तथा सुखाद्यभाव विशेषण।

यह ज्ञातव्य है कि विशेष्य विशेषणभाव सन्निकर्ष वस्तुतः तभी कार्यसमर्थ होता है, जबकि उपर्युक्त पाँच सन्निकर्षों में से कोई एक उसके साथ कार्यरत हो। उदाहरणतया घटाभाव के ग्रहण में चक्षुरिन्द्रिय का भूतल के साथ संयोग सन्निकर्ष होता है। अतः 'भूतल में घड़े का अभाव है' इस रूप में अभाव का जो प्रत्यक्ष होता है, वह वस्तुतः संयुक्त-विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष का उदाहरण है।

अभाव के ग्रहण के लिए पाँच संबंधों में से किसी एक से सम्बद्ध विशेष्य-विशेषण भाव सन्निकर्ष की आवश्यकता होती है, परन्तु समवाय का ग्रहण संयोग, संयुक्त समवाय तथा समवाय इन तीन में से किसी एक सम्बन्ध से सम्बद्ध विशेष्य-विशेषणभाव सन्निकर्ष द्वारा होता है, क्योंकि समवाय सम्बन्ध केवल द्रव्य, गुण तथा कर्म में ही रहता है। इनमें से द्रव्य के साथ इन्द्रिय का संयोग सन्निकर्ष होता है, शब्द से भिन्न सभी गुणों तथा कर्मों के साथ इन्द्रिय का संयुक्त समवाय सन्निकर्ष होता है और शब्द नामक गुण के साथ समवाय सन्निकर्ष होता है।[111]

[ख] अलौकिक सन्निकर्ष

नव्यन्याय के आचार्यों ने प्रत्यक्ष के मूलतः दो भेद किये हैं—लौकिक प्रत्यक्ष और अलौकिक प्रत्यक्ष। लौकिक प्रत्यक्ष तो सन्निकर्ष के उपर्युक्त भेदों पर आधारित है, किन्तु अलौकिक प्रत्यक्ष में विषय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष नव्यनैयायिकों के मतानुसार असाधारण या अलौकिक सन्निकर्ष से होता है। सन्निकर्ष को ही प्रत्यासत्ति भी कहते हैं। प्राचीन नैयायिक तो इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग को प्रत्यक्ष एक महत्त्वपूर्ण अंग मानते हैं, अतः वे सन्निकर्ष की अलौकिकता का सिद्धांत नहीं मानते। अलौकिक प्रत्यक्ष में वस्तुतः किसी इन्द्रिय के समक्ष पदार्थ उपस्थित नहीं होता, किन्तु नव्य नैयायिक उसकी उपस्थिति को असाधारण या अलौकिक रूप में स्वीकार करते हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने जिसको **इन्ट्यूशन** कहा है, वह भी लगभग अलौकिक प्रत्यक्ष ही है। अलौकिक सन्निकर्ष के तीन भेद हैं—सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज।[212]

(1) **सामान्यलक्षण**—एक वस्तु को देखने से उसकी सजातीय वस्तुओं का जो ज्ञान होता है, उसके आधार को सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति कहते हैं। नैयायिक सामान्य (जाति) को भी एक स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं।

प्राचीन नैयायिकों के मतानुसार हमको कोई बताता है कि 'वह गाय है' तो हम गाय का संयोग सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष करते हैं। इसके साथ ही हम गाय में रहने वाले सामान्य (जाति) गोत्व का संयुक्त समवाय नामक सन्निकर्ष के माध्यम से ज्ञान करते हैं। तत्पश्चात् जब हम अन्य गौओं को देखते हैं तो हमें ज्ञान होता है कि वे भी गौवें हैं। इसी प्रकार हम चूल्हे में आग देखते हैं। उसको छूकर हमें पता लगता है कि आग उष्ण होती है। तत्पश्चात् हम यह भी ज्ञान कर लेते हैं कि सभी अग्नियों में उष्णता होती है। यहाँ विचारणीय बात यह

है कि न तो हम संसार की सभी गौओं को देख सकते हैं, न सभी अग्नियों को। हमने एक गाय में जो गोत्व और एक स्थान पर की आग में जो अग्नित्व देखा उसी गोत्व और अग्नित्व के सहारे एक प्रत्यक्ष गाय और आग से सभी परोक्ष गौओं और अग्नियों का ज्ञान कर लिया। इसी प्रक्रिया को नव्य नैयायिक सामान्यलक्षण सन्निकर्ष या प्रत्यासत्ति कहते हैं। प्राचीन नैयायिकों के मतानुसार सामान्य या जाति का ज्ञान संयुक्त समवायसन्निकर्ष से होता है। किन्तु नव्य नैयायिक सामान्य के ज्ञान के लिए इन्द्रिय सन्निकर्ष को पर्याप्त नहीं मानते। वे इसके लिए अलौकिक सन्निकर्ष का सहारा लेते हैं। सामान्य के ज्ञान पर आधारित अलौकिक प्रत्यक्ष और सर्वज्ञता में अन्तर है। जयन्त भट्ट के अनुसार सर्वज्ञ को तो प्रत्येक विषय का विशेष ज्ञान रहता है जबकि इस अलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा तो सामान्य-मात्र का ही बोध होता है।[113]

(2) **ज्ञान लक्षण**—प्रत्येक इन्द्रिय का अपना पृथक् व नियत विषय है। वह उसी विषय का प्रत्यक्ष कर सकती है, जो तात्त्विक दृष्टि से उसके लिए नियत है। आँख का विषय रूप, श्रोत का शब्द, घ्राणेन्द्रिय का गन्ध, रसनेन्द्रिय का रस और त्वगिन्द्रिय का विषय स्पर्श है। अत: सामान्यतया किसी एक इन्द्रिय में दूसरी इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करने की क्षमता नहीं होती है, किन्तु ज्ञानलक्षण प्रत्यासत्ति के आधार पर नव्यनैयायिकों के मत में हमारी इन्द्रियाँ इस प्रतिबन्ध, नियम या सीमा का अतिक्रमण कर सकती हैं। अर्थात् अपने-अपने विषय से भिन्न विषय का ग्रहण कर सकती हैं। इमली को देखकर जीभ में पानी भर जाता है, बर्फ को देखते ही शरीर सिहर उठता है। रेशम का कपड़ा देखते ही उसकी चिकनाहट का ज्ञान भी हो जाता है। इन उदाहरणों में चक्षुरिन्द्रिय से रसनेन्द्रिय तथा त्वगिन्द्रिय का भी काम लिया जा रहा है। अर्थात् चखे और छुए बिना ही रस और स्पर्श का ज्ञान हो गया। इसको ज्ञानलक्षण प्रत्यक्ष कहा जाता है। इसको ज्ञान लक्षण कहने का कारण यह है कि अतीत में जिन दो ज्ञानों का प्रत्यक्ष तत्तत् इन्द्रियों के द्वारा एक साथ होता रहा उनमें ऐसी एकरूपता स्थापित हो जाती है कि एक का अनुभव होते ही दूसरे का भी अनुभव हो जाता है। जब कभी हमने इमली देखी और उसको चखा तो खट्टा ही पाया, अत: रूप और रस के साहचर्य के कारण इमली को देखते ही उसके खट्टेपन का भी स्वत: ही अनुभव हो जाता है। यह ज्ञान पूर्वज्ञान पर आधारित है। नव्य नैयायिकों के मत में यह ज्ञान साधारण सन्निकर्ष से नहीं हो सकता, अत: इसके लिए अलौकिक सन्निकर्ष को स्वीकार किया जाता है।

नव्य नैयायिकों के ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष का इस आधार पर खण्डन किया जाता है कि यह भी वस्तुत: अनुमान ही है। साहचर्य का ज्ञान अनुमान पर ही आधारित है, किन्तु अनुमान की प्रक्रिया इतनी शीघ्रता से घटित होती है कि उसे प्रत्यक्ष मान लिया जाता है। इसके अतिरिक्त इसमें स्मृति का भी सहारा लिया जाता है।

(3) **योगज**—इन्द्रियों की शक्ति सीमित होती है। उनके द्वारा दूरस्थ एवं सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता। वैसे तो यह भी कहा जा सकता है कि इन्द्रियों के द्वारा सूक्ष्म विषयों का ज्ञान कर सकना असम्भव है, परन्तु लोक में ही हम यह भी देखते हैं कि कई लोगों ने योगाभ्यास आदि द्वारा अपने में ऐसी सामर्थ्य उत्पन्न कर ली है कि वर्तमान की सूक्ष्म तथा दूरस्थ वस्तुओं के अतिरिक्त वे भूत व भविष्यत् की वस्तुओं को भी जान लेते हैं। दूसरे शब्दों में इन सिद्धपुरुषों की मानसेन्द्रिय में इतनी प्रबल शक्ति आ जाती है कि ये अप्रत्यक्ष वस्तुओं या घटनाओं का भी ज्ञान कर लेते हैं। जैन दर्शन का **केवलज्ञान** बौद्ध दर्शन का **बोधि** सांख्य का **कैवल्य** तथा वेदान्त का **साक्षात्कार** भी वस्तुत: योगज प्रत्यक्ष के ही विभिन्न रूप हैं। इसकी प्रक्रिया में साधारण प्रत्यक्ष की तरह वस्तुओं को इन्द्रियों के समक्ष उपस्थित होने की अपेक्षा नहीं रहती। इस प्रकार की शक्ति प्राय: योग से ही प्राप्त की जाती है, अत: इसको योगज प्रत्यक्ष कहते हैं।

योगज प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में यह आपत्ति उठाई जाती है कि प्राचीन नैयायिकों द्वारा प्रत्यक्ष का जो लक्षण बताया गया है, वह इस पर नहीं घटता। साधारण मनुष्यों की शक्ति से बाहर होने के साथ ही इन्द्रियेत्तर ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने के कारण यह वस्तुवादी न्यायदर्शन के प्रतिकूल भी है। इस प्रत्यक्ष का अस्तित्व स्वीकार कर लेने पर तो योगी लोग सर्वज्ञ तथा ईश्वरकल्प माने जाने लगेंगे।

अत: नव्यन्याय द्वारा स्वीकृत होते हुए भी इसको सर्वसम्मत न्यायसिद्धान्त नहीं माना जा सकता।

7. प्रत्यक्ष के भेद

नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमा के दो भेद होते हैं—सविकल्पक और निर्विकल्पक। प्रत्यक्ष के इन दो भेदों का सर्वप्रथम विश्लेषण वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका में किया है। वाचस्पति के अनुसार न्यायसूत्रकार ने

प्रत्यक्ष की परिभाषा में **अव्यपदेश्य** और **व्यवसायात्मक** शब्दों का प्रयोग भी किया है और ये शब्द क्रमशः निर्विकल्पक तथा सविकल्प प्रत्यक्ष के प्रतीक हैं। ये क्रमशः प्रत्यक्ष के अविकसित तथा विकसित रूप भी माने जाते हैं। कतिपय आचार्यों के मत में प्रत्यभिज्ञा भी प्रत्यक्ष का ही एक विशेष रूप है।

प्रत्यक्ष के इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में नैयायिकों, बौद्धों, वैयाकरणों व वेदान्तियों का पर्याप्त मतभेद है। बौद्धों के विचार में निर्विकल्पक ही प्रत्यक्ष होता है, जबकि वैयाकरण केवल सविकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानते हैं। नैयायिकों के अनुसार निर्विकल्पक और सविकल्पक में आत्मा तो एक ही है किन्तु अवस्था भेद से उनमें नाम भेद होता है।[114] निर्विकल्प प्रथम सोपान है और सविकल्पक द्वितीय। इस सम्बन्ध में विभिन्न दर्शनों के मत निम्नलिखित हैं :—

[क] बौद्धमत

वस्तु के स्वरूपमात्र को ग्रहण करने वाला अर्थात् विशेषणहीन ज्ञान निर्विकल्पक कहलाता है। बौद्धों के अनुसार पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—एक स्वलक्षण तथा दूसरा सामान्यलक्षण। स्वलक्षण से तात्पर्य है, वस्तु का अपना ऐसा स्वरूप जो स्वजातीय विजातीय सभी अन्य वस्तुओं के स्वरूप से भिन्न होता है। इसका आशय है कि जो वस्तु परमार्थसत् है, वही स्वलक्षण होती है। निर्विकल्पक का विषय वस्तुमात्र अर्थात् वस्तु का वास्तविक स्वरूप है, इसी को स्वलक्षण कहते हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में ही सत्यभूत स्वलक्षण वस्तु का ग्रहण होता है।

बौद्धों के अनुसार सविकल्प ज्ञान में मिथ्या (असत्) विशेषण, विशेष्य और सम्बन्ध तथा शब्द आदि का विवरण होता है; अतः वह यथार्थ नहीं हो सकता। निर्विकल्पक में शुद्ध वस्तुमात्र ही विषय बनती है अतः निर्विकल्प ही यथार्थ ज्ञान है।

सर्वदर्शन संग्रह में यद्यपि यह उल्लेख किया गया है कि वैशेषिक सूत्र में प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक और सविकल्पक रूप से दो भेद किये गये हैं, किन्तु जिन वैशेषिक सूत्रों के आधार पर सर्वदर्शन संग्रह में यह बात कही गई है, उनमें ये भेद स्पष्ट रूप से निरूपित नहीं हैं। प्रशस्तपाद ने अविभक्त आलोचना को एक मनोवैज्ञानिक सत्य माना, परन्तु उसने इस आलोचना को समुचित प्रत्यक्ष न मानकर प्रत्यक्ष का तात्कालिक कारण बताया है।

विभिन्न दर्शनों में प्रत्यक्ष के भेदों के संदर्भ में जो विचार उपलब्ध होते हैं, उनका भी अपना एक लम्बा इतिहास है। आइए उनकी कुछ विस्तार से चर्चा कर ली जाये।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, प्रत्यक्ष के मुख्यतः दो प्रकार कहे गये हैं—निर्विकल्पक व सविकल्पक। न्याय वैशेषिक व मीमांसा दर्शन ने दोनों भेदों को स्वीकृत किया। बौद्ध केवल निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानते हैं और जैन केवल सविकल्पक को। सांख्य दोनों को ही स्वीकार करते हैं जबकि अद्वैत वेदान्ती केवल निर्विकल्पक को व माध्व व वल्लभ मतानुयायी वेदान्ती वैयाकरणों के सदृश केवल सविकल्पक को ही स्वीकार करते हैं। सामान्यतया यह माना जाता है कि इन्द्रिय का विषय के साथ सन्निकर्ष होने पर प्रथम क्षण में जो प्रत्यक्ष होता है, वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। वह विकल्प व विशेषणों से रहित होता है। पर अगले क्षण जब यह निर्णय हो जाता है कि पदार्थ किस जाति का है और किन विशेषणों से युक्त है तो वह प्रत्यक्ष सविकल्पक कहलाता है।

प्रत्यक्ष के इन वर्गीकृत भेदों के इतिहास पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को 'आलोचन मात्र' कहा गया है। 'आलोचन' शब्द का प्रथम प्रयोग 'प्रशस्तपाद' भाष्य में मिलता है। 'कल्पना' शब्द (जो कि 'विकल्प' शब्द से मिलता जुलता है) का प्रयोग सर्वप्रथम आचार्य दिङ्नाग द्वारा उनके ग्रन्थ प्रमाणसमुच्चय में प्रत्यक्ष को परिभाषित करते हुये किया गया **(प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्)**। इससे प्रतीत होता है कि पूर्ववर्ती दार्शनिक प्रत्यक्ष के दो प्रकारों के प्रति कुछ सचेत तो अवश्य थे, परन्तु इसका प्रत्यक्ष के भेद के रूप में स्पष्ट उल्लेख सूत्रग्रन्थों में भी प्राप्त नहीं होता।

बौद्ध मतानुयायिकों के मत का सार यह है कि प्रत्यक्ष में स्वलक्षण का ग्रहण होता है जो शुद्ध संवेदन मात्र है व सभी विकल्पों से परे है। यही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। सविकल्पक प्रत्यक्ष विकल्पों का मिश्रण है जिसे कि प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। आचार्य दिङ्नाग ने निर्विकल्पक व सविकल्पक का प्रथम परिचय देकर इन दोनों का उपर्युक्त मौलिक अन्तर स्पष्ट किया। आचार्य धर्मकीर्ति का मत है कि निर्विकल्पक ज्ञान में स्मृति की अपेक्षा नहीं होती, जबकि सविकल्पक में स्मृति का उद्गमन होता है। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है। प्रत्यक्ष प्रत्येक क्षण का नया होता है व शुद्ध संवेदनमात्र है जो कि निर्विकल्पक ही है। सवि-कल्पक प्रत्यक्ष निर्विकल्पक के बाद की प्रक्रिया है जिसमें गुण, जाति, नाम आदि

सभी मानसिक कल्पनाओं का समावेश होता है, इसका प्रत्यक्षण प्रक्रिया में समावेश नहीं किया जा सकता।

[ख] चार्वाक मत

चार्वाक दर्शन में प्रत्यक्ष के विषय में केवल मात्र इतना ही कहा गया है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही एकमात्र ज्ञान का साधन है, अन्य प्रमाणों की कोई आवश्यकता नहीं। प्रत्यक्ष के भेदों का इसमें कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

[ग] जैन मत

जहाँ बौद्ध मत में निर्विकल्पक की ही सत्ता मान्य है, वहाँ जैन दर्शन में केवल सविकल्पक प्रत्यक्ष को ही स्वीकृत किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने निर्विकल्पक को 'अनध्यवसाय' रूप कहकर प्रत्यक्ष की कोटि में नहीं माना। आचार्य अकलंक (जिन्होंने कि बौद्धाचार्य धर्मकीर्त्ति का प्रबल खण्डन किया) का मत है कि सविकल्पक ज्ञान ही प्रामाणिक है। जब इन्द्रिय का विषय के साथ सम्पर्क होता है तो संस्कारों का उद्बोधन होता है तब पूर्वानुभूत सदृश पदार्थों की स्मृति होती है, जो कि सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति करती है। सविकल्पक ज्ञान में संस्कारों का उद्बोधन होता है, जबकि निर्विकल्पक में संस्कारों का उदय ही नहीं होता। अतएव सविकल्पक ज्ञान ही प्रामाणिक है।

[घ] सांख्य योग मत

सांख्याचार्य अनिरुद्ध ने बौद्ध के सिद्धान्त की आलोचना की है। उसका मत है कि प्रत्यक्ष में पदार्थ का सीधा व तात्कालिक ग्रहण होता है। यह ग्रहण या तो निर्विकल्पक हो सकता है अथवा सविकल्पक। निर्विकल्पक में पदार्थ के नाम, जाति आदि का ग्रहण नहीं होता और सविकल्पक ज्ञान में अतीत स्मृति द्वारा पदार्थ के नाम, गुण आदि का स्मरण होने पर पदार्थ का निर्णय होता है।[115]

वाचस्पति मिश्र का मत है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में विशेष्य-विशेषण आदि अन्य प्रकारों के सम्बन्ध से रहित शुद्ध वस्तु का ज्ञान होता है और सविकल्पक में पदार्थ के सामान्य व विशिष्ट गुणों के साथ पदार्थ का निर्णयात्मक ज्ञान होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष बाह्य इन्द्रियों का कार्य है, जबकि सविकल्पक प्रत्यक्ष मनस् का कार्य है क्योंकि मनस् का कार्य ही संकल्पविकल्पात्मक है।[116]

विज्ञानभिक्षु का मत है कि सविकल्पक व निर्विकल्पक दोनों ही ज्ञान बाह्येन्द्रियों द्वारा होते हैं। संकल्पात्मक व विकल्पात्मक कार्य भी इन्द्रियों द्वारा संपन्न होते हैं।

आचार्य अनिरुद्ध का मत है कि प्रत्यक्ष में स्मृति के सहकारी होने से उसकी प्रामाणिकता में कोई बाधा नहीं पहुँचती। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने इसका खण्डन करते हुये कहा कि यद्यपि निर्विकल्पक व सविकल्पक दोनों प्रामाणिक हैं, पर सविकल्पक भी निर्विकल्पक की तरह इन्द्रियजन्य है, मनोजन्य नहीं। अपनी पुष्टि में उन्होंने कहा कि योग भाष्य में भी व्यासदेव ने सविकल्पक ज्ञान की इन्द्रियजन्यता स्थापित की है।[117]

[ङ] मीमांसक मत

मीमांसकों ने प्रत्यक्ष के दोनों भेदों को माना है। वैसे मीमांसा-शास्त्र में निर्विकल्पक की संकल्पना का समावेश कुमारिल ने किया। कुमारिल के मतानुसार निर्विकल्पक में सभी तत्त्वों का ज्ञान अभेदात्मक रूप से होता है। वह एक आलोचन मात्र है, जिसकी तुलना नवजात शिशु या गूंगे के बोध से की जा सकती है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में वस्तु के सामान्य या विशेष किसी भी गुण का ज्ञान नहीं होता। वैयाकरणों के मत का खन्डन करते हुये कुमारिल यह भी कहते हैं कि पदार्थों का बोध मौखिक अभिव्यक्तियों के बिना भी हो सकता है। कुमारिल के अनुसार सविकल्पक प्रत्यक्ष में वस्तु के ज्ञान के साथ ही असमान पदार्थों से उसके भेद का ग्रहण हो जाता है। पदार्थ के सविकल्पक प्रत्यक्ष में हम उस वर्ग को जिससे यह सम्बद्ध है और उस नाम को जिसे यह धारण करता है, स्मरण करते हैं और तब उन्हें प्रत्यक्ष के विषय मूल पदार्थ के साथ जोड़ते हैं। यदि वर्ग तथा नाम सर्वथा अज्ञात हों तो वे स्मरण नहीं किये जा सकते। इसलिए निर्विकल्प प्रत्यक्ष के अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक है। पार्थसारथि के अनुसार निर्विकल्पक में पदार्थ व उसकी अनेक विशेषताओं का भेद रहित ग्रहण होता है और सविकल्पक प्रत्यक्ष में पदार्थ के साथ जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया व नाम का भी ग्रहण होता है।[118]

प्रभाकर का यह कथन है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में सामान्य व विशेष से युक्त शुद्ध वस्तु के स्वरूप मात्र का ग्रहण होता है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष अन्य पदार्थों की स्मृति से रहित होता है। यह प्रत्यक्ष की आरम्भिक चेतनात्मक स्थिति है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष वर्गगत लक्षणों तथा विशिष्ट लक्षणों, दोनों का बोध कराता है, लेकिन क्योंकि अन्य समान पदार्थ उस समय तक बोध के क्षेत्र के अन्दर प्रविष्ट नहीं होते, इसलिये दृष्ट पदार्थ के बोध का उसके वर्गविशेष के बोध से सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता। कोई पदार्थ, अन्य पदार्थों की तुलना में ही, जिनसे कि वह अलग लक्षित किया गया हो, व्यक्ति रूप में गृहीत होता

है। किन्तु जब यह किसी वर्ग-विशेष के अन्य सदस्यों के समान कुछ विशिष्ट लक्षणों को लिये हुये देखा जाता है, तो इसके विषय में यह ज्ञान होता है कि यह किसी विशेष वर्ग का सदस्य है। यद्यपि निर्विकल्प रूप में जिसका बोध हुआ है, वह भी वस्तुतः किसी वर्ग का एक व्यक्ति है, परन्तु उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि उसका सम्बन्ध इसके वर्ग के अन्य सदस्यों के साथ नहीं जोड़ा जाता।[119] प्रभाकर का मत है कि सविकल्प प्रत्यक्ष का रूप मिश्रित है, उसके अन्दर स्मृति का अंत अन्तर्निहित है किन्तु स्मृति का अंश उस पदार्थ से सम्बन्ध नहीं रखता, जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ है, बल्कि उस अन्य पदार्थों से रखता है जिनके साथ इसकी समता है।

प्रभाकर बौद्धों के इस मत पर आक्षेप करता है कि निर्विकल्प में स्वलक्षण वस्तु का ग्रहण होता है, क्योंकि इसमें पदार्थ की जाति आदि का भी ग्रहण होता है। शंकर के मत के प्रति भी प्रभाकर ने अपना विरोध प्रकट किया है, शंकर के मतानुसार निर्विकल्पक में केवल सामान्यमात्र का ग्रहण होता है, जबकि प्रभाकर के अनुसार इसमें स्वरूप का भी ग्रहण होता हैं। प्रभाकर के मत पर भी यह आक्षेप लगाया जाता है कि 'निर्विकल्प में सामान्य व विशेष गुणों का ग्रहण होता है पर उनके परस्पर भेद का ग्रहण नहीं यह कैसे ? इस आक्षेप के समाधान में प्रभाकर कहते हैं कि यह आवश्यक नहीं' कि दो पदार्थों के ज्ञान में उनके परस्पर भेद का भी ग्रहण हो।

गागा भाट्ट का भी यह मत है कि निर्विकल्पक में पदार्थ व उसकी विशेषताओं का परस्पर सम्बद्ध रूप दृष्टिगोचर नहीं होता।[120] यह एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। सविकल्पक को उसने इस प्रकार परिभाषित किया कि—
सविशेष्यकसप्रकाकरं संसर्गकज्ञानम्।

पार्थसारथि मिश्र के मत में सर्वप्रथम पदार्थ का इन्द्रियों के साथ सम्पर्क होने पर सब प्रकार के सम्बन्धों से विहीन पदार्थ का जो बोध होता है, वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। तब तक गुणी तथा गुणों में तथा सामान्य और विशिष्ट लक्षणों में भेद नहीं मालूम होता। यदि निर्विकल्पक ज्ञान न होता तो सविकल्पक प्रत्यक्ष भी न होता, क्योंकि सविकल्प प्रत्यक्ष गुणयुक्त पदार्थ तथा उसके गुणों के पारस्परिक सम्बन्ध का बोधक है और इस प्रकार के सम्बन्ध का बोध निर्भर करता है सम्बन्धों के पूर्वपक्षों के पूर्वबोधों पर। यह परिभाषा नीलकंठोक्त परिभाषा के सदृश प्रतीत होती है। पार्थसारथि के समान ही इसने भी सविकल्प में पदार्थ के द्रव्य, गुण, जाति, क्रिया व नाम का समावेश किया है।

अतएव निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि कुमारिल व प्रभाकर ने प्रत्यक्ष के इन दोनों प्रकारों को प्रामाणिक माना है। दोनों इन्द्रिय-विषय-सन्निकर्ष से उत्पन्न होते हैं, अतएव, दोनों यथार्थ हैं।

[च] वेदान्त मत

अद्वैतवादी वेदान्तियों के अनुसार निर्विकल्पक विषय का साधारण बोध कराता है और वह सविकल्पक की पूर्वावस्था है। वह निर्विशेष सन्मात्र अर्थात् शुद्ध 'सत्' का ग्रहण करता है न कि गुण कर्म आदि से युक्त 'सत्' का। वेदान्त परिभाषा में निर्विकल्पक को संसर्गावगाहि तथा सविसकल्पक को वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञान कहा गया है।[121] आचार्य धर्मराजाध्वरीन्द्र के मतानुसार किसी भी प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए उसका ऐन्द्रियक होना जरूरी नहीं। हाँ, प्रमाण-चैतन्य व प्रमेय चैतन्य में तादात्म्य होना जरूरी है। 'वह तुम हो' ऐसे वाक्यों में निर्विकल्पक ज्ञान के प्रति यह आक्षेप लगाया जाता है कि यदि इसमें सम्बन्ध का ग्रहण होगा तो यह कैसे निर्विकल्पक कहा जा सकेगा और यदि इसमें सम्बन्ध का ग्रहण न किया जाये तो यह अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यक्ति कैसे करेगा? धर्मराजाध्वरीन्द्र ने इसका प्रत्युत्तर यह दिया कि वक्ता की प्रवृत्ति को देखकर भी वाक्य का अभिप्राय ग्रहण हो जाता है। शंकर के 'मतानुसार ऐसे वाक्यों को अखण्डार्थ वाक्य कहा जाता है, इसलिए इस प्रकार के वाक्यों का ज्ञान निर्विकल्पक कहलाता है। लेकिन महादेवानन्द सरस्वती ने कुछ भिन्न मत प्रकट किया है। उसने निर्विकल्पक व सविकल्पक में भेद नहीं किया है। उसने इस मत का खन्डन किया कि निर्विकल्पक सविकल्पक की पूर्ववर्ती अवस्था है। उसका मत है कि सविकल्पक निर्विकल्पक से उत्पन्न नहीं होता है। महादेवानन्द का दृष्टिकोण शाब्दिकों से समानता रखता है।[122]

रामानुजाचार्य ने शंकर, मीमांसकों व न्याय वैशेषिकों के मत का खण्डन किया है। उनका मत है कि निर्विकल्पक में न तो महासामान्य सत्ता का ग्रहण है न यह निःसंबंधात्मक प्रत्यय है।[123] वेकण्टनाथ ने रामानुज के मत की विस्तार से व्याख्या की। उसका मत है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा से रहित है, जबकि संविकल्पक प्रत्यभिज्ञा से युक्त होता है।[124] दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष में विषय विशिष्ट रहता है। कुमारिल के मत में यद्यपि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अबोध व गूंगे के ज्ञान के सदृश है जिसमें नामि जाति आदि विशेषणों से रहित पदार्थ का ज्ञान होता है, परन्तु वेकण्टनाथ का मत है कि निर्विकल्पक में पदार्थ के नाम का बोध

नहीं होता, फिर भी पदार्थ की विशेषताओं का ज्ञान तो होता है। सविकल्पक में निर्विकल्पक की अपेक्षा प्रत्यभिज्ञा व स्मृति का समावेश होता है।

माधवाचार्य के अनुसार समस्त प्रकार का प्रत्यक्ष सविकल्पक है। निर्विकल्पक ज्ञान का अर्थ है विषय का स्वयं में ऐसा सरल संज्ञान जो आठ प्रकार के प्रत्ययात्मक विकल्पों अर्थात् द्रव्यविकल्प, गुणविकल्प, क्रियाविकल्प, जातिविकल्प, विशेष विकल्प, समवाय विकल्प, नाम विकल्प व अभाव विकल्प से रहित हो। किन्तु जयतीर्थ कहते हैं कि निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्षों के इन विभेदों में से किसी एक को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे 'विशेष' एवं 'समवाय' नामक दो पदार्थों की मान्यता पर आधारित हैं, जो दोनों अमान्य हैं।

वल्लभाचार्य के अनुयायी पुरुषोत्तम का मत है कि सभी प्रकार का ज्ञान सविकल्पक है यह निश्चयात्मक होता है, व इसमें पदार्थ व उसके गुणों का परस्पर सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है।[125] सविकल्पक ज्ञान दो प्रकार का होता है—विशिष्ट बुद्धि और समूहावलम्बन बुद्धि।

[छ] शाब्दिकों का मत

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नहीं हैं। आचार्य भर्तृहरि का मत है कि किसी भी पदार्थ का बोध उसके नाम के साथ ही होता है। बिना भाषा के कोई विचार नहीं होता। इसलिये नामरहित अर्थात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की कोई सत्ता नहीं। शाब्दिकों का मत है कि सभी व्यावहारिक क्रियाकलाप सविकल्पक प्रत्यक्ष पर आधारित हैं। इसलिये निर्विकल्पक की पूर्व सत्ता स्थापित करने की कोई आवश्यकता नहीं।[126]

वाचस्पति मिश्र ने शाब्दिकों के मत की आलोचना करते हुए कहा कि यदि पदार्थों का नाम से तादात्म्य हो तो बच्चे व गूंगे को पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए। क्योंकि उन्हें पहले नाम का बोध नहीं हो पाता है। इसके साथ ही यह भी है कि प्रत्येक इन्द्रिय एक विशिष्ट प्रकार के ज्ञान का ग्रहण कराने में सक्षम है, सब प्रकार के ज्ञान का नहीं। यथा-चाक्षुष प्रत्यक्ष से रूप का ही ग्रहण सम्भव है, श्रोत्र से शब्द का। यदि रूप व नाम का तादात्म्य हो तो अंधे व्यक्ति को श्रोत द्वारा रूप का ग्रहण हो जाए! पर ऐसा नहीं होता। वाचस्पति यह भी कहते हैं कि गूंगे व अबोध बालकों को भी नामरहित प्रत्यक्ष होता है अतएव निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का अस्तित्व है। इसके साथ ही जो शब्दार्थ ज्ञान से परिचित हैं, प्रथमावस्था में उनको भी नामरहित निर्विकल्पक ज्ञान

होता है, बाद में नाम आदि की स्मृति हो जाने से सविकल्पक ज्ञान होता है। जयन्त ने भी शाब्दिकों के मत का खण्डन किया है।

वरदराज ने वाचस्पति व जयन्त का समर्थन करते हुए कहा है कि हम किसी भी पदार्थ का प्रत्यक्ष बिना उसका नाम जाने भी कर सकते हैं। यदि पदार्थ का नाम ज्ञात भी हो तो भी सर्वप्रथम पदार्थ का ही प्रत्यक्ष होता है, तदनन्तर उसके नाम का। नाम के साथ अन्य विशेषताओं का भी प्रत्यक्ष होता है। यही सविकल्पक प्रत्यक्ष है। अतएव सविकल्पक प्रत्यक्ष के पूर्व निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य है।

[ज] वैशेषिक मत

वैशेषिक मतानुयायियों के अनुसार निर्विकल्प प्रत्यक्ष में पदार्थ के सामान्य एवं विशिष्ट गुणों का साक्षात्कार तो होता है, किन्तु दोनों का भेद मालूम नहीं होता। सविकल्पक प्रत्यक्ष में पदार्थ और उसके विशिष्ट गुणों का भेद स्पष्ट होकर पदार्थ का ज्ञान निश्चयात्मक हो जाता है प्रशस्तपाद का मत है कि जैसे ही इन्द्रिय का पदार्थ से सन्निकर्ष होता है, तत्काल ही पदार्थ के स्वरूपमात्र का आलोचनमात्र होता है। यह प्रत्यक्ष की प्रारम्भिक अवस्था है, जिसमें पदार्थ के सामान्य व विशिष्ट गुणों के भेद का बोध नहीं होता है। यह किसी पूर्व ज्ञान का परिणाम नहीं है।[127] श्रीधर के अनुसार भी निर्विकल्पक में पदार्थ के सब प्रकार के सम्बन्ध भेदों से रहित स्वरूपमात्र का ज्ञान होता है।[128] इसमें पदार्थ के सामान्य व विशिष्ट गुणों का ग्रहण तो होता है पर सामान्य का सामान्य भेद से व विशेष का विशेष भेद से ग्रहण नहीं होता है। सविकल्पक में उनके परस्पर भेद का ग्रहण होता है। यदि निर्विकल्पक में पदार्थ के सामान्य व विशिष्ट गुणों का ग्रहण न हो तो सविकल्पक में उनके परस्पर भेद का भी ग्रहण नहीं हो सकता। अतएव श्रीधर का मत प्रभाकर के सदृश प्रतीत होता है।

शिवादित्य का मत प्रशस्तपाद व श्रीधर से समता रखता है। अतएव निर्विकल्पक में पदार्थ के स्वरूपमात्र का ग्रहण होता है, जबकि सविकल्पक में विशिष्ट का ग्रहण होता है। शंकरमिश्र भी श्रीधर से सहमत प्रतीत होते हैं। उनका मत है कि सविकल्पक में पदार्थ के द्रव्य, नाम जाति आदि का ज्ञान होता है। सविकल्पक से पूर्व निर्विकल्पक की सत्ता अवश्य है; निर्विकल्पक में

पदार्थ का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष होने पर सामान्य व विशिष्ट गुणों का एकत्र रूप में भान होता है। उनके परस्पर भेद का इसमें ग्रहण नहीं हो पाता है। सविकल्पक तीन कारणों द्वारा उत्पन्न होता है—गुण अथवा विशेषताओं का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, पदार्थ व इन्द्रिय का सन्निकर्ष व विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध का होना।[129] मूलतः श्रीधर से ही इनका मत साम्य रखता है। यही वैशेषिकों का अभिप्राय है।

अतएव न्याय-वैशेषिक मतानुयायियों के अनुसार प्रत्यक्ष के सविकल्पक व निर्वकल्पक ये दोनों ही भेद प्रामाणिक हैं।

[झ] न्याय मत

सविकल्पक व निर्विकल्पक संज्ञक प्रभेदों का उल्लेख न्याय सूत्र व न्यायभाष्य में नहीं मिलता। यद्यपि वार्तिकपूर्व लिखित प्रशस्तपादभाष्य में **'आपतितस्वरूपालोचनमात्रम्', 'स्वरूपालोचनमात्रं प्रत्यक्षं प्रमाणम्,'** एवं **आलोचन 'मात्रं प्रत्यक्षं प्रमाणम्'** आदि पदों का अर्थ परवर्ती टीकाकार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष लेते हैं और सम्भवतः ऐसा हो भी, परन्तु इनमें भी प्रत्यक्ष के उक्त दोनों भेदों का स्पष्ट निरूपण नहीं हुआ है और न ही सविकल्पक व निर्विकल्पक संज्ञाओं का उल्लेख हुआ है।

प्रशस्तपाद के 'आलोचनमात्र' पद से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का कुछ आभास माना भी जा सकता है। किन्तु वार्तिककार को ये दोनों भेद उक्त संज्ञाओं द्वारा निर्दिष्ट न सही, किसी रूप में अवश्य मान्य थे। वार्तिककार ने दिङ्नाग के प्रत्यक्ष लक्षण की आलोचना करते समय स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष को द्विविध (सामान्यविशेषाकारवत्) माना है।[130] इससे यही सिद्ध होता है कि वार्तिककार भी उक्त दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष भेदों को मानते थे। किन्तु न्यायवार्तिक में सविकल्पक एवं निर्विकल्पक नाम से स्पष्ट विवेचन न होने के कारण यह तथ्य विद्वानों की दृष्टि में न आ सका। तात्पर्यटीकाकार की धारणा है कि भाष्यकार एवं वार्तिककार ने प्रत्यक्ष सूत्र की व्याख्या करने पर द्विविध प्रत्यक्ष का जो निरूपण नहीं किया, उसका कारण यह नहीं कि उन्हें इन प्रभेदों का अथवा प्रभेदपरक सूत्रार्थ का ज्ञान नहीं था, अपितु यह तथ्य संभवतः उनके विचार में इतना सरल है कि शिष्य उसे स्वयं ही ग्रहण कर सकते हैं। तात्पर्यटीकाकार प्रत्यक्ष सूत्र में प्रयुक्त व्यवसायात्मक पद से सविकल्पक व अव्यपदेश्य पद द्वारा निर्विकल्प अर्थ निकालते हैं।[131]

इसके पूर्व भाष्यकार एवं वार्तिककार 'व्यवसायात्मक' पद का प्रयोजन संशय का निराकरण मानते थे, किन्तु तात्पर्यटीकाकार के मत में अव्यभिचार पद के द्वारा भ्रम के साथ ही साथ संशय का भी निराकरण हो जाता है। संशय ज्ञान भी व्यभिचारी होता है। इस प्रकार 'अव्यपदेश्य' प्रयोग प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक भेद का सूचक है। तात्पर्यटीकाकार स्वयं को प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक एवं सविकल्पक संज्ञक प्रभेदों के नामकरण का उद्भावक नहीं मानते। वे तो इसे न्याय सूत्र की नई व्याख्या मात्र कहते हैं जो कि उन्होंने अपने गुरु त्रिलोचन के मतानुसार की है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि वार्तिककार से परवर्ती व तात्पर्य टीकाकार से पूर्ववर्ती मीमांसक कुमारिल भट्ट ने निर्विकल्पक व सविकल्पक पदों का प्रयोग किया था।[132]

निर्विकल्पक ज्ञान में विषय के प्रभेद का ज्ञान नहीं होता, जैसे दूर से देखे जाने वाले पदार्थ के विषय में हम यही कह सकते हैं कि कुछ दिखाई पड़ता है। यही 'किंचित्त्व' ज्ञान निर्विकल्पक कहलाता है। निविकल्पक में विशेष का ज्ञान नहीं होता। इसके विपरीत सविकल्पक में होता है।

जयन्तभट्ट का मत है कि प्रत्यक्ष के ये दोनों ही भेद प्रामाणिक हैं। अन्तर यही है कि निर्विकल्पक में पदार्थ का ज्ञान शाब्दिक अभिव्यक्ति आदि से स्वतंत्र होता है, जबकि दूसरे में उन सभी से युक्त होता।[133] दोनों में द्रव्य, गुण, क्रिया, जाति का ग्रहण होता है। प्रथम में पदार्थ के साथ उनका सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता, जबकि द्वितीय में होता है। बौद्धों के इस मत का कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है, जो कि सभी सजातीय व विजातीय पदार्थों का निराकरण करता है, आलोचना करते हुए न्यायमंजरीकार ने कहा कि प्रत्यक्ष में पदार्थ की जातिगत विशेषताएँ अवश्य निहित रहती हैं। जयन्तभट्ट ने वेदान्तियों के इस मत का कि 'निर्विकल्पक का विषय महासामान्य सत्ता है', खण्डन करते हुए कहा कि निर्विकल्पक का विषय केवलमात्र महासामान्य सत्ता नहीं।[134] जयन्तभट्ट ने शाब्दिकों के मत का निरसन करते हुए कहा कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा पदार्थ का असम्बन्धात्मक ग्रहण होता है। इसलिए उसमें पदार्थ के नाम के ग्रहण का प्रश्न ही नहीं उठता।

प्राचीन नैयायिक भासर्वज्ञ ने निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय में कहा कि यह वस्तुस्वरूपमात्रावभासक ज्ञान है।[135] भासर्वज्ञ के अनुसार साविकल्पक प्रत्यक्ष में पदार्थ के द्रव्य, गुण, जाति नाम आदि का भी बोध होता है। वरदराज का भी यही मत है।[136] गंगेश के अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में पदार्थ

का असंबद्धात्मक ग्रहण होता है। निर्विकल्पक को न प्रमा कहा जा सकता है न अप्रमा। अर्थात् प्रमात्व और अप्रमात्व दोनों प्रकारतादि घटित ज्ञान में रहते हैं और निर्विकल्पक ज्ञान प्रकारता से शून्य होता है इसलिये न प्रमा कहा जा सकता है न अप्रमा। अतएव दोनों से विलक्षण है।

केशवमिश्र के मतानुसार अर्थ से संयुक्त इन्द्रिय के द्वारा नाम जाति आदि की योजना से रहित वस्तु मात्र का ग्रहण करने वाला यह कुछ है इस प्रकार का ज्ञान निर्विकल्पक होता है।

निर्विकल्पक के अनन्तर नाम जात्यादि योजना सहित यह डित्थ है, यह श्याम है इस प्रकार का विशेषण-विशेष्यभाव विषयक ज्ञान सविकल्पक कहलाता है। तर्कभाषाकार का मत है कि प्रत्येक कार्य के निष्पादन में तीन तत्त्वों का समावेश होता है करण, व्यापार व फल। निर्विकल्पक ज्ञान में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष व्यापार व निर्विकल्पक प्रत्यक्ष फल है। और सविकल्पक प्रत्यक्ष में इन्द्रिय पदार्थ सन्निकर्षकरण, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष व्यापार व सविकल्पक प्रत्यक्ष फल है।[137]

विश्वनाथ ने इस गंगेश के मत की सविस्तार व्याख्या करते हुए कहा कि निर्विकल्पक ज्ञान अतीन्द्रिय माना जाता है।[138] चक्षुसंयोग के बाद 'घट' का 'घटत्व' आदि विशेषण से युक्त ज्ञान सम्भव नहीं है, क्योंकि विशिष्ट ज्ञान के होने में विशेषण ज्ञान कारण होता है। इसलिये पहले घट और घटत्व के विशेषण-विशेष्यभाव को विषय न करने वाला अर्थात् उसको ग्रहण न करने वाला ज्ञान ही उत्पन्न होता है, वही निर्विकल्पक माना जाता है। और यह सविकल्पक के पूर्व होता है, इसलिये विशेषण ज्ञान के घटत्वज्ञान के बिना यह घट है. ऐसा सम्भव नहीं। इसलिये यह स्वीकार करना पड़ता है कि चक्षु घट के संयोग में घट और घटत्व का विशेषण-विशेष्यभाव रहित अर्थात् वैशिष्ट्यानवगाहि ज्ञान होता है। उसमें घट और घटत्व विशकलित रूप में अलग-अलग भासते हैं, उनमें कोई सम्बन्ध नहीं होता और सम्बन्ध न होने से उस ज्ञान का साक्षात्कार भी नहीं हो सकता। इसलिये उसको अतीन्द्रिय माना जाता है।

अन्नंभट्ट ने निष्प्रकारक ज्ञान को निर्विकल्पक व सप्रकारक ज्ञान को सविकल्पक कहा।

जैसा कि पहले भी कहा गया है, न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष के इन भेदों का उल्लेख वाचस्पति मिश्र ने किया। यों तो वाचस्पति ने स्वयं ही यह स्वीकार किया कि

न्यायसूत्रकार द्वारा प्रत्यक्ष की परिभाषा में प्रयुक्त अव्यपदेश्य और व्यवसायात्मक शब्द प्रत्यक्ष के भेदों के वाचक हैं, किन्तु उन्होंने यह भी कहा कि इन शब्दों से निर्विकल्पक और सविकल्पक का ग्रहण करने के सम्बन्ध में उन्होंने अपने गुरु त्रिलोचन से प्रेरणा प्राप्त की। उदयानाचार्य की एक उक्ति के आधार पर यह भी प्रतीत होता है कि वाचस्पति प्रशस्तपाद के कथन से अभिप्रेरित हुये थे। वाचस्पति मिश्र का मत है कि सभी प्रकार के निर्विकल्पक ज्ञान यथार्थ हैं और प्रत्यक्ष के अन्तर्गत हैं। अनुभव यथार्थ ही होता है। यदि कोई मनुष्य किसी वस्तु का भली प्रकार अनुभव न कर सके, तो वह उसका दोष है न कि अनुभव का और न ही वस्तु का। जयन्त भट्ट ने तो यह भी स्पष्ट कर दिया है कि निर्विकल्पक और सविकल्पक में वस्तु की आत्मा तो एक ही है, शब्दोल्लेख रहित निर्विकल्प है। सविकल्प से जैसे कहीं जाति, कहीं द्रव्य, कहीं कर्म तथा कहीं गुण का ग्रहण होता है उसी प्रकार निर्विकल्पक से भी होता है।

गंगेश ने ऐसे ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है जिसका करण कोई दूसरा ज्ञान नहीं है। निर्विकल्पक को वे न यथार्थ मानते हैं न अयथार्थ।

8. निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का प्रमात्व

निर्विकल्पक ज्ञान के प्रामाण्य के विषय में भी कई पक्ष हैं। बौद्ध व वेदान्त दर्शन तो निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानते हैं। न्याय-वैशेषिक में निर्विकल्पक व सविकल्पक दोनों को प्रमाण माना जाता है, परन्तु उनमें भी नव्य और प्राचीन नैयायिकों का कुछ मतभेद है। 'प्राचीन परम्परा के अनुसार निर्विकल्पक को प्रमा रूप माना जाता है। परन्तु नव्य-न्याय में आकर निर्विकल्पक के प्रमात्व विषय में दो प्रकार के मत हो गये हैं। विश्वनाथ ने भ्रमभिन्न ज्ञान को प्रमा कहा, इससे निर्विकल्पक ज्ञान भी भ्रमभिन्न होने से प्रमा की कोटि में आ जाता है।

जैसा कि पहले भी कहा गया है, बौद्धों के मतानुसार निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही प्रमा है। किन्तु जैन नैयायिक निर्विकल्पक को अनध्यवसाय मानते हुये उसे प्रमा की श्रेणी में नहीं गिनते। अद्वैत वेदान्त दर्शन में निर्विकल्पक को प्रमा तो माना गया है, किन्तु उनकी निर्विकल्पक की संकल्पना 'तत्वमसि' की तरह सूक्ष्म है। रामानुजाचार्य के अनुसार गुण संस्थान आदि के साथ किसी पिण्ड का जो पहला ज्ञान होता है, वह निर्विकल्पक है और गुण संस्थान आदि के साथ किसी वस्तु का जो दूसरा तीसरा आदि ज्ञान होता है, वह सविकल्पक है। प्रथम ज्ञान में भी विशिष्ट वस्तु का ही ग्रहण होता है क्योंकि अविशिष्ट वस्तु का तो ग्रहण सम्भव

ही नहीं है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार निर्विकल्पक अविशिष्ट है, किन्तु रामानुजवेदान्त के अनुसार वह विशिष्ट होता है। वैयाकरणों के अनुसार निर्विकल्पक प्रमा की कोटि में नहीं आता, क्योंकि उनके मत में जिस वस्तु का शब्दों के द्वारा उल्लेख नहीं हो सकता, उसका अस्तित्व भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। वेदान्त की माध्वपरम्परा में भी निर्विकल्पक ज्ञान को स्वीकार नहीं किया गया है। उनके मतानुसार ऐसा ज्ञान प्रामाणिक नहीं होता, जो विशेषण-विशेष्य-भाव से शून्य वस्तु के स्वरूपमात्र का ग्रहण करता हो। अतः ज्ञान सविकल्पक ही होता है। बौद्ध जिसको निर्विकल्पक कहते हैं, वह वस्तुतः वस्तु का पहला ज्ञान है। हाँ, वह उत्तरवर्ती सविकल्पों की अपेक्षा अल्पविषयक है।

निर्विकल्पक ज्ञान भी दो प्रकार का हो सकता है—विशुद्ध निर्विकल्पक और मिश्र निर्विकल्पक। जो ज्ञान किसी भी रूप में विशिष्टग्राही नहीं होता, वह विशुद्ध निर्विकल्पक होता है—जैसे गाय आदि के साथ चक्षु का संयोग होने पर गाय के स्वरूपमात्र का ज्ञान। मुख्य अंश में निर्विकल्पक होते हुये भी यदि कोई ज्ञान किसी अंश में विशिष्टग्राही भी हो तो वह मिश्रनिर्विकल्पक कहला सकता है।

किसी घट के साथ चक्षु का संयोग होने पर उस घट और घटत्व के निर्विकल्पक के बाद जो प्रत्यक्ष होता है, वह चक्षुसंयुक्त घट के सविकल्पक और अन्य घटों में निर्विकल्पक होता है। किन्तु यह निर्विकल्पक सर्वांश में निर्विकल्पक नहीं है, अतः इसे मिश्र निर्विकल्पक या नरसिंहाकार निर्विकल्पक भी कहते हैं।

निर्विकल्पक का अस्तित्व तो अन्य प्रकार की प्रमितियों में भी सम्भव है, किन्तु नैयायिकों ने इसका विश्लेषण प्रत्यक्ष के ही संदर्भ में किया है। यह इस दृष्टि से उपयुक्त ही है कि अनुमिति निर्विकल्पक नहीं हो सकती। पक्षस्वरूप धर्मी (उद्देश्य) में साध्यस्वरूप विधेय के ज्ञान का नाम अनुमिति है। इस प्रकार उसको **निर्विशेष्य-विशेषण-संसर्गक** कैसे कहा जा सकता है।

विशिष्ट ज्ञान का ही दूसरा नाम सविकल्पक ज्ञान है। विशिष्ट ज्ञान तब तक नहीं हो सकता, जबतक कि उस वस्तु के विशेषण का स्वतन्त्र रूप से भी ज्ञान न कर लिया जाये। उदाहरणतया नील रंग का पहले से ही स्वतन्त्र ज्ञान हुये बिना यह 'नीली साड़ी' है इस प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु नीली साड़ी के ज्ञान के पहले 'नील' और साड़ी का पृथक् ज्ञान अपेक्षित है। अतः यह नीली साड़ी है, इस ज्ञान की अपेक्षा वह पूर्ववर्ती है और निर्विकल्पक है, जिसमें विशेषण का विषयीकरण नहीं होता है।

कतिपय आचार्यों के मत में निर्विकल्पक का प्रत्यक्ष नहीं होता वह अनुमेय है। अर्थात् सविकल्पक के द्वारा यह अनुमान किया जाता है कि इससे अव्यवहित पूर्व में निर्विकल्पक ज्ञान भी हुआ है। कुछ विद्वानों के मत में शब्दज और अशब्दज के रूप में तथा अन्य कतिपय विद्वानों के अनुसार नित्य और अनित्य के रूप में भी प्रत्यक्ष के भेद किये जा सकते हैं। ईश्वर सर्वदा प्रत्येक वस्तु को देखता है। वह नित्य प्रत्यक्ष है, अन्य प्राणियों का देखना अनित्य प्रत्यक्ष है।

9. प्रत्यक्ष प्रमाण के सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य संकल्पनाएँ

भारतीय न्यायशास्त्र तथा पाश्चात्य तर्कशास्त्र का विकास विभिन्न परिस्थितियों में अपने-अपने ढंग से हुआ है। उनकी तुलना वैसे न तो संभव है और न आवश्यक ही, किन्तु कुछ लोग इस दिशा में भी कुछ-न-कुछ कहने के अभ्यस्त हो जाते हैं। अत: उनके संतोष के लिए इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि पाश्चात्य दर्शन में प्रत्यक्ष का निरूपण मनोविज्ञान के सन्दर्भ में अधिक किया गया है अत: ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से उसकी चर्चा अनिवार्य नहीं है। भारतीय न्यायशास्त्र में अनुमान जैसे प्रमाणों के संदर्भ में भी प्रत्यक्ष की उपयोगिता का निरूपण किया गया है। अत: प्रत्यक्ष विवेचन भारतीय न्यायशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष का निर्विकल्पक नामक जो भेद भारतीय दर्शनों में माना गया है, उसको पाश्चात्य दार्शनिकों ने संवेदन (सेन्सेशन) कहा है, और बौद्धों की निर्विकल्प की संकल्पना से उसका पर्याप्त साम्य है।

10. प्रत्यक्ष प्रमाण की उपयोगिता

प्रत्यक्ष प्रमाण का महत्त्व अन्य प्रमाणों की तुलना में ही भली-भाँति समझा जा सकता है। यह तो सर्वविदित ही है कि अन्य प्रमाण अपने अस्तित्व के लिये कई दृष्टियों से प्रत्यक्ष पर आश्रित हैं, जबकि प्रत्यक्ष किसी अन्य प्रमाण पर निर्भर नहीं है।[139] पाश्चात्य दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष पर विशेष विचार नहीं किया किन्तु मिल जैसे महान तार्किकों ने भी यह स्वीकार किया है कि आगमन का आधार तथा सत्यापक प्रत्यक्ष ही है।[140] भारतीय अनुमान की प्रत्यक्षमूलकता का उल्लेख स्वयं गौतम ने भी किया है।[141] व्याप्ति और पक्षधर्मता की प्रक्रिया का तो प्रत्यक्ष एक अनिवार्य तत्त्व है। आम लोग तो अधिकतर प्रत्यक्ष से ही अधिक काम चलाते हैं। अन्य प्रमाणों की सत्यता के सम्बन्ध में संदेह उत्पन्न होने पर उसका निवारण भी प्रत्यक्ष से ही होता है। उसके अति-

रिक्त कई अवसरों पर लोगों को जो भ्रम या संदेह हुआ करता है उसके निवारण का एकमात्र उपाय भी प्रत्यक्ष ही है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष में, जैसे कि गंगेश ने कहा, विषय का साक्षात्कार करने की शक्ति है।[142] इस विशेषता के दर्शन अन्य प्रमाणों में नहीं हुआ करते।

मानव की समस्त ज्ञान प्रक्रियाएँ किसी-न-किसी अंश में प्रत्यक्ष पर ही आधारित हैं। दार्शनिक जगत में प्रत्यक्ष ही एकमात्र ऐसा प्रमाण है, जिसे सभी ने एकमत्य से स्वीकार किया है। विचार की प्रारम्भिक बेला में प्रत्यक्षमात्र का अस्तित्व ही स्वीकार किया जाता था। अक्षपाद ने पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस प्राप्ति का उल्लेख किया और तत्त्वों में प्रमाण का सर्वप्रथम उल्लेख किया है। न्यायशास्त्र में प्रमाण सम्बन्धी चर्चा भी प्रत्यक्ष के विश्लेषण से ही आरम्भ होती है। अतः प्रमाण मीमांसा का आरम्भ निस्सन्देह प्रत्यक्ष के विवेचन से ही प्रारम्भ होता है। साथ ही यह कहना भी अनुचित नहीं है कि अन्य प्रमाणों के प्रामाण्य की पुष्टि-हेतु भी प्रत्यक्ष की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए कहा जा सकता है कि प्रमाणमीमांसा का आरम्भ बिन्दु के अन्तिम बिन्दु प्रत्यक्ष ही है।

प्रत्यक्ष का महत्त्व इस बात से भी सिद्ध होता है कि सभी प्रमाण प्रत्यक्ष पर किसी-न-किसी रूप में आधारित हैं। प्रत्यक्ष के बाद अनुमान का स्थान आता है। सर्वप्रथम इसकी पुष्टि गौतमोक्त परिभाषा से ही होती है 'अथ तत्पूर्वकं अनुमानम्'। वार्तिककार ने तत् शब्द का अर्थ तानि, ते, तत् से किया। तानि करने पर **'प्रत्यक्ष अनुमानादि पूर्वाणियस्य तत् अनुमानम्'**—प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण जिसके पूर्व में हों।

अक्षपाद द्वारा अनुमान की परिभाषा में प्रयुक्त 'तत्पूर्वक' शब्द की उद्योतकर आदि ने जो व्याख्या की है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी-न-किसी रूप में अनुमान प्रत्यक्ष पर आधारित है। प्रत्यक्ष ज्ञान के बिना अनुमिति ज्ञान निष्पन्न नहीं हो सकता। जब तक हेतु धर्म का प्रत्यक्ष नहीं हो जाता, तब तक साध्य अग्नि को सिद्ध करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए कहा जा सकता है कि अनुमान अपनी उत्पत्ति के लिए प्रत्यक्ष पर निर्भर रहता है, किन्तु प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्ति के लिए अनुमान की अपेक्षा नहीं रखता।

इस प्रकार उपमान प्रमाण में भी **'यथा गौः तथा गवयः'** ऐसा वाक्य सुनकर नागरिक जंगल को जाता है और गौ सदृश पशु को देखकर 'यह गवय है' ऐसा ज्ञान प्राप्त करता है, परन्तु इसमें भी पहले उसने गौ का प्रत्यक्ष किया हो, यदि

प्रत्यक्ष नहीं करता तो गवय ज्ञान की प्राप्ति उसको किस प्रकार हो सकती है? इस प्रकार उपमान के पूर्व भी प्रत्यक्ष की सत्ता विद्यमान रहती है। ऐसे ही शब्द प्रमाण के सन्दर्भ में भी उन पुरुषों के वचनों को प्रामाणिक माना जाता है जिन्होंने वस्तुओं का साक्षात्कार स्वयं किया हो। अतएव शब्द में भी प्रत्यक्ष की सत्ता अवश्य विद्यमान रहती है। अन्य प्रमाणों में भी प्रत्यक्ष किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहता ही है।

ऋषियों ने भी प्राकृतिक शक्तियों को साक्षात्कार करके ही सुन्दर मन्त्रों की रचना की। इसलिए कहा जा सकता है कि साहित्य के आरम्भ का कारण भी प्रत्यक्ष ही है।

ज्ञान को प्रायः अनुभव पर आधारित माना गया है। कई आचार्यों ने अनुभव को ही वास्तविक ज्ञान माना है और अनुभव प्रत्यक्ष पर ही निर्भर है। शास्त्रों में कहा गया है कि '**ऋते ज्ञानान्न मुक्ति**' अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं। ज्ञान की प्राप्ति अज्ञान व भ्रांतियों के निवारणानन्तर ही हो सकती है जिसमें कि प्रत्यक्ष की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण ही है जिसमें योगिक अनुभवों का भी समावेश हो जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण की उपयोगिता स्वतः सिद्ध है। चार्वाकानुयायी जयराशिभट्ट ने अपने ग्रन्थ 'तत्त्वोपल्लवसिंह' में उस समय प्रचलित सभी प्रमाण लक्षणों का व्यापक खण्डन करने का प्रयास किया है। पर उनके मत को कोई गणनीय महत्त्व नहीं मिल पाया।

बौद्धाचार्य नागार्जुन ने भी किसी प्रमाण को स्वीकार नहीं किया, परन्तु किसी भी प्रमाण को न मानने वाले ऐसे आचार्यों की संख्या नगण्य ही है। चार्वाक परम्परा में भी महर्षि बृहस्पति ने तो प्रत्यक्ष को प्रमाण माना ही है। 'यद्यपि वह प्रत्यक्ष स्थूल कोटि का ही था। बौद्धाचार्यों ने भी प्रत्यक्ष व अनुमान दोनों प्रमाणों को स्वीकार किया। अन्य सभी दर्शनों में प्रमाणों की संख्या में मतभेद है। कोई दो प्रमाण मानता है, कोई चार, कोई छः तो कोई आठ, पर अन्य प्रमाणों के बारे में मतभेद होने पर भी प्रत्यक्ष को तो सभी ने प्रमुख प्रमाण माना है।

पाश्चात्य दार्शनिकों ने मनोविज्ञान की दृष्टि से प्रत्यक्ष का गहन चिन्तन किया है। उन्होंने मनोविज्ञान व प्रत्यक्ष का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध भी निर्दिष्ट किया है। इसलिए प्रत्यक्ष का स्थान केवल दार्शनिक दृष्टि से ही नहीं, अपितु मनोविज्ञान की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

—o—

तृतीय अध्याय के संदर्भ

1. न्या० सू० 3.1–8–9 : प्रत्यक्षादीनामप्रमाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः ।
2. साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्, साक्षात्कारिणी च प्रमा सैवोच्यते या इन्द्रियजा, त० भा० ।
3. अक्षस्य-अक्षस्य प्रति विषयं वृत्ति प्रत्यक्षम् । न्या भा० ।
4. अक्षमक्ष प्रतीत्योत्पद्यते इति प्रत्यक्षम् । न्या० वा० ।
5. तर्कभाषा (हिन्दी व्याख्या बदरीनाथ शुक्ल वृत्त) पृ० 66.
6. प्रत्यक्षमनुमानंच प्रमाणं हि द्विलक्षणम् ।
   प्रमेयं तत्र सिद्धं हि न प्रमाणान्तरं भवेत् ।। प्र० समु०
   प्रत्यक्ष कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्, प्र० सं;
   मनसो युगपद्वृत्तेः सविकल्पाविकल्पयोः ।
   विमूढो लघुवृतेर्वा तयोरैक्यं व्यवस्यति ।। प्र० वा० 2.153
7. प्रत्यक्षम् ग्राह्ये रूपे नविपर्यस्तम्
   अपित्वविसंवादकमभ्रान्त मिह ग्रहीतव्यम् न्या० बि० टी० पृ० 9.
8. प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानम्, सि० बि० मू० 1.19, 78, 16; प्रत्यक्षस्य वैशद्यं स्वरूपम्, प्रवचनसार : 1–40, 41, 54, 57, 58; कैलासचन्द्र, जैनन्याय, पृ० 7.
   अक्षम् इन्द्रियं प्रति गतम्-कार्यत्वेन आश्रितंप्रत्यक्षम् अथवा ज्ञानात्मना सर्वार्थान् व्याप्नोतीत्यौणादिकनियातनात् अक्षो जीवः तं प्रतिगतं प्रत्यक्षम्, जै० त० मा० ।
9. प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमंजसा ।
   द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्म-वेदनम् ।।
10. जदि केवलेण णांद ह्वदि हि जीवेण पच्चक्खं, प्र० सा० । मू०/58
11. अक्षणोति, व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा ।
    तमेव प्रतिनियतं प्रत्यक्षम्, स० सि०, 1/12/103/9.

12. इन्द्रियानिन्द्रियापेक्षमतीत व्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम्
रा० वा० 1/12/1/53/4.

13. तत्राक्षम् अक्षं प्रतीत्योत्पद्यते, इति प्रत्यक्षम् प्र० पा० भा०, पृ० 163 (दण्डी)।

14. सामान्य-विशेषे ज्ञानोत्पत्तौ अविभक्तम्
आलोचनमात्रं प्रत्यक्षम्, पृ० 160.

15. अथवा सर्वेषु पदार्थेषु चतुष्टयसन्निकर्षाद् अवितथम् अव्यपदेश्यं यद् ज्ञानम् उत्पद्यते तत् प्रत्यक्षम्, प्र० भा०, पृ० 161 (दुण्डीराज)

16. Advanced Studies in Indian Logic and Metaphysics, p. 77

17. श्रोत्रादिवृत्तिरपरैरविकल्पिकेति।
प्रत्यक्षलक्षणमवर्णि तदप्यपास्तम्॥ न्या० मं० पृ० 93.

18. षड्दर्शनसमुच्चयटीका 'इन्द्रियाण्येव विषयाकार परिणतानि प्रत्यक्षमिति हि तेषां सिद्धान्तः' प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्,
सां० का० 5; अत्र दृष्टम् इति लक्ष्यनिर्देशः परिशिष्टम् तु लक्षणम्।

19. सांख्यतत्त्वकौमुदी प्रभा, पृ० 104 (तृ० 1966 सं०)

20. मिश्र, आद्याप्रसाद सांख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा, पृ० 44;

21. दृष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः। यो० सू० 2/20.

22. अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलं प्रमाबोधः।—सां० त० कौ० पृ० 31.

23. न पुरुषः कर्त्ता न भोक्ता किन्तु महत्तत्वप्रतिबिम्बितत्वात्कर्तृत्वाभिमानः—तत्सिद्धेः कर्तुः फलोपभोगाभिमानसिद्धेरिति, अनि० वृ० सां० सू० 1/102. पर

24. द्रष्टव्य सां० प्र० भा० पृ० 52, 53.

25. स चायमन्योन्यप्रतिबिम्बो योगभाष्ये व्यासदेवैः सिद्धान्तितः।
योगवार्तिके—चैतद्विस्तरतोऽस्माभिः प्रतिपादितम्। सां० प्र० भा० पृ० 52.

26. 'इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षप्रमाणम्

तत्र प्रत्यक्षानुमानागमः प्रमाणानि । यो० सू० 1:7. यो० भा० 1:7.

27. सर्वविज्ञानहेतूत्था मितौ मातरि च प्रमा, प्र० पं०, पृ० 104.

28. प्रत्यक्षप्रमायाः करणं प्रत्यक्षप्रमाणम् प्रत्यक्षप्रमात्वमत्र चैतन्यमेव,… तथाहि—त्रिविधं चैतन्यम्, प्रमातृचैतन्यं प्रमाणचैतन्यं विषयचैतन्य चेति । तत्र घटाद्यवच्छिन्नं विषयचैतन्म् ।
अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमाणचैतन्यम् ।
अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृचैतन्यम् ।—वे० परि०

29. प्रत्यक्षप्रमा च पंचविधा—
(क) चैतन्यमात्रम्,
(ख) अबाधितविषयावच्छिन्न-चैतन्याभिन्न-वृत्यवच्छिन्न-चैतन्यम्,
(ग) प्रमातृचैतन्याभिन्नबोधितविषयत्वम्,
(घ) जीवसाक्षी,
(ङ) ईश्वरसाक्षी चैति, अ० त० शु०, पृ० 2

30. इन्द्रियशब्देन ज्ञानेन्द्रियं गृह्यते, तद् द्विविधं प्रमातृस्वरूपं प्राकृतं च तत्र स्वरूपेन्द्रियं साक्षीत्युच्यते, तस्य विषय आत्म स्वरूपं तदधर्मः अविद्या-मनस्-तद्-वृत्तयः बाह्येन्द्रिय-ज्ञान-सुखादयः कालव्याकृताकाशश्च । प्र० प०, पृ० 22.

31. इन्द्रियार्थ—सत् सम्प्रयोग-जन्यं ज्ञानम् । प्र० रत्ना०, पृ० 20.

32. 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।' न्या० सू० 1.1.4.

33. नामधेयशब्देन व्यपदेश्यमानं सत् शाब्दं प्रसज्यते अत आह अव्यपदेश्य-मिति, न्या० भा० 1.1.4.

34. य शब्दानबोधेऽपि प्रत्यक्षं ज्ञानमिष्यते ।
तत्र तत्पर्शशून्यस्य तथात्वे का विचारणा ।।

35. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिवज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ।। वा० प०

36. न चास्ति वस्तुनो धर्मो वाच्यता नाम कश्चन । न्या० म० ।

37. द्रव्ये तावत्त्रिविधे महत्यनेकद्रव्यवत्वोद्भूतरूप प्रकाशचतुष्टयसन्निकर्षाद् धर्मादि सामग्रये च स्वरूपालोचनमात्रम् ।—पदा० ध० सं–प्रत्यक्ष प्रकरण
38. 'साक्षात्कारिपप्रमाकरणं प्रत्यक्षम् ।' न्यासि० म०, पृ० 2.
39. 'सम्यग्परीक्षानुभवसाधनं प्रत्यक्षम् ।' न्या० सा०, पृ० 2.
40. साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम् ।' त०भा०, पृ० 5.
41. प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वं लक्षणम्, त० चि०, पृ० 570 (ति०सं०)
42. 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' न्या० सि० मु० पृ० 280.
43. साक्षात्कारित्वं प्रत्यक्षस्य लक्षणम् ।
44. ज्ञानाकारणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।
45. इन्द्रियमिन्द्रलिंगमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमितिवा, 5.2.93
46. इन इति विषयाणां नाम, तानिनः विषयान् प्रति द्रवन्तीति इन्द्रियाणि, माठरवृत्ति
47. इन्द्रस्यात्मनश्चिह्नत्वात् इन्द्रियमित्युच्यते, सां० त० कौ०, पृ० 236.
48. एवं समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद् बोधव्यं बोधव्यं स्वविषय ग्रहणम् ।
49. प्रज्ञापनासूत्र, इन्द्रियपद, 15वाँ पटल
50. —वही—.
51. —वही—तत्त्वार्थसूत्र, 1.19; मुनि सुशील, जैन धर्म पृ० 117.
52. शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमतीन्द्रियम्, त० भा०, पृ० 224. व्याख्याकार शुक्ल, पं० बदरीनाथ, मोतीलाल, 1968.
53. योगजधर्माजन्यसाक्षात्काराविषयम् अतीन्द्रियम्, चि०
54. शास्त्री, श्रीनिवास, तर्कभाषाव्याख्या, पृ० 187.
55. शुक्ल, बदरीनाथ तर्कभाषाव्याख्या, पृ० 225.
56. सात्विक एकादशक : प्रवर्तते वैकृतादहंकारात् ।
57. सां० सू० 1/26; 2/20; पंचशिख सू० 13 सां का० 22, 24, 25
58. आहंकारिकाणीन्द्रियाण्यर्थं साधयितुमर्हन्ति नान्यथा । देखें सांख्यदर्शन

का इतिहास, पृ० 480. सन्दर्भ संख्या 13. युक्ति दी० पृ० 123, पंक्ति 9—10.

59. भौतिकानीन्द्रियाणीति पंचाधिकरणमतम् (2) युक्ति दी० पृ० 108 पं० 7-8 सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० 525.

60. सात्त्विक एकादशक : प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्, सां० का०; सात्त्विकाहंकारापादानकत्वमिन्द्रियत्वम् तच्चद्विविधं-बुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रियं च, सा० स० कौ० पृ० 236.

61. मिश्र, आद्याप्रसाद, सांख्यतत्त्वकौमुदी-प्रभा, पृ० 239.

62. यो० भा०, 2.18.

63. महदहंकारौ सूक्ष्मेन्द्रिम्, एकादश स्थूलेन्द्रियाणि। यो० वा० ii, 18 See also Chayavritti, ii, 18.

64. यो० भा० ii, 19.

65. यो० भा० ii, 19.

66. शुक्ल, बदरीनाथ, त० भा०, पृ० 227.

67. येन जिघ्रति तद् घ्राणम्।

68. रस्यतेऽनेनेति रसनम्।

69. चष्टेऽनेनेति चक्षुः।

70. श्रृणोति शब्दं गृह्णाति अनेन।

71. मनस्यति इति मनः, (मन का विस्तृत विश्लेषण आगे किया गया है)।

72. साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्, त० भा०।

73. इन्द्रियाणां वस्तुप्राप्यप्रकाशकारिवनियमात्, त० भा०.

74. दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्, न्या० सू० 3-1-1.

75. न्या० भा०, 1.1.16.

76. शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमतीन्द्रियम्, तर्ककौमुदी; साक्षात्कारमात्रवृत्ति धर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताश्रयव्यापारवदिन्द्रियम् पदार्थचन्द्रिका; भोगसाधनानि इन्द्रियाणि, न्या० भा० 1.1.9; स्वस्वविषयग्रहणलक्षणानि इन्द्रियाणि, न्या० भा० 1:1.12.

77. वृत्तिभेदेनैकमन्तः करणं मन इति बुद्धिरिति अहंकार इति चित्तमित्ति व्याख्यायते, वे० व० पृ० 63 (प्र० परि०)।
78. युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्, न्या० सू० 11.16.
79. स्मृत्यनुमानागमसंशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहा सुखादिप्रत्यक्षमिच्छादयश्च मनसो लिंगानि, न्या० भा० 1/1/19.
80. यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु, न्या० सू० 3/2/59.
81. ···अलातचक्रदर्शनवदाशुसंचारात्—न्या० म० II p. 68 (Chow)
82. ज्ञानायोगपद्यादेव प्रतिशरीरमेकत्वम्, नित्यत्वं च। D. C. Bhattacharya प्रा० भा० मनोविद्या० p. 11
83. न्या० सू०, न्या० भा० 3:1, 16-18., न्या० मं० पृ० 440, 41.
84. अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम्। पृ० उप० 1:5, 3.
85. मनस्तु प्रत्यात्मनिष्ठत्वादनन्तम्। स० प०, पृ० 19 (C.S.S.)
86. 'मनस्त्वजातियोगि स्पर्शशून्यं क्रियाधिकरणं मनः' स० प० 74 (Cal. Sans. Series)
87. मनस्त्वयोगान्मनः। प्र० पा० भा० मनः प्रकरण, सं० ढुण्ढिराज पृ० 57
88. अभावोऽपि अनुमानमेव। प्रश० भा०, पृ० 225 पंक्ति 14.
89. अभावस्य पृथगनुपदेशः भावापारतन्त्र्यान् न त्वभावात्। न्या० क० पृ० 7, पंक्ति 11.
90. स च अभावः संक्षेपतो द्विविधः। संसर्गाभावोऽन्योन्याभावश्चेति। संसर्गाभावोऽपि त्रिविधः। प्रागभावः, प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावश्चेति, त० भा०, पृ० 221.
91. घटो हि न प्रतीयते, न तु तदाभावः प्रतीयते, न्या० म० भाग I पृ० 58 पर जयन्त द्वारा उद्धृत।
92. भार्गव, दयानन्द; तर्कसंग्रह व्याख्या, पृ० 181.
93. न्या० मं०, भा०, 1, पृ० 49 न्या० वा० ता० टी०, पृ० 111.
94. न्या० क०, पृ० 544.
95. न्या० वा० ता० टी०, पृ० 112.
96. व्योम०, पृ० 592.

97. न्या० मं०, भाग 1, पृ० 50-51.

98. अभाव के प्रत्यक्ष का विशदविवेचन न्यायकुसुमांजली के तृतीय स्तवक में किया गया है।

99. शा० दी० पृ० 201-2

100. ज्ञातता ज्ञानविषयसम्बन्ध एव। स० प०, पृ० 30.

101. अर्थप्रकाशो बुद्धि; तत्त्वमु० क०, पृ० 394.

102. घटोऽयमित्येतस्मिन् प्रतीयमाने ज्ञातृज्ञानयोरप्रतिभासनात्, घटमहं जानामीति ज्ञाने ज्ञातृज्ञानविशिष्टस्यार्थस्य मानसप्रत्यक्षता। न्या० क० पृ० 91-92.

103. ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यम्।

104. Bijalwan C. D. 'Indian Theory of Knowledge based upon Jayanta's Nyaymanjari.' p. 109.

105. संवित्तयैव हि संवित् संवेद्या न संवेद्यतया PSPM, p. 26.

106. 'सर्वविज्ञानहेतूत्था मितौ मातरि च प्रमा, प्रक० पं० पृ० 104 साक्षात् प्रतीतिः प्रत्यक्षं मेयमातृप्रमासु सा। प्र० पं०, पृ० 104.

107. 'ननु ज्ञाने सत्यपि संविन्नास्ति।'
'सा चेदर्थस्य ज्ञानस्य वा स्यात्, तदा निराकारा संविदप्रत्यया स्यात्। तदप्रत्यक्षत्वे चार्थो ज्ञानं चेति द्वयमसंवेद्यमापद्यते। स्वरूपपरिच्छेदः संवेदनमुच्यते।

108. डा० झा महोदय ने अपनी पुस्तक में संवित् और ज्ञान को भिन्न न मानकर एक रूप माना है। किन्तु डा० भट्ट का मत उनसे भिन्न है—**It is plain from this that Samvit, according to Prabhakara, is the result of a Pramāna while Jñana is the Pramāna or the means of Samvit.' Bhatta, G. P. E. B. S. P. M.; p. 57.**

109. संवित्तयैव संवित् संवेद्या, न संवेद्यतया, नास्याः कर्मभावो विद्यते, वृ० पृ० 82.

110. न्या० र० (श्लो० वा०, शून्य० पर 72.)

111. तर्कभाषा, भाषानुवाद, डा० श्रीनिवास शास्त्री, पृ० 70.

112. अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः।
सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा ॥ भाषापरिच्छेद, पृ० 63.

113. न्या० मं०

114. न्या० मं०

115. अदुष्टसाक्षात्कारिप्रभाजनकसामग्रीजनितं प्रत्यक्षम् सां० सू० पृ० 1, 89.

116. सा० त० कौ० 27,

117. क्रमशो क्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः सां० सू० 2/32 कश्चितु निर्विकल्पक ज्ञान-मेवालोचनमिन्द्रियजन्यंच भवति, सविकल्पकं तु मनोमात्रजन्यमिति श्लोकार्थमाह। तन्न, योगभाष्ये व्यासदेवैर्विशिष्टज्ञानस्याप्यैन्द्रि-यकस्वस्य व्यवस्थापितत्वात्। इन्द्रियैर्विशिष्टज्ञानेबाधकाभावाच्च।' सां० भा० 2/32.

118. निर्विकल्पकमनेकाकारं वस्तु संमुग्धं गृह्णाति, सविकल्पकंत्वेकैकाकारं जात्यादिकं विविच्च विषयीकरोति, शा० दी० पृ० 114.
अस्ति ह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिकज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्,
न विशेषो न सामान्यं तदानीम् अनुभूयते।
तयोराधारभूता तु व्यक्तिरेवावसीयते, श्लो० वा० 5. 112.

119. निर्विकल्पेन सामान्यविशेषौ द्वे वस्तूनी प्रतिपाद्यमानेनापि तयोर्भेदो ग्रहीतुं न शक्यते, समाहितमनस्को विषयान्तरानुसन्धानशून्य इन्द्रिय-संयुक्त वस्तु साक्षादुपलभत इति स्वसंविदेवात्र प्रमाणम्।–प्र० प० पृ० 54; वस्त्वन्तरानुसन्धानशून्यतया सामान्यविशेषरूपता न प्रतीयते। प्रक० पं० पृ० 55; सविकल्पस्य गृहीतग्राहित्वेऽपि धारावाहिक न्यायेन प्रामाण्यं वेदितव्यम्—प्र० पं० पृ० 65.

120. भाट्ट चिन्तामणि, पृ० 21.

121. तच्च प्रत्यक्षं द्विविधम्, सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात्। तत्र सविकल्पकं वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानम्, तथा घटमहं जानामीत्यादि ज्ञानम्। निर्वि-

कल्पकं तु संसर्गानवगाहिज्ञानम्, यथा सोऽयं देवदत्तः, तत्त्वमसीत्या-दिवाक्यजन्यम् । वे० परि० पृ० 18.

122. विशेषणसन्निकर्षाद्विशिष्टज्ञानोपपत्तेः, तत्त्वानुसन्धान, अद्वैत चिन्ता कौस्तुभ

123. निर्विकल्पकं नाम केनचिद् विशेषण-वियुक्तस्य ग्रहणं, न सर्वविशेष-रहितस्य, रा० भा० 1. 1. 1.

124. सत्प्रत्ययवमर्शप्रत्यक्षं सविकल्पकं, तद्रहितं प्रत्यक्षम् निर्विकल्पम् । न्या० परि० शु० पृ० 77.

125. प्रस्थानरत्नाकर, पृ० 9.

126. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते; वा० प० 1, 123. व्यवसाया-त्मकत्वेन सर्वस्य व्यवहारयोग्यत्वात्, न्या० क० 189.

127. सामान्यविशेषज्ञानोत्पत्तावविभक्तमालोचनमात्रं प्रत्यक्षं प्रमाणम् अस्मिन्नान्यत्प्रमाणान्तरमस्ति अकलरूपत्वात, प्र० प० भा०, पृ० 160.

128. 'स्वरूपस्यालोचनमात्रं ग्रहणमात्रं विकलपरहितं प्रत्यक्षमात्रमिति यावत्, न्या० क० पृ० 189.

129. विशिष्टज्ञाने विशेषणज्ञानविशेष्येन्द्रियसन्निकर्षतदुभया संसर्गाग्रहस्य कारणत्वावधारणात्, उप० सू०, 8. 12.

130. एवं ज्ञानमपिसामान्यविशेषाकारवत् तस्य विशेषाकारेणानमिधानं सामान्याकारेण त्वभिधानमेव । यदि च विशेषाकारेणानभिधानं यत तल्लक्षणं प्रत्यक्षस्य न केवलं प्रत्यक्षस्य त्रैलोक्यस्यैतल्लक्षणमिति, न्या० वा०, 1/1/4.

131. ता० टी०, 1/1/4.

132. श्लो० वा०, प्र० सू० 12-13.

133. न्या० मं० पृ० 99.

134. न्या० सं० पृ० 98. महासामान्य सत्ता, न्या० मं०, पृ० 98. न्या० मं० पृ० 99.

135. 'वस्तुस्वरूपमात्रावभासकं निर्विकल्पकं यथा प्रथमाक्षासन्निपातजं ज्ञानम् ।' न्या० सा० 1, पृ० 3/2

136. ता० र०, पृ० 60.

137. ततोऽर्थसन्निकृष्टेनेन्द्रियेण निर्विकल्पकं नामजात्यादियोजनाहीनं वस्तुमात्रावगाहि किंचिदिदमिति ज्ञानं जन्यते। सविकल्पकं नामजात्यादियोजनात्मकं डित्थोऽयं, ब्राह्मणोऽयं, श्यामोऽयमिति विशेषणविशेष्यावगाहि ज्ञानमुत्पद्यते। त० भा० पृ० 48-49.

138. ज्ञानं यन्निर्विकल्पाख्यं तदतीन्द्रियमिष्यते। न्या० सि० मु० पृ० 300—का० 58.

139. ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।

140. Induction starts with observation and ends in observation.

141. तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम् ।

142. प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्व लक्षणम् ।

अध्याय 4

अनुमान प्रमाण का स्वरूप

1. अनुमान की परिभाषा

अनुमान का भी अपना एक लम्बा इतिहास है, सम्भवतः उतना ही पुराना, जितना कि विवेकशील मानव का। उसलब्ध साहित्य में से वेद ही सर्वप्रचीन ग्रन्थ हैं, उनमें अनुमान की तार्किक प्रक्रिया का विश्लेषण तो नही मिलता, किन्तु अनुमान के व्यावहारिक उदाहरणों की उसमें भी कमी नहीं है। यों मनुष्य का सबसे बड़ा सहारा तो 'प्रत्यक्ष' ही है, किन्तु जब से 'न्याय' ने एक शास्त्र का रूप ग्रहण किया, तबसे ही अनुमान की ओर नैयायिकों का झुकाव बहुत अधिक रहा है। गंगेश ने सम्भवतः इस बात को भाँप कर ही यह कहा है कि—'तर्कप्रिय नैयायिक प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञात विषय को भी अनुमान से सिद्ध करने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं।'[1] वात्स्यायन का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है कि प्रत्यक्ष तथा आगम से ईक्षित अर्थ का अनुमान से अन्वीक्षण किया जाता है।[2] इस प्रकार अन्वीक्षा नाम से भी यह सिद्ध है कि न्याय में अनुमान प्रमाण का स्थान प्रमुख है।

आस्तिक दर्शनों में से वैशेषिकसूत्र, न्यायसूत्र और सांख्यसूत्र में अनुमान का लक्षण प्राप्त होता है, किन्तु मीमांसासूत्र, योगसूत्र और ब्रह्मसूत्र में यह नहीं मिलता। वेदान्त में इस अभाव की पूर्ति धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्त परिभाषा में की और मीमांसासूत्र पर शबर द्वारा तथा योग पर व्यास द्वारा रचित भाष्यों में अनुमान का विश्लेषण किया गया। जैन परम्परा में अनुमान का स्पष्ट लक्षण सिद्धसेन दिवाकर ने किया और बौद्ध परम्परा में दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने। चार्वाक के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय दर्शन अनुमान प्रमाण को स्वीकार करते हैं।

'अनु' उपसर्गपूर्वक 'मा' धातु में 'ल्युट्' प्रत्यक्ष जुड़ने से निष्पन्न 'अनुमान' शब्द का सामान्य अर्थ है—'पश्चात् ज्ञान'। 'व्याप्ति-ज्ञान' और 'पक्ष-धर्मता-

ज्ञान' के अनन्तर यह ज्ञान होता है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि दो ज्ञात सत्यों के द्वारा किसी अज्ञात सत्य का ज्ञान करना ही अनुमान है। 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' जब हम ऐसा कहते हैं तो यहाँ हम पहले से ही यह जानते हैं कि जहाँ धुआँ होता है, वहाँ अग्नि रहती है। इसके साथ ही हम यह भी देख रहे हैं कि पहाड़ पर धुआँ उठ रहा है। जब 'अनुमीयत इति अनुमानम्' अथवा 'अनुमितिः अनुमानम्' ऐसा विग्रह किया जाता है तब अनुमान शब्द अनुमिति प्रमा का बोधक होता है और जब 'अनुमीयते अनेन इति अनुमानम्' ऐसा विग्रह किया जाता है तो यह अनुमिति प्रमा के करण का वाचक बन जाता है। वैसे सामान्यतः करण अर्थ में ही अनुमान शब्द का अधिक प्रयोग होता है। यों तो सामान्यतया एक ज्ञान पर आश्रित अन्य ज्ञान अर्थात् किसी जानी हुई बात से दूसरी किसी अनजानी बात का पता लगाना ही अनुमान है, फिर भी अनुमान के स्वरूप विश्लेषण में विभिन्न दर्शनों के विभिन्न दृष्टिकोण हैं।

[क] वैशेषिक मत

महर्षि कणाद के अनुसार कार्य, कारण, संयोगी, विरोधी, एवं समवायी आदि के आधार पर सम्बद्ध 'लिङ्गी' का जो ज्ञान होता है, उसको लैङ्गिक यानी अनुमान कहते हैं। लीन (परोक्ष) अर्थ का बोध करानेवाले (गमयति) को लिङ्ग कहते हैं। प्रशस्तपाद का भी यही कथन है कि लिङ्ग के दर्शन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान लैङ्गिक कहलाता है।[3] लिङ्ग का ज्ञान प्रसिद्धिपूर्वक होता है।[4] प्रसिद्धि शब्द का प्रयोग वैशेषिक दर्शन में व्याप्ति के लिये किया गया है और अपदेश का अर्थ है—हेतु का निर्देश। एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ नियमित सम्बन्ध निर्धारित करना ही प्रसिद्धि या व्याप्ति है। नियमितता के निर्धारण के लिये कणाद ने पाँच प्रकार के हेतुओं का उल्लेख किया है। उनमें से किसी एक को लिङ्ग बनाकर अनुमान किया जाता है। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं :—

1. कारण-कार्य : पुत्र को देख कर उसके पिता का अनुमान
2. कार्य-कारण : बाढ़ को देखकर वर्षा का अनुमान।
3. संयोग : शरीर को देखकर त्वचा का अनुमान।
4. विरोध : साँप को देखकर नेवले का अनुमान।
5. समवाय : उष्ण जल को देखकर उष्णत्व के समवायी अग्नि का अनुमान।

उदयन और श्रीधर ने दृष्ट (प्रत्यक्ष) अनुमिति तथा स्मृति द्वारा ज्ञान हेतुओं से भी अनुमान की सिद्धि बताई है।[5] शंकरमिश्र ने स्मृति के बदले 'श्रुत' शब्द को अपनाया है।[6] संक्षेप में वैशेषिक दर्शन के अनुसार हेतु के ज्ञान से उत्पन्न होनेवाला सम्यक् ज्ञान ही अनुमान है। ऐसा लक्षण करने पर संशय, विपर्यय और स्मृति का अनुमान से व्यावर्तन हो जाता है, क्योंकि ये यथार्थ रूप से अपने विषयों का बोध न कराने के कारण 'सम्यक् ज्ञान' नहीं हैं। शिवादित्य का मत है कि जो अनुमिति, प्रमा के अयोग से रहित हो वही अनुमान है।[7]

वैशेषिकों के मत का सार यह है कि अनुमिति का करण लिङ्गज्ञान है, किन्तु अन्नंभट्ट के अनुसार वह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो भूतकाल में देखे गये या भविष्य में देखे जाने वाले धूम से भी पर्वत में वह्नि का अनुमान हो जाएगा। अतः लिङ्ग ज्ञान नहीं, अपितु लिङ्गपरामर्श अनुमिति का कारण है।[8]

[ख] न्यायमत

गौतम ने **'तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्'** इस रूप में अनुमान का लक्षण किया है। किन्तु सूत्र में यह बात स्पष्ट नहीं हो पाई कि 'तत्' पद का अभिधेयार्थ क्या है। वात्स्यायन के कथनानुसार 'तत्' शब्द से **'लिङ्ग—लिङ्ग-दर्शन'** और **'लिङ्ग दर्शन'** दोनों अभिप्रेत हैं। लिङ्गी के साथ लिङ्ग का सम्बन्ध ग्रहण हो जाने के उपरान्त लिङ्गदर्शन से व्याप्ति का स्मरण होता है। व्याप्तिस्मरण के बाद लिङ्गज्ञान होता है और लिङ्गज्ञान से परोक्ष वस्तु की जो जानकारी होती है, उसी को अनुमान कहते हैं।[9] वात्स्यायन के इस मत का विश्लेषण करते हुए उद्योतकर ने यह कहा है कि महानस आदि में लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्धदर्शन रूप प्रथम प्रत्यक्ष के अनन्तर पर्वत आदि पक्ष में धूम आदि लिङ्ग का द्वितीय प्रत्यक्ष होने पर व्याप्ति का स्मरण होता है, उसके पश्चात् तृतीय लिङ्ग दर्शन (धूम का प्रत्यक्ष ज्ञान) होता है, वही अनुमिति का करण होने से 'अनुमान' कहलाता है। इस तृतीय लिङ्ग दर्शन को ही उद्योतकर परामर्श या लिङ्गपरामर्श कहते हैं। न्यायसूत्र में आये हुए 'तत्पूर्वक' शब्द की व्याख्या भी उद्योतकर ने तीन प्रकार से की है—

(1) जिसके पूर्वकाल में दोनों प्रत्यक्ष (लिङ्ग लिङ्ग सम्बन्ध दर्शन और लिङ्ग दर्शन) हों, अथवा

(2) जो सभी प्रमाणों के परिणामस्वरूप घटित होता है, अथवा
(3) जो प्रत्यक्ष के बाद घटित होता हो उसको अनुमान कहते हैं ।[10]

अनुमानसूत्र की व्याख्या करने के साथ ही वात्यायन ने भी अनुमान की परिभाषा के सम्बन्ध में तीन विकल्प प्रस्तुत किये हैं ।[11]

जयन्तभट्ट के विचार में पक्षसत्व प्रभृति पाँच लक्षणों से युक्त लिङ्ग (हेतु) के ज्ञान से व्याप्तिस्मरण के द्वारा उत्पन्न परोक्ष लिङ्गी (साध्य) विषयक ज्ञान अनुमिति है और उसके करण को अनुमान कहा जाता है ।[12] वे पाँच लक्षण हैं—पक्षधर्मता, सपक्ष में रहना, विपक्ष में न रहना, बाधित न होना और प्रतिपक्ष का न होना। तर्क भाषा व्याख्याकार के अनुसार हेत्वाभास का अभाव सिद्ध करने के लिए (यह आवश्यक है कि) हेतु में इन धर्मों का अस्तित्व सिद्ध किया जाए। जैसे—

असिद्ध के निराकरणार्थ		पक्षधर्मता
विरुद्ध	,,	सपक्षता
अनैकान्तिक	,,	विपक्षव्यावृत्ति
कालात्ययापदिष्ट	,,	अबाधितविषयता
सत्प्रतिप्रक्ष	,,	असत्प्रतिपक्षता

जिस धर्म की सिद्धि की जानी है, उसके आश्रय को पक्ष कहते हैं। पक्ष में रहनेवाला पक्षधर्म धर्म कहलाता है। साध्य धर्म से युक्त अन्य धर्मी को सपक्ष कहते हैं। उसमें रहना ही सपक्ष में रहना कहा जाता है। साध्य के धर्म के स्पर्श से रहित धर्मी को विपक्ष कहा जाता है। न्यायसूत्र में प्रयुक्त 'तत्पूर्वकम्' शब्द की विस्तार से समीक्षा करने के साथ जयन्त ने यह भी कहा कि सूत्र में यत् शब्द का अध्याहार करने से सूत्र का यह अर्थ निकलेगा कि 'परोक्षार्थ प्रतिपत्ति रूप फल जिससे प्राप्त हो वह अनुमान है।' जयन्त का यह भी कथन है कि यद्यपि अनुमान मुख्यत: प्रत्यक्ष पर आश्रित है, किन्तु यह प्राधान्येन कहा गया है। वैसे अन्य प्रमाण भी अनुमान के आधार हो सकते हैं। भासर्वज्ञ के मतानुसार सम्यग् अविनाभाव सम्बन्ध द्वारा परोक्ष अनुभव का साधन अनुमान है।

अनुमान का लक्षण बताने से पहले गंगेश ने भी यह उचित समझा कि अनुमिति का लक्षण दिया जाए। गंगेश के अनुसार 'व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता के ज्ञान के उत्पन्न होने वाले ज्ञान की अनुमिति और उसके करण को अनु-

मान कहते हैं। अनुमान लिङ्ग विषयक परामर्श है, न कि परामृश्यमान लिङ्ग।[13]

रघुनाथ शिरोमणि ने भी उपर्युक्त लक्षण का समर्थन किया है। उन्होंने किसी अन्य विद्वान् के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि यदि 'व्याप्तिविशिष्ट' और 'पक्षधर्म' इन दोनों पदों में कर्मधारय समास माना जाए तो 'व्याप्ति-विशिष्टत्व' तथा 'पक्षधर्मत्व' इन दोनों के सामानाधिकरण्य के अवगाही ज्ञान से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को अनुमिति कहा जाएगा। क्योंकि कर्मधारय समास में उत्तर भाव प्रत्यय का अर्थ दो पदार्थतावच्छेदकों का समानाधिकरण्य होता है। ज्ञान पद से बाधित तथा अबाधित दोनों ज्ञान लिये गये हैं।

कुछ आचार्यों के मत में 'व्याप्तिविशिष्ट' तथा 'पक्षधर्म' पदों में द्वन्द्व समास है। ज्ञातव्य है कि कर्मधारय समास में दो पदार्थों में अभेद सम्बन्ध का बोध होता है, और द्वन्द्व समास में उदासीन पदार्थद्वय का ज्ञान होता है। किन्तु दीधितिकार ने **'व्याप्तिविशिष्टं च तत्पक्षधर्मता-ज्ञानं च व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता-ज्ञानं तज्जन्यं ज्ञानम् अनुमितिः'** इस रूप से कर्मधारय समास करने के पक्ष में अपना मत व्यक्त किया है।[14]

केशव मिश्र के अनुसार जिससे अनुमिति की जाती है, वह अनुमान है। लिंगपरामर्श से अनुमिति की जाती है, अतः लिंगपरामर्श अनुमान है। संक्षेप में पर्वत आदि में धूम आदि का ज्ञान ही लिंगपरामर्श है, क्योंकि वह अनुमिति के प्रति करण है। व्याप्ति के बल से अर्थ का बोध करानेवाला लिंग कहलाता है। जैसे, धूम अग्नि का लिंग है। जहाँ धूम होता है, वहाँ अग्नि होती है, इस प्रकार के साहचर्यनियम को व्याप्ति कहते हैं। व्याप्ति के निश्चय के अनन्तर ही धूम अग्नि का बोध कराता है अतः व्याप्ति के बल से अग्नि का अनुमापक होने के कारण धूम अग्नि का लिंग है।

लिंगपरामर्श तीन होते हैं—

(1) पाकशाला धूम और अग्नि को बार-बार साथ देख कर स्वाभाविक रूप से विद्यमान भूयः सहचार दर्शन से दोनों में व्याप्ति करना और इस तरह पाकशाला में वर्तमान धूम का ज्ञान करना प्रथम लिंगपरामर्श है।

(2) पर्वत आदि (पक्ष) में विद्यमान धूम का ज्ञान द्वितीय लिंग परामर्श है, और

(3) व्याप्ति का स्मरण करके जब उसी पर्वत में फिर धूम का इस प्रकार परामर्श लिया जाता है कि "यहाँ पर्वत पर अग्नि से व्याप्त धूम है" तो यह तीसरा लिंगपरामर्श है।

इसका यह आशय है कि अनुमान की प्रक्रिया में लिंग का ज्ञान तीन बार होता है। हेतु और साध्य के बीच स्वाभाविक सम्बन्ध होना चाहिए, जैसे कि धूम और अग्नि में है। यद्यपि 'जहाँ-जहाँ मैत्रीतनयत्व है, वहाँ-वहाँ श्यामत्व है'—इस प्रकार के उदाहरणों में भूयः सहचार दर्शन तो होता है, किन्तु वह स्वाभाविक न होकर औपाधिक है। अन्नंभट्ट भी परामर्श से उत्पन्न ज्ञान को अनुमिति तथा उसके करण को अनुमान कहते हैं।

विश्वनाथ पंचानन के अनुसार अनुमान में व्याप्तिज्ञान करण और परामर्श व्यापार होता है। केवल लिंग करण नहीं होता अन्यथा अनागत अथवा विनष्ट लिंग से अनुमिति न हो। व्याप्य का पक्ष में अवधारण ही परामर्श कहलाता है।[15]

संशयोत्तर प्रत्यक्ष में परिभाषा को अतिव्याप्ति के निवारण के लिए तर्कदीपिका में यह कहा गया है कि इनमें परामर्श और पक्षता सम्बद्ध नहीं है।

[ग] सांख्यमत

सांख्यसूत्रकार कपिल के अनुसार 'प्रतिबन्ध दर्शन से प्रतिबद्ध का ज्ञान होना ही अनुमान है।'[16] 'प्रतिबन्ध' शब्द की व्याख्या करते हुए विज्ञान भिक्षु ने यह मत व्यक्त किया कि यह 'व्याप्ति' का ही दूसरा नाम है। अतः व्याप्तिज्ञान (प्रतिबन्ध दर्शन) से होनेवाला व्यापक (प्रतिबद्ध) का ज्ञान अनुमान[17] है। ईश्वरकृष्ण लिंग से लिङ्गी के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।[18] माठर के अनुसार ईश्वरकृष्ण का आशय यह है कि कहीं लिंग द्वारा लिंगी का ज्ञान होता है, जैसे त्रिदण्ड को देखकर संन्यासी का और कहीं लिंगी द्वारा लिंग का, जैसे कि संन्यासी को देख कर समीपस्थ त्रिदण्ड के बारे में ज्ञान कि यह दण्ड संन्यासी का है।[19] वाचस्पति मिश्र के मत में व्याप्य-व्यापक भाव और पक्षधर्मताज्ञान से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान ही अनुमान है।[20]

[घ] योगमत

पतंजलि के योगसूत्र में अनुमान का लक्षण उपलब्ध नहीं होता, किन्तु व्यास ने योगभाष्य में अनुमान की परिभाषा इस प्रकार की—'अनुमान करने योग्य वस्तु का, समान जातियों से युक्त करनेवाला तथा भिन्न जातियों से पृथक् करनेवाला जो सम्बन्ध है, तद्विषयक निश्चायक वृत्ति को अनुमान कहते हैं। वृत्तिकार के मतानुसार 'लिंग द्वारा लिंगी का सम्बन्ध ग्रहण करके सामान्य रूप से होनेवाले निश्चय को अनुमान कहा जाता है।'[21]

[ङ] जैनमत

अनुमान शब्द का अर्थ है 'पश्चाद् ज्ञान'। अतः अनुमान प्रमाण के संदर्भ में सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि वह कौन सा ज्ञान है, जिससे पश्चाद्वर्ती ज्ञान को अनुमान कहा जाता है। जैनतार्किकों के अनुसार लिंगदर्शन व्याप्तिस्मरण से व्याप्तिस्मरण पक्षधर्मता ज्ञान से, तथा पक्षधर्मता ज्ञान व्याप्ति निश्चय से व्यवहित है। अतः अनुमान का अव्यवहित पूर्ववर्ती ज्ञान **व्याप्ति निश्चय** ही है।

सिद्धसेन दिवाकर द्वारा 'न्यायावतार' में निर्दिष्ट लक्षण के अनुसार 'साध्य का अविनाभाववाले लिंग द्वारा जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है वह अनुमान है'।[22] अकलंक के विचार में साधन द्वारा साध्य का ज्ञान ही अनुमान है।[23] उन्होंने एक दूसरी परिभाषा भी दी है, जो कि सिद्धसेन की परिभाषा से मिलती-जुलती है। वह इस प्रकार है—'साध्य-अविनाभूतलिंग के द्वारा उत्पन्न होनेवाला साध्य का ज्ञान अनुमान (अभिनिबोध) है,'[24] वादिराज ने व्याप्तिनिर्णय के पश्चात् होनेवाले मान को अनुमान कहा है।[25] माणिक्यनन्दि और हेमचन्द्र ने अकलंक की उपर्युक्त पहली परिभाषा का अनुगमन किया है।

वादिदेवसूरि ने अनुमान के पहले दो भेद स्वार्थ और परार्थ बताये हैं और बाद के उनके अलग-अलग लक्षण किये हैं। इन सब लक्षणों का सार यही है कि अनुमिति का असाधारण कारण अनुमान कहलाता है।

[च] बौद्धमत

दिङ्नाग के अनुसार 'अविनाभाव सम्बन्ध के द्वारा **नान्तरीयक** का दर्शन ही अनुमान है।'[26] एक वस्तु का दूसरी वस्तु के अभाव में कभी भी न रहना नान्तरीयक कहलाता है। दिङ्नाग ने यह भी कहा है कि उपस्थित वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष से और अनुपस्थित का अनुमान से होता है। अपने ग्रन्थ प्रमाण समुच्चय में उन्होंने यह भी कहा कि ज्ञान के केवल दो ही साधन हैं—एक प्रत्यक्ष और दूसरा अनुमान तथा इनके विषयों के दो ही वर्ग हैं, एक विशेष तथा दूसरा सामान्य। सामान्य का अनुमान द्वारा और विशेष का इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में अनुमान का साधारण लक्षण दिया और न्यायबिन्दु में स्वार्थानुमान का अलग और परार्थानुमान का अलग।[27] प्रमाण वार्तिक के अनुसार 'किसी सम्बन्धी के धर्म से, धर्मी के विषय में जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अनुमान है' जबकि न्यायबिन्दु में यह कहा गया है कि परार्थानुमान त्रिरूपलिंग, अन्वय, व्यतिरेक पक्षधर्मत्व संज्ञक से

उद्भूत शब्दात्मक ज्ञान है, और स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक है तथा अनुमेयसत्व, सपक्षसत्व और विपक्षासत्व संज्ञक लिंग से उद्भूत होता है। धर्मोत्तर के विचार में अनुमान का विषय कल्पित होता है। क्योंकि अनुमान एक ऐसी वस्तु का किया जाता है, जो अनुपस्थित है। जिसका साक्षात् ग्रहण नहीं किया जा सकता, उसकी तो केवल कल्पना ही की जा सकती है।

नैयायिकों ने बौद्धों के मत का खण्डन मुख्यतः इस आधार पर किया है कि हेतु त्रिरूप नहीं अपितु पंचलक्षण होता है। व्याप्ति का आधार भी तादात्म्य और तदुत्पत्ति को नहीं माना जा सकता। नैयायिकों के विचार में यह भी उचित नहीं कि पहले अनुमान के दो भेद किये जाएँ और बाद में उनकी परिभाषा बताई जाये।

[छ] मीमांसा मत

जैमिनि ने अनुमान के लक्षण का उल्लेख नहीं किया। शबरस्वामी द्वारा प्रस्तुत लक्षण इस प्रकार है—

"अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्य एकदेशदर्शनात् एकदेशान्तरे असन्निकृष्टे अर्थे बुद्धिः।"[28] कुमारिल ने इस परिभाषा की व्याख्या चार प्रकार से की है, पार्थसारथिमिश्र ने कुमारिल द्वारा प्रस्तुत विकल्पकों को स्पष्ट करते हुये लिखा है कि—

(1) जिस अनुमाता को पहले से ही धूम और अग्नि के सम्बन्ध का ज्ञान हो, यदि वह बाद में पर्वत पर धुआँ देखता है तो वह व्याप्ति का स्मरण कर अग्नि का अनुमान करता है।

(2) महानस रूप सपक्ष में धूम और अग्नि के नियत सम्बन्ध को जानकर, पक्ष रूप पर्वत पर धूम के दर्शन से अग्नि का जो ज्ञान होता है, वही अनुमान है।

(3) सम्बन्ध के एक सम्बन्धी धूम से अपर सम्बन्धी अग्नि का जो ज्ञान होता है, वही अनुमान है।

(4) एकदेश (समुदायी) के ज्ञान द्वारा लिंग दर्शन (धूम दर्शन) के माध्यम से दूसरे समुदायी (साध्यरूप अग्नि) का जो ज्ञान होता है, वही अनुमान है।

भाष्य में प्रयुक्त 'ज्ञातसम्बन्धस्य' पद को 'एकदेश' का विशेषण मानते हुये और 'असन्निकृष्ट' शब्द का अर्थ स्मरणाभिमान शून्य करते हुए प्रभाकर ने यह कहा है कि—अनुमान का विषय स्मरणाभिमान शून्य होना चाहिये। सम्बन्ध

पद से अनौपाधिक सम्बन्ध अभिप्रेत है, अतः सम्बन्ध पद के साथ नियत पद का भी उपादान किया जाना चाहिये।

संक्षेप में प्रभाकर मतानुयायी मीमांसकों के अनुसार 'समान अधिकरण में आश्रित रहने वाले एकदेशों (हेतु और साध्य) के अधिगत सम्बन्ध नियम (महानस आदि अधिकरण में आश्रित रहनेवाले हेतु धूम और साध्य अग्नि में अवधारित किया हुआ व्याप्ति सम्बन्ध द्वारा एकदेश दर्शन पर्वत शिखर पर दिखायी देनेवाले हेतु—धूम का ज्ञान) से अन्य एकदेश (साध्य-अग्नि) रूप असन्निकृष्ट अर्थ में जो अबाधित ज्ञान होता है, वही अनुमान है।'

नैयायिकों ने शबर की परिभाषा की आलोचना मुख्यतः इस आधार पर की है कि इसका उत्तरवर्ती मीमांसकों द्वारा ही प्रस्तुत प्रमाण के अनधिगतार्थगन्तृ रूप लक्षण के साथ ताल मेल नहीं बैठता। वैसे प्रभाकर का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है कि अनुभूति ही प्रमाण का मुख्य लक्षण है न कि अगृहीतग्राहित्व।[29]

(ज) वेदान्त मत

धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार ज्ञाप्तिज्ञानत्व धर्म से अवच्छिन्न व्याप्तिज्ञान द्वारा उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अनुमिति है। जैसे कि 'पर्वतो बह्निमान् धूमात्' इस उदाहरण में धूम को 'बह्निव्याप्य' कहा गया है, क्योंकि धूम में बह्नि की व्याप्ति रहती है। 'यह व्याप्ति है'—इस ज्ञान में 'व्याप्तित्व धर्मप्रकार' है, अतः इस व्याप्ति ज्ञान को व्याप्तित्वप्रकारक ज्ञान कहा जाएगा। धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार अनुमान की प्रक्रिया में प्रथमतः पक्ष में हेतु के ज्ञान से महानस आदि में ग्रहण किया हुआ व्याप्तिज्ञान का संस्कार उद्बुद्ध होता है उसके उपरान्त व्याप्ति के स्मरण से अनुमिति होती है। पक्षधर्मता का ज्ञान होने पर भी यदि व्याप्ति का स्मरण न हुआ तो अनुमिति नहीं हो सकती।[30]

अनुमान की परिभाषाओं के संदर्भ में विभिन्न दर्शनों के आचार्यों ने जो मत व्यक्त किये हैं उनमें कतिपय पहलुओं में वैषम्य होने पर भी इस बात पर सहमति है कि अनुमान के लिए व्याप्ति और पक्षधर्मता का ज्ञान आवश्यक है। विभिन्न दर्शनों में व्याप्ति को विभिन्न नामों से अभिहित किया गया, किन्तु उसकी सत्ता को चार्वाक के अतिरिक्त प्रायः सभी आचार्य स्वीकार करते हैं।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर प्राचीन नैयायिकों में जयन्त भट्ट द्वारा प्रस्तुत परिभाषा सर्वांगपूर्ण प्रतीत होती है। किन्तु परिभाषा की प्राविधिकता पर अधिक ध्यान दिया जाये तो यह कहना अनुचित न होगा कि नव्य नैयायिकों के

विचार का आधार होने के साथ-साथ गंगेश की परिभाषा भी अपने-आप में बहुत महत्त्वपूर्ण है। इन दोनों आचार्यों की परिभाषाओं को सर्वांगपूर्ण बताने का आशय यह नहीं कि अन्यपरिभाषाएँ उपेक्षणीय हैं। वस्तुतः तथ्य तो यह है कि जयन्त की परिभाषा में कणाद, गौतम, वात्स्यायन, प्रशस्तपाद, उद्योतकर आदि आचार्यों के विचारों का भी समावेश हो गया है और गंगेश ने तो अपने पूर्ववर्तियों द्वारा प्रवर्तित अनुमान की संकल्पना को नव्यन्याय की भाषा देकर उसको पर्याप्त प्राविधिक बना दिया है। कुछ भी हो, मेरे विचार में न्याय की दृष्टि से यह कहना ही युक्तिसंगत होगा कि 'व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता' के ज्ञान से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को अनुमिति और उसके करण को अनुमान कहते हैं।

2. अनुमान (न्यायवाक्य) के अवयव

अनुमान प्रमाण का उपयोग कोई व्यक्ति अपने लिए भी कर सकता है और दूसरों को बताने के लिए भी। दूसरों को समझाने या अपना अभिप्राय बताने के लिए जब अनुमान का आश्रय लिया जाता है तो स्वाभाविक है उसमें कुछ वाक्यों का प्रयोग करना होता है। इन्हीं वाक्यों को न्याय-अवयव कहा जाता है। अनुमान वाक्य को 'न्याय' भी कहते हैं। इसलिए इन वाक्यों का न्यायावयव वाक्य भी कहते हैं। इस बात पर तो चार्वाक के अतिरिक्त प्रायः सभी दार्शनिकों की सहमति है कि न्यायवाक्य का निर्माण विभिन्न अवयवों से होता है, किन्तु कितने माने जाएँ और उनका क्रम कौन-सा रहे, इस पर आचार्यों में पर्याप्त मतभेद दिखाई देता है। वात्स्यायन के मतानुसार सिद्ध करने योग्य साध्य धर्म विशिष्ट धर्मी अथवा धर्मीविशिष्ट साध्य धर्म अर्थ की जितने शब्दों के समुदाय से सिद्धि हो जाती है, उनके समूह को अवयव कहते हैं। वात्स्यायन ने पंचावयव-परम्परा की ग्राह्यता का उल्लेख करते हुये यह भी कहा है कि समूह रूप अवयवों के प्रतिज्ञा आदि अवयवों में प्रत्यक्षादि चारों प्रमाणों का निम्नलिखित रूप से समवाय (एकत्रीकरण) हो जाता है—

(1) शब्दप्रमाण का प्रतिज्ञा में (पर्वत बह्निमान है)।

(2) अनुमान का साधक हेतु में, (धूमवान् होने से)

(3) प्रत्यक्ष का उदाहरण में (जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ आग है जैसे, रसोई घर में)

(4) उपमान का उपनय में (महानस के समान बह्नि की व्याप्ति से युक्त धूमवाला यह पर्वत है)।

(5) सब प्रमाणों का वह्नि रूप अर्थ को सिद्ध करने में जो सामर्थ्य प्रदर्शन है, उसका निगमन में (इस प्रकार प्रवर्त वह्निमान है)।

सभी अवयवों का जो एकत्रीकरण है उसी को वात्स्यायन परम-न्याय भी कहते हैं।[31]

उद्योतकर के विचार में वाक्य के एकदेश को अवयव कहा जाता है। पूर्व पद की स्मृति की अपेक्षा करने वाले अन्त्य पद द्वारा स्मृति की सहायता से विशेष प्रतिपत्ति के हेतु को वाक्य कहते हैं। वाचस्पति मिश्र ने भी उद्योतकर के मत का अनुसरण किया है। जयन्त भट्ट ने पंचावयव सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुये कहा कि अवयवों का लक्षण अवयवत्व है न कि पदत्व।

गंगेश के अनुसार अनुमिति के चरम कारण लिंगपरामर्श के प्रयोजक शाब्द-ज्ञान के कारणीभूत वाक्यों को अवयव कहा जाता है।[32] रघुनाथ शिरोमणि ने भी उचित आनुपूर्वी वाले प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्यों के समुदाय को न्याय कहा है[33] और केशवमिश्र ने अनुमान वाक्यों के एकदेश को अवयव कहा है। उन्होंने वाचस्पति मिश्र के शब्दों को लगभग दुहराते हुये यह भी स्पष्ट किया कि प्रतिज्ञा आदि अवयव तो हैं, किन्तु ये वैसे नहीं हैं जैसे तन्तु पट का समवायी कारण होता है। शब्द का समवायी कारण आकाश होता है, अतः अनुमान का समवायीकारण भी आकाश है। प्रतिज्ञादि का अवयवत्व तो औपचारिक है। समूह को अवयवी मान कर खण्ड को अवयव कहा जाता है। इसी प्रकार प्रतिज्ञा आदि भी गौण रूप से ही अवयव कहलाते हैं।[34] माधव ने केवल परार्थानुमान वाक्य के एकदेश को अवयव कहा है।

संक्षेप में कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि अनुमान वाक्य के एकदेश को अवयव कहते हैं।

अवयवों की संख्या के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद हैं। अवयव सम्बन्धी विचारों को निम्नलिखित छः परम्पराओं में वर्गीकृत किया जा सकता है—

(1) पंचावयवी (न्याय-वै०)
(2) दशावयवी (प्रा० नै०),
(3) त्र्यवयवी (मीमांसा सांख्य)
(4) द्वि-अवयवी (बौद्ध),
(5) एकावयवी (धर्मकीर्ति),
(6) चतुरवयवी। (किन्हीं अज्ञात मीमांसकों द्वारा प्रवर्तित),

इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि अवयवों की संख्या के सम्बन्ध में एक ही दर्शन के विभिन्न आचार्यों के मतों में भी वैषम्य है। अतः इन परम्पराओं का अवयवों की संख्या के आधार पर ही निरूपण उचित होगा न कि दर्शनविशेष के आधार पर।

[क] पंचावयवी परम्परा

अनुमेय की प्रतिपत्ति में वक्ता का कितना वचनसमूह अपेक्षित है, इसके सम्बन्ध में न्याय और वैशेषिक के आचार्यों ने पंचावयव सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इन पाँच अवयवों के नाम हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। वैशेषिकों ने अवयवों की संख्या तो पाँच ही मानी है किन्तु उनके नाम प्रशस्तपाद ने इस प्रकार बताये हैं—प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसन्धान और प्रत्याम्नाय। यह ज्ञातव्य है कि शब्दों में अन्तर होने पर भी न्याय वैशेषिक में परिगणित अवयवों के अर्थों में कोई अन्तर नहीं है।

(1) **प्रतिज्ञा**—प्रतिज्ञा शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग न्यायसूत्र में हुआ जान पड़ता है। अवयवों में प्रतिज्ञा का स्थान पहला है। गौतम के अनुसार न्याय वाक्य के जिस अवयव में सिद्ध करने योग्य अर्थ का कथन किया जाये, वह प्रतिज्ञा कहलाता है। वात्स्यायन ने सूत्र के भाव को स्पष्ट करते हुये कहा कि 'साधनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी का प्रतिपादक वचन प्रतिज्ञा है।' इसी बात को केशव मिश्र ने इस प्रकार कहा कि 'पक्ष के साथ साध्य के सम्बन्ध का प्रतिपादन करनेवाला वाक्य प्रतिज्ञा है'। जैसे 'यह पर्वत बह्निमान् है' इसमें पक्ष (पर्वत) के साथ साध्य (अग्नि) के सम्बन्ध (संयोग) का प्रतिपादन किया गया है।[35] उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र और जयन्तभट्ट ने भाष्यकार के मत का ही समर्थन किया है। किन्तु गंगेश के अनुसार केवल साध्य के निर्देश को ही प्रतिज्ञा कहना उचित नहीं है क्योंकि इस तरह तो **'साध्यं वह्निः'** इस प्रकार के वाक्य में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाएगी। गंगेश के विचार में 'जो उद्देश्यानुमिति के कारणीभूत लिंग परामर्श के प्रयोजक वाक्यार्थ ज्ञान का जनक होता हुआ, उद्देश्यानुमिति के अन्यून तथा अनतिरिक्त विषयक शाब्द बोध का कारणीभूत वाक्य हो, वह प्रतिज्ञा कहलाता है'।[36] रघुनाथ पक्षतावच्छेदक पर्वतत्वादि धर्म से विशिष्ट धर्मी में रहने वाले साध्यतावच्छेदक वह्नित्व आदि धर्म से विशिष्ट साध्य-सम्बन्ध के अवगाही ज्ञान के कारणीभूत न्याय-अवयव को प्रतिज्ञा कहते हैं। विश्वनाथ के अनुसार जिसमें साध्यतावच्छेदक विशेषण से भिन्न विशेषण का ज्ञान न पाया जाए, ऐसे परस्पर विशेषण-विशेष्य रूप से पक्ष तथा साध्य के बोधक वाक्य का नाम प्रतिज्ञा है।[37]

'प्रतिज्ञा' के स्थान पर जिन आचार्यों ने 'पक्ष' शब्द का प्रयोग किया है, उनमें दिङ्नाग, शंकरस्वामी, सिद्धसेन दिवाकर, माढर प्रमुख हैं। बौद्धों ने प्रतिज्ञा को आवश्यक नहीं माना, किन्तु जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर का यह कथन बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि पक्ष हेतु का दीपक है। पक्ष का प्रयोग किये बिना ही यदि हेतु का असामयिक प्रयोग किया जाएगा तो विषय के बारे में स्पष्टता नहीं रहेगी।

(2) **हेतु**—पक्ष में साध्य के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए साधन (लिंग) के रूप में जिस अवयव का प्रयोग किया जाता है, वह 'हेतु' कहलाता है। जैसे पर्वत वह्निमान् है धूमवान् होने से यहाँ धूमवत्व हेतु है। अक्षपाद के अनुसार उदाहरण के साधर्म्य तथा वैधर्म्य से साध्य को सिद्ध करने वाले साधन को हेतु कहा जाता है। उद्योतकर ने सूत्रकार मत की पुष्टि करते हुये कहा कि हेतु साध्य में तो रहना ही चाहिये। इसके साथ ही उसकी साधर्म्य उदाहरण यानी सपक्ष में विद्यमानता और वैधर्म्य उदाहरण यानी विपक्ष में अविद्यमानता भी होनी चाहिये। हेतु के स्वरूप के इस प्रकार के अवधारण से हेत्वाभासों से बचा जा सकता है।[38] केशवमिश्र ने यह बताया कि हेतु नामक अवयव तृतीय अथवा पंचमी विभक्ति में प्रयुक्त होता है।[39] किन्तु अन्नंभट्ट के अनुसार यह केवल पंचमी विभक्ति में प्रयुक्त होता है।[40] वैसे तो मोटे तौर पर हेतु और लिंग को पर्यायों के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है किन्तु वस्तुतः दोनों में थोड़ा भेद है। लिंग वह पदार्थ है, जिससे अनुमान होता है और हेतु उस लिंग का प्रतिपादक वाक्य है।

कणाद ने अपदेश, लिंग, प्रमाण और करण का हेतु के पर्यायों के रूप में उल्लेख किया है।[41] उनका यह भी कथन है कि अपदेश व्याप्ति पूर्वक होता है और साध्य से पृथक् होता है। प्रशस्तपाद के अनुसार वही हेतु साध्य का ज्ञापक हो सकता है, जिसमें पक्षधर्मत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व हो।[42]

(3) **उदाहरण**—हेतु में साध्य की और साध्याभाव में हेत्वभाव की व्याप्ति का दृष्टान्त द्वारा बोध कराने वाला वाक्य उदाहरण कहलाता है। जैसे—यह पर्वत वह्निमान् है, धूमवान् होने से। इस प्रकार प्रतिज्ञा और हेतु के प्रयोग के बाद जो-जो धूमयुक्त है वह अग्नियुक्त है, जैसे रसोईघर। जो-जो अग्निमान् नहीं है वह धूमयुक्त नहीं है, जैसे जलाशय। इनमें प्रथम वाक्य महानस के दृष्टान्त से धूम में अग्नि की व्याप्ति करता है और दूसरा वाक्य जलाशय के दृष्टान्त से अग्नि के अभाव में धूम के अभाव का प्रतिपादक है।[43] वात्स्यायन का कथन है कि उदाहरण द्वारा दो धर्मों में साध्य-साधन भाव को पुष्ट किया

जाता है। यह ज्ञातव्य है कि गौतम ने उदाहरण और दृष्टान्त का पृथक्-पृथक् निर्देश भी किया है और उदाहरण के लक्षण में दृष्टान्त का समावेश भी किया है। वात्स्यायन ने इस वैषम्य का समाधान करते हुए यह कहा कि दृष्टान्त ही न्यायवाक्य में प्रयुक्त होने पर उदाहरण कहलाता है।[44] दूसरे शब्दों में दृष्टान्त का बोधक वाक्य उदाहरण कहलाता है। भासर्वज्ञ के अनुसार भी दृष्टान्त का सम्यक् अभिधान उदाहरण है। न्याय वाक्य के तीसरे अवयव में वस्तुत: उदाहरण इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितनी कि व्याप्ति। फिर भी इसको व्याप्ति न कहकर उदाहरण कहने का कारण सम्भवत: यह है कि मूल रूप में अवयव उदाहरण मात्र ही था और व्याप्ति उसके साथ बाद में जोड़ी गई किन्तु नाम पहला ही चलता रहा।[45] व्याप्ति को उदाहरण वाक्य के साथ मिलाने का कार्य सम्भवत: सर्वप्रथम धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में किया।

गंगेश ने अनुमिति के कारणीभूत लिंग परामर्श से उत्पन्न होनेवाले शब्दबोधात्मक ज्ञान के जनक व्याप्यत्व रूप से स्वीकृत धूम आदि निष्ठ नियतत्व अभिमत सम्बन्ध (व्याप्तिसम्बन्ध) के बोध के जनक वाक्यरूप शब्द को उदाहरण कहा है।[46] केशव मिश्र भी व्याप्तियुक्त दृष्टान्त कथन को उदाहरण कहते हैं।

प्रशस्तपाद ने दृष्टान्त के स्थान पर निदर्शन शब्द का प्रयोग किया है। दिङ्नाग अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार के दृष्टान्त आवश्यक समझते हैं, जबकि धर्मकीर्ति एक भी दृष्टान्त देना आवश्यक नहीं समझते। धर्मकीर्ति ने दृष्टान्त शब्द का (खण्डन करने के लिए) प्रयोग तो किया, किन्तु उसको अवयव नहीं माना। जैन तार्किकों में से सिद्धसेन ने दृष्टान्त, अकलंक ने दृष्टान्त और निदर्शन तथा माणिक्यनन्दि ने दृष्टान्त, निदर्शन तथा उदाहरण इन तीनों शब्दों का प्रयोग किया।[47] नैयायिकों ने उदाहरण के दो भेद माने हैं— साधर्म्य उदाहरण और वैधर्म्य उदाहरण। प्रभाकर मतानुयायी मीमांसक वैधर्म्य दृष्टान्त को अनावश्यक मानते हैं, किन्तु भाट्ट मीमांसक उनका खण्डन करते हुए भी यह कहते हैं कि परिस्थिति के अनुसार दोनों प्रकार के उदाहरण आवश्यक हैं।

जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र आदि ने उदाहरण को अवयव नहीं माना। क्योंकि उनके मतानुसार पक्ष और अविनाभावीय हेतु द्वारा ही साधन का बोध हो जाता है। अविनाभाव का निश्चय भी विपक्ष बाधक तर्क से हो जाता है और हेतु तथा पक्ष के प्रदर्शन

मात्र से अविनाभाव का स्मरण हो जाता है। वैसे **'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्'** जैसे प्रयोगों में बौद्धों के अनुसार कोई उदाहरण नहीं दिया जा सकता और **'सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वात्'** जैसे प्रयोगों में नैयायिकों को भी कोई उदाहरण नहीं मिलेगा, किन्तु नैयायिक सामान्यतया उदाहरण को अवयव मानते ही हैं।

(4) **उपनय**—केशव मिश्र के अनुसार पक्ष में लिंग का उपसंहार उपनय कहलाता है। अर्थात् जिस वाक्य से पक्ष के साथ साध्यव्याप्तिविशिष्ट हेतु के सम्बन्ध का प्रतिपादन किया जाता है, वह उपनय कहलाता है।

उपनय उदाहरण का अनुसरण करता है, अतः उदाहरण से अन्वयव्याप्ति विशिष्ट हेतु का ही बोध होता है और यदि उदाहरण से व्यतिरेक व्याप्ति का बोध होता है तो व्यतिरेक व्याप्तिविशिष्ट हेतु का ही बोध होता है। इस-लिए इसका स्वरूप कभी '**तथा चायम्**' और कभी '**न च नायं तथा**' इस प्रकार होता है।[48]

गौतम के अनुसार उदाहरण की अपेक्षा रखनेवाला और 'वैसा ही यह है' या 'वैसा यह नहीं है' इस प्रकार से साध्य का उपसंहार करना उपनय कह-लाता है। विश्वनाथ का विचार है कि साध्य का अभिप्राय है—पक्ष।[49]

गंगेश के अनुसार अनुमिति के जनक तृतीय लिंगपरामर्श के कारणीभूत अवयव को ही सामान्यतः उपनय कहा जाता है। गंगेश ने यह भी कहा है कि उपनय वाक्य की सार्थकता व्याप्ति अंश में नहीं अपितु पक्षधर्मता अंश में है। ऐसा होने पर भी गदाधर भट्टाचार्य के मतानुसार इसको व्याप्ति से घटित इस लिए माना जाता है कि 'व्याप्य पक्ष में है या नहीं' इस आकांक्षा की निवृत्ति के लिए ही व्याप्य घटित उपनय वाक्य का प्रयोग होता है। इसके साथ ही दूसरा कारण यह है कि उदाहरण घटित व्याप्तिज्ञान और उपनय घटित पक्ष-धर्मता ज्ञान इन दोनों का पृथक् रूप से भान नहीं होता, बल्कि व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान की विशिष्ट रूप से अनुभूति होती है।[50] अन्नंभट्ट का भी यह कथन है कि पक्षधर्मता के ज्ञान के लिए उपनय का प्रयोग किया जाता है।[51]

प्रशस्तपाद ने उपनय के स्थान पर अनुसन्धान शब्द का प्रयोग किया है। बौद्धों ने उपनय नामक अवयव को स्वीकार ही नहीं किया। वैसे धर्मकीर्ति ने साधर्म्य और वैधर्म्य हेतु में उदाहरण और उपनय को अन्तर्भूत किया है। मीमांसकों और माठर आदि कतिपय सांख्यों ने भी उपनय का अवयवत्व स्वीकार नहीं किया। हाँ, युक्तिदीपिका में उपनय का दशावयवों में परिगणन किया

गया है ।[52] जैन आचार्यों में से उपनय के स्वरूप का स्पष्ट विश्लेषण माणिक्य-नन्दि ने किया,[53] किन्तु वादि देवसूरि आदि आचार्यों ने यह कहा कि जब धर्मी में धन और साध्य का निर्धारण हो जाता है, तो पुन: कथन के रूप में उपनय और निगमन का प्रयोग अनावश्यक है।

विपक्षियों के मत जो भी हों, नैयायिकों ने तो उपनय को एक अवयव माना ही है । उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि प्राचीन न्याय में साध्य के उपसंहार को उपनय कहा गया है, किन्तु केशव मिश्र आदि ने लिंग का हेतु में उपसंहार बताते हुए उपनय का जो विश्लेषण किया है वह अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

(5) **निगमन**—गौतम के अनुसार हेतु के कथन के साथ-साथ प्रतिज्ञा को दुहराना निगमन कहलाता है ।[54] वात्स्यायन के विचार में निगमन का कार्य यह बताना है कि पूर्वोक्त चारों अवयववाक्य अनुमेय की प्रतिपत्ति कराने में समर्थ हैं ।[55] उद्योतकर का यह कथन है कि दृष्टान्तगत धर्म की सिद्धि करके उसके द्वारा साध्यगत धर्म की तुल्यता का बोध कराने के लिए उपनय की और प्रतिज्ञात अर्थ के पूर्वोक्त चार अवयवों से उपपन्न हो जाने पर साध्य-विपरीत के प्रसंग का निषेध करने के लिए निगमन की आवश्यकता है ।[56] वाचस्पति के मतानुसार प्रतिज्ञा आदि चार अवयवों से हेतु के केवल तीन अथवा दो रूपों का प्रतिपादन किया है, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व का नहीं । हेतु अविनाभाव पाँच अथवा चार रूपों में समाप्त होता है । इसलिए अबाधितविषयत्व तथा असत्प्रतिपक्षत्व का संसूचन करने के लिए निगमन की आवश्यकता है ।[57]

गंगेश ने भी अनुमिति के कारणीभूत लिंग परामर्श के प्रयोजक प्रतिज्ञा आदि वाक्यों के पारस्परिक सम्बन्ध से होने वाले शाब्दज्ञान के कारण व्याप्ति-पक्षधर्मता ज्ञान से प्रयुक्त पक्ष में होने वाले साध्यनिश्चय के कारणीभूत वाक्य को निगमन कहा है ।[58] गंगेश ने भी यह कहा है कि व्याप्ति-पक्षधर्मता का ज्ञान होने पर भी बाध एवं सत्प्रतिपक्ष बुद्धि का निराश करने के लिए निगमन वाक्य को स्वीकार करना आवश्यक है, क्योंकि हेतु में अबाधितत्त्व और असत्प्रतिपक्षत्व का निश्चय निगमन वाक्य से ही होता है।

वात्स्यायन ने निगमन के भी साधर्म्य निगमन और वैधर्म्य निगमन के ये दो भेद बताये हैं।

प्रशस्तपाद ने निगमन के स्थान पर प्रत्याम्नाय शब्द का प्रयोग किया है। एक महत्त्वपूर्ण बात जो इस संदर्भ में प्रशस्तपाद ने बताई, यह है कि प्रतिज्ञा आदि चार अवयवों से अनुमेय-प्रतिपत्ति की शक्ति तो प्राप्त हो जाती है किन्तु उसका (अनुमेय) का निश्चय प्रत्याम्नाय से ही होता है।[59]

सांख्यसूत्रकार ने सुखसिद्धि प्रकरण में पंचावयवयों का संकेत किया है। उसकी व्याख्या करते हुए विज्ञानभिक्षु ने कहा कि प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पाँच अवयवों के योग से सुख आदि अप्रयत्क्ष पदार्थों की अनुमान द्वारा सिद्धि होती है।[60]

मीमांसक बौद्ध तथा वेदान्ती पंचावयव पद्धति को स्वीकार नहीं करते। किन्तु युक्तिदीपिकाकार, माणिक्यनन्दि, देवसूरि, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र आदि ने इसकी उपयोगिता का समर्थन किया है।[61]

पंचावयव परम्परा के संदर्भ में जैनाचार्य कुमारनन्दि और विद्यानन्द का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि प्रथम दो अवयव व्युत्पन्नों और शेष तीन अवयव बोध्यों को ध्यान में रख कर बताये गये हैं। विद्यानन्द के अनुसार बोध्य तीन प्रकार होते हैं—संदिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न।[62] कुल मिला-कर यह कहा जा सकता है कि न्याय और वैशेषिक के अतिरिक्त अन्य दर्शनों के अधिकतर आचार्यों ने प्राय: पंचायव परम्परा को मान्य नहीं समझा, फिर भी अन्य दर्शनों में कुछ आचार्य ऐसे रहे हैं, जिन्होंने इसको उपयोगी समझा। न्याय परम्परा के गौतम, वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति, जयन्त भट्ट प्रभृति और वैशेषिक परम्परा के प्रशस्तपाद प्रभृति आचार्यों के कथनों का सार यह है कि इन पाँचों अवयवों का प्रयोग न्याय सम्मत पद्धति के अनुसार निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है—

(क) साधर्म्य प्रयोग

(i) प्रतिज्ञा — पर्वत अग्नियुक्त है,
(ii) हेतु — धूमयुक्त होने से,
(iii) उदाहरण — जो-जो धूमयुक्त है, वह-वह अग्नियुक्त भी है, जैसे पाकशाला,
(iv) उपनय — यह पर्वत भी वैसा ही है,
(v) निगमन — अत, यह पर्वत अग्नियुक्त है।

(ख) वैधर्म्य प्रयोग

(i) प्रतिज्ञा — पर्वत अग्नियुक्त है,
(ii) हेतु — धूमाभावयुक्त न होने से,
(iii) उदाहरण — जो-जो अग्नियुक्त नहीं है, वह-वह धूमयुक्त भी नहीं है, जैसे जलाशय।
(iv) उपनय — यह पर्वत भी वैसा नहीं है,
(v) निगमन — अतः यह पर्वत अग्नि के अभाव से युक्त नहीं है।

[ख] दशावयवी परम्परा

अवयवों के स्वरूप और संख्या पर विचार करते हुए वात्स्यायन ने स्वयं ही इस बात की भी चर्चा की है कि उनसे पहले के कतिपय नैयायिकों अवयवों की संख्या दस मानते रहे हैं, जिनमें गौतमोक्त प्रतिज्ञादि पाँच अवयवों के अतिरिक्त निम्नलिखित की गणना की जाती है। वात्स्यायन के अनुसार इनका स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है—

1. **जिज्ञासा**—किसी अज्ञात विषय का ग्रहण या परित्याग करने या उससे उदासीन रहने के लिए जिज्ञासु के मन में जो इच्छा जागृत होती है, वह जिज्ञासा कहलाती है।

2. **संशय**—जिज्ञासा के अधिष्ठान को संशय कहा जाता है। उदाहरणतया किसी वस्तु की उपादेयता, अनुपादेयता या अपेक्षणीयता के बारे में संदेह होने पर ही जिज्ञासा होती है अतः साध्य विषयक सन्देह का नाम ही संशय है।

3. **शक्यप्राप्ति**—प्रमाणों में अर्थ के अधिगम की जो क्षमता है, उसको ही शक्यप्राप्ति कहते हैं।

4. **प्रयोजन**—तत्त्व का निश्चय करना ही प्रयोजन कहलाता है।

5. **संशयव्युदास**—प्रतिपक्ष को उपस्थापित कर उसका प्रतिषेध करना संशयव्युदास है।

ज्ञातव्य है कि युक्तिदीपिकाकार ने भी प्रतिज्ञा आदि के साथ जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन और संशयव्युदास की गणना करते हुए अवयवों की संख्या दस बताई है।

जैन नैयायिक भद्रबाहु आदि ने भी पंचावयवों के साथ पाँच शुद्धियाँ और जोड़ कर अवयवों की संख्या दस मानी हैं।

वात्स्यायन ने जिज्ञासा आदि का उल्लेख करने के साथ ही यह कहा कि ये वस्तुत: अवयव नहीं, अपितु अवयवों के सहचर हैं ।[64] क्योंकि—

(1) जिज्ञासा से केवल इच्छा उत्पन्न होती है, साधनीय पदार्थ की सिद्धि नहीं, इसके अतिरिक्त जिज्ञासा अनुमान में ही नहीं अपितु अन्य प्रमाणों के संदर्भ में भी होती है ।

(2) संशय से परस्पर विरुद्ध दो कोटियों का ज्ञान होता है । संदेह करने मात्र से किसी तथ्य की सिद्धि नहीं होती है ।

(3) शक्यप्राप्ति से केवल इतना विदित होता है कि साध्य सिद्धि के योग्य है या नहीं, यह तो विधि मात्र है ।

(4) प्रयोजन तो वाक्य का फल है न कि वाक्य का एकदेश ।

जयन्त का कथन है कि जिज्ञासा, संशय और शक्यप्राप्ति शब्दों में व्यक्त नहीं किये जाते । प्रयोजन न्यायवाक्य की सीमा में नहीं आता और संशय-व्युदास तो पृथक् वाक्य है ही ।

अवयव परम्परा के सम्बन्ध में जैनाचार्य एकमत नहीं प्रतीत होते । गृद्धपिच्छ, समन्तभद्र, पूज्यपाद और सिद्ध सेन के मतानुसार पक्ष, हेतु और दृष्टांत इन तीन अवयवों से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है । किन्तु अकलंक, कुमारनन्दि और विद्यानन्द ने प्रतिपाद्यों को व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न इन दो वर्गों में विभक्त कर व्यत्पन्नों के लिए पक्ष और हेतु केवल ये दो अयवव माने और अव्युत्पन्नों की दृष्टि से उपर्युक्त दो के अतिरिक्त दृष्टांत, उपनय और निगमन इन तीन को मिलाकर अवयवों की संख्या पाँच बताई । भद्रबाहु ने प्रत्येक अवयव के साथ शुद्धि जोड़कर उनकी संख्या दस कर दी । अत: सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि जैन न्याय में अवयवों की कोई निश्चित व्यवस्था नहीं ।

[ग] चतुरवयवी परम्परा

हेमचन्द्र और अनन्तवीर्य ने मीमांसको द्वारा प्रवर्तित एक ऐसी परम्परा का भी उल्लेख किया है जिसमें निगमन को छोड़कर बाकी चार ही अवयव माने गये हैं । किन्तु मीमांसा के उपलब्ध ग्रन्थों में इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता । संभवत: इन जैन आचार्यों के समय कोई ऐसा मीमांसाग्रन्थ रहा हो जिसमें अवयव चतुष्टय की व्यवस्था रही है ।[65]

[घ] त्र्यवयवी परम्परा

मीमांसकों के मतानुसार अनुमानवाक्य में तीन ही अवयव होते हैं—प्रतिज्ञा हेतु और उदाहरण अथवा उदाहरण, उपनय और निगमन।[66] वेदान्त परिभाषा में भी ऐसा ही मत प्रतिपादित[67] किया गया है। भाट्ट मीमांसकों के अनुसार इनका प्रयोग निम्नलिखित रूप से होता है—

(क) (1) प्रतिज्ञा — पर्वत वह्निमान है,
(2) हेतु — धूमवान् होने से,
(3) उदाहरण — जो-जो धूमवान् है, वह वह्निमान भी है, जैसे पाकशाला।

अथवा

(ख) (1) उदाहरण — जो-जो धूमयुक्त है, वह अग्नियुक्त भी है, जैसे पाकशाला।
(2) उपनय — यह पर्वत भी धूमयुक्त है,
(3) निगमन — अत: यह पर्वत अग्नियुक्त है।

प्रभाकर मतानुयायी शालिकनाथ ने केवल प्रथम तीन को ही अवयव माना और उनमें से प्रतिज्ञा को स्थिर बताकर हेतु और उदाहरण के क्रम में भी विकल्प को स्वीकार किया।

(क) (1) प्रतिज्ञा — पर्वत अग्नियुक्त है।
(2) हेतु — धूम युक्त होने से
(3) उदाहरण — जो-जो धूमयुक्त है, वह अग्नियुक्त भी है, जैसे पाकशाला।

(ख) (1) प्रतिज्ञा — पर्वत अग्नियुक्त है।
(2) उदाहरण — जो-जो धूमयुक्त है, वह अग्नियुक्त भी है, जैसे पाकशाला।
(3) हेतु — यह पर्वत भी धूमयुक्त है।

सांख्याचार्य माठर ने भी त्र्यवयव सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। उन्होंने प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टांत को अवयव माना है।[68] किन्तु उन्होंने अपर मत के रूप में पंचावयव सिद्धांत का भी उल्लेख किया। ऐसा लगता है कि माठर को स्वार्थानुमान में तीन और परार्थानुमान में पाँच अवयव अभिप्रेत थे।

(ङ) द्वयवयवी परम्परा

बौद्धनैयायिक धर्मकीर्ति हेतु और दृष्टांत को अवयव मानते हैं। जबकि जैनाचार्य अकलंक के मतानुसार पक्ष और हेतु ही अवयव हैं। इस प्रकार अवयवों के संख्याद्वय में दोनों का साम्य है, यद्यपि अवयवों के नामों में से केवल हेतु पर ही दोनों सहमत हैं। अकलंक दृष्टांत के अवयवत्व का निरसन करते हुये कहते हैं कि यदि दृष्टांत को आवश्यक माना जाएगा तो—'सभी पदार्थ क्षणिक हैं' इस प्रकार के अनुमान का कोई दृष्टांत न मिलने से यह अनुमान नहीं माना जा सकता।[69]

धर्मकीर्ति के अनुसार हेतु उदाहरण में कोई निश्चित आनुपूर्वी नहीं है। दोनों में से किसी का भी पहले प्रयोग किया जा सकता है।[70] वादन्याय टीका में शान्तरक्षित ने इसका समर्थन किया। चित्सुखाचार्य ने भी चित्सुखी में न्याय की पंचावयव परम्परा का खण्डन करते हुये उदाहरण और उपनय को ही अवयव माना है।

धर्मकीर्ति प्रतिज्ञा को इस आधार पर अनावश्यक मानते हैं कि वाद का विषय एक स्वीकृत तथ्य होने के कारण सन्दर्भ से ही ज्ञात हो जाता है। शान्तरक्षित के विचार में अविनाभावीय साधन के प्रयोग से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है, अतः प्रतिज्ञा के प्रयोग की आवश्यकता ही नहीं है।[71] मोक्षाकर गुप्त के कथनानुसार सम्बन्धरहित प्रतिज्ञा मात्र के निर्देश से साध्य का ज्ञान सम्भव नहीं है। प्रतिज्ञा का ही पुनर्वचन निगमन कहलाता है किन्तु जब बौद्धों के अनुसार प्रतिज्ञा का ही अस्तित्व नहीं तो उसका पुनर्वचन कैसे हो सकता है?[72] यह कहना भी ठीक नहीं कि साध्य में भ्रान्ति के निवारण के लिए निगमन आवश्यक है, क्योंकि भ्रान्ति तो त्रिरूप हेतु के कथन से अपने आप दूर हो जाती है। अवयवों के गुम्फन के लिए भी निगमन आवश्यक नहीं, क्योंकि उनमें परस्पर संगति की क्षमता स्वाभाविक रूप से रहती है। नैयायिकों के अनुसार व्याप्तिविशिष्ट हेतु का पक्ष में उपसंहार ही उपनय है, किन्तु शान्तरक्षित का कथन है कि यह कार्य तो हेतु द्वारा ही हो जाता है, क्योंकि बौद्ध मतानुसार हेतु का पक्ष में रहना और साध्य के साथ उसका अविनाभाव सम्बन्ध होना दोनों ही आवश्यक हैं।

(च) एकावयवी परम्परा

आचार्य धर्मकीर्ति ने यद्यपि हेतु और दृष्टान्त इन दो अवयवों का उल्लेख किया है, किन्तु उनका यह भी कथन है कि व्युत्पन्न व्यक्ति को दृष्टान्त की

आवश्यकता नहीं है। वह केवल हेतु से ही साध्य का निश्चय करने में सक्षम होता है। इस प्रकार जब त्रिरूप हेतु के कथन से ही साध्य की प्रतिपत्ति हो सकती है, तो दृष्टान्त को अलग से अवयव मानना निरर्थक है। अतः व्युत्पन्न लोगों की दृष्टि से धर्मकीर्ति केवल हेतु को ही अवयव मानते हैं। वादन्याय नामक ग्रन्थ में उन्होंने प्रतिज्ञा, उपनय और निगमन को असाधनांग मानकर उनको निग्रह स्थान में सम्मिलित किया है।[73] यह ज्ञातव्य है कि बौद्ध दार्शनिक हेतु को पक्ष का धर्म और साध्य से व्याप्त मानते हैं अतः उनके मतानुसार हेतु में पक्ष और साध्य का आगम हो जाता है।

(छ) अरस्तू का न्यायवाक्य और उसके अवयव

न्याय-वैशेषिक के आचार्यों ने न्यायवाक्य के पाँच अवयव माने हैं, जबकि पाश्चात्य तर्कशास्त्र में अरस्तू ने तीन अवयवों द्वारा ही अनुमान की सिद्धि बताई है। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं। नैयायिकों द्वारा प्रस्तुत अवयवों का स्वरूप पहले बताया जा चुका है और अरस्तू के न्याय-वाक्य का स्वरूप इस प्रकार है—

प्रत्येक मनुष्य मरणधर्मा है,
सुकरात एक मनुष्य है,
सुकरात मरणधर्मा है।

इन वाक्यों को न्याय-वैशेषिक पद्धति के अनुसार निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है—

जहाँ-जहाँ मनुष्यत्व है वहाँ-वहाँ मरणधर्मत्व है,
सुकरात मनुष्यत्वयुक्त है,
अतः उसमें मरणधर्मत्व है।

पाश्चात्य न्यायवाक्यों पर विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि अरस्तू, मिल आदि ने प्रतिज्ञा और निगमन को अभिन्न माना है। इसी प्रकार हेतु और उपनय को उन्होंने पृथक् नहीं माना। न्याय-वैशेषिक के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय दर्शनों की मान्यताएँ अवयवों की संख्या के सन्दर्भ में अरस्तू की मान्यताओं के अधिक निकट हैं।

वैसे अवयवों की संख्या से सम्बन्धित अन्तर के अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि अरस्तू के न्यायवाक्य में सामान्य से विशेष का निश्चय किया जाता है और भारतीय न्यायवाक्य में विशेष से सामान्य की ओर बढ़ा जाता है। अरस्तू की

दृष्टि में न्यायवाक्य का सम्बन्ध मुख्यत: प्रमाता (वक्ता) स्वयं से है अत: उन्होंने स्वार्थानुमान और परार्थानुमान के रूप में अनुमान के भेद नहीं किये। नैयायिकों ने स्वार्थानुमान और परार्थानुमान के रूप में अनुमान के दो भेद बताये हैं और पंचावयवों का उपयोग प्रमुख रूप से परार्थानुमान में ही बताया है।

3. अनुमान के भेद

अनुमान सम्बन्धी अन्य प्रश्नों के समान अनुमान के भेदों से सम्बद्ध पहलू पर भी भारतीय दार्शनिकों का मतभेद रहा है। यह अवश्य है कि पाश्चात्य तर्कशास्त्र के विपरीत सभी भारतीय दर्शनों में सत्य को एक इकाई माना गया हैं। तथा अनुमान का विभाजन आगमन (इन्डक्टिव) और निगमन (डिडक्टिव) अथवा वास्तविक (मैटीरियल) और आकारिक (फार्मल) अथवा साक्षात् (इमीडियेट) तथा परोक्ष (मीडियेट) अथवा लैंगिक (सिलाजिस्टिक) और अलैंगिक (नान-सिलाजिस्टिक) अथवा शुद्ध (पेवर) ? और मिश्रित (मिक्सड) जैसे रूपों में नहीं किया गया। विभिन्न भारतीय दार्शनिकों के अनुमान भेद-परक मतों को निम्नलिखित पाँच वर्गों में रखा जा सकता है—

अनुमान-भेदों के आन्तरिक विश्लेषण के सम्बन्ध में आचार्यों का मत-वैषम्य है। अत: इनकी अपेक्षित विस्तार के साथ चर्चा करना अनुपयुक्त न होगा। यह ज्ञातव्य है कि प्राचीन न्याय में ही अनुमान-भेदों की तीन परम्पराएँ चल पड़ी थीं। एक (पूर्ववत्-आदि) के प्रवर्तक थे गौतम दूसरी (केवलान्वयि आदि) के उद्योतकर और तीसरी (स्वार्थ-परार्थ) परम्परा के प्रवर्तक थे जयन्त भट्ट।

(क) गौतम प्रवर्तित अनुमान भेद

न्यायसूत्र में गौतम ने अनुमान के तीन भेद—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट तो निर्दिष्ट किये किन्तु परिभाषाओं और उदाहरणों द्वारा उनके स्वरूप का निरूपण नहीं किया। इस अभाव की पूर्ति वात्स्यायन आदि ने की। वात्स्यायन ने इन शब्दों की व्याख्या दो प्रकार से की है। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि या तो गौतम से पहले भी इनके अर्थ भेद प्रचलित थे अथवा गौतम और वात्स्यायन के बीच की अवधि में होने वाले आचार्यों ने इन भेदों के विभिन्न व्याख्यान किये। इस सम्बन्ध में यह मत अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता हैं कि वात्स्यायन ने अपनी व्याख्याओं में गौतम के साथ ही कणाद के मत का भी उल्लेख कर इन शब्दों की दो विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं।

(1) **पूर्ववत्**—न्यायभाष्य में उल्लिखित पहली व्याख्या के अनुसार पूर्ववत् का आशय है—कारण द्वारा कार्य का अनुमान, जैसे मेघों का उमड़ना (पूर्व) देखकर पश्चाद्भावी वर्षा का अनुमान। यह व्याख्या **'पूर्व'** शब्द का अर्थ **'कारण'** मानकर और उसके साथ मतुप् (वाला) प्रत्यय जुड़ा हुआ मानकर की गई है जिससे इसका अर्थ निकलता है—पूर्व यानी कारणवाला। यहाँ ज्ञात कारण से अज्ञात कार्य का अनुमान होता है।[75]

अथवा

वात्स्यायन द्वारा उल्लिखित दूसरी व्याख्या के अनुसार पूर्ववत् का अर्थ है—पूर्व अनुभव सहकृत सादृश्य के आधार पर किया हुआ अनुमान। जैसे हमारा पूर्वानुभव है कि जहाँ-जहाँ हमने धुआँ देखा था, वहाँ आग भी थी। पहले हमने पाकशाला में धुआँ देखा और फिर अग्नि देखी और इस प्रकार दोनों के साथ-साथ दर्शन किये। बाद में यदि कहीं पर हम केवल एक वस्तु (धुआँ) को देखें तो अन्वयव्याप्ति के आधार पर यह अनुमान कर सकते हैं कि वहाँ पर दूसरी वस्तु (आग) भी होगी। इस प्रकार यहाँ पर पूर्व का अर्थ है पहले देखा हुआ (यथापूर्व); और वत् का आशय है—समान।

(2) **शेषवत्**—कार्य के कारण का अनुमान किया जाए तो वह शेषवत् कहलाता है। जैसे बाढ़ को देखकर (पूर्व) वृष्टि का अनुमान। कार्य कारण का पश्चाद्वर्ती होता है। अत: शेष पद से यहाँ कार्य का ग्रहण किया गया है। कार्य बाढ़ है और कारण पूर्ववृष्टि है। जयन्त भट्ट के अनुसार बाढ़ से पूर्ववृष्टि का नहीं अपितु वृष्टिमदुपरितनदेश का अनुमान होता है।[77]

वात्स्यायन द्वारा प्रस्तुत द्वितीय प्रकार की व्याख्या के अनुसार **शेषवत्** का अर्थ है—परिशेष यानी बचा हुआ। संभावित विषयों में से कुछ विषयों का निषेध होने पर और कुछ विषयों में प्रसंग की संभावना भी न होने से बाकी जो बच जाए, उसका संप्रत्यय ही शेषवत् अनुमान कहलाता है। जैसे, शब्द क्या है, इसके उत्तर के सम्बन्ध में अनेक विकल्प सम्भव हैं, जैसे—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय। किन्तु शब्द द्रव्य नहीं, क्योंकि द्रव्य अनेकाश्रित होता है जबकि शब्द केवल आकाश का गुण है। शब्द, कर्म नहीं, क्योंकि एक शब्द से दूसरे शब्द की उत्पत्ति होती है जबकि एक कर्म से दूसरे कर्म की उत्पत्ति नहीं होती, उससे केवल संयोग वियोग करवाया जाता है। शब्द 'सामान्य' विशेष या समवाय नहीं है क्योंकि ये नित्य हैं, जबकि शब्द अनित्य हैं। अत:

द्रव्य, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय की व्यावृत्ति होने के कारण यह अनुमान होता है कि शब्द गुण है। इसी को परिशेषानुमान भी कहते हैं।

(3) **सामान्यतोदृष्ट**—प्रथम व्याख्या के अनुसार जिन दो तथ्यों में नियत समभाव हो उनमें से केवल एक का प्रत्यक्ष होने पर दूसरे का अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट कहलाता है। जैसे बिना चले एक व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जा सकता है। अतः जब हम सूर्य को सुबह एक स्थान पर और शाम को दूसरे स्थान पर देखते हैं तो यह अनुमान होता है कि सूर्य में भी गति है। स्थानान्तर प्राप्ति और गति में कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है, किन्तु इनमें नित्य सहभाव है। अतः सूर्य की स्थानान्तर प्राप्ति से सूर्य में गति का जो अनुमान है, वह सामान्यतोदृष्ट कहलाता है। जयन्त भट्ट का कथन है कि भास्कर की देशान्तरप्राप्ति का उदाहरण ठीक नहीं है, यह तो कार्य से कारण का अनुमान होने के कारण शेषवत् ही हो जायेगा। अतः इसका समुचित उदाहरण है—कपित्थ के पीले रंग को देखकर उसमें रस[78] होने का अनुमान।

वात्स्यायन द्वारा उल्लिखित द्वितीय व्याख्या के अनुसार जहाँ साधन और साध्य का सम्बन्ध प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात न हो, किन्तु किसी अन्य विषय के साथ हेतु का सादृश्य रहने से अप्रत्यक्ष साध्य का अनुमान किया जाए, उसे सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा जाता है। उदाहरणतया इच्छा और आत्मा का सम्बन्ध प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात नहीं होता, किन्तु इच्छा एक गुण है और गुण द्रव्य में ही रहता है। अतः सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि इच्छा आदि का आश्रय कोई-न-कोई द्रव्य अवश्य होगा, वही आत्मा है। इस प्रकार सामान्य सम्बन्ध के आधार पर किया जाने वाला आत्मा का अनुमान सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहला सकता है।

(ख) वैशेषिक प्रवर्तित अनुमान भेद

कणाद ने अनुमान भेदों का विवेचन नहीं किया। प्रशस्तपाद से दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट नाम से अनुमान के दो भेदों की चर्चा की। प्रसिद्ध साध्य (अर्थात् हेतु के साथ पहले से ही ज्ञात रहने वाले साध्य) और जिस साध्य की सिद्धि अभिप्रेत है, उनमें सजातीयता होने पर जो अनुमान किया जाता है, वह दृष्ट अनुमान कहलाता है। इस बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि यदि पक्ष और सपक्ष सजातीय हों तो वह अनुमान दृष्ट कहलाता है। जैसे पहले किसी नगरस्थित गाय में सास्ना को देखने के बाद अन्यत्र वन आदि में

सास्नावान् प्राणी को देखकर उसके भी गाय होने का जो अनुमान किया जाता है, वह दृष्ट कहलाता है।

हेतु सामान्य और अनुमेय सामान्य की व्याप्ति के आधार पर जो अनुमान किया जाये वह सामान्यतोदृष्ट कहलाता है। इसमें पक्ष और सपक्ष विजातीय होते हैं। जैसे कृषक आदि अन्न आदि की प्राप्ति के प्रयोजन से खेती आदि करते हैं वैसे ही संध्यावंदन आदि का भी कोई प्रयोजन होना चाहिये अतः इस संदर्भ में स्वर्ग प्राप्ति जैसे फल की जो कल्पना की जाती है उसी को सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा जा सकता है। क्योंकि प्रवृत्ति प्रयोजनमूलक होती है, यह एक सामान्य तथ्य है।

प्रशस्तपाद द्वारा उल्लिखित इन अनुमान भेदों की विशेष चर्चा नहीं हुई। शंकर मिश्र और शिवादित्य ने तो इनका उल्लेख भी नहीं किया। प्रशस्तपाद ने स्वयं ही स्वार्थ और परार्थ नाम से अनुमान के अन्य भेदों की चर्चा की। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि वे भी दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट नामक भेदों के स्थान पर अन्य प्रकार के भेदों को भी वैशेषिक दर्शन में स्थान देने के पक्ष में थे।

(ग) सांख्यप्रवर्तित अनुमान भेद

वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में अनुमान के 'वीत' और 'अवीत' नाम से दो भेद बताये। अन्वय मुख से विधायक अनुमान वीत और व्यतिरेक मुख से प्रवर्तमान निषेधक अनुमान अवीत कहलाता है। वीत के अन्तर्गत पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट नाम से दो उपभेदों का परिगणन किया गया और शेषवत् को ही अवीत कहा गया है।[79]

अनुमान के वीत, अवीत भेदों में वस्तुतः अभिधान मात्र ही नया है, अन्यथा इसमें गौतमप्रवर्तित पूर्ववत् आदि भेदों का ही समर्थन किया गया है। वाचस्पति के अनुसार जिसका विशिष्टरूप (स्वलक्षण) पहले प्रत्यक्ष द्वारा गम्य हो चुका है, वह पूर्ववत् अनुमान कहलाता है।[80] इसको पूर्ववत् कहने का कारण यह बताया गया है कि 'पर्वत अग्नियुक्त है, धूमयुक्त होने से' ऐसे संदर्भों में अग्नित्वावच्छिन्न पर्वतस्थित अग्नि के अनुमान से पहले पाकशालीय अग्नि का दर्शन पाकशाला में पहले ही हो चुका है। वीतानुमान नामक अनुमान के दूसरे उपभेद सामान्यतोदृष्ट का विषय ऐसी सामान्य वस्तु होता है, जिसका अपना असाधारण या विशिष्ट रूप से पहले न देखा गया हो, जैसे इन्द्रिय विषयक अनुमान। इन्द्रिय का कारणत्व दिखाई नहीं देता। किन्तु सभी कार्यों का कोई कारण होता है इस सामान्य नियम के आधार पर रूप, रस आदि ज्ञान का भी कोई

करण होगा, अतः वही इन्द्रिय है। पूर्ववत् का इससे यह अन्तर है कि पूर्ववत् में विशिष्ट रूप (अग्नि) का प्रत्यक्ष रसोई घर में हो चुकता है, जबकि इन्द्रियत्व का प्रत्यक्ष कहीं नहीं होता।

वाचस्पति ने अवीत से शेषवत् का ग्रहण किया है। शेषवत् का अर्थ बचा हुआ। वही शेष जिस अनुमान का विषय हो, वह शेषवत् कहलाता है।[81]

(घ) बौद्धों तथा जयन्त और प्रवर्तित अनुमान भेद

न्याय में अनुमान के स्वार्थ और परार्थ भेदों का प्रवर्तन जयन्तभट्ट ने लिया। न्यायसूत्र, न्याय भाष्य, न्यायवार्तिक और न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका में ये भेद उपलब्ध नहीं होते। वैसे वैशेषिक के प्रशस्तपादभाष्य और बौद्धदर्शन के प्रमाण-समुच्चय न्यायबिन्दु आदि ग्रन्थों में इनका उल्लेख जयन्त से पहले हो चुका था। भासर्वज्ञ ने प्रशस्त पादोक्त दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट की चर्चा करने के अनन्तर यह कहा कि स्वार्थ और परार्थ रूप में भी अनुमान के दो भेद होते हैं।[82] केशवमिश्र और अन्नंभट्ट ने भी इन्हीं भेदों को मान्यता दी है। मीमांसा में इन भेदों का उल्लेख शालिकनाथ ने किया। नारायण भट्ट ने भी इन भेदों का निरूपण किया। सांख्य दर्शन में इन भेदों को मान्यता नहीं दी गई। वेदान्त परिभाषा में ये दो भेद स्वीकार किये गये हैं। दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध नैयायिकों ने भी स्वार्थ और परार्थ रूप से ही अनुमान भेदों का निरूपण किया।

अन्नंभट्ट के अनुसार स्वार्थानुमान वह कहलाता है, जिसमें स्वयं अनुमाता को अनुमिति हो। इस प्रक्रिया में अनुमाता पर्वत पर धुआँ देखता है, और उसे आग होने का सन्देह होता है तब उसे धूम और अग्नि के नियत साहचर्य का स्मरण होता है। तत्पश्चात् उसे पक्षधर्मता ज्ञान तथा व्याप्तिज्ञान के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान (वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वतः) होता है। इसी को लिंग परामर्श या तृतीय परमर्श या परामर्श भी कहते हैं।

जब अनुमाता स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करके उसे दूसरों को समझाने के लिए उपर्युक्त प्रक्रिया में पंचावयव वाक्य का प्रयोग करता है तो ऐसा अनुमान परार्थानुमान कहलाता है।[83]

[ङ] उद्योतकर तथा नव्यन्याय प्रवर्तित अनुमान-भेद

सूत्रकार गौतम ने केवल पूर्ववत् आदि तीन अनुमान भेदों का उल्लेख किया था और वात्स्यायन ने भी उनकी ही व्याख्या की। अनुमान के व्याप्ति मूलक भेदों का उल्लेख सर्वप्रथम उद्योतकर ने किया। किन्तु उन्होंने इनके लिए

अन्वयव्यतिरेकी, अन्वयी और व्यातिरेकी शब्दों का प्रयोग किया। उनके उत्तरवर्ती प्राचीन नैयायिकों में से वाचस्पति मिश्र ने तो वार्तिक में इनकी चर्चा मात्र की और जयन्त ने इनके स्थान पर स्वार्थ-परार्थ को अधिक प्रश्रय दिया। उदयन ने इनको माना, किन्तु उन्होंने अन्वयी को केवलान्वयी तथा व्यतिरेकी को केवल व्यतिरेकी कहा। वैसे इन भेदों को न्याय में स्पष्ट रूप से विश्लेषित करने का कार्य नव्यन्याय के आचार्यों द्वारा किया गया।

इस सन्दर्भ में रघुनाथ शिरोमणि और जगदीश तर्कालंकार के मत उल्लेखनीय हैं। प्रकरण ग्रन्थकारों में से विश्वनाथ ने इनका अनुगमन किया। संक्षेप में उद्योतकर ने इन भेदों का आरम्भिक प्रवर्तन किया। उदयन ने सहचार भेद के आधार पर इनका विश्लेषण करने का प्रयत्न किया, गंगेश ने व्याप्ति के आधार पर इनका निरूपण किया और रघुनाथ शिरोमणि ने अपने विश्लेषण में साध्य को प्रमुखता दी।

उद्योतकर ने इन भेदों के लिए अन्वयव्यतिरेकी अन्वयी और व्यतिरेकी शब्दों का प्रयोग किया। उनके मतानुसार जिसकी पक्ष और सपक्ष में सत्ता तथा विपक्ष में 'असत्ता' हो वह अन्वयव्यतिरेकी अनुमान कहलाता है। जैसे, शब्द अनित्य है, सामान्य और विशेष दोनों धर्मों के युक्त होने के साथ-साथ हम लोगों की बाह्य इन्द्रिय चक्षु द्वारा ग्राह्य होने के कारण, घटादि के समान। वार्तिककार ने पक्ष के लिए **विवक्षित** तथा समक्ष के लिए **तज्जातीय** अथवा **तत्सजातीय** शब्द का प्रयोग किया है।[84]

अन्वयी अनुमान वह होता है जो पक्ष और सपक्ष वृत्तित्व से युक्त हो तथा विपक्ष से शून्य हो। जैसे संसार के समस्त पदार्थों को अनित्य माननेवाले बौद्धों का यह अनुमान कि शब्द अनित्य है, कृतक होने से। जगत् के सभी पदार्थ सपक्ष के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं, अतः विपक्ष के रूप में प्रस्तुत करने के लिए कोई उदाहरण नहीं मिलता। जो पक्ष में रहता हो किन्तु जिनकी सत्ता सपक्ष और विपक्ष में न हो, वह व्यतिरेकी अनुमान कहलाता है। जैसे जीवित शरीर निरात्मक नहीं है, अप्राणिमत्व का प्रसंग उपस्थित होने से। अर्थात् जिस शरीर में आत्मा नहीं है, उसमें प्राण आदि का सम्बन्ध भी नहीं है।

उदयनाचार्य के मतानुसार जहाँ केवल अन्वयसहचार से हेतु में साध्य की अन्वय व्याप्ति का निश्चय किया जाता है, उसे केवलान्वयी अनुमान कहा जाता है। जहाँ केवल व्यतिरेक सहचार द्वारा अन्वय व्यात्ति का ग्रहण किया जाता

है, उसे केवलव्यतिरेकी तथा जहाँ दोनों सहचारों द्वारा व्याप्ति का ग्रहण होता है, उसे अन्वयव्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है।

गंगेश ने व्याप्तिमूलक इन भेदों का तत्त्वचिन्तामणि में उल्लेख किया। रघुनाथ शिरोमणि ने गंगेश के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुये जो कुछ कहा, उसको और अधिक स्पष्ट करते हुये जगदीश ने अनुमान के इन तीनों भेदों के लिए केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी शब्दों का प्रयोग किया और इनका निरूपण निम्नलिखित रूप से किया है—अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी साध्यक अनुमिति के करण को **केवलान्वयी** कहा जाता है। जैसे घट अभिधेय है, प्रमेय होने से। इस उदाहरण में साध्य (अभिधेयत्व) का अत्यन्ताभाव कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। क्योंकि संसार में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जिसका अभिधान न किया जा सके।

जो अनुमिति, प्रकृत हेतु में होनेवाले साध्य के अन्वय सहचार से उत्पन्न न हो, उस प्रकृतहेतुक व्यतिरेकी साध्यक अनुमिति के करण को **केवलव्यतिरेकी** अनुमान कहा जाता है। जैसे 'पृथ्वी इतर भेदवती है, गन्धवती होने से' यहाँ प्रकृत हेतु गन्ध में इतर भेदात्मक साध्य का अन्वय सहचार किसी भी दृष्टान्त में गृहीत नहीं होता।

प्रकृत हेतु में साध्यसहचार ग्रह के आधार पर होनेवाले व्याप्ति निश्चय से उत्पन्न होनेवाले प्रकृत हेतुक व्यतिरेकी साध्यक अनुमिति के करण को **अन्वय-व्यतिरेकी** अनुमान कहा जाता है, जैसे पर्वत अग्नियुक्त है, धूम (युक्त) होने से। यहाँ साध्य (अग्नि) का हेतु (धूम) के साथ रसोईघर आदि में निश्चित रूप से सहचार ग्रहण होता है, और साध्याभावीय स्थल (जलाशय आदि) में साध्य (अग्नि) के उपलब्ध न होने के कारण यह व्यतिरेकी साध्यक भी है।

विश्वनाथ ने न्यायसूत्रवृत्ति में 'पूर्ववत्' से केवलान्वयी, शेशवत् से केवल-व्यतिरेकी तथा सामान्यतोदृष्ट से अन्वयव्यतिरेकी अनुमान का ग्रहण किया है। विश्वनाथ के अनुसार केवलान्वयी अनुमान वह होता है, जिसमें साध्य का विपक्ष अप्रसिद्ध रहता है। केवलव्यतिरेकी अनुमान वह होता है, जिसमें साध्य का सपक्ष उपलब्ध न हो और अन्वय व्यतिरेकी अनुमान वह होता है, जिसमें साध्य के सपक्ष और विपक्ष दोनों उपलब्ध रहते हैं।

[च] जैन प्रवर्तित अनुमान भेद

अकलंक ने अनुमान के त्रिविध आदि भेदों की समीक्षा करते हुए **अन्यथा-नुपपन्नत्व** को एकमात्र हेतु और **अकिंचित्कर** को एकमात्र हेत्वाभास माना है।

वादिराज ने (न्याय विनिश्चय विवरण में) यह कहा कि कई हेतु ऐसे भी होते हैं, जिनका गौतमोक्त भेदों में समावेश नहीं हो सकता। अतः अन्यथानुपपन्नत्व को ही अनुमान का एकमात्र भेद मानने पर अन्य सभी भेदों का इसमें ही समावेश हो जाएगा। हाँ, इतना आवश्यक है कि जब इस अनुमान का प्रयोग अपने लिए किया जाए तो वह स्वार्थानुमान और जब दूसरे के लिए किया जाये तो यह परार्थानुमान कहला सकता है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विभिन्न भारतीय दर्शनों में अनुमान भेदों के सम्बन्ध में विभिन्न मत रहे हैं। न्यायदर्शन के आचार्यों में भी पारस्परिक ऐकमत्य नहीं रहा। कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि गौतम ने पूर्ववत् आदि जिन भेदों का उल्लेख किया, वे न्याय की परम्परा में भी वात्स्यायन के बाद आदृत नहीं हो पाये। नव्यन्याय के आचार्यों ने तो उद्योतकर प्रवर्तित केवलान्वयी आदि को उपयुक्त समझा और प्रकरणग्रन्थकारों में से केशवमिश्र और अन्नंभट्ट ने जयन्त द्वारा स्वार्थानुमान और परार्थानुमान नाम से प्रवर्तित भेदों का आदर किया।

4. अनुमान का तार्किक आधार : व्याप्ति

अनुमान की प्रक्रिया मूलतः जिन दो प्रमुख तत्त्वों पर आधारित है, उनमें से एक है व्याप्ति और दूसरा पक्षधर्मता। व्याप्ति और पक्ष-धर्मता का साथ-साथ विचार या उपयोग करने पर अनुमान की प्रक्रिया में एक अगला सोपान आता है वह है परामर्श या लिंगपरामर्श। 'उपाधि' एक प्रकार से, परामर्श का अभावात्मक पहलू है, जो कि हेतु को सदोष बनाने के कारण अनुमान के निषेधक के रूप में यथावसर विचारणीय हो उठता है। आइये इन तत्त्वों पर संक्षेप में विचार कर लिया जाये।

[क] व्याप्ति का अर्थ

'वि' और 'आप्ति' के योग से निष्पन्न व्याप्ति शब्द का सामान्य अर्थ है— 'विशेष सम्बन्ध'। यहाँ 'विशेष' का आशय है 'नियत'। अनुमान के तीन अंग हैं—हेतु, पक्ष और साध्य। **हेतु और साध्य के बीच अनिवार्य संबंध को व्याप्ति तथा पक्ष और हेतु के सामंजस्य को पक्षधर्मता कहा जाता है।** पक्षधर्मता का बोध होने पर भी जब तक व्याप्ति ज्ञान नहीं होता, तब तक अनुमान नहीं हो सकता। जैसे 'पर्वतो धूमवान् वह्निमत्वात्' इस उदाहरण में पक्ष और हेतु का सामंजस्य दिखाया गया है; किन्तु यहाँ हेतु और साध्य का नियत सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि

वह्नि का धूम के साथ नियत साहचर्य नहीं है। उदाहरणतया अयोगोलक में वह्नि तो है किन्तु धूम नहीं है। इसके विपरीत 'पर्वतो वह्निमान् धूवत्वात्' इस उदाहरण में पक्ष और हेतु का सामंजस्य होने के साथ-साथ हेतु और साध्य का नियत साहचर्य भी है। क्योंकि जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ आग अवश्य रहती है।

इस सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि हेतु (साधन) और साध्य में से हेतु का ही साध्य के साथ अविच्छेद संबन्ध अनिवार्य है। साध्य का हेतु के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध हो या न हो, दोनों अवस्थाओं में अनुमान हो सकता है। दूसरे शब्दों में जिससे किसी वस्तु को सिद्ध किया जाता है, उसका उस वस्तु से अविच्छेद्य सम्बन्ध होना चाहिये। इसके विपरीत जो वस्तु सिद्ध की जाती है, उसका इस प्रकार का सम्बन्ध हो अथवा न हो यह आवश्यक नहीं है। जैसे, अग्नि को सिद्ध करते समय यह आवश्यक नहीं कि उसका धूम के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध हो ही, क्योंकि जहाँ-जहाँ अग्नि होती है, वहाँ-वहाँ धूम भी होता है, ऐसी व्याप्ति नहीं बनाई जा सकती। इसका कारण यह है कि जलते हुये अँगारे का अयोगोलक में आग तो होती है, पर धुआँ नहीं होता।

व्याप्ति दो वस्तुओं के ऐसे पारस्परिक सम्बन्ध का नाम है, जो अविच्छेद्य अनिवार्य तथा स्थायी हो। जिन दो वस्तुओं में व्याप्ति होती है, उनमें से एक व्यापक और दूसरा व्याप्त होता है। जिसकी व्याप्ति होती है वह व्यापक, और जिसमें व्याप्ति रहती है वह व्याप्य कहलाता है। व्यापक का क्षेत्र बड़ा और व्याप्त का छोटा होता है। जैसे आग और धूम में से अग्नि व्यापक है और धूम व्याप्य। व्याप्य कभी भी व्यापक के बाहर नहीं रह सकता, जबकि व्यापक के लिए ऐसा प्रतिबन्ध नहीं है। इस बात को इस तरह से भी कहा जा सकता है कि संपूर्ण धूम अग्नि के अन्तर्गत है, किन्तु सम्पूर्ण अग्नि धूम के अन्तर्गत नहीं है। निम्नलिखित आरेख द्वारा यह और भी स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है—यहाँ व्याप्य (धूम) और व्यापक (अग्नि) का विस्तार बराबर नहीं है। अतः यह विषम व्याप्ति है, इसमें व्याप्त द्वारा व्यापक का अनुमान होता है। व्यापक द्वारा व्याप्य का नहीं।

दो भाव पदार्थों के समान अन्वय व्याप्ति उनके (व्यतिरेक व्याप्ति) में भी व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध रहता है किन्तु भाव दशा में जो व्याप्य रहता है, वह अभाव दशा में व्यापक बन जाता है। इसी प्रकार भाव दशा में जो व्यापक रहता

है वह अभाव दशा में व्याप्य बन जाता है। उदाहरणतया 'जहाँ अग्न्यभाव है वहाँ धूमाभाव है।' यहाँ साध्याभाव व्याप्य है और साधनाभाव व्यापक।

व्याप्ति में व्याप्य और व्यापक को प्रस्तुत करने का भी एक निश्चित क्रम है। अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों प्रकार की व्याप्ति में व्याप्य पहले और व्यापक बाद में रखा जाता है, जैसे **'यत्र-यत्र धूम स्तत्राग्निः'**। हाँ यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि व्यतिरेक व्याप्ति में अग्न्यभाव व्याप्य बन जाता है। अतः उसका कथन पहले किया जाता है और धूमाभाव का बाद में। तात्पर्य यह है कि व्याप्यत्व और व्यापकत्व आश्रय में भले ही परिवर्तन हो जाये, किन्तु जो भी व्याप्य होगा उसका उल्लेख पहले करना होगा।

जहाँ कहीं व्याप्य और व्यापक का क्षेत्र बराबर रहता है वहाँ (समव्याप्ति) दोनों का व्याप्य से व्यापक के अतिरिक्त व्यापक से व्याप्य का अनुमान हो सकता है। उदाहरण के रूप में—'जो प्रमेय है वह अभिधेय भी है'। यहाँ प्रमेयत्व और अभिधेयत्व क्षेत्र बराबर है। दोनों एक दूसरे के प्रत्येक भाग पर पूर्णरूप से छाए हुये हैं। अतः दोनों में से किसी को भी व्याप्य या व्यापक माना जा सकता है। यानी किसी एक को भी लिंग मानकर दूसरे को लिंगी कहा जा सकता है। वैसे, समव्याप्ति के उदाहरण कम ही प्राप्त होते हैं।

जिन वस्तुओं का साहचर्य नियत न हो, उनमें व्याप्ति नहीं हो सकती। जैसे मेघ और वर्षा कभी साथ-साथ भी दिखाई देते हैं और कभी अलग भी। जहाँ तक वर्षा का सवाल है, वह तो एकनिष्ठ रूप से मेघ से अटूट है किन्तु बादल हमेशा ही वर्षा नहीं करता, अतः उसका सम्बन्ध वर्षा से अनियत है।

'व्याप्ति' के पर्याय के रूप में यद्यपि अन्य शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है जैसे—'लिगंलिगिसम्बन्ध, गम्यगमकभाव, साध्यसाधनभाव, साधनसाध्यभाव, अविनाभावनियम, प्रसिद्धि (कणाद्), प्रतिबन्ध (सांख्य-योग), साध्याविनाभाव (जयन्त), नान्तरीयक (शंकर-स्वामिन्), अन्यथानुपपत्ति अन्यथानुपपन्नत्व (जैन) किन्तु इन अन्य शब्दों की अपेक्षा व्याप्ति शब्द का ही अधिक प्रयोग मिलता है।

[ख] व्याप्ति का लक्षण

[i] वैशेषिक मत

कणाद ने व्याप्ति के लिए 'प्रसिद्धि' शब्द का प्रयोग करते हुए कहा कि जो हेतु प्रसिद्धिपूर्वक होता है, वही सद्हेतु कहला सकता है।[85] प्रसिद्धि के अभाव में हेतु सद्हेतु न रहकर हेत्वाभास हो जाता है। अतः 'प्रसिद्धि' के ज्ञान के

बिना लिंग के ज्ञान से अनुमिति नहीं हो सकती। प्रशस्तपाद ने 'प्रसिद्धि' के साथ ही **'समय'** और **'साहचर्य'** शब्दों का प्रयोग करते हुए अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति के उदाहरण भी दिए हैं। प्रशस्तपाद ने यह भी स्पष्ट किया कि कणाद ने व्याप्ति के सन्दर्भ में हेतु के कार्य कारणभाव, संयोग, समवाय, एकार्थसमवाय और विरोध सम्बन्धों का जो निर्देश किया है, वह अवधारण (इतने मात्र) के लिए नहीं, अपितु कुछ उदाहरण देने की दृष्टि से किया है। क्योंकि उपर्युक्त सम्बन्धों से भिन्न दैशिक और कालिक व्याप्ति से विशिष्ट अविनाभूत लिंगों से भी अनुमिति हो जाती है, जैसे अध्वर्यु द्वारा ओम् का उच्चारण करने पर यह अनुमान किया जा सकता कि वहाँ पर होता भी होगा। इसी प्रकार चन्द्रोदय को देखकर समुद्रवृद्धि और कुमुदिनी विकास का अनुमान होता है। शंकर मिश्र और श्रीधर ने अनौपाधिक सम्बन्ध को व्याप्ति कहा है। श्रीधर के अनुसार किसी एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ स्वभावतः जो सम्बन्ध अवधारित किया जाता है, वही उपाधिशून्य व नियत होने के कारण नियत अर्थात् व्याप्ति कहलाता है। न्यायलीलावतीकार के मतानुसार कात्स्न्र्य रूप से साधन में रहने वाले साध्य के साहित्य अर्थात् साहचर्य अथवा समानाधिकरण्य को ही व्याप्ति कहा जाता है।

[ii] न्यायमत

गौतम और वात्स्यायन ने व्याप्ति शब्द का उल्लेख नहीं किया। वैसे सूत्रकार द्वारा प्रस्तुत अनैकान्तिक हेतु और जाति की परिभाषा को देखकर यह कहा जा सकता है कि गौतम ने 'नियम' और 'अनियम' शब्दों का प्रयोग व्याप्ति और अव्याप्ति के लिए किया है। वात्स्यायन भी लिंग और लिंगी के बीच एक अविच्छेद्य सम्बन्ध का अस्तित्व तो स्वीकार करते हैं, किन्तु न तो उन्होंने ऐसे सम्बन्ध को कोई नाम दिया, न ही उसका विश्लेषण किया। नैयायिकों में से उद्योतकर ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने व्याप्ति शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया। यह बात अवश्य है कि उन्होंने भी अविनाभाव सिद्धान्त की समीक्षा में जितना बल लगाया, उतना व्याप्ति के विवेचन में नहीं। वाचस्पति मिश्र ने भी व्याप्ति की विशेष व्याख्या नहीं की। वैसे, उनके मत का सार यही है कि हेतु और साध्य के बीच जो स्वाभाविक और अनौपचारिक सम्बन्ध है, वही व्याप्ति है। उदयनाचार्य और भासर्वज्ञ ने भी लगभग यही बात कही है। जयन्त भट्ट ने व्याप्ति के लिए 'स्मृतिनियम' शब्द का प्रयोग किया है। सम्भवतः जयन्त ने नियम शब्द आंशिक रूप से गौतम और आंशिक रूप से बौद्धों से ग्रहण किया, और

उसके साथ स्मृति शब्द का वात्स्यायन के भाष्य से ग्रहण कर जोड़ दिया। जयन्त के अनुसार नियम का अर्थ है—**नित्य साहचर्य**।[87] जयन्त को व्याप्ति और साहचर्य शब्दों के प्रयोग में भी कोई आपत्ति नहीं है।

[iii] नव्यन्याय मत

गंगेश ने सिद्धान्त लक्षण को स्थापित करने से पहले अपने समय में प्रचलित व्याप्ति विषयक इक्कीस मतों का पूर्वपक्षीय व्याप्ति लक्षणों के रूप में उल्लेख किया। उन्होंने प्रथम पाँच को व्याप्तिपंचक' अन्य दो को 'सिंहव्याघ्र' तथा अन्य चौदह को 'व्यधिकरण' नाम से अभिहित किया है इनकी संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है।

व्याप्तिपंचक—व्याप्तिपंचक में परिगणित पाँचों लक्षणों में इस बात में समानता है कि इनमें हेतु में साध्य के अव्यभिचार को व्याप्ति कहा गया है, किन्तु 'व्यभिचार' के स्वरूप के सम्बन्ध में इनका परस्पर भेद हैं। व्यभिचार शब्द के अर्थ इन लक्षणों के प्रवर्तकों ने निम्नलिखित रूप से किये हैं। अतः तदनुसार व्याप्ति के लक्षणों में भी भिन्नता आ गई है। गंगेश ने इनकी चर्चा करने के साथ ही इनका खण्डन भी किया है।

(1) साध्याभाव के अधिकरण (अर्थात् साध्यशून्य स्थान) में हेतु का रहना व्यभिचार है, अतः साध्यशून्य स्थानों में हेतु का न रहना (अवृत्ति) ही व्याप्ति है।[88] साध्याभाववद् का अर्थ है—साध्य के अभाव का अधिकरण।

इस लक्षण पर यह आपत्ति की जाती है कि यह अव्याप्यवृत्ति (कालकृत और देशकृत) साध्यक स्थलों में अव्याप्त होने के कारण दोषपूर्ण है। जैसे कि 'कपि संयोगी, एतद्वृक्षत्वात्' इस उदाहरण में 'कपिसंयोग' साध्य है, और 'एतद्वृक्षत्व' हेतु है। कपिसंयोग वृक्ष के शाखा भाग में पाया जाता है, मूलभाग में नहीं। अतः साध्याभावीय (वृक्ष के मूल भाग) अधिकरण में हेतु (एतद्वृक्षत्व) की वृत्ति है, अतः लक्षण युक्ति संगत नहीं है।

(2) प्रथम लक्षण में एक विशेषण (साध्यवद्भिन्न) जोड़कर दूसरे लक्षण का ढाँचा खड़ा किया गया है। इसका आशय यह है कि—'साध्य के अधिकरण से भिन्न साध्याभाव के अधिकरण से निरूपित वृत्तित्व का अभाव ही व्याप्ति है'।[89]

इस लक्षण का समन्वय 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस उदाहरण में किया जाए तो साध्यवत् होगा—पर्वत् और साध्यवत् से भिन्न होगा—जलाशय, जो कि वह्न्यभाव (साध्याभाव) का अधिकरण भी है और जिसमें धूम की वृत्तिता भी नहीं है।

इस लक्षण की समीक्षा करते हुए यह कहा गया है कि इसका निर्माण 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' ऐसे उदाहरणों पर घटित करने के लिए किया गया था, किन्तु यह उद्देश्य (अव्याप्ति का निरसन) तो 'साध्यवद्भिन्नावृत्तित्वम्' इतना मात्र कहने से भी सिद्ध हो जाता, क्योंकि यहाँ साध्यवत् होगा—एतद्वृक्ष, उससे भिन्न होगा गुण। अतः जहाँ एतद्वृक्षत्व रूप की आवृत्ति है, वहाँ अव्याप्ति नहीं होगी। कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि इस लक्षण में 'साध्याभाववत्' इतना अंश अनावश्यक है।

(3) उपर्युक्त द्वितीय लक्षण को भी पूर्वोक्त आधार पर अनुपयुक्त मानकर तृतीय लक्षण को प्रस्तुत किया गया है, जो कि इस प्रकार है—'साध्यवत्' प्रतियोगिक भेद के अधिकरण से निरूपित वृत्तित्व का अभाव ही व्याप्ति है।[90] उदाहरणतया 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' यहाँ साध्य है—वह्नि, तद्वत् है—पर्वत और तत्प्रतियोगिक है—जलाशय। अतः तत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव का स्वरूप होगा—'साध्यवान् न' जो कि जलाशय में ही रहेगा, पर्वत आदि में नहीं। जलाशय में धूम कभी भी नहीं रहता, इसलिए अन्योन्याभाव का सामानाधिकरण्य (अधिकरण निरूपित वृत्तिता) धूम आदि सद्हेतु स्थलों में कभी नहीं रहेगा।

(4) गंगेश द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में उल्लिखित चतुर्थ लक्षण के अनुसार सभी साध्याभावीय अधिकरणों में विद्यमान रहने वाले अभाव की प्रतियोगिता ही व्याप्ति है।[91] 'वह्निमान् धूमात्' में सभी वह्नियों का अभाव 'वह्निर्नास्ति' इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है। वह्निसामान्याभाव के सभी अधिकरणों में से किसी भी धूमाभाव की असत्ता प्रतीत नहीं होगी। सभी अधिकरणों में धूमाभाव की सत्ता ही होगी। इस प्रकार 'सकल साध्याभाववन्निष्ठ अभाव' पद से यहाँ धूमाभाव ही अभिप्रेत है।

(5) पाँचवाँ लक्षण तीसरे लक्षण से मिलता जुलता है। साध्यवत् (साध्य के अधिकरण) यानी पर्वत आदि से अन्य (भिन्न) जलाशय आदि में हेतु का न रहना ही व्याप्ति है।[92]

तीसरे लक्षण में साध्यवत् प्रतियोगिक अन्योन्याभाव के समानाधिकरण का अभाव हेतु में बताया गया है और पाँचवें लक्षण में यही बात शब्दान्तर से कही गई है।

इन पाँचों लक्षणों में यह बात तो समानरूप से कही गई है कि 'हेतु में साध्य के व्यभिचार का न रहना तो व्याप्ति है' किन्तु व्यभिचार के जो लक्षण बताये गये हैं, उनमें अन्तर है। गंगेश ने व्याप्तिपंचक का खण्डन इस आधार पर किया है कि ये केवलान्वयी अनुमान के उदाहरणों पर घटित नहीं होते।[93] जैसे कि 'इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्' इस उदाहरण में साध्य है वाच्यत्व, उसका अभाव है—वाच्यत्वभाव। उसका अधिकरण कोई भी नहीं है, क्योंकि विश्व के समस्त पदार्थ किसी न किसी शब्द के द्वारा वाच्य हैं।

सिंहव्याघ्र व्याप्ति—गंगेश ने व्याप्ति पंचक का खण्डन करने के अनन्तर सिंहव्याघ्रव्याप्ति के नाम से दो अन्य लक्षणों का उल्लेख किया। पहला यह कि साध्य की अधिकरणता के अभाववाले अधिकरण में वृत्तिभिन्नता होना ही अव्यभिचरितत्त्व है।[94] और दूसरा यह कि 'साध्य के अधिकरण से भिन्न अधिकरण में वृत्तिभिन्नत्व ही व्याप्ति है।'[95]

इनका खण्डन करते हुये गंगेश कहते हैं कि साध्य के अनधिकरण में हेतु की वृत्तिभिन्नता को नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसकी केवलान्वयी स्थलों में अप्रसिद्धि है। सभी पदार्थ केवलान्वयी साध्य के अधिकरण नहीं होते, इसलिए अनधिकरणता सिद्ध नहीं की जा सकती।

व्यधिकरण व्याप्ति—जैसा कि पहले भी कहा गया है, व्याप्ति के पूर्वोक्त लक्षणों में यह दोष है कि वे केवलान्वयी अनुमान के उदाहरणों पर नहीं घटते। जैसे कि **'सर्व ज्ञेयं वाच्यत्वात्'** ऐसे स्थलों पर साध्य (वाच्यत्व) का अभाव कहीं भी नही है, अतः साध्यवाले पदार्थों के अतिरिक्त (साध्यवदन्य) पदार्थों की प्रसिद्धि ही नहीं होगी। पूर्वोक्त लक्षणों में इस दोष के परिहार के लिए व्यधिकरण व्याप्ति का उद्‌भावन किया गया है।

जिस व्यक्ति में जो धर्म नहीं रहता, उस धर्म को उस व्यक्ति का व्यधिकरण धर्म कहा जाता है। जैसे घट में 'घटत्व' धर्म रहता है, 'पटत्व' धर्म नहीं। अतः 'पटत्व' घट का व्यधिकरण धर्म है।

व्यधिकरण धर्म से अवच्छिन्न (युक्त) अभाव सब प्रदेशों में कैसे रह सकता है; इसका समाधान यह है कि प्रतियोगितावच्छेदक से युक्त जो प्रतियोगी होता है, उसके साथ ही अन्यताभाव का विरोध हुआ करता है, केवल प्रतियोगी के साथ अत्यन्ताभाव का विरोध नहीं होता। जैसे घटत्वावच्छिन्न (घटत्वयुक्त) घट जहाँ होगा, वहाँ घटाभाव प्रसक्त नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतियोगितावच्छेदक 'घटत्व' से युक्त घट के साथ, उसके अत्यन्ताभाव का विरोध माना गया है। परन्तु इसी स्थल पर पटत्वरूप से घट का अभाव ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं है।

इस प्रकार **सर्वंज्ञेयं 'वाच्यत्वात्'** में वाच्यत्वत्व से युक्त वाच्यत्व जहाँ है; वहाँ वाच्यत्वत्व धर्म से युक्त वाच्यत्वात्यन्ताभाव चाहे न रहे, परन्तु समवायित्वेन वाच्यत्व कहीं भी उपलब्ध नहीं होगा। अत: व्यधिकरण धर्म के रूप में वाच्यत्वाभाव के सर्वत्र रहने में कोई बाधा नहीं है।

व्यधिकरण व्याप्ति के अन्तर्गत चौदह लक्षणों का उल्लेख किया गया है किन्तु विस्तार भय से उनका निरूपण अपेक्षित है।

गंगेश ने व्याप्तिपंचक और सिंहव्याघ्रव्याप्ति के समान व्यधिकरण व्याप्ति से सम्बन्धित लक्षणों का भी खण्डन किया है। इस सन्दर्भ में गंगेश का मूल तर्क यह है कि—प्रतियोगी में न रहने वाले धर्म को प्रतियोगितावच्छेदक नहीं माना जा सकता। अतः व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव के आधार पर पूर्वोक्त व्याप्ति लक्षणों को निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता।

गंगेश का कथन है कि अभाव बुद्धि में प्रतियोगितावच्छेदक प्रकारक प्रतियोगी ज्ञान को ही कारण माना गया है।

जैसे 'घट नहीं है' इस अभावीय ज्ञान का प्रतियोगी जो घट है, उसमें जैसे प्रतियोगिता का भान होता है, वैसे ही प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व का भी बोध होता है। घट स्वयं अभाव में विशेषण है, इसलिए घटाभाव का अर्थ 'घटवान् अभाव' होगा। अतः 'घटत्वावच्छिन्न घट नहीं है' यही बुद्धि प्रामाणिक होगी, न कि यह कि 'पटत्वावच्छिन्न घट नहीं है'।

इस प्रकार विशेषणतावच्छेदक प्रकारक जो विशेषण बुद्धि अर्थात् प्रतियोगी ज्ञान है, वही अभावबुद्धि में कारण है।

सिद्धान्तलक्षण—उपर्युक्त रूप से व्याप्ति के विभिन्न लक्षणों का उल्लेख तथा खण्डन करने के अनन्तर गंगेश ने व्याप्ति का सिद्धान्त लक्षण इस प्रकार बताया—

"जो साध्य, हेतु के प्रतियोगी व्यधिकरण तथा समान अधिकरण में विद्यमान रहनेवाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न न हो, उसके साथ हेतु का समानाधिकरण्य ही व्याप्ति है।"[96]

इस लक्षण का सार यह है कि हेतु और उसके व्यापक साध्य का सामानाधिकरण्य ही व्याप्ति है। व्यापक साध्य से तात्पर्य उस साध्य से है, जो हेतु के अधिकरण में वर्तमान रहनेवाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक से अवच्छिन्न न हो अर्थात् प्रतियोगी न हो।

दीधितिकार ने गंगेश के कथन का अर्थ इस प्रकार लगाया है कि जो साध्य हेतु के प्रतियोगी असमानाधिकरण और समानाधिकरण में रहनेवाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है, उस धर्म से अवच्छिन्न साध्य के साथ हेतु का सामानाधिकरण्य ही व्याप्ति है।

न्याय के प्रकरण ग्रन्थकारों में से केशवमिश्र ने साहचर्य नियम को व्याप्ति कहा है।[97] अन्नंभट्ट का भी ऐसा कथन है।[98] तर्कदीपिका में साहचर्य नियम की व्याख्या करते हुये यह बताया गया है कि 'जहाँ-जहाँ हेतु रहता है वहाँ-वहाँ विद्यमान अत्यन्ताभाव का जो कभी प्रतियोगी न हो सके, ऐसे साध्य का समानाधिकरण होना ही व्याप्ति है।[99] नीलकण्ठ के विचार में व्याप्ति हेतु का वह धर्म है, जो साध्य के साथ रहता है। विश्वनाथ ने व्याप्ति के दो लक्षण बताये हैं—एक तो यह कि 'साध्यवत् (महानस) से भिन्न (जलाशय) आदि में जो सम्बद्ध न रहे वह व्याप्ति है,[100] और दूसरा यह कि 'हेतु से युक्त यानी पक्ष में रहनेवाले अत्यन्ताभाव का जो प्रतियोगी न हो सके, ऐसे साध्य का जो हेतु के साथ रहना व्याप्ति है।'[101]

प्राचीन न्याय, नव्यन्याय और प्रकरणग्रन्थकारों के मतों का समन्वय करके उनके सार रूप में मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि नैयायिकों के अनुसार 'हेतु और साध्य का नियत साहचर्य ही व्याप्ति है'।

(iv) सांख्यमत

सांख्यसूत्रकार के अनुसार साध्य के साथ साध्य साधन दोनों का अथवा साधन मात्र का जो नियत व्यभिचार शून्य साहचर्य है, उसी को व्याप्ति कहते हैं।[102] वस्तु के स्वाभाविक शक्ति के अविर्भाव को नियत अव्यभिचारी सम्बन्ध कहा जाता है। इस प्रकार का सम्बन्ध बनाने से नहीं बनता, वह वस्तुओं में स्वाभाविक रूप से रहता है। इसी सम्बन्ध के द्वारा एक ज्ञात वस्तु से दूसरी अज्ञात वस्तु का अनुमान किया जाता है।

सांख्य प्रवचन भाष्य में इस मत को सांख्येतर किसी आचार्य का मत मानकर इसका खण्डन किया गया है। किन्तु अनिरुद्ध वृत्ति के अनुसार यह सूत्रकार का अपना मत है।

सूत्रकार ने पंचशिख के मत का भी उल्लेख किया है, जिसके अनुसार व्याप्ति व्याप्य की स्वाभाविक शक्ति का उद्भव नहीं, अपितु आधेय शक्ति सम्बन्ध है।[103] व्युत्पादन द्वारा इस शक्ति का आधान किया जाता है। अव्युत्पन्न व्यक्ति धूम को देखकर भी अग्नि का अनुमान नहीं कर सकता।

यद्यपि स्वयं सूत्रकार ने यह कह कर अपने मत के साथ पंचशिख के मत से समन्वय किया कि 'आधेय शक्ति का निश्चय हो जाने पर समान न्याय (यथार्थ अनुमान प्रयोग) से स्वाभाविक शक्ति के आविर्भाव रूप सम्बन्ध की भी सिद्धि हो जाती है, तब भी पंचशिख द्वारा प्रतिपादित आधेय शक्ति सम्बन्ध को व्याप्ति नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'जहाँ-जहाँ अग्नि होती है, वहाँ-वहाँ धूम भी होता है' ऐसे उदाहरणों में अग्नि में आधेय शक्ति होने पर भी धूम का अनुमान कराने के लिए उसमें स्वाभाविक सामर्थ्य नहीं है, अतः केवल आधेय शक्ति सम्बन्ध को व्याप्ति मान लेने पर असद्हेतु में भी हेतुता की प्रसक्ति होने लगेगी।

[v] योगमत

योगसूत्र में व्याप्ति का उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भाष्यकार व्यास ने सम्बन्ध के रूप में व्याप्ति की चर्चा की है। उनके मतानुसार 'जो अनुमेय के साथ समान जातीय पदार्थों में अनुवृत्त (युक्त) एवं भिन्न जातीय पदार्थों से व्यावृत्त (पृथक् करनेवाला) हो, उसे सम्बन्ध कहा जाता है'।[104]

योग भाष्य में उपलब्ध सम्बन्ध का अर्थ व्याप्ति भी लगाया जाये, तो भी सम्बन्धमात्र को व्याप्ति नहीं कहा जा सकता।

[vi] भाट्टमीमांसक मत

जैमिनि ने व्याप्ति का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया, किन्तु सबर स्वामी द्वारा अनुमान के लक्षण में प्रयुक्त '**ज्ञातसम्बन्धस्य**' शब्द का विश्लेषण करते हुये कुमारिल ने इसका नियम रूप साहचर्य सम्बन्ध के रूप में विश्लेषण किया है। कुमारिल के मतानुसार व्याप्य गमक तथा व्यापक गम्य होता है जो समान अथवा न्यून देश काल की अपेक्षा रखता है, वह व्याप्य; और जो समान अथवा अधिक देशकाल में विद्यमान रहता है वह व्यापक कहलाता है। पार्थसारथी मिश्र का भी यह कथन है कि व्याप्ति नियम रूप सम्बन्ध ही है, जिसमें संयोग आदि अनेक

प्रकार के सम्बन्ध भी निहित हैं।[105] चित्र स्वामी के मतानुसार भी नियम रूप सम्बन्ध ही व्याप्ति है। दृश्यमान देशकाल आदि में जो हेतु का साध्य के साथ सहभाव दिखाई देता है, वह ही नियम है।[106]

कुमारिल द्वारा प्रस्तुत लक्षण समुपयुक्त और सरलतया बोधगम्य है, पर व्याप्य और व्यापक पदों का परिष्कार उनके द्वारा वैसा नहीं हुआ जैसे नैयायिकों द्वारा किया गया है।

[vii] प्रभाकर मत

प्रभाकर के मत का विश्लेषण करते हुये शालिकनाथ कहते हैं कि **'नियत'** तथा **'अव्यभिचरित'** कार्यकारण भाव आदि सम्बन्ध ही व्याप्ति है।[107] प्रभाकर मत में नियत तथा अव्यभिचरित दो पदों का प्रयोग किया गया है किन्तु अव्यभिचरित सम्बन्ध ही नियत सम्बन्ध होता है, अतः 'नियत' विशेषण का प्रयोग निरर्थक है। यदि केवल 'अव्यभिचरित' शब्द का प्रयोग किया जाये तो तब भी यह लक्षण निर्दोष नहीं, क्योंकि उसमें भी पूर्वोक्त सभी दोष होंगे।

[viii] वेदान्त मत

धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार 'अशेष साधनों के अधिकरण में रहनेवाले साध्य के साथ हेतु का सामानाधिकरण्य ही व्याप्ति है।' इसका परिष्कार करते हुये अर्थदीपिकाकार ने कहा कि साधनतावच्छेदक धर्म से विशिट साधन के अधिकरण में रहनेवाले साध्यतावच्छेदक धर्म से विशिष्ट साध्य का हेतु के समान अधिकरण में रहना ही व्याप्ति है।[108]

यह लक्षण वस्तुतः गंगेश के सिद्धान्त-लक्षण से बहुत मिलता जुलता है।

[ix] बौद्धमत

बौद्धों ने व्याप्ति के लिए 'अविनाभाव' शब्द का प्रयोग किया है। अविनाभाव का अर्थ है—अ + बिना + भाव अर्थात् साध्य के अभावीय स्थलों में हेतु की सत्ता (भाव) न (अ) होना। इसका आशय यह भी है कि साध्य के होने पर ही हेतु का सद्भाव होता है, अतः अविनाभाव व्यतिरेक व्याप्ति के साथ ही अन्वयव्याप्ति का भी बोधक है। दिङ्नाग के प्रमाण समुच्चय में यह उल्लेख मिलता है कि—

'ग्राह्यधर्मसंदर्शन व्याप्तो हेतुः'।

इस अस्पष्ट पंक्ति का विशदीकरण करते हुये धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर ने इस सन्दर्भ में जो कुछ कहा, उसका सार यह कि—"साध्य का साधन में नियतत्व व्यवस्थापन तथा साध्याभाव में साधनाभाव की नियतता का रहना ही अविना-

भाव है।"[109] साधर्म्य हेतु में साधन व्याप्य और साध्य व्यापक होता है, जबकि वैधर्म्य हेतु में साध्याभाव व्याप्य और साधनाभाव व्यापक होता है।

बौद्धों के मत की समीक्षा करते हुये गंगेश ने कहा कि अविनाभाव सिद्धान्त को व्याप्ति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह केवलान्वयी अनुमान में अव्याप्त है।[110]

(x) जैनमत

जैन दार्शनिकों ने भी अविनाभाव को ही व्याप्ति माना है। माणिक्य नन्दि के अनुसार 'इसके होने पर यह होता है और इसके न होने पर नहीं ही होता'[111] इसी बात का पारिभाषिक नाम अविनाभाव है, और इसी को व्याप्ति तथा अन्यथानुपपत्तिः भी कहते हैं। माणिक्यनन्दि ने यह भी कहा कि सहभावनियम और क्रमभावनियम ही अविनाभाव है। सहचारी और व्याप्य-व्यापक भाववाले पदार्थों में सहभावनियम तथा पूर्वचर, उत्तरचर और कार्य-कारण सम्बन्ध युक्त पदार्थों में क्रमभाव उपलब्ध होता है।[112] अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र और हेमचन्द्र ने इसी परिभाषा का अनुगमन किया। अकलंक ने भी इस तथ्य को इस तरह से व्यक्त किया है कि 'जो साधन साध्य के अभाव में न हो, उसके होने पर ही हो, वही गमक है और उसका साध्य गम्य।'

धर्मभूषण के अनुसार साध्य और साधन में गम्य-गमक भाव का साधक एवं व्यभिचार से रहित सम्बन्ध ही व्याप्ति यानी अविनाभाव है।

सहभाव नियम और क्रमभाव नियम को ही प्रशस्तपाद ने **दैशिक व्याप्ति** और **कालिक व्याप्ति** के रूप में निरूपित किया था। अतः इसमें कोई नवीनता नहीं। इसके साथ सहभाव नियम और क्रमभाव नियम के उदाहरणों को व्याप्य-व्यापक भाव के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है। रत्नप्रभाचार्य ने संभवतः इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए गम्य-गमक भाव को ही अविनाभाव कहा और इसी में 'व्यभिचार शून्यता' शब्द जोड़कर धर्मभूषण ने अपने लक्षण की रचना की।

उपर्युक्त लक्षणों पर एक साथ विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि नव्यन्यायेतर लक्षणों में साध्य और साधन के यथार्थ सम्बन्ध को बताने के लिए हेतु की अव्यभिचारिता पर अधिक बल दिया गया है। दूसरे शब्दों में इनमें व्याप्यत्व को अधिक महत्त्व दिया गया है। जबकि नव्यन्याय में व्याप्य के साथ-साथ व्यापक का भी समान रूप से विश्लेषण किया गया है। अतः कुल मिला-

कर यह कहा जा सकता है कि गंगेश द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त लक्षण को रघुनाथ शिरोमणि द्वारा प्रस्तुत परिष्कार के साथ समझा जाये तो वही व्याप्ति के स्वरूप का सर्वाधिक ग्राह्य विश्लेषण माना जाना चाहिये ।

[ग] व्याप्ति के भेद

(i) अन्वय व्यतिरेक व्याप्ति

गौतम ने यद्यपि अन्वय और व्यतिरेक नाम से व्याप्तियों की चर्चा नहीं की, किन्तु प्रतीत होता है कि साधर्म्य और वैधर्म्य उदाहरणों के द्वारा उन्होंने प्रकारान्तर से अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति का ही प्रयोग किया है । वात्स्यायन द्वारा चर्चित साध्य-साधन भाव तथा साध्याभाव साधनाभाव भी प्रकारान्तर से व्याप्ति का परिचायक है, जिसमें इन भेदों का आभास मिल जाता है । व्याप्ति के इन भेदों को उदयन, जयन्त भट्ट[118] प्रभृति नैयायिकों ने भी स्वीकार किया । नव्यन्याय में भी मुख्यतः व्याप्ति के इन्हीं भेदों का परिष्कार किया गया । केशवमिश्र, अन्नंभट्ट तथा विश्वनाथ तथा बौद्ध नैयायिकों ने भी इस वर्गीकरण को मान्यता दी है । साध्य-साधन के भावात्मक रूप को अन्वय-व्याप्ति तथा उसके अभावात्मक रूप को व्यतिरेकव्याप्ति कहा गया है । साधर्म्यव्याप्ति और वैधर्म्यव्याप्ति के नाम से भी इन्हीं भेदों का उल्लेख किया गया है ।

प्रशस्तपाद द्वारा विधि पद के विवेचन में यही दोनों व्याप्तियाँ अभिप्रेत हैं । व्योमशिवाचार्य तथा श्रीधर की व्याख्याओं में भी यही बात कही गई है ।

व्याप्ति के इन भेदों के स्पष्ट निरूपण का आरम्भ कुमारिल ने किया । कुमारिल भट्ट ने व्याप्ति के इन भेदों का व्याप्य-व्यापक भाव के निर्णय के प्रसंग में विश्लेषण किया । कुमारिल के उत्तरवर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने कुमारिल के मत के अनुरूप ही इनका विवेचन किया । हाँ, प्रभाकर के मतानुयायी शालिक नाथ ने यह विचार प्रकट किया है कि व्यतिरेक व्याप्ति तो अन्वयव्याप्ति के स्वीकार कर लेने पर स्वतः सिद्ध हो जाती है, उसको अलग से एक भेद के रूप में गिनने की कोई आवश्यकता नहीं है । सांख्य में अनुमान के बीत और अबीत भेदों के माध्यम से व्याप्ति के ये दोनों भेद स्वीकार किए गए हैं ।

(ii) सामान्य-विशेष व्याप्ति

दो सामान्य पदार्थों में होने वाली व्याप्ति को सामान्य व्याप्ति और विशेष पदार्थों में होने वाली व्याप्ति को विशेष व्याप्ति कहा जाता है। बौद्धों के मतानुसार व्याप्ति सामान्य विषयों में ही हो सकती है, विशेष विषयों में नहीं। किन्तु नैयायिकों ने बौद्धों के मत का खण्डन करते हुए विशेष पदार्थों में भी व्याप्ति स्वीकार की है।

[iii] समव्याप्ति-विषम व्याप्ति

जब व्याप्य व्यापक के देश और काल की तरह सम-देशकालवृत्ति होता है, तब उसको समव्याप्त तथा उसमें रहने वाली व्याप्ति को सम-व्याप्ति कहा जाता है। इसके विपरीत जब व्याप्य व्यापक के देशकाल की अपेक्षा न्यून देशकालवृत्ति होता है, तब वह विषमव्याप्य तथा उसमें रहने वाली व्याप्ति को विषमव्याप्ति कहा जाता है। व्याप्य गमक तथा व्यापक गम्य होता है। व्यापक व्याप्य में सम और अधिक देखकाल में रह सकता है, व्याप्य नहीं।[114]

[iv] अन्तर्-बहिर्व्याप्ति

जैन नैयायिकों के अनुसार केवल साध्य के साथ साधन की व्याप्ति होना **अन्तर्व्याप्ति** तथा सपक्ष में साध्य के साथ साधन की व्याप्ति होना **बहिर्व्याप्ति** कहलाती है।

जब पक्ष में व्याप्य-व्यापक भाव को नियत रूप से ग्रहण किया जाता है, तो उसे अन्तर्व्याप्ति कहा जाता है। और जहाँ पर सपक्ष में व्याप्ति को ग्रहण किया जाता है, उसे बहिर्व्याप्ति कहते हैं। जहाँ पर पक्ष और सपक्ष दोनों में व्याप्ति गृहीत करके अनुमान किया जाता है, उस व्याप्ति को **साकल्य व्याप्ति** कहा जाता है।

[v] तथोत्पत्ति-अन्यथानुपपत्ति

माणिक्यनन्दि ने परीक्षामुखसूत्र तथा हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा में **तथोत्पत्ति** तथा **अन्यथानुपपत्ति** नाम से व्याप्ति के दो भेदों का उल्लेख किया है।

[vi] सहभाव नियम-क्रमभावनियम

माणिक्यनन्दि ने ही **सहभावनियम** और **क्रमभावनियम** के नाम से भी व्याप्ति के दो भेदों की चर्चा की है।

यद्यपि उपर्युक्त रूप से व्याप्ति के भेद कई प्रकार के बताये गये हैं, किन्तु सामान्यत: अन्वय व्यतिरेक-परक भेद ही अधिक प्रचलित हैं और नैयायिकों ने इनको ही स्वीकार किया है।

[घ] व्याप्तिग्रह की विधियाँ

जैसा कि पहले भी कहा गया है, अनुमान के आधारभूत तत्त्वों में व्याप्ति सर्वप्रमुख है। अत: व्याप्ति क्या है, इस बात के साथ ही इस प्रश्न का समाधान करना भी बड़ा आवश्यक है कि व्याप्ति का ग्रहण कैसे होता है। जिस प्रकार व्याप्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्यों के विभिन्न मत हैं, उसी प्रकार व्याप्ति ग्रहण का प्रश्न भी विवादास्पद रहा है। इस संदर्भ में यह बात ध्यान देने योग्य है कि बौद्धेतर आचार्यों ने अपने मत की प्रस्तुति में जितनी शक्ति लगाई, उससे अधिक उन्होंने बौद्धों के सिद्धांतों का खण्डन करने में लगाई।

व्याप्ति ग्रहण के संदर्भ में कुछ प्रमुख मत निम्नलिखित हैं :

[i] मानव प्रत्यक्ष

गौतम ने व्याप्ति की सीधी चर्चा नहीं की, किन्तु अनुमान को उन्होंने प्रत्यक्ष-पूर्वक माना है। अत: यह भी कहा जा सकता है कि वे प्रत्यक्ष को अनुमान का कारण मानते हैं। वैसे न्यायसूत्र में इस मत का स्पष्ट प्रतिपादन उपलब्ध नहीं होता। मीमांसकों में से सुचरित्र मिश्र और पार्थसारथि मिश्र के ग्रन्थों में इस बात का उल्लेख है कि 'नियम' का ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा होता है। किन्तु वाचस्पति मिश्र ने प्रत्यक्ष को व्याप्तिग्राहक मानने के सिद्धान्त का खण्डन इस आधार पर किया कि प्रत्यक्ष से भूतकालीन और भविष्यत्कालीन वस्तुओं का ज्ञान नहीं किया जा सकता, जबकि व्याप्ति का क्षेत्र तीनों कालों तक विस्तृत है।

कुछ आचार्यों ने मानस प्रत्यक्ष को व्याप्ति ग्राहक माना है किन्तु उनके मत का खण्डन करते हुए श्रीधर और जयन्त भट्ट ने कहा कि मानस प्रत्यक्ष को भी व्याप्ति ग्राहक नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि मन को बाह्य वस्तुओं के ज्ञान में स्वतन्त्र (इन्द्रिय निरपेक्ष) माना जायेगा तो गूंगे, अन्धे भी बाह्य अर्थ का ग्रहण करने लगेंगे।[115] मन इन्द्रियों के बिना बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष, (वस्तु में ही उसकी जाति का भी प्रत्यक्ष होना) को यदि व्याप्ति का आधार मान लिया जाये तो अनुमान की आवश्यकता ही कहाँ रह जाती है? योगज प्रत्यक्ष से भी व्याप्ति का ग्रहण मानना उचित नहीं है,

क्योंकि जो योगी है वह तो योगज प्रत्यक्ष (अलौकिक सन्निकर्ष) से सब वस्तुओं को देख लेगा, उसको अनुमान करने की आवश्यकता नहीं है।[116]

[ii] अन्वय-व्यतिरेक सकृद्दर्शन

इस मत का उल्लेख तो कई आचार्यों ने किया किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस पर अधिक बल प्रभाकर मीमांसकों ने दिया। शालिकनाथ के अनुसार सम्बन्ध नियम का ग्रहण केवल एक बार के इन्द्रिय प्रत्यक्ष से भी हो सकता है।

गंगेश आदि ने इस मत का खण्डन करते हुए यह कहा कि सकृद्दर्शन यानी मात्र अन्वय-व्यतिरेक सहचार से व्याप्ति का निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस तरह तो एक-आध बार ईंट के भट्टे के पास आग और रासम के साथ पाये जाने और पाकशाला आदि में उनके साथ-साथ न पाये जाने पर भी व्याप्ति प्रसक्त हो जायेगी।

भाट्ट मीमांसकों ने सकृद्दर्शन का खण्डन और भूयोदर्शन का समर्थन करते हुये कहा कि दो सामान्यों में सम्बन्ध का निश्चय भी एक बार के प्रत्यक्ष दर्शन से सम्भव नहीं है। सांख्यों ने भी सकृद्दर्शन के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया।[117]

[iii] अन्वय-व्यतिरेक भूयोदर्शन

भाट्ट मीमांसकों के अनुसार दो-चार बार धूम और अग्नि को साथ-साथ देखने और धूम को अग्नि के बिना कभी न देखने से भूयोदर्शन के आधार पर धूम और अग्नि के बीच नियत साहचर्य का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।[118] भाट्ट मीमांसकों का यह भी कथन है कि यद्यपि भूयोदर्शन सीमित क्षेत्र से ही सम्बद्ध है, किन्तु इसके आधार पर अनुमान किया जा सकता है। अतः भाट्ट मीमांसक प्रकारान्तर से व्याप्ति का ग्रहण अनुमान से करते हैं।

नैयायिक इस मत को इस आधार पर अनुपयुक्त मानते हैं कि भूयोदर्शन से उपाधि के अभाव का निश्चय नहीं होता। केशव मिश्र ने मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व के उदाहरणों को औपाधिक बताते हुए भूयोदर्शन के सिद्धान्त का खण्डन किया है।[119] गंगेश का भी यह मत है कि क्रमिक दर्शनों का विनाश शीघ्रता से हो जाता है, अतः सामूहिक रूप से भी वे व्याप्ति के ग्राहक नहीं माने जा सकते। इनके संस्कार से भी व्याप्ति गृहीत नहीं हो सकती, क्योंकि संस्कार तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की सहायता से पूर्व अनुभूत दो वस्तुओं की व्याप्ति की स्मृति में ही कारण माने जा सकते हैं। 'भूयोदर्शन' शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं—

(1) एक ही वस्तु का अनेक बार दर्शन।
(2) अनेक दृष्टान्तों का एक ही बार दर्शन। तथा
(3) साध्य और हेतु के सहचार का अनेक अधिकरणों में दर्शन।

साध्य और हेतु को एक बार देखने पर भी व्याप्ति का ग्रहण हो सकता है, अतः पहला अर्थ अग्राह्य है। इसी प्रकार 'यह रसवान् है, रूपवान् होने से' ऐसे उदाहरणों में साध्य और हेतु को अनेक दृष्टान्तों और अधिकरणों में अनेक-बार साथ-साथ देखकर भी उनमें व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता। रघुनाथ-शिरोमणि, गदाधर भट्टाचार्य, विश्वनाथ तथा अन्नंभट्ट के मतानुसार भी भूयो-दर्शन व्याप्ति का ग्राहक नहीं है।

[iv] तर्क

जैन दार्शनिक तर्क को ही व्याप्ति ग्राहक मानते हैं। अकलंक ने प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से होने वाले सम्भवनात्मक ज्ञान को तर्क कहा है। जैन तार्किकों का यह विचार है कि प्रत्यक्ष का विषय बनने वाले साध्य और साधन ही नहीं अपितु अनुमान और आगम के विषयभूत पदार्थों में भी अन्वय-व्यतिरेक द्वारा अविनाभाव का निश्चय तर्क द्वारा होता है। सांख्याचार्य विज्ञान भिक्षु का भी यह कथन है कि नियम (व्याप्ति) का ग्रहण अनुकूल तर्क से होता है।

इस मत का खण्डन नैयायिकों ने इस आधार पर किया है कि तर्क को व्याप्ति ग्राहक मानने में अनवस्था दोष होगा।

[v] तर्कसहकृत भूयोदर्शन

गौतम, वात्स्यायन और उद्योतकर ने व्याप्ति ग्राहक साधन का कोई स्पष्ट विश्लेषण नहीं किया। किन्तु वाचस्पति मिश्र के मतानुसार व्याप्ति का निश्चय तर्कसहकृत भूयोदर्शन से होता है। उनका कथन है कि प्रत्यक्ष केवल वर्तमान-कालिक पदार्थों से ही सम्बद्ध रहता है। उससे सर्वकालिक व्याप्ति का निश्चय नहीं हो सकता। हेतु और साध्य के स्वाभाविक सम्बन्ध में यदि व्यभिचार की शंका हो तो उसका निवारण तर्क से होता है। उदयन ने शंका रूप प्रतिबन्धक का निवर्तक होने के कारण तर्क को व्याप्तिज्ञान का सहकारी माना है।

किन्तु गंगेश ने इस मत का भी खण्डन करते हुए कहा कि तर्क सहकृत भूयोदर्शन को व्याप्तिग्राहक माना जाए और भूयोदर्शन को प्रयोजन शून्य समझा जाये, यह बात तर्कसंगत नहीं है।

(iv) नियत सहचार दर्शन

भूयोदर्शन में व्यभिचार की और तर्क में अनवस्था की सम्भावना को ध्यान में रखते हुए जयन्त भट्ट ने **'नियमित सहचार'** को ही व्याप्तिग्राहक माना है। यहाँ साध्य के होने पर ही हेतु का सद्भाव और साध्य के अभाव में हेतु का भी अभाव नियमित रूप से पाया जाये, वहाँ व्यभिचार होने की सम्भावना नहीं होती, अतः जयन्त ने भूयोदर्शन, प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, योगि-प्रत्यक्ष आदि को व्याप्ति ग्रहण में कारण न मानते हुये नियमित सहचार को ही व्याप्ति का कारण माना है।[120]

इस मत के सम्बन्ध में भी यह आक्षेप किया जाता है कि भूत और वर्तमान में भले ही धूम का अग्नि के साथ नित्य साहचर्य होने में कोई व्यतिक्रम नहीं है, किन्तु कालान्तर देशान्तर, और भविष्य में भी ऐसा ही होगा इसका क्या विश्वास है ?

[vii] व्यभिचारादर्शन सहकृत सहचार दर्शन

गंगेश का कथन है कि केवल तर्क को कारण मानने पर अनवस्था दोष होगा। इसके अतिरिक्त जिस व्यक्ति को एक बार के सहचार दर्शन से ही व्याप्ति का ज्ञान हो जायेगा, उसके लिये भूयोदर्शन निरर्थक है, चाहे वह तर्क-सहकृत हो चाहे न हो। सामान्यतः तर्क का अवतरण भूयोदर्शन के बिना नहीं होता, इसलिये परम्परा से भूयोदर्शन भी व्याप्ति निश्चय का कारण हो सकता है, किन्तु वह साक्षात् कारण नहीं है। तर्क भी प्रमाणों का अनुग्राहक है। स्वयं प्रमाण नहीं। अतः गंगेश का कथन है कि **व्यभिचार ज्ञान के अभाव से युक्त सहचार दर्शन ही व्याप्ति का ग्राहक है**।[121] विश्वनाथ और अन्नंभट्ट ने भी गंगेश के मत का अनुगमन किया है।

धर्मराजाध्वरीन्द्र का भी यह कथन है कि व्यभिचारदर्शनरहित सहचार दर्शन से व्याप्ति का ग्रहण होता है, सहचार दर्शन चाहे बार-बार किया गया हो, चाहे एक बार।[122]

(viii) अर्थापत्ति

अर्थापत्ति को व्याप्तिग्राहक मानने के सिद्धान्त का प्रवर्तक सम्भवतः उम्बेक ने किया। इस सिद्धान्त के अनुसार, "यदि नियत सम्बन्ध नहीं होता तो किसी देश अथवा काल में धूम अग्नि के बिना भी देखा जा सकता था। ऐसा नहीं होता। अतः सम्बन्ध नियम को अर्थापत्ति गम्य मानना चाहिये।"[123]

पार्थसारथिमिश्र और शालिकनाथ मिश्र ने उम्बेक के इस मत को इस आधार पर अनुपयुक्त माना है कि सैकड़ों बार यह देखने पर भी कि अग्नि के अधिकरण में ही धूम रहता है, यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में भी ऐसा ही होगा।[124]

(xi) तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति सिद्धान्त

बौद्ध व्याप्ति को अनुमान का आधार मानते हैं, किन्तु जहाँ बौद्धेत्तर नैयायिक इस संदर्भ में वर्तमान के अतिरिक्त भूत और भविष्यत् के उदाहरणों पर विचार करना आवश्यक समझते हैं, वहाँ बौद्धों के मतानुसार व्याप्ति का ग्रहण भूत वर्तमान और भविष्य के सभी उदाहरणों पर विचार किये बिना भी हो सकता है।

धर्मकीर्ति के अनुसार किसी हेतु की किसी साध्य के साथ व्याप्ति है, इसके ज्ञान के लिये साध्य और साधन के 'स्वभाव-प्रतिबन्ध' का ज्ञान होना चाहिये।[125] स्वभाव प्रतिबन्ध दो प्रकार का होता है—तादात्म्यलक्षण और तदुत्पत्तिलक्षण। बौद्धों के मतानुसार इन दो सम्बन्धों के द्वारा हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति का ग्रहण किया जाता है। धर्मकीर्ति का स्पष्ट कथन है कि हेतु के सपक्ष में दर्शन और विपक्ष के अदर्शन मात्र से व्याप्ति की सिद्धि नहीं हो सकती। व्याप्ति का निश्चय तो हेतु और साध्य के बीच वर्तमान अविनाभाव सम्बन्ध से होता है।[126] सपक्ष में दर्शन और विपक्ष में अदर्शन तो व्यभिचारी हेतु में भी हो सकता है।

बौद्धों के अनुसार हेतु तीन प्रकार के होते हैं—स्वभावहेतु, कार्यहेतु और अनुपलब्धि हेतु। किसी कार्य से उसके कारण का अनुमान हो सकता है किन्तु किसी कारण से उसके कार्य का अनुमान नहीं हो सकता। अत: बौद्धों ने कारण हेतु की चर्चा नहीं की।

कार्यहेतु और अनुपलब्धि हेतु पर तदुत्पत्ति सिद्धान्त आधारित हैं। अत: तदुत्पत्ति सिद्धान्त पर आधारित व्याप्ति कारण और कार्य के सम्बन्ध के ज्ञान पर निर्भर है, जिसके लिये बौद्धों ने पंचकारणी विधि का प्रवर्तन किया है।

पंचकारणी विधि

किन्हीं दो वस्तुओं के बीच कार्यकारण सिद्धान्त है या नहीं, इसका निर्णय करने के लिए बौद्ध जिस पंचकारिणी विधि का प्रयोग करते हैं, उसके निम्नलिखित पाँच सोपान हैं—

(1) कार्य की उत्पत्ति से पहले कारण का अदर्शन,

(2) कारण का दर्शन,

(3) कार्य का दर्शन,
(4) कारण का अदर्शन,
(5) कार्य का अदर्शन।

इसके उदाहरण निम्नलिखित प्रकार से दिये जा सकते हैं :—

1. न मच्छड़ है और न मलेरिया,
2. मच्छड़ की उत्पत्ति,
3. मलेरिया की उत्पत्ति,
4. मच्छड़ का नाश,
5. मलेरिया का भी नाश।

कार्यकारण सिद्धान्त का खण्डन—कार्य-कारण सम्बन्ध दो वस्तुओं पर निर्भर करता है। बौद्ध क्षणभंगवादी हैं। अतः यह प्रश्न उठता है कि बौद्ध इस कार्य-कारण सम्बन्ध को दो क्षणिक वस्तुओं के बीच मानते हैं या दो क्षणिक धाराओं के बीच ? दोनों ही विकल्प इस सिद्धान्त की पुष्टि नहीं करते, क्योंकि पहला तो सम्भव ही नहीं है और दूसरा भी एकदम काल्पनिक है।

बौद्धों का यह कथन भी गलत है कि कणादि ने भी कारण का अनुमान कार्य से करने की बात कही है। वस्तुतः कणाद ने तो यह कहा है कि कारण और कार्य में विद्यमान सम्बन्ध अनुमान का आधार है। कार्य कारण के अतिरिक्त और भी हेतु हैं।[127]

तादात्म्य सिद्धान्त

तादात्म्य का अर्थ है—दो वस्तुओं में उनके **सारगुण की एकता**, जैसे मनुष्य और जीव में जीवत्व। धर्मोत्तर का कथन है कि जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु की आत्मस्वरूप होती है, वह उसके बिना नहीं रह सकती। इसीलिये तादात्म्य सम्बन्ध को अविनाभाव का नियामक कहा गया है। उदाहरणतया शिशपा और वृक्ष में तादात्म्य सम्बन्ध है, क्योंकि शिशपात्व का वृक्ष के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नहीं है। साधन, शिशपात्व साध्यस्वभाव है, अतः उनको स्वभाव-प्रतिबद्ध कहा जाता है।

तादात्म्य सिद्धान्त का खण्डन—साध्य के धर्म को ही साधन का स्वभाव मान लेने पर, उनमें अभेद भी मानना होगा और ऐसा मान लिया गया तो (हेतु, प्रतिज्ञा का एक देश ही हो जायेगा) फिर अनुमान का अवसर ही कहाँ रहेगा?

इस आशंका के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जहाँ दो वस्तुओं में अत्यन्त अभेद पाया जाता है (जैसे यह घट है कलश होने से), वहाँ और जिन वस्तुओं में अत्यन्त भेद पाया जाता है (जैसे यह गाय है, अश्व होने से), उनमें तादात्म्य सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु ऐसे ही पदार्थों में तादात्म्य सम्बन्ध होता है, जिनका अधिकरण एक है।

उपर्युक्त आक्षेप को ही प्रकारान्तर से प्रस्तुत करते हुए जयन्त भट्ट ने यह कहा कि तादात्म्य को अविनाभाव का आधार मानने पर गम्य-गमक भाव नहीं बन सकता, क्योंकि यदि लिंग और लिंगी में अभेद मान लिया जाए तो लिंग के ग्रहण के साथ ही लिंगी का भी ग्रहण हो जाना चाहिए।[128]

बौद्धों का यह कथन है कि प्रत्येक वस्तु का अपना स्वभाव होता है, जिससे उसको पृथक् नहीं किया जा सकता। इसलिए साध्य के अभावीय उदाहरणों में भी हेतु और साध्य का तादात्म्य दिखाई देता है। किन्तु तादात्म्य उन्हीं पदार्थों में हो सकता है, जिनका एक साथ दर्शन हो। यदि धूम और अग्नि का एक साथ ही दर्शन हो जाए तो अनुमान की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? और यदि उनके एक साथ दर्शन नहीं होते तो फिर उनमें तादात्म्य कैसे रह सकता है?[129]

यदि हेतु और साध्य का तादात्म्य माना जाए. तो दोनों में से किसी भी एक से दूसरे का अनुमान हो जाए। जबकि तथ्य यह है कि धूम से अग्नि का अनुमान हो सकता है, किन्तु अग्नि से धूम का अनुमान नहीं हो सकता। बौद्ध इस आपत्ति के निराकरण के लिए यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि तादात्म्य का अर्थ प्रतिबन्ध है न कि सम्बन्ध।[130] प्रतिबन्ध का अर्थ है—एक का दूसरे पर निर्भर होना, जबकि सम्बन्ध में दोनों वस्तुएँ समान होती हैं। किन्तु जयन्त के अनुसार तादात्म्य का ऐसा अर्थ लगाना ठीक नहीं है। वे यह भी कहते हैं कि कई बार कारण दिखाई नहीं देता, और कार्य दिखाई देता है। अत: हेतु और साध्य का तादात्म्य किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। बौद्धों के अनुसार, **'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्'** इस उदाहरण में अनित्यत्व और कृतकत्व में तादात्म्य सम्बन्ध है, किन्तु जयन्त के अनुसार यद्यपि प्रत्येक कार्य नाशवान् है परन्तु 'कार्य' स्वयं में 'नाश' तो नहीं है। इसके साथ ही जब किसी वस्तु का नाश हो जाता है, तो वह वस्तु तो दिखाई नहीं देती फिर उस वस्तु और उसके नाश में तादात्म्य कैसे हो सकता है?[131]

धर्मकीर्ति के इस कथन का कि विपरीत वस्तु के आरोप की व्यावृत्ति के लिए अनुमान किया जाता है —उत्तर देने हेतु जयन्त यह कहते हैं कि वृक्षत्व और शिंशपात्व में अभेद होने से शिंशपात्व के ग्रहण से वृक्षेतर वस्तु के समारोप का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।[132]

बौद्धों के तादात्म्य और तदुत्पत्ति सिद्धान्तों का प्रायः सभी बौद्धेत्तर आचार्यों ने खण्डन किया है।

उपर्युक्त विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत किया जाए तो कहा जा सकता है कि—गौतम ने साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्तों की व्याख्या में, वात्स्यायन ने साध्य-साधनभाव तथा साध्याभाव साधनाभाव के निरूपण में, तथा प्रशस्तपाद ने विधि के विश्लेषण में जो कुछ कहा, उससे यही आशय निकलता है कि वे व्याप्ति में अन्वय और व्यतिरेक सहचार आवश्यक मानते हैं। इसी बात को उत्तरवर्ती आचार्यों ने विशेषण जोड़ कर निर्दोष बनाने का प्रयत्न किया। विभिन्न आचार्यों के मतों का सार इस प्रकार हैं :

(1) कुमारिल —भूयोदर्शन
(2) वाचस्पति मिश्र —तर्कसहकृत भूयोदर्शन
(3) जयन्त भट्ट —नियत सहचार,
(4) प्रभाकर —सकृद् सहचार,
(5) श्रीधर —उपाधिविहीन भूयोदर्शन,
(6) जैन —तर्क
(7) उम्बेक —अर्थापत्ति
(8) गंगेश —व्यभिचारादर्शनसहकृत सहचारदर्शन
(9) धर्मराजाध्वरीन्द्र —व्यभिचारादर्शन सहकृत सहचारदर्शन
(10) प्रकरणग्रन्थकार —व्यभिचारादर्शन सहकृत सहचारदर्शन
(11) बौद्ध —तादात्म्य, तदुत्पत्ति।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, इन सब मतों में से पूर्वोक्त कारणों के आधार पर, गंगेश का यह मत ही समीचीन प्रतीत होता है कि व्यभिचारा-दर्शन सहचार दर्शन से ही व्याप्ति का ग्रहण होता है।

5. अनुमति का करण

अनुमति के करण को अनुमान कहा जाता है। अतः करण किसको कहते हैं और अनुमान का करण कौन होता है, इस सम्बन्ध में भी न्याय के ग्रंथों में गम्भीर चर्चा की गई है। करण की दो परिभाषाएँ उपलब्ध होती हैं :

(1) **व्यापारवद् असाधारणं कारणं करणम्** और
(2) **फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम् ।**

'करण' किसको माना जाए, इस सम्बन्ध में उद्योतकर ने तीन विकल्प बताये हैं :

(1) लिगलिगि-सम्बन्धज्ञान (2) अनुग्राह्यमान-लिग ज्ञान और (3) लिग-परामर्श ।

उद्योतकर का मत है कि इन तीनों विकल्पों में 'लिगपरामर्श' को ही अनुमिति का करण मानना उपयुक्त है, क्योंकि यह ही अनुमिति का अव्यवहित पूर्ववर्ती है, जबकि प्रथम दो विकल्पों और अनुमिति के बीच में व्यवधान है ।[133] किन्तु इससे पहले कि इस अन्तिम विकल्प का विश्लेषण किया जाए, यह उचित होगा कि इस संदर्भ में अन्य दो विकल्पों की भी संक्षिप्त समीक्षा कर ली जाए ।

(i) 'लिंगज्ञान' की करणता

इस मत के प्रवर्तक वैशेषिक हैं । इसीलिए वे अनुमिति को 'लैंगिक' कहते हैं ।[134] उनके मतानुसार 'व्यापारयुक्त असासारण कारण को ही करण' कहा जाता है । प्रस्तुत संदर्भ में उनके मतानुसार परामर्श ही व्यापार है । अत: उससे युक्त लिगज्ञान ही अनुमिति का करण है ।[135]

नैयायिकों ने इस मत का निरसन इस आधार पर किया है कि यदि केवल लिंगज्ञान से ही अनुमिति हो जाती तो भूत भविष्यत् काल के लिंग ज्ञान से भी अनुमिति होनी चाहिए, जैसा कि नहीं होता । पक्ष के धर्म के रूप में ज्ञात होने पर ही कोई लिंग अनुमिति का करण हो सकता है । यदि उसकी पक्षधर्मता की जांच करने के बाद ही उसको करण मानना हो तो यह परामर्श ही हुआ । अत: लिंगज्ञान को करण नहीं माना जा सकता ।

इसके साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि यदि किसी व्यक्ति ने पाकशाला आदि में हेतु और साध्य के अविनाभाव सम्बन्ध का ग्रहण पहले कभी नहीं किया तो वह पर्वत पर धूम को देख कर भी 'पर्वत पर आग है'—ऐसा अनुमान नहीं कर सकता । अत: लिंग ज्ञान को अनुमिति का करण नहीं माना जा सकता ।

(ii) व्याप्तिज्ञान की करणता

विश्वनाथ के अनुसार अनुमिति का करण व्याप्तिज्ञान है । उनके विचार में परामर्श व्यापार है ।[136] विश्वनाथ के इस कथन के आधार पर यह कहा

जा सकता है कि वे करण की परिभाषा में कार्य से 'अव्यवहित पूर्ववर्तिता' को मान्यता नहीं देते। उन्होंने वैसे स्पष्ट ही यह कहा कि "व्यापारयुक्त असाधारण कारण ही करण है।" इस दृष्टि से वे परामर्श को करण नहीं मानते। क्योंकि वह अपने आप में एक व्यापार है और एक व्यापार में दूसरा व्यापार नहीं हो सकता।

उपर्युक्त मत के विपक्ष में यह कहा जा सकता है कि परामर्श असाधारण कारण है और संस्कार उसका व्यापार है। इसका एक अन्य समाधान यह भी है कि करण होने के लिए परामर्श का व्यापारयुक्त होना आवश्यक नहीं है। 'कार्य का अव्यवहित पूर्ववर्ती कारण ही करण कहलाता है।'

धर्मराजाध्वरीन्द्र का कथन है कि व्याप्तिज्ञान अनुमिति का करण है और संस्कार उसका अवान्तर व्यापार है।[137] जबकि मीमांसकों ने व्याप्तिज्ञान को करण और व्याप्तिस्मरण को उसका व्यापार माना है। विश्वनाथ के मतानुसार व्याप्तिज्ञान करण है और परामर्श उनका व्यापार।

[iii] लिंगपरामर्श की करणता

नैयायिकों के अनुसार अनुमान मुख्यत: जिन दो बातों पर निर्भर है, वे हैं पक्षधर्मता (जैसे पर्वत पर धुआँ है) और व्याप्ति (जैसे जहाँ-जहाँ धुआ रहता है, वहाँ आग रहती है), नैयायिकों के अनुसार 'पर्वत पर धुआँ है'—यह एक साधारण ज्ञान है, परन्तु 'पर्वत पर अग्निसूचक धुआँ है'—यह एक विशिष्ट ज्ञान है। इसी को परामर्श कहते हैं। केशवमिश्र आदि कुछ आचार्यों के कथनानुसार यह तृतीय लिंग परामर्श है। और यही अनुमिति का करण है।

(1) पर्वत पर धुआँ है—यह प्रथम लिंग परामर्श है, यहाँ लिंग का सम्बन्ध पक्ष के साथ है। जितनी बार के देखने से हेतु और साध्य की व्याप्ति का ग्रहण हो सके, वह हेतु का प्रथम ज्ञान कहलाता है।

(2) धुआँ आग का व्याप्य है—यह द्वितीय लिंग परामर्श है। यहाँ लिंग का सम्बन्ध साध्य के साथ है। व्याप्ति के निश्चय के अनन्तर पक्ष में हेतु का जो दर्शन होता है, वह हेतु का द्वितीय ज्ञान है।

(3) पर्वत पर अग्निव्याप्त धुआँ है—यह तृतीय लिंग परामर्श है, यहाँ लिंग का सम्बन्ध पक्ष और साध्य दोनों से है। इसमें साध्ययुक्त लिंग का सम्बन्ध पक्ष के साथ देखा जाता है।[138]

हेतु और साध्य की व्याप्ति का स्मरण होने के बाद हेतु जो **'वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वत'** यह ज्ञान होता है वही लिंगपरामर्श है। परामर्श का सामान्य अर्थ है—ज्ञान। अतः लिंगपरामर्श का अर्थ हुआ—साध्य की व्याप्ति से विशिष्टहेतु का पक्ष में विद्यमान रहने का ज्ञान।

गंगेश ने भी लिंगपरामर्श को ही करण माना है। उनका कथन है कि संस्कार परामर्श का व्यापार नहीं है। क्योंकि संस्कारोत्पत्ति काल में ही अनुमिति हो जाती है।

व्याप्ति ज्ञान की करणता का खण्डन करते हुये गंगेश कहते हैं कि—व्याप्ति-ज्ञान करण होते हुये भी चरम करण नहीं, क्योंकि फलोत्पत्ति रूप अनुमिति का वह अव्यवहित पूर्ववर्ती नहीं है। बीच में परामर्श का व्यवधान है।[139] कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त दो अन्य विकल्पों की अपेक्षा लिंगपरामर्श को ही अनुमिति का करण मानना अधिक उपयुक्त है।

अनुमिति की उत्पत्ति नैयायिक परामर्श से मानते हैं, परन्तु जैसा कि पहले भी कहा गया है, मीमांसा और वेदान्त में इसको स्वीकार नहीं किया गया। वे व्याप्तिज्ञान और पक्षधर्मताज्ञान को ही अनुमिति की उत्पत्ति का करण मानते हुये परामर्श को अनावश्यक समझते हैं। उनके मतानुसार व्याप्ति के ज्ञान के द्वारा लिंग और लिंगी का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तथा पक्षधर्मता से लिंग और पक्ष के सम्बन्ध का स्थापन हो जाता है। फलस्वरूप जब पक्ष और लिंगी का सम्बन्ध स्वतः स्थापित हो जाता है, तो 'लिंग परामर्श' का कुछ काम ही शेष नहीं रहता, फिर उसकी आवश्यकता क्या है? दूसरे शब्दों में कहा जाये तो इस संदर्भ में यह प्रश्न उठता है कि परामर्श ज्ञान की अपेक्षा (1) व्याप्तिस्मरण और (2) पक्ष धर्मता ज्ञान को ही करण क्यों न मान लिया जाये? इसका समाधान नैयायिकों के द्वारा इस प्रकार किया जाता है कि ये अलग-अलग रह कर तो करण नहीं हो सकते और इनको यदि समष्टि रूप से ही करण माना जाना है तो फिर दो करण मानने की अपेक्षा उनके संयुक्त रूप लिंगपरामर्श को एकमात्र करण मानने में ही लाघव है। परार्थानुमान में उपनय द्वारा परामर्श होने के अनन्तर ही अनुमिति होती है अतः वहाँ तो यह अनिवार्य ही है। अतः स्वार्थानुमान के लिए भी कोई दूसरा करण मानने में गौरव होगा।

पाश्चात्य तार्किक परामर्श की अवस्थिति को स्वीकार नहीं करते। पाश्चात्य दर्शनों में हेतु और साध्य का उल्लेख तो किया जाता है, किन्तु उनके पारस्परिक

सम्बन्ध के ज्ञान के लिए लक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है। न्यायशास्त्र में इस सम्बन्ध को भी व्याप्य-व्यापक मात्र के रूप में स्पष्ट किया गया है। व्याप्य-व्यापक भाव का निश्चय साहचर्य-दर्शन से होता है। ऐसे नियमित साहचर्य का नाम ही व्याप्ति है और नैयायिकों के अनुसार व्याप्तिविशिष्ट हेतु के पक्ष में रहने का ज्ञान ही परामर्श है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र के अनुसार लिंग (मिडिल टर्म) का कार्य है—पक्ष और साध्य के बीच में पड़कर दोनों को मिला देना। दोनों के मिलने के बाद मिलानेवाले की उपस्थिति आवश्यक नहीं होती। यही कारण है कि पाश्चात्य न्याय वाक्य के निगमन में लिंग का अभाव रहता है। उसमें लिंग पक्ष और साध्य एक साथ नहीं रहते।

इस संदर्भ में न्यायशास्त्र और पाश्चात्य तर्कशास्त्र में एक और भी अन्तर है। वह यह कि पाश्चात्य न्यायपद्धति में पहले हेतु और साध्य की व्याप्ति बताई जाती है और तदन्तर उस हेतु जो पक्ष में बतलाया जाता है। इनके विपरीत भारतीय न्याय में पहले हेतु की अवस्थिति पक्ष में बतायी जाती है और बाद में हेतु और साध्य की व्याप्ति का उल्लेख किया जाता है। इसका सीधा सा अर्थ यह हुआ कि अरस्तू प्रभृति पाश्चात्य तार्किक पहले व्याप्ति और बाद में पक्ष-धर्मता को बताते हैं, जबकि न्याय में पहले पक्षधर्मता का और बाद में व्याप्ति का उल्लेख किया जाता है। दूसरे शब्दों में पाश्चात्य न्यायपद्धति के अनुसार परामर्श—पक्षधर्मताविशिष्ट व्याप्तिज्ञान है, जबकि भारतीय न्यायशास्त्र के अनुसार परामर्श व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान हैं।

6. अनुमिति का मनोवैज्ञानिक आधार : पक्षधर्मता

अनुमान के दो मुख्य आधार हैं—(1) व्याप्ति और (2) पक्षधर्मता। व्याप्ति ज्ञान द्वारा साध्य और साधन की नियत सम्बद्धता का सामान्य बोध होता है। उदाहरणतया, ऐसा सामान्य ज्ञान होता है कि 'जहाँ-जहाँ साधन (धूम) रहता है, वहाँ-वहाँ साध्य (अग्नि) भी रहती है। या जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं रहती वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं रहता।' किन्तु जब तक प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा यह ज्ञान नहीं हो जाता कि 'पर्वत पर धुआँ उठ रहा है,' तब तक साधन धूम द्वारा साध्य अग्नि का पर्वत पर अनुमान नहीं हो सकता।

साध्य (अग्नि) की पक्षधर्मता हेतु (धूम) की पक्षधर्मता के आधार पर सिद्ध होती है। अतः यह कहा जा सकता है कि व्याप्ति ज्ञान द्वारा साध्य सामान्य का निश्चय होता है, जबकि पक्षधर्मता द्वारा साध्यविशेष (साध्य के पक्षधर्मता रूप

विशेष) की सिद्धि की जाती है। अतः पक्षधर्मता का अर्थ है—'पक्ष में व्याप्ति विशिष्ट हेतु का रहना।' कतिपय विद्वानों ने यह ठीक ही कहा है कि व्याप्ति-ज्ञान अनुमान का तार्किक आधार है, जबकि पक्षधर्मता ज्ञान उसका मनोवैज्ञानिक आधार है। अधिकतर नैयायिकों ने व्याप्तिज्ञान और पक्षधर्मता ज्ञान (अर्थात् व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान) को परामर्श कहा है।

जिन दार्शनिकों ने लिंगपरामर्श को अनुमिति का करण नहीं माना, उन्होंने भी पक्ष (पर्वत) में हेतु (धूम) की वृत्तिता दिखाने के लिए पक्षधर्मता के ज्ञान को आवश्यक बताया है।[140]

यह ज्ञातव्य है कि जैन दार्शनिकों ने 'पक्षधर्मता को स्वीकार नहीं किया है। जैनों का यह कथन है कि केवल अविनाभाव के आधार पर ही हेतु द्वारा साध्य का निश्चय हो जाता है, उसके लिए पक्षधर्मता की मानने की आवश्यकता नहीं है। खण्डनखण्ड खाद्य और तत्त्वप्रदीपिका में भी पक्षधर्मता का खण्डन किया गया है।

7. अनुमिति का प्रतिबन्धक : उपाधि

नैयायिकों ने 'साध्य' के साथ 'साधन' के 'स्वाभाविक सम्बन्ध' को व्याप्ति कहा है और 'स्वाभाविक' का अर्थ बताया है—'उपाधि' में रहित सम्बन्ध[141]। वाचस्पति मिश्र का कथन है कि प्रयत्नपूर्वक खोज करने पर भी जिस 'सम्बन्ध' में 'उपाधि' का अस्तित्व न दिखाई दे, वही स्वाभाविक सम्बन्ध कहलाता है।[142] उदयनाचार्य ने भी 'स्वाभाविक' का अर्थ 'अनौपाधिक' बताया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि साध्य-साधन या गम्य-गमक रूप से अभिमत दो वस्तुओं में नियत सम्बन्ध का कारण अनौपाधिकता है।[143] और अनियत सम्बन्ध का कारण है औपाधिकता।

[i] उपाधि का अर्थ

समीपवर्ती वस्तु में जो अपने रूप को आरोपित करे, उसको उपाधि कहा जाता है।[144] उदाहरण के रूप में यदि स्फटिकमणि के समीप जवाकुसुम को रख दिया जाए, तो जपाकुसुम की लालिमा स्फटिकमणि पर आरोपित हो जाती है, अतः स्फटिकमणि की लालिमा औपाधिक है (स्वाभाविक नहीं)। इसी प्रकार वह्नि से धूम का अनुमान करने में आर्द्रेन्धन संयोग उपाधि है, जिससे कि वह्नि (हेतु) धूम (साध्य) का गमक नहीं बन सकता। उदयनाचार्य के शब्दों में

आर्द्रेन्धनसंयोग साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक होने के कारण उपाधि है।[145] गंगेश के अनुसार जो साध्यत्व रूप में अभिमत की व्यापक और साधनत्व रूप से अभिमत की अव्यापक हो, वही उपाधि है।[146]

केशव मिश्र ने यह स्पष्ट किया है कि उपाधि का अर्थ है—प्रयोजक या निमित्त।[147] साधन (जैसे धूम) और साध्य (जैसे अग्नि) में व्याप्ति के निश्चय के लिए उनका भूयः सहचार दर्शन ही पर्याप्त नहीं है। व्याप्ति निश्चय के लिए यह जानना भी आवश्यक है कि साधन और साध्य का सम्बन्ध स्वाभाविक है या औपाधिक। यदि औपाधिक है तो व्याप्ति नहीं हो सकती। यानी भूयो दर्शन के साथ ही वहाँ उपाधि के अभाव का निश्चय भी होना चाहिए। उदाहरणतया मैत्री के चार पुत्रों को श्याम वर्ण देखकर यदि कोई अनुमान करे कि उसका पाँचवाँ पुत्र भी श्याम वर्ण है, अर्थात् ऐसी व्याप्ति बनाये कि **'यत्र-यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र-तत्र श्यामत्वम्'** तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ भूयो दर्शन होने पर भी उपाधि के अभाव का निश्चय नहीं हुआ है। जैसा कि ऊपर भी कहा गया है—उपाधि का अर्थ है—प्रयोजक या निमित्त। प्रस्तुत संदर्भ में 'श्यामत्व' का हेतु मैत्रीतनयत्व नहीं, अपितु प्रथम चार पुत्रों के गर्भधारण के समय मैत्री द्वारा हरे शाकादि का ग्रहण है। इस प्रकार शाकाद्यन्नपरिणति ही श्यामत्व में प्रयोजक है, मैत्री तनयत्व नहीं। अतः भूयः सहचार दर्शन होने पर भी, उपाधि (अन्य प्रयोजक) के अस्तित्व के कारण 'यत्र-यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र-तत्र श्यामत्वम्' ऐसी व्याप्ति नहीं हो सकती। उपाधि से युक्त हेतु व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभास कहलाता है।[148] उपाधियाँ साध्य के समानाधिकरण में रहती हैं।

[ii] उपाधि-निरूपण का उद्देश्य

उदयनाचार्य, गंगेश प्रभृति का कथन है कि यदि किसी अनुमान में उपाधि का सद्भाव है तो इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हेतु सव्यभिचारी है। क्योंकि जो साध्य के व्यापक का व्यभिचारी होता है, वह साध्य का व्यभिचारी अवश्य होता है। यानी उपाधि के उपलब्ध होने से अनुमान दूषित समझा जाता है और उसके न मिलने पर अनुमान निर्दोष माना जाता है। अतः अनुमान के संदर्भ में उपाधि का विचार भी आवश्यक है। जैसे कि पहले भी कहा गया है, वाचस्पति मिश्र का विचार है कि उपाधि का अन्वेषण किया जाना चाहिए। उदयन का विचार है कि उपाधियाँ दो प्रकार की होती हैं—(1) प्रत्यक्ष गम्य और (2) अन्य प्रमाणगम्य। माधव ने भी दो प्रकार की उपाधियों का उल्लेख किया (1) निश्चित और (2) शंकित। प्रत्यक्ष गम्य उपाधियों का निराकरण योग्यानुपलब्धि से होता

है, और प्रमाणान्तर गम्य व्यापक-अव्यापक नित्य अनित्य सम्भाव्य उपाधियों का निरसन परीक्षा अर्थात् सर्वशंकानिवर्तक तर्क से किया जाता है।[149] वर्धमानोपाध्याय ने यह शंका उठाई कि प्रत्यक्षगम्य उपाधियों के अभाव का निश्चय होने पर भी अतीन्द्रिय या शंकित उपाधियों के अभाव का निश्चय कैसे होगा? उदयन ने तो इस संदर्भ में यह कहा था कि विपक्ष बाधक तर्क से इस प्रकार की उपाधियों के अभाव का निश्चय हो जाता है।[150] किन्तु केशव मिश्र का यह विचार है कि अतीन्द्रिय उपाधियों की आशंका ही नहीं हो सकती, क्योंकि अतीन्द्रिय होने के कारण वे उपाधि ढूंढ़ने वाले को ज्ञात नहीं हो सकती, और जब वे ज्ञात ही नहीं होतीं तो शंका कैसे की जा सकती है?[151] जहाँ उपाधि होती है वहाँ वह उपलब्ध होती है, जैसे—अग्नि का धूम के साथ जो सम्बन्ध है, उसमें आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है। हिंसात्व का अधर्म साधनत्व के साथ जो सम्बन्ध है, उसमें निषेधत्व उपाधि है तथा मैत्रीतनयत्व का श्यामत्व के साथ जो सम्बन्ध है, उसमें शाकादि 'खाद्य का परिपाक विशेष उपाधि है'। सारांश यह है कि उपाधि के अभाव के निश्चय से व्यभिचार के अभाव का निश्चय होता है और व्यभिचार के अभाव के निश्चय से व्याप्ति का निश्चय होता है।

8. हेतु और उसके प्रकार

(क) हेतु की परिभाषा

अनुमान वाक्य का मुख्य आधार हेतु होता है। अतः उसकी महत्ता स्वतः स्पष्ट है। हेतु की महत्ता के सम्बन्ध में ऐकमत्य होने पर भी उसके स्वरूप के विवेचन और भेदों के निरूपण में विभिन्न दर्शनों में विभिन्न मत पाये जाते हैं।

गौतम ने उदाहरण के सादृश्य के आधार पर साध्य के प्रतिपादक वाक्य को साधर्म्य हेतु और उदाहरण के वैसादृश्य से साध्य के प्रतिपादक वाक्य को वैधर्म्य हेतु कहा है।[152] इसकी व्याख्या करते हुए वात्स्ययान कहते हैं कि पक्ष में साध्य धर्म को जानकर तथा उदाहरण में उसी धर्म को देखकर प्रतिज्ञा की सिद्धि करनेवाले वचन को हेतु कहते हैं। जैसे—शब्द अनित्य है, उत्पत्तिधर्मक होने से, यथा घट। इस अनुमान में 'उत्पत्ति धर्मक होने से' यह वचन अनित्यत्व धर्म का प्रतिपादक होने से साधर्म्य हेतु कहलाता है। क्योंकि यह भी घट आदि दृष्टान्तों में रहने वाले अनित्यत्व धर्म के समान ही शब्दरूप पक्ष में रहने वाले अनित्यत्व धर्म का प्रतिपादक है। अतः यह साधर्म्य हेतु है। जिस प्रकार उदाहरण की समानधर्मता के आधार पर हेतु साध्य की सिद्धि करता है, उसी प्रकार उदाहरण

के वैधर्म्य के आधार पर भी हेतु साध्य की सिद्धि कर देता है। जैसे—शब्द अनित्य है, उत्पत्तिधर्मक होने के कारण। जो नित्य होता है, वह उत्पत्तिधर्मक नहीं होता, यथा आत्मा। ज्ञातव्य है कि यहाँ पर दृष्टान्त आत्मा में रहने वाले नित्यत्व रूप धर्म से वैधर्म्य अनित्यत्व रूप साध्य की सिद्धि की गई है। अतः यहाँ आत्मा के उदाहरण के कारण यह उत्पत्तिधर्मकता वाला हेतु वैधर्म्य हेतु कहलायेगा।

तात्पर्य यह है कि एक ही हेतु दृष्टान्त के साधर्म्य (यथा शब्द के अनित्यत्व के संदर्भ में घट) द्वारा साध्य का साधक होने से साधर्म्य हेतु और दृष्टान्त के वैधर्म्य (यथा शब्द के अनित्यत्व के संदर्भ में आत्मा) द्वारा साध्य का अनुमापक होने के कारण वैधर्म्य हेतु कहलाता है।

भाष्यकार के वैधर्म्य हेतु से सम्बद्ध उपर्युक्त कथन पर उद्योतकर ने यह आक्षेप किया है कि मात्र उदाहरण-भेद से हेतु भेद नहीं माना जा सकता। भाष्यकार द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों में प्रयोग भेद है, अर्थ भेद नहीं। घट और आत्मा के साथ एक ही हेतु का प्रयोग हुआ है। इसलिए उद्योतकर का विचार है कि वीत और अवीत रूप से हेतु के दो भेद माने जाने चाहिए। वीत हेतु द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञापन होता है और अवीत हेतु द्वारा परपक्ष का निरसन किया जाता है। अवीत हेतु का उदाहरण होगा—'जीवित शरीर आत्माविहीन नहीं है; अप्राणादियुक्त न होने से। जो प्राण आदि से युक्त नहीं होते वे आत्माविहीन होते हैं और जो प्राणादिविशिष्ट होते हैं, वे आत्माहीन नहीं होते। वाचस्पति मिश्र का भी यही कथन है कि वैधर्म्य मात्र से हेतु में गमकता नहीं आती, उसके लिए हेतु में व्यभिचारशून्यता आवश्यक है।[153]

गंगेश ने हेतु की परिभाषा इस प्रकार दी है—'अनुमिति के कारणीभूत लिंगपरामर्श के प्रयोजक प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्यों से उत्पन्न होनेवाले शब्दबोध के जनक साध्य-अविषयक शाब्दबोध के कारण हेतु के उत्तरकालीन विभक्तिवाले शब्द को हेतुवाक्य तथा शब्दत्व को हेतुत्व कहा जाता है।'[154]

[ख] हेतुरूपों की परम्पराएँ

(1) **एकलक्षणपरम्परा**—जैन तार्किकों ने हेतु का स्वरूप एक लक्षण बताया और वह है—अन्यथानुपपत्तिरूप।

(2) **द्विलक्षणपरम्परा**—अक्षपाद गौतम और वात्स्यायन ने साधर्म्य और वैधर्म्य नाम से हेतु के दो रूप माने हैं।

(3) **त्रिलक्षण परम्परा**—त्रिलक्षण परम्परा के बीज भी न्याय सूत्र और न्यायाभाष्य में उपलब्ध हो जाते हैं, किन्तु इसका स्पष्ट निर्देश उद्योतकर ने किया।[155] प्रशस्तपाद के अनुसार भी लिंग वह है जो (1) अनुमेय से सम्बद्ध होता है (2) अन्वित में प्रसिद्ध है, और (3) अनुमेयाभाव में नहीं रहता।[156]

सांख्याचार्य माठर ने भी हेतु को त्रिरूप ही माना है। बौद्धों ने भी हेतु को त्रिरूप ही माना है।[157] इस प्रकार यद्यपि हेतु का त्रैरूप्य प्राचीन नैयायिकों (जयन्तपूर्ववर्ती) वैशेषिकों और सांख्यों ने भी स्वीकार किया था, किन्तु बौद्धों ने इसका सूक्ष्म विश्लेषण किया। अत: इसको परम्परा के रूप में अधिक ख्याति प्राप्त हुई।

(4) **चतुर्लक्षण परम्परा**—उद्योतकर और वाचस्पति मिश्र के कथनों से विदित होता है कि न्याय में चतुर्थक्षण परम्परा भी मान्य रही है।[158]

(5) **पंचलक्षण परम्परा**—जयन्त भट्ट ने हेतु के पाँच लक्षण माने हैं, जो इस प्रकार हैं—(1) पक्षधर्मत्व, (2) समक्षधर्मत्व, (3) विपक्षादव्यावृत्ति, (4) अबाधितविषयत्व और (5) असत्प्रतिपक्षत्व। इनमें से किसी एक रूप की भी कमी होने पर निम्नलिखित हेत्वाभास होते हैं—

(1) पक्षधर्मता के अभाव में—असिद्ध

(2) विपक्षाद्व्यावृत्ति के अभाव में—विरुद्ध

(3) सपक्षसत्व के अभाव में—अनैकान्तिक

(4) अबाधितविषत्व के अभाव में—कालात्ययापदिष्ट

(5) असत्प्रतिपक्षत्व के अभाव में—प्रकरणसम[159]

(6) **षड्लक्षणपरम्परा**—हेतुबिन्दु में धर्मकीर्ति ने बौद्धों से भिन्न किसी अन्य परम्परा का उल्लेख करते हुए उसके अनुसार हेतु के छ: लक्षणों का निर्देश किया है—(1) पक्षधर्मत्व (2) सपक्षसत्व, (3) विपक्षासत्व, (4) अबाधितविषयत्व, (5) विवक्षितैकसंख्यत्व तथा (6) ज्ञातत्व।[160]

(7) **सप्तलक्षण परम्परा**—न्यायविनिश्चय विवरण में जैन तार्किक वादिराज ने हेतु की सप्तलक्षण परम्परा का निर्देश किया है। यह मान्यता किसकी थी, यह तो वादिराज ने नहीं बताया, पर उपर्युक्त छ: में अन्यथानुपपन्नत्व जोड़कर लक्षणों की संख्या सात बताई है।[161]

[ग] हेतुओं के प्रकार

1. बौद्ध मतानुसार

बौद्ध आचार्यों के अनुसार हेतु के प्रमुख भेद तीन हैं—(1) स्वभाव हेतु, (2) कार्य हेतु और (3) अनुपलब्धि हेतु। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(1) **स्वभाव हेतु**—जो हेतु स्वभाव अर्थात् अपनी सत्ता से भिन्न किसी अन्य हेतु की अपेक्षा नहीं रखता, वह स्वभाव हेतु कहलाता है।

मोक्षाकर गुप्त के अनुसार 'स्वभाव अर्थात् अपनी सत्ता मात्र' तक रहने वाले साध्यधर्म में जो हेतु कहा जाता है, उसे उस साध्यधर्म का स्वभाव समझना चाहिये।

उदाहरण—(1) यह अग्नि है, उष्ण होने से। यहाँ साध्य (अग्नि) अपनी सिद्धि के लिए अपने ही स्वभाव (उष्णत्व) की अपेक्षा रखती है अन्य किसी की नहीं।

(2) यह वृक्ष है, शिंशपा होने से। (वृक्ष व्यवहारयोग्योऽयं शिंशपा व्यवहारयोग्यत्वादिति—मोक्षाकर:)।

(2) **कार्य हेतु**—जो हेतु अपने साध्य से उत्पन्न हो, वह कार्य हेतु कहलाता है। यह ज्ञातव्य है कि बौद्ध दार्शनिकों ने कारण हेतु का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया। जहाँ कार्य की सत्ता है, वहाँ तो कारण की सत्ता सिद्ध है, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जहाँ कारण हो वहाँ कार्य हो ही।

उदाहरण—पर्वत पर अग्नि है, धूम होने से। यहाँ हेतु (धूम) कार्य हेतु है, क्योंकि वह अग्नि से उत्पन्न हुआ है।

(3) **अनुपलब्धि हेतु**—अनुपलब्धि वह हेतु है, जिसके द्वारा किसी पदार्थ के अभाव का निश्चय करने के लिए उस पदार्थ की अनुपलब्धि या अभाव का बोध किया जाये।

उदाहरण—इस स्थान विशेष पर घट नहीं है। क्योंकि घट उपलब्धि लक्षण से युक्त (यानी उपलब्ध या दृश्य होने की योग्यता) होने पर भी वह यहाँ उपलब्ध नहीं हो रहा है।

यह ज्ञातव्य है कि बौद्धों के अनुसार पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—(1) उपलब्धि-लक्षण प्राप्त, यानी जिनमें उपलब्ध होने की योग्यता जैसे घट और (2)

अनुपलब्धि लक्षण प्राप्त, यानी जिनमें उपलब्धि होने की योग्यता ही नहीं है। ये तीन प्रकार के होते हैं—(क) देश विप्रकृष्ट जैसे स्वर्गलोक (ख) काल विप्रकृष्ट जैसे युद्धिष्ठिर, कृष्ण (ग) स्वभावविप्रकृष्ट, जैसे परमाणु। इन पदार्थों में उपलब्ध होने की योग्यता ही नहीं है, अतः अनुपलब्धि के आधार पर इनके अभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता। इनके विपरीत घट में उपलब्धि योग्यता है, अतः उसके अभाव का निश्चय अनुपलब्धि हेतु से किया जा सकता है।

धर्मकीर्ति ने अनुपलब्धि हेतु के प्रमाणवार्तिक में चार और न्यायबिंदु में ग्यारह भेद बताये हैं। मोक्षाकर गुप्त ने सोलह प्रकार के अनुपलब्धि हेतुओं का उल्लेख किया है

2. **न्याय परम्परा में हेतुओं के प्रकार**

गौतम ने साधर्म्य और वैधर्म्य नाम से हेतु के दो भेद बताये। वात्स्यायन ने इन भेदों का समर्थन किया। उद्योतकर ने अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी नाम से तीन हेतु-भेदों का उल्लेख किया। उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने इन भेदों को मान्यता दी।

गंगेश के अनुसार, "जिस हेतु वाक्य में पक्षसत्व, सपक्षसत्व और विपक्षासत्व ये तीनों रूप रहते हैं, उसे हेतु वाक्य को अन्वय व्यतिरेकी "अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी साध्य के समान अधिकरण रूप पक्ष में जिस सद्हेतु का कथन किया जाये उसको केवलान्वयी" तथा 'अनुमिति के कारणीभूत परामर्श के प्रयोजक शब्द ज्ञान के जनक साध्य-अविषयक शब्दज्ञान के कारणीभूत जिस हेतुवाक्य में साध्य की अन्वय व्याप्ति की प्रतीति नहीं होती है, उस प्रकार के साध्य का साधन वाचक जो हेतु—विभक्तियुक्त न्याय अवयव है, उसको व्यतिरेकी अथवा केवलव्यतिरेकी हेतु कहते हैं।'

(1) **अन्वयव्यतिरेकी हेतु**—अन्वय एवं व्यतिरेकी दोनों प्रकार की व्याप्ति के उदाहरण जिस हेतु में प्राप्त हो सकें, उसको अन्वय व्यतिरेकी हेतु कहा जाता है।

उदाहरण—पर्वत अग्नियुक्त है, धूमयुक्त होने से, यहाँ 'अग्निमत्व' साध्य है, और 'धूमवत्व' हेतु है। इस हेतु में अन्वय तथा व्यतिरेक—दोनों व्याप्तियों का समावेश है। अन्वय व्याप्ति जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसे महानस में। व्यतिरेक व्याप्ति जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं होता, जैसे, महाह्रद में।

यह अन्वय व्यतिरेक हेतु पंचरूपोपपन्न होकर ही अपने साध्य की सिद्धि कर सकता है। एक भी रूप से रहित हो तो वह साध्य भी सिद्ध नहीं कर सकता। उपर्युक्त हेतु (धूम) की (1) पक्ष (पर्वत) पर सत्ता है, (2) सपक्ष (जैसे महानस) में भी सत्ता है, और (3) विपक्ष (जैसे जलाशय) में असत्ता (व्यावृत्ति) है। इसके साथ ही (4) उसके साध्य (अग्निमत्व) का बोध हो रहा है (किसी भी प्रमाण से अग्निमत्व का खण्डन नहीं हो रहा है) और (5) उसका प्रतिपक्षी कोई हेतु भी नहीं है यानी साध्य के विपरीत अर्थ को सिद्ध करनेवाला कोई दूसरा हेतु नहीं है।

(2) **केवलान्वयी**—केवलान्वयी हेतु वह होता है, जिनमें केवल अन्वय व्याप्ति हो, व्यतिरेक व्याप्ति नहीं। तात्पर्य यह है कि इस हेतु से सम्बद्ध व्याप्ति की पुष्टि के लिए विपक्षीय दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होता।

उदाहरण—शब्द अभिधेय है, प्रमेय होने से। यहाँ शब्द का अभिधेयत्व साध्य है और हेतु है 'प्रमेयत्व'। 'जो-जो प्रमेय है, वह-वह अभिधेय है'—इस प्रकार की अन्वय व्याप्ति के लिए उदाहरण मिल जाता है। जैसे, घट, पट।

किन्तु 'जो-जो अभिधेय नहीं होता, वह-वह प्रमेय भी नहीं होता'। इस प्रकार से व्यतिरेक व्याप्ति की जाये तो उसका दृष्टांत नहीं मिलता, क्योंकि संसार के सभी पदार्थ अभिधेय ही हैं।

केवलान्वयी हेतु चार रूपों में ही युक्त होता है। उसके लिए कोई विपक्ष नहीं मिलता, अतः विपक्षव्यावृत्ति का लक्षण उस पर चरितार्थ नहीं होता। वह पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, अबाधितविषयत्त्व तथा असत्प्रतिपक्ष-इन चार लक्षणों से युक्त होकर ही अपने साध्य की सिद्धि कर देता है।

(3) **केवलव्यतिरेकी**—केवलव्यतिरेकी हेतु वह होता है, जिसमें केवल व्यतिरेक व्याप्ति हो, अन्वय व्याप्ति नहीं। आशय यह है कि इस हेतु से सम्बद्ध व्याप्ति की पुष्टि के लिये कोई सपक्षीय दृष्टांत नहीं मिलता।

उदाहरण—जीवित शरीर सात्मक (आत्मा से युक्त) है; प्राण आदि से युक्त होने के कारण, यहाँ हेतु है, 'प्राणादिमत्व' और साध्य है—जीवितशरीर की सात्मकता। यह हेतु जीवित शरीर में रहता है. अतः इसमें पक्षसत्त्व है, जीवित शरीरों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं में प्राणादिमत्व नहीं रहता। अतः हेतु में विपक्षासत्त्व है। साध्य (सात्मकत्व) का किसी

अन्य प्रमाण से बाध नहीं होता अतः इसमें अबाधित विषयत्व भी है। यहाँ साध्य के अभाव का साधक कोई दूसरा हेतु भी नहीं है, अतः प्रस्तुत हेतु असत्प्रतिपक्ष भी है। इस प्रकार हेतु के चार लक्षण तो इसमें विद्यमान हैं, केवल सपक्षसत्त्व नहीं है। क्योंकि जो भी सात्मक हैं, उन सबकी जीवित शरीरों में ही गणना होने के कारण वे सब तो पक्ष के अन्तर्गत ही है। इसलिये यहाँ कोई भी सपक्ष नहीं है।

यह हेतु नैयायिकों द्वारा परिगणित पाँच लक्षणों में से एक लक्षण की कमी होने पर भी अपने साध्य की सिद्धि करने में समर्थ है।

3. अन्य दार्शनिकों के अनुसार

(1) वैशेषिक के अनुसार } (1) कार्य, (2) कारण, (3) संयोगी (4) समवायी, (5) विरोधी।

(2) न्याय के अनुसार (उपर्युक्त के अतिरिक्त) — (1) पूर्ववत्, (2) शेषवत् और (3) सामान्यतोदृष्ट

(3) सांख्य के अनुसार— (1) वीत, (इसको ही शेषवत् कहा जाता है) और (2) अवीत (इसके दो भेद माने गये हैं—पूर्ववत् तथा सामान्यतोदृष्ट)

(4) जैनदर्शन के अनुसार—(अभिनव धर्मभूसण; न्यायदीपिका के अनुसार)

हेतु
- विधिरूप
  - विधिसाधक
    - कार्यरूप
    - कारणरूप
    - विशेषरूप
    - पूर्वचर
    - उत्तरचर
    - सहचर
  - प्रतिषेधसाधक
- प्रतिषेधरूप
  - विधिसाधक
  - प्रतिषेधसाधक

9. अनुमानाभास (न्यायाभास)

न्याय वाक्य के पाँच अवयवों में से किसी के भी असद् होने पर अनुमान भी असद् हो जाता है। अनुमान का ठीक न होना ही अनुमानाभास कहलाता है। अनुमान मुख्यतः हेतु पर निर्भर होता है, अतः अनुमान के अवयवों के दोषों में से हेत्वाभासों का निरूपण शास्त्रीय ग्रन्थों में बड़े विस्तार से उपलब्ध होता है। यद्यपि अन्य अवयवों के दोषों के सम्बन्ध में भी उत्तरवर्ती ग्रन्थों में यथावसर चर्चा की गई है। किन्तु वह अपेक्षाकृत संक्षिप्त है। अन्य विषयों के समान इन पर भी आचार्यों का मतभेद रहा है। आइए इन पर क्रमशः चर्चा कर ली जाए।

[क] पक्षाभास (प्रतिज्ञाभास)

प्रतिज्ञाभास (पक्षाभास) और निदर्शनाभास (दृष्टान्ताभास या उदाहरणाभास) का ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वप्रथम उल्लेख प्रशस्तपाद भाष्य में उपलब्ध होता है। उपनयाभास और निगमनाभासों की चर्चा जैनदार्शनिकों ने की है। न्याय ग्रन्थों में पक्षाभासों और दृष्टान्ताभासों का विश्लेषण विस्तार से नहीं मिलता। इसका कारण स्पष्ट करते हुये जयन्त भट्ट ने कहा कि ये दोष वस्तुतः हेतुदोष ही हैं। वाद, पक्ष तथा दृष्टान्तमात्र पर आश्रित नहीं होता, इसीलिए सूत्रकार गौतम ने न्यायसूत्र में हेत्वाभासों की ही चर्चा की, पक्षाभासों की नहीं।[162]

प्रशस्तपाद द्वारा उल्लिखित पक्षाभासों के पाँच भेद निम्नलिखित हैं। प्रशस्तपाद ने इनके लक्षण तो नहीं दिये, किन्तु इनको उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है।—(1) प्रत्यक्षविरुद्ध, (2) अनुमान विरुद्ध, (3) आगमविरुद्ध (4) स्वशास्त्रविरुद्ध (5) स्ववचनविरुद्ध। व्योमशिवाचार्य, उदयन तथा श्रीधर ने भी इन्हीं पाँच प्रतिज्ञाभासों का उल्लेख किया। मीमांसासूत्र तथा शबरभाष्य में तो पक्षाभासों की चर्चा नहीं है, किन्तु कुमारिल ने निम्नलिखित पक्षाभासों का उल्लेख किया है। प्रथम वर्ग में—(1) सिद्धविशेषण, (2) अप्रसिद्ध विशेषण, (3) बाधित विशेषण (प्रत्यक्ष बाध, अनुमान बाध, उपमानबाध अर्थापत्तिबाध, अनुपलब्धि बाध)। द्वितीय वर्ग में—धर्मस्वरूपबाध, धर्मविशेषबाध, धर्मिस्वरूपबाध, धर्मिविशेषबाध, उभयस्वरूपबाध एवं उभयविशेषबाध। प्रभाकर के मतानुयायी शालिकनाथ ने छः प्रकार के पक्षाभासों की चर्चा की—(1) प्रत्यक्षबाध, (2) अनुमानबाध, (3) शास्त्रबाध, (4) उपमानबाध, (5) अर्थापत्तिबाध तथा (6) अप्रसिद्धि विशेष्यक। योग और वेदान्त में पक्षाभासों पर कोई चर्चा नहीं की

गई। सांख्याचार्य माठर ने भी प्रत्यक्ष आदि नौ पक्षाभासों का संकेतमात्र किया है। बौद्ध ग्रन्थ 'न्याय प्रवेश' में पक्षाभासों का परिगणन निम्नलिखित रूप से किया गया है : (1) प्रत्यक्षविरुद्ध, (2) अनुमानविरुद्ध, (3) आगमविरुद्ध, (4) लोकविरुद्ध, (5) स्ववचनविरुद्ध, (6) अप्रसिद्ध विशेषण, (7) अप्रसिद्ध विशेष्य, (8) अप्रसिद्धोभय (9) प्रसिद्ध सम्बन्ध। जैन परम्परा में पक्षाभासों का उल्लेख सर्वप्रथम 'न्यायावतार' में उपलब्ध होता है। बाद के ग्रन्थों में भी इन के भेदोपभेदों का उल्लेख मिलता है।

न्यायकलिका में जयन्त भट्ट ने निम्नलिखित रूप से पक्षाभासों का उल्लेख किया है—[163]

(1) प्रत्यक्षविरुद्ध —आग अनुष्ण होती है।
(2) अनुमानविरुद्ध —चक्षु इन्द्रिय रूप की ग्राहक नहीं है।
(3) आगमविरुद्ध —ब्राह्मणों को सुरापान करना चाहिये।
(4) स्ववचनविरुद्ध —मेरी माता बन्ध्या है।
(5) लोकप्रसिद्धिविरुद्ध —चन्द्र शब्द शशि का वाचक नहीं है।
(6) उपमानविरुद्ध —यह गाय के समान पिण्डगवय शब्द वाच्य नहीं है।
(7) अप्रसिद्ध विशेषण —खरगोश के सींग से बिंध गई यह भूमि।
(8) अप्रसिद्ध विशेष्य —खरगोश का सींग पैना होता है।
(9) अप्रसिद्धोभय —बन्ध्यापुत्र ने खरगोश के सींग का बना हुआ धनुष धारण किया हुआ है।
(10) सिद्ध साध्यता (पक्षाभास) —अग्नि शीतल नहीं अपितु उष्ण होती है। बर्फ शीतल होता है।
(11) स्वसिद्धान्तविरुद्ध —शब्द नित्य है (बौद्धों के सन्दर्भ में)

भासर्वज्ञ तथा नव्यन्याय के आचार्यों ने इन दोषों को बाधित नामक हेत्वाभास के भेदों में समाविष्ट कर इनका पक्षाभासों के रूप में पृथक् उल्लेख नहीं किया।

[ख] हेत्वाभास

अनुमान की प्रामाणिकता के लिए उसमें प्रयुक्त हेतु का निर्दोष होना अनिवार्य है। जो हेतु साध्य की सिद्धि करने में समर्थ हो यानी जो पक्षधर्मता आदि पाँचों रूपों से युक्त हो, वही सद् हेतु माना जाता है। हेत्वाभास शब्द की व्युत्पत्ति

दो प्रकार से की जा सकती है—(1) हेतु के समान प्रतीत होनेवाला (दुष्ट हेतु) और (2) हेतु में प्रतीत होनेवाले धर्म (हेतु के दोष)। वात्स्यायन, प्रशस्तपाद, व्योमशिवाचार्य आदि ने प्रथम प्रकार से हेत्वाभास शब्द का अर्थ बताया है, जबकि गंगेश प्रभृति नव्यनैयायिकों ने द्वितीय प्रकार से व्याख्या करते हुये अनुमिति के प्रतिबन्धक को हेत्वाभास कहा है। तर्कदीपिका में अन्नंभट्ट ने यह कहा है कि जो स्वयं यथार्थज्ञान का विषय हो और अनुमिति का प्रतिबन्धक हो रहा हो, उसी हेतुदोष को हेत्वाभास कहा जा सकता है। नीलकण्ठ ने अनुमिति तथा उसके कारण परामर्श, व्याप्तिज्ञान, तथा हेतुज्ञान में प्रतिबन्धक तत्त्वों को भी हेत्वाभास कहा है।

अनुमान की प्रक्रिया में हेतु का महत्त्व स्वतः सिद्ध है। सद्हेतु से ही अनुमान होता है। किन्तु यह जानने के लिए कि कोई हेतु सद् है या नहीं, यह जानना भी आवश्यक है कि असद्हेतु कौन होते हैं। शास्त्रार्थ में तत्त्वनिर्णय और विजय के लिये भी असद् हेतुओं का ज्ञान आवश्यक है। असद् हेतु ही हेत्त्वाभास कहलाते हैं।[164]

धर्मकीर्ति के अनुसार 'जो हेतु के लक्षण से रहित हो, किन्तु हेतु की तरह प्रतिभासित होता हो, उसे हेत्वाभास कहा जाता है।[165] अविनाभाव के अभाव में कोई भी हेतु सद्हेतु नहीं हो सकता है। अविनाभाव वाले हेतु भी पक्षधर्मत्व न होने से असिद्ध हेत्वाभास, सपक्षसत्त्व न होने से विरुद्ध हेत्वाभास और विपक्षासत्व न होने से अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाता है।[166]

गंगेश के अनुसार हेत्वाभास की सामान्य परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—(1) 'अनुमिति के कारणीभूत अभाव के प्रतियोगी यथार्थज्ञान की विषयता जिसमें रहती है, वही हेत्वाभास है। उदाहरण—धूमवान् वह्नेः। (2) जिसका विषय बनकर लिंगज्ञान, अनुमिति का प्रतिरोध करना है, उसे हेत्वाभास कहते हैं। (3) 'जो दोष ज्ञायमान होते हुये भी अनुमिति का प्रतिरोध करें, वही हेत्वाभास है।'

हेत्वाभासों के भेद—नैयायिकों के अनुसार हेत्वाभास पाँच प्रकार के होते हैं—जबकि वैशेषिक और बौद्ध हेत्वाभासों की संख्या तीन मानते हैं। प्रशस्तपाद ने एक स्थान पर चार हेत्वाभासों का उल्लेख किया है। किन्तु अन्यत्र कश्यप के मत का उल्लेख करते हुये तीन ही हेत्वाभास बताये हैं। सप्तपदार्थी में शिवादित्य ने अनध्यवसित को अलग बताते हुये छः हेत्वाभास बताये हैं। नैयायिकों में से भासर्वज्ञ को छोड़कर बाकी सब ने पाँच ही हेत्वाभास माने हैं। भासर्वज्ञ ने अनध्यवसित के साथ छः हेत्वाभास माने हैं। उद्योतकर ने प्रकरणसम, साध्यसम

और कालातीत के स्थान पर सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित शब्दों का प्रयोग किया। वाचस्पति मिश्र आदि सभी उत्तरवर्ती नैयायिकों ने उन्हें अपनाया। कुमारिल ने यह कहीं स्पष्ट नहीं किया कि वे कितने हेत्वाभास मानते हैं, किन्तु उनके विवेचन से प्रतीत होता है कि उन्हें—अनैकान्तिक, असिद्ध तथा बाध—ये तीनों हेत्वाभास अभीष्ठ थे। पार्थसारथि मिश्र तथा चिन्नस्वामी ने भी इन तीनों का ही विवेचन किया। मानभेदोदय में इन तीनों के अतिरिक्त 'असाधारण' का भी पृथक् परिगणन किया गया है। प्रभाकर ने भी हेत्वाभासों की संख्या का निश्चित परिगणन नहीं किया, किन्तु शालिकनाथ के कथनों से प्रतीत होता है कि उन्हें भी असाधारण, बाधक, साधारण (अनैकान्तिक) तथा असिद्ध ये चार भेद ही अभीष्ट थे।

माठरवृत्ति में असिद्ध, अनैकांतिक तथा विरुद्ध तथा इनके चौदह उपभेदों का उल्लेख मात्र है। सांख्य के अन्य ग्रन्थों में हेत्वाभासों का उल्लेख भी नहीं है। वेदान्त के ग्रन्थ 'खण्डन खण्ड खाद्य' में न्यायसम्मत पाँच भेदों का खण्डन किया गया है। वेदान्त परिभाषा में तो हेत्वाभासों का उल्लेख भी नहीं है। नामों के विषय में भी आचार्यों का मतभेद हैं। विभिन्न दार्शनिकों के अनुसार उनकी संक्षिप्त तालिका निम्नलिखित है। इनके उपभेदों की भी गिनती की जाय तो ये असंख्य हो सकते हैं।

1. नैयायिक

गौतम तथा वात्स्यायन	: सव्यभिचार,	विरुद्ध,	प्रकरणसम,	साध्यसम,	कालातीत
उद्योतकर	: ,,	,,	सत्प्रतिपक्ष	,,	,,
वाचस्पति	: ,,	,,	,,	,,	,,
जयन्त	: ,,	,,	,,	,,	,,
गंगेश	: सव्यभिचार,	,,	,,	असिद्ध,	बाधित
केशवमिश्र	: अनैकान्तिक	,,	प्रकरणसम	,,	कालात्यय-यापदिष्ट
उत्तरकालीन नैयायिक	: सव्यभिचार या अनैकान्तिक	विरुद्ध	सत्प्रतिपक्ष	,,	बाधित

2. **वैशेषिक**

कणाद	: संदिग्ध	अप्रसिद्ध	+	असत्	+
प्रशस्तपाद	: अनध्यवसित	,,	+	,,	+
काश्यप	: संदिग्ध	विरुद्ध	+	,,	+
शंकरमिश्र	: ,,	,,	+	,,	+
वल्लभाचार्य	: सव्यभिचार अनध्यवसित (सव्यभिचार का उपभेद)	,,	+	,,	+
श्रीधर तथा शिवादित्य	: अनैकान्तिक 1 कालात्ययायदिष्ट 5	विरुद्ध 2	प्रकरणसम 3 अनध्यसित 6		असिद्ध 4

3. **बौद्ध**

वसुबन्धु	: अनैकान्तिक	विरुद्ध	×	असिद्ध	+
दिङ्नाग	: ,,	,,	+	,,	+
धर्मकीर्ति	: ,,	,,	+	,,	+
असंग	: ,,	,,	+	साध्यसम	+

4. **मीमांसक**

भाट्ट	: अनैकान्तिक	+	+	असिद्ध	बाध
प्रभाकर (माठर केवल)	: अनैकान्तिक (साधारण)	+	+	असिद्ध	बाध

5. **सांख्य**	: अनैकान्तिक	विरुद्ध	+	असिद्ध	+
6. **वेदान्त**	: +	+	+	+	+

7. **जैन** :

सिद्धसेन दिवाकर	: अनैकान्तिक	विरुद्ध	+	असिद्ध	+
हेमचन्द्र, प्रभाचन्द्र अकलंक		अकिंचित्कर	सहित	(चार भेद)	

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि गौतम स्वीकृत पाँच हेत्वाभासों में से वैशेषिकों और बौद्धों ने प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) और कालातीत (बाधित) इन दो का पृथक् अस्तित्व स्वीकार नहीं किया। वैशेषिक ग्रन्थों में इसका कोई स्पष्टीकरण उपलब्ध नहीं होता। वैसे पाश्चात्य दार्शनिकों की मान्यताओं पर भी विचार कर लिया जाये, तो उपयुक्त दो हेत्वाभासों को छोड़ देने का कारण समझ में आ सकता हैं।

पाश्चात्य दार्शनिकों के अनुसार हेत्वाभासों के दो वर्ग हैं—(1) आन्तर या मौलिक (फार्मल फैलेसीज) तथा (2) बाह्य या शारीरिक (मैटीरियल फैलेसीज)। जिन हेत्वाभासों के हेतु में ही सीधा दोष है, वे आन्तर (फार्मल) कहलाते हैं, और जिनमें हेत्वन्तर या प्रमाणान्तर के कारण दोष होता है, वे बाह्य (मैटीरियल) हेत्वाभास कहलाते हैं। इस मान्यता को ध्यान में रखा जाए तो यह कहा जा सकता है कि गौतम द्वारा उल्लिखित हेत्वाभासों में से सव्यभिचार विरुद्ध और साध्यसम ये तीन तो आन्तर हैं और अवशिष्ट दो यानी प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) और कालातीत (बाधित) बाह्य हैं। कतिपय पाश्चात्य दार्शनिकों का यह कथन है कि बाह्य हेत्वाभास तर्कशास्त्र के क्षेत्र से बाहर हैं। यदि इस कथन को भारतीय न्यायशास्त्र के संदर्भ में भी प्रामाणिक मान लिया जाय, तो उपर्युक्त दो बाह्य हेत्वाभासों को गिनने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। वैसे बल्लभाचार्य ने तो यह स्पष्ट ही कहा है कि बाध और सत्प्रतिपक्ष अनुमिति के साक्षात्प्रतिबन्धक नहीं, अपितु परम्परया अर्थात् व्याप्ति और पक्षधर्मता में बाधक होने के कारण अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिबन्धक होते हैं।

यह ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार अरस्तू ने आन्तर और बाह्य दोनों प्रकार के प्रतिबन्धकों को हत्वाभास कहा था, उसी प्रकार गौतम ने भी उपर्युक्त पाँचों को हेत्वाभास कहा। हेत्वाभासों के न्यायशास्त्र सम्मत भेदों का स्वरूप संक्षेपत: निम्नलिखित है—

[1] सव्यभिचार [अनैकान्तिक]

हेतु और साध्य के बीच अपेक्षित साहचर्य यदि अनियत हो, तो हेतु सव्यभिचार कहलाएगा। इस हेतु दोष का दूसरा नाम अनैकान्तिक है, जिसका आशय है—'नियत अस्तित्व का अभाव, यानी हेतु कभी तो साध्य के साथ रहता है, किन्तु कभी साध्याभाव के साथ भी दिखाई दे जाता है। वात्स्यायन इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जो हेतु पक्ष तथा सपक्ष के अतिरिक्त विपक्ष में भी पाया जाए, वह सव्यभिचार माना जाता है।

उदाहरण—शब्द नित्य है, स्पर्शरहित होने के कारण, (शब्दो नित्यः अस्पर्शत्वात्) स्पर्श गुण का आधार, जैसे कलश अनित्य देखा जाता है, शब्द स्पर्श का आधार नहीं है।

अतः स्पर्शरहित होने से शब्द नित्य है। इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि स्पर्श की आधारता (हेतु) और अनित्यता (साध्य) में साधन-साध्यभाव का नियतता नहीं है। परमाणु स्पर्श का आधार होने पर भी नित्य होता है। और बुद्धि स्पर्शगुण का आधार न होने पर भी अनित्य है।

अनैकान्तिक नाम की संगति उपर्युक्त उदाहरण में इस प्रकार बैठती है कि—यहाँ पर नित्यता भी एक अन्त (पक्ष) है और अनित्यता भी एक अन्त (पक्ष) है। जो हेतु एक अन्त यानी पक्ष में रहे, वह ऐकान्तिक और जो दोनों पक्षों में रहे, वह अनैकान्तिक माना जाता है। यहाँ अस्पर्शत्व हेतु एक ही पक्ष यानी नित्यता में स्थिर नहीं रहता, अतः वह अनैकान्तिक है। गंगेश के अनुसार जो हेतु साध्यस्थल तथा साध्याभावस्थल दोनों में रहता हो, और इस प्रकार जो साध्य के सम्बन्ध में सन्देह के निराकरण में समर्थ न हो, वह सव्यभिचार या अनैकान्तिक हेत्वाभास कहा जाता है। कणाद ने इसको इसी दृष्टि से संदिग्ध हेत्वाभास कहा है। केशव मिश्र के मतानुसार साध्य के संशय का हेतु अनैकान्तिक कहलाता है और इसी को सव्यभिचार भी कहते हैं।

सव्यभिचार के तीन भेद माने गये हैं—साधारण, असाधारण तथा अनुपसंहारी। इनकी रूपरेखा निम्नलिखित है—

(क) साधारण—यदि कोई हेतु इतना अधिक व्यापक (साधारण) हो जाए कि वह पक्ष, सपक्ष और विपक्ष सब में रहे, तो वह साधारण अनैकान्तिक कहलाता है। उदाहरणतया पर्वत अग्नियुक्त है, ज्ञान का विषय होने के लारण। यहाँ हेतु (ज्ञेयता) पक्ष (पर्वत) और सपक्ष (महानस) के साथ ही विपक्ष जैसे सरोवर में भी विद्यमान है। अत ज्ञेयता यहाँ हेतु न होकर हेत्वाभास है।

गंगेश का कथन है कि 'जो हेतु साध्य के अधिकरण में वृत्ति रखता है, और साध्याभाव के अधिकरण में भी विद्यमान रहता है, वह साधारण अनैकान्तिक कहलाता है।'[167]

(ख) असाधारण—यदि कोई हेतु विपक्ष के अतिरिक्त सपक्ष में भी नहीं रहता यानी केवल पक्ष में रहता है, तो वह अपेक्षित क्षेत्र से कम स्थल में रहने,

अर्थात् सपक्ष में भी अव्याप्त होने के कारण असाधारण हेत्वाभास कहलाता है। इसका असाधारण यह नाम साधारण के वैपरीत्य का बोधक है। उदाहरण-तया—शब्द नित्य है, शब्दत्व से युक्त होने के कारण। स्पष्ट है कि 'शब्दत्व' तो केवल शब्द में ही रहता है उसका तो कोई सपक्ष भी नहीं है। अतः 'शब्दत्व' हेतु नहीं अपितु हेत्वाभास है।

गंगेश का कथन है कि जो हेतु निश्चित साध्यवाले सभी सपक्षों से व्यावृत्त होता हुआ निश्चित साध्याभाव वाले सभी विपक्षों में विद्यमान नहीं रहता, अपितु भाव पक्ष में ही रहता हो वह असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाता है।[168]

(ग) अनुपसंहारी—यदि कोई ऐसा हेतु प्रयुक्त किया जाये, जिसका अन्वय और व्यतिरेक उदाहरण न मिल सके, तो वह हेतु न होकर अनुपसंहारी नामक (सव्यभिचार) हेत्वाभास कहलायेगा। गंगेश के अनुसार 'जिसका पक्ष केवलान्वयी धर्म से युक्त हो' उसको अनुपसंहारी कहा जाता है। विश्वनाथ का कथन है कि 'जिस हेतु के साध्य के अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी न हो सके, वह अनुपसंहारी है।' इस प्रकार के असद् हेतु के कारण हेतु का उदाहरण से उपसंहारात्मक उपनय नहीं हो सकता, अतः इसे अनुपसंहारी कहा जाता है।

यह ज्ञातव्य है कि असाधारण हेत्वाभास में पक्ष के अतिरिक्त सपक्ष और विपक्ष भी सम्भव तो होते हैं, पर हेतु केवल पक्ष में ही रहता है, जबकि अनुपसंहारी में सपक्ष और विपक्ष सम्भव ही नहीं होते, क्योंकि पक्ष को इतना व्यापक बना दिया जाता है कि सपक्ष जिसने बनना था वह भी पक्ष में ही समाविष्ट हो जाता है और विपक्ष के लिए कोई उदाहरण ही नहीं बचता।

उदाहरण – सब कुछ अनित्य है, ज्ञेय होने के कारण। यहाँ पक्ष (सब कुछ) में ही समस्त ज्ञेय वस्तुओं का समावेश हो गया, अतः सपक्ष और विपक्ष के लिये उदाहरण ही विद्यमान नहीं हैं।

गंगेश के अनुसार 'जहाँ' पर व्याप्तिज्ञान के कारणीभूत साध्य और हेतु के अन्वयसहचार तथा व्यतिरेक सहचार का एक धर्मी में उपसंहार नहीं किया जा सकता, वहाँ हेतुत्व रूप से अभिमत हेतु को अनुपसंहारी हेत्वाभास कहा जाता है।

उद्योतकर ने अनैकान्तिक के सोलह उपभेद गिनाये हैं। भासर्वज्ञ ने उनकी संख्या आठ बताई। दिङ्नाग के अनुसार वे छः हैं। कुमारिल ने अनैकान्तिक

को मुख्यता देकर उसके सव्यभिचार, विरुद्धाव्यभिचारि तथा असाधारण नाम से तीन भेद बताये हैं। केशव मिश्र के अनुसार अनैकान्तिक दो प्रकार का होता है—साधारण अनैकान्तिक (यथा शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात्) जिसमें हेतु नित्यत्वाभाव के साथ भी रहता है और असाधारण अनैकान्तिक (यथा भूर्नित्यागन्धवत्वात्; जिसमें सपक्षसत्व का अभाव है)। तात्पर्य यह है कि जिस हेतु में विपक्ष से व्यावृत्ति नहीं होती, वह साधारण अनैकान्तिक और जो विपक्ष जल आदि के समान सपक्ष (आकाश) से भी व्यावृत्त हो जाता है, वह असाधारण अनैकान्तिक कहलाता है। विश्वनाथ ने अनैकान्तिक के साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी ये तीन भेद बताये हैं। जिनका विश्लेषण ऊपर किया जा चुका है।

(2) विरुद्ध

यदि कोई हेतु साध्य के अभाव से व्याप्त हो तो वह विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है।[170] जैसे 'शब्द नित्य है, क्योंकि वह कृतक है'। यहाँ नित्यत्व साध्य है और कृतकत्व हेतु है। यहाँ हेतु (कृतकत्व) साध्य (नित्यत्व) के अभाव (अनित्यत्व) से व्याप्त है। अतः वह (कृतकत्व) हेतु न होकर हेत्वाभास है।

यह ज्ञातव्य है कि 'विरुद्ध' की परिभाषा में नैयायिकों ने समय-समय पर काफी परिष्कार किये। गौतम के अनुसार यदि कोई हेतु दिया जाये, जो साध्य की नहीं अपितु उसके विपरीत (साध्याभाव) की सिद्धि करे, तो वह विरुद्ध नामक हेत्वाभास कहलाता है। वात्स्यायन ने भी लगभग यही कहा। जयन्त भट्ट का कथन है कि जो हेतु साध्य निश्चय के लिये उद्दिष्ट साध्य का साधक नहीं होता, प्रत्युत विरोधी होता है, वह विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है। उद्योतकर के अनुसार स्वीकृत तथ्य के विपरीत जाने के कारण इसे विरुद्ध कहा जाता है। गंगेश के अनुसार जो हेतु सपक्ष में न हो वह विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है। लगभग ऐसा ही मत विश्वनाथ का भी है।[171] किन्तु इन परिभाषाओं को स्वीकार करने पर यह कठिनाई होती है कि विरुद्ध और असाधारण में कोई अन्तर नहीं रह जाता। अतः केशव मिश्र द्वारा प्रस्तुत लक्षण ही अधिक परिष्कृत प्रतीत होता है। कणाद ने इस हेत्वाभास को अप्रसिद्ध कहा है। प्रशस्त पाद के अनुसार जो हेतु अनुमेय पक्ष में अविद्यमान रहने पर भी उसके सजातीय सपक्षभूत सभी पदार्थों में न रहता हो, वह साध्य के विपरीत अर्थ का साधक होने के कारण विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है। जैसे यह पशु अश्व है, विषाणी होने से।

विरुद्ध के भेद—(क) दिङ्नाग के अनुसार चार भेद—(1) धर्मस्वरूप विपरीत साधन, (2) धर्म विशेष विपरीत साधन, (3) धर्मिस्वरूप विपरीत साधन, (4) धर्मिविशेष विपरीत साधन।

(ख) भासर्वज्ञ के अनुसार इसके आठ भेद हैं—(1) पक्षविपक्ष व्यापक, (2) विपक्षैकदेशवृत्ति पक्षव्यापक, (3) पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति, (4) पक्षैकदेश-वृत्ति विपक्षव्यापक, (5) पक्षविपक्ष व्यापक, (6) पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति, (7) पक्षव्यापकविपक्षैकदेशवृत्ति, (8) विपक्षव्यापक पक्षैक देशवृत्ति।

भासर्वज्ञ को छोड़कर अन्य सभी नैयायिकों ने एक प्रकार का ही विरुद्ध माना है। यों भी विरुद्ध के उपभेद वाह्य कारणों पर आधारित हैं, आन्तरिक कारणों पर नहीं। इसलिये न्याय की परम्परा में विरुद्ध के उपभेदों को विशेष मान्यता नहीं मिली।

सव्यभिचार और विरुद्ध में अन्तर

(क) साधारण सव्यभिचार हेतु सपक्ष में भी रहता है, किन्तु विरुद्ध सपक्ष में कभी नहीं रहता। (ख) असाधारण सव्यभिचार हेतु साध्याभाव में रहता है किन्तु एक सर्वज्ञ ही साध्याभाव में नहीं रहता, जबकि विरुद्ध सर्वज्ञ साध्याभाव में ही रहता है। अनुपसंहारी सव्यभिचार में (सब कुछ का पक्ष में ही समावेश होने के कारण) अन्वय और व्यतिरेक दृष्टान्त ही उपलब्ध नहीं होते, जबकि विरुद्ध में दृष्टान्त उपलब्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त सव्यभिचार में व्याप्ति दोषयुक्त हो जाती है, जबकि विरुद्ध में विरुद्ध व्याप्ति हो जाती है।

(3) प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष)

जिस हेतु का प्रतिपक्षी हेतु भी प्रस्तुत किया जा सकता हो और दोनों में (पक्ष में प्रस्तुत हेतु और विपक्ष में प्रस्तुत हेतु) समान बल हों तो प्रकरणसम नामक हेत्वाभास कहलाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यदि किसी अनुमान वाक्य में ऐसा हेतु प्रयुक्त किया जाए, जो साध्य की सिद्धि तो करता है, किन्तु जिसका प्रतिपक्षी हेतु भी साध्य के अभाव की सिद्धि कर देता है, तो यह प्रकरणसम कहलाता है।

उदाहरण—शब्द अनित्य है, क्योंकि वह नित्य धर्म से रहित है। शब्द नित्य है, क्योंकि वह अनित्य धर्म से रहित है।

यहाँ साध्य (अनित्यत्व) के विपरीत अर्थ (नित्यत्व) का साधक दूसरा हेतु भी विद्यमान है अतः न तो पहला हेतु (नित्यधर्मराहित्य) अपने साध्य (शब्द का अनित्यत्व) को सिद्ध कर सकता है और न ही दूसरा हेतु (अनितमधर्म-राहित्य) अपने साध्य (शब्द के नित्यत्व) को सिद्ध कर सकता है।

वस्तुतः यहाँ दो ऐसे हेतुओं का एक साथ प्रयोग किया गया, जिनमें से एक तो साध्य की और दूसरा साध्य के अभाव की सिद्धि करता है। इसीलिए इन दोनों हेतुओं के समूह को सत्प्रतिपक्ष भी कहा जाता है। हेतु का प्रयोग निर्णय प्राप्त करने के लिए किया जाता है, पर यहाँ वह जिज्ञासा रूप प्रकरण को नहीं छोड़ता यानी जिज्ञासा का समाधान निर्णय से नहीं करता। अतः वह हेतु नहीं अपितु प्रकरणसम हेत्वाभास कहलाता है।

गंगेश के अनुसार 'साध्य के विरोधी साध्याभाव की उपस्थिति के उपस्थापन में समर्थ समानबल उपस्थिति से, जिस परामर्श का कार्य प्रतिरुद्ध हो जाता है, उस परामर्श के विषयीभूत लिंग को सत्प्रतिपक्ष कहा जाता है।'[172]

केशव मिश्र ने 'जिस हेतु के साध्य के विपरीत अर्थ का साधक कोई अन्य हेतु विद्यमान हो', उसको प्रकरणसम कहा है। अन्नंभट्ट के अनुसार 'जिस हेतु के साध्याभाव का साधक कोई अन्य हेतु हो, उसको सत्प्रतिपक्ष कहा जाता है'।

प्रकरण सम को प्रायः सभी नैयायिकों ने एक ही प्रकार का माना है।

[4] साध्यसम [असिद्ध]

यदि किसी अनुमानवाक्य में ऐसा हेतु प्रयुक्त किया जाए, जो साध्य के समान स्वयं ही साधन की अपेक्षा रखता हो, तो वह हेतु न होकर साध्यसम नामक हेत्वाभास कहलाता है। साध्य के विषय में सन्देह रहता है, अतः हेतु के द्वारा उसकी सिद्धि की जाती है। किन्तु हेतु स्वयं ही असिद्ध हो तो साध्य को कैसे सिद्ध कर सकता है ? यदि वह स्वयं सिद्ध नहीं है तो वह भी साध्य की कोटि में ही आ जाता है, साधन नहीं रहता।[173] इसी को असिद्ध कहा जाता है। कणाद ने इसी को अप्रसिद्ध कहा है।

भासर्वज्ञ ने उस हेतु को असिद्ध कहा है, जिसका पक्ष में रहना अनिश्चित हो। दीधितिकार के अनुसार अनैकान्तिक, (साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी) से भिन्न और यथार्थ ज्ञान का विषय होते हुए भी यदि कोई हेतु परामर्श का बाधक है तो वह असिद्ध हेत्वाभास कहलायेगा।

केशव मिश्र का कथन है कि लिंग के रूप में निश्चित न होनेवाला हेतु असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है।[174]

असिद्ध के उपभेद

विभिन्न आचार्यों ने इसके उपभेद विभिन्न प्रकार से बताये हैं : प्रशस्तपाद के अनुसार—इसके चार भेद हैं :—उभयासिद्ध, (शब्द अनित्य है सावयव होने से) अन्यतरासिद्ध (शब्द अनित्य है कार्य होने से) तद्भावासिद्ध (पर्वतवह्निमान) है वाष्प होने से (धूमभावेनाग्न्यधिगतौ कर्त्तव्यायामुदन्यस्यमानो वाष्पो धूमभावेनासिद्ध इति) तथा अनुमेयासिद्ध (तम पार्थिव द्रव्य है, कृष्णवर्णादि होने से)।

भासर्वज्ञ ने असिद्ध के चौदह उपभेद माने हैं, जो इस प्रकार हैं—(1) 'स्वरूपासिद्ध, (2) व्यधिकरणासिद्ध, (3) विशेष्यासिद्ध, (4) विशेषणासिद्ध, (5) भागासिद्ध, (6) आश्रयासिद्ध, (7) आश्रदैकदेशासिद्ध, (8) व्यर्थविशेष्यासिद्ध, (9) व्यर्थविशेषणासिद्ध, (10) संदिग्धासिद्ध, (11) संदिग्धविशेष्यासिद्ध, (12) सन्दिग्धविशेषणासिद्ध, (13) विरुद्धविशेष्यासिद्ध और (14) विरुद्धविशेषणासिद्ध।
कुमारिल ने असिद्ध के दो भेद बताये हैं—स्वरूपासिद्ध और आश्रयासिद्ध।

न्याय परम्परा में साध्यसम या असिद्ध के तीन भेदों का उल्लेख सर्वप्रथम उद्योतकर ने किया। किन्तु उन्होंने व्याप्यत्वासिद्ध के स्थान पर अन्यथासिद्ध शब्द का प्रयोग किया था। जयन्त और वाचस्पति मिश्र ने उद्योतकर का समर्थन किया, किन्तु उदयनाचार्य ने अन्यथासिद्ध के स्थान पर व्याप्यत्वासिद्ध को अपनाया। गंगेश ने उदयनसम्मत तीन भेदों को अपनाया। केशव मिश्र विश्वनाथ और अन्नंभट्ट ने गंगेश का अनुकरण किया।

केशव मिश्र के अनुसार असिद्ध के उपभेदों की रूपरेखा निम्नलिखित है—

(क) आश्रयासिद्ध—जिस हेतु के पक्ष का ही अभाव हो, वह आश्रयासिद्ध कहलाता है। उदाहरणतया आकाशकमल सुरभित है, कमल होने के कारण। इस अनुमान वाक्य में 'कमलत्व' हेतु है, किन्तु उसके पक्ष का अभाव है क्योंकि 'आकाशकमल' के रूप में जो 'पक्ष' बताया गया है, उसका तो अस्तित्व ही नहीं है।

परामर्श के लिए तीन बातें आवश्यक होती हैं—पक्ष, पक्षधर्मता और व्याप्ति। इन तीन में से जहाँ पक्ष का ही अभाव हो, वहाँ आश्रयासिद्ध हेत्वाभास होता है।

मथुरानाथ का कथन है कि 'जिस हेतु का पक्ष, पक्षतावच्छेदक के अभाव वाला हो, वह आश्रयासिद्ध है और ऐसे दोषवाला हेतु आश्रयासिद्ध नामक हेत्वाभास कहलाता है'।[175]

(ख) **स्वरूपासिद्ध**—यदि किसी अनुमान वाक्य में ऐसा हेतु प्रयुक्त किया जाए, जो स्वरूपतः ही सिद्ध नहीं होता, तो वह हेतु नहीं, अपितु स्वरूपासिद्ध नामक हेत्वाभास कहलायेगा। उदाहरणतया शब्द अनित्य है, चक्षुग्राह्य होने के कारण। यहाँ शब्द पक्ष है, चाक्षुषत्व हेतु है। किन्तु यह हेतु पक्ष में रहता ही नहीं है अतः उसमें पक्षधर्मता का अभाव है। शब्द का ग्रहण श्रोत्र द्वारा होता है, चक्षु द्वारा नहीं।

यह ज्ञातव्य है कि आश्रयासिद्ध में 'पक्ष' या तो अयथार्थ होता है, या दोषपूर्ण, जिससे कि उसका अस्तित्त्व सिद्ध नहीं होता। किन्तु स्वरूपासिद्ध में आश्रय का सद्भाव होने पर भी हेतु का सहभाव उसके साथ नहीं रहता। सव्यभिचार से साध्यसम (असिद्ध) का यह अन्तर है कि सव्यभिचार में दोषपूर्ण परामर्श होता है, जबकि साध्यसम में परामर्श होता ही नहीं है।

मथुरानाथ के अनुसार 'पक्ष' में होने वाले हेतु के अभाव को अथवा साधन के अभाव को स्वरूपासिद्धि कहते हैं और उक्त दोष वाला हेतु स्वरूपासिद्ध कहलाता है।

(ग) **व्याप्यत्वासिद्ध**—जहाँ हेतु में व्याप्ति का अवगम नहीं होता, यानी हेतु साध्य का व्याप्य नहीं बन पाता, वहाँ व्याप्यत्वासिद्धि नामक हेत्वाभास होता है। यह दो प्रकार का होता है—(१) व्याप्तिग्राहक प्रमाण के न होने से और (२) उपाधि के होने से। प्रथम भेद का उदाहरण है—शब्द : क्षणिक : सत्त्वात्। नैयायिकों के अनुसार 'क्षणिकता' के साथ 'सत्त्व' की व्याप्ति सिद्ध नहीं होती, क्योंकि इसके लिए व्याप्तिग्राहक कोई प्रमाण नहीं है। सत्ता स्थिर वस्तुओं की ही देखी जाती है अतः 'सत्त्व' यहाँ हेतु नहीं, अपितु व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास है।

द्वितीय भेद का उदाहरण है—**क्रत्वन्तर्वर्तिनी हिंसा अधर्मसाधनम्, हिंसात्वात्।** इस अनुमान में अधर्मसाधनत्व साध्य है तथा 'हिंसात्व' साधन है और निषिधत्व उपाधि है। यह उपाधि साध्य की व्यापक है। क्योंकि जहाँ-जहाँ अधर्मसाधनत्व होता है, वहाँ-वहाँ निषिधत्व नहीं होता। जैसे, यज्ञ की हिंसा में भी हिंसात्व तो है, किन्तु वहाँ निषिधत्व नहीं होता। अतः निषिधत्व सोपाधिक है। ज्ञातव्य है

कि विश्वनाथ व्याप्यत्वसिद्ध की परिभाषा में उपाधि का उल्लेख ही नहीं करते, जबकि अन्नंभट्ट उपाधि को ही व्याप्यत्वासिद्ध का आधार मानते हैं। केशवमिश्र ने दोनों प्रकार के व्याप्यत्यासिद्ध का अस्तित्व स्वीकार कर इनका समन्वय किया है।

व्याप्ति दोष समान होने पर भी व्याप्यत्वासिद्ध और सव्यभिचार में यह अन्तर है कि व्यभिचार दोष स्पष्ट रूप से प्रतीत हो जाता है, जबकि असिद्धि की प्रतीति अभावात्मक होती है।

मथुरानाथ का कथन हैं कि व्याप्ति की असिद्धि होने पर व्याप्यत्वासिद्धि दोष कहलाता है। और व्याप्यत्वासिद्धि दोष से युक्त हेतु व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभास कहलाता है।[176]

(5) कालातीत (कालात्ययापदिष्ट या बाधित)

गौतम के अनुसार जो हेतु कालात्यय होने पर उपदिष्ट हो उसे कालातीत कहा जाता है। समय का व्यतीत हो जाना ही कालात्यय है। केशवमिश्र के अनुसार प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के द्वारा पक्ष में जिस हेतु से साध्य का अभाव निश्चित कर लिया जाता है, उसे कालात्ययापदिष्ट कहते हैं। यही कालातीत या बाधित हेंत्वाभास भी कहलाता है।

उदाहरण—अग्नि अनुष्ण है, क्योंकि वह कृतक है, जैसे जल, यहाँ कृतकत्व हेतु है, और उसका जो साध्य अनुष्णत्व है, उसका अभाव प्रत्यक्ष के द्वारा ही निश्चित हो जाता है। स्पर्शेन्द्रिय द्वारा यह ज्ञात हो जाता है कि अग्नि उष्ण है।

वात्स्यायन के अनुसार कालातीत का आशय उस हेतु से है, जो काल के अतीत हो जाने के कारण अब साध्य की सिद्धि में समर्थ नहीं है। जैसे—'शब्द नित्य है, संयोग (भेदी-दण्ड आदि के) से प्रकट यानी व्यक्ति होने के कारण न कि उत्पन्न होने के कारण, रूप के समान (प्रदीप और घट के संयोग से घट का रूप व्यक्त होता है उत्पन्न नहीं)। इस अनुमान वाक्य में 'संयोग' (भेदी-दण्ड) से व्यंजित होना हेतु बताया गया है, किन्तु शब्द जिस समय सुनाई देता है, उस समय संयोग विद्यमान नहीं रहता। (भेदी-दण्ड के संयोग के कुछ देर बाद ही शब्द सुनाई देता है, तत्काल नहीं।) शब्द की गूँज तो काफी देर तक रहती है, जबकि भेदी-दण्ड आदि के संयोग का काल श्रवण से पहले ही अतिक्रान्त हो चुकता है। अतः यह (संयोगव्यङ्ग्यता दुष्ट हेतु है। दीप और घट के दृष्टान्त में तो जब तक दोनों

का संयोग रहता है, तब तक ही घट का रूप दिखाई देता है; किन्तु भेरी-दण्ड का संयोग समाप्त होने पर भी शब्द सुनाई देता रहता है। वह काल को छोड़ देता है अतः शब्द की नित्यता के लिए दिया गया संयोगव्यङ्ग्यता रूप हेतु दुष्ट है।

नव्यनैयायिकों ने इस हेत्वाभास को बाधित कहा है। बाधित का अर्थ है—'हेतु के साध्य के अभाव का प्रमाणान्तर से बाध हो जाना।' साध्याभाव प्रमात्मक ही होना चाहिए, क्योंकि अप्रमात्मक होने पर साध्याभावसंदेह और साध्याभावभ्रम की स्थिति में अनुमिति का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता।

सव्यभिचार नामक हेत्वाभास में परामर्श के प्रतिबन्ध से अनुमिति का निषेध होता है, जबकि बाधित हेत्वाभास सीधे ही अनुमिति का निषेध करता है। भासर्वज्ञ ने बाधित के छः भेद बताये हैं—प्रत्यक्षविरुद्ध, अनुमानविरुद्ध, प्रत्यक्षैकदेशविरुद्ध, अनुमानैकदेशविरुद्ध, आगम विरुद्ध, आगमैकदेशविरुद्ध। किन्तु अन्य नैयायिकों ने बाधित के भेदों पर विशेष बल नहीं दिया।

गंगेश ने पक्ष में साध्याभाव के निश्चय को बाध तथा इस दोष से विशिष्ट हेतु को बाधित कहा है।[177] उन्होंने इसके निम्नलिखित दस भेद बताये हैं—(1) धर्मिग्राहकमानबाधित, (2) साध्यप्रतियोगिग्राहकमानबाधित (३) साध्यग्राहकमानबाधित, (4) हेतुग्राहकप्रमाणबाधित। इनमें से प्रथम तीन के तीन-तीन भेद होते हैं और चतुर्थ एक ही प्रकार का होता है।

(ग) दृष्टान्ताभास (निदर्शनाभास या उदाहरणाभास)

न्यायदर्शन में दृष्टान्ताभासों की चर्चा वाचस्पति मिश्र और जयन्त भट्ट के ग्रन्थों से आरम्भ हुई। वाचस्पति ने साधर्म्य-वैधर्म्य भेद से दो प्रकार के दृष्टांतों का उल्लेख तो किया, किन्तु व्याख्या उन्होंने केवल पाँच प्रकार के साधर्म्य दृष्टान्तों की ही की। जयन्त भट्ट ने वैधर्म्यदृष्टांताभासों का भी उल्लेख किया। जयन्त ने कुल मिलाकर दस प्रकार के दृष्टांताभासों का विवेचन किया। वैसे वचन दोषों को छोड़ दिया जाए तो उनकी संख्या छः रह जाती है। भासर्वज्ञ ने उनमें दो भेद जोड़कर बारह कर दिये। गंगेश ने भी दृष्टांताभास के बारह भेद माने, किन्तु इनके नामों में कुछ परिवर्तन कर दिया।

वैसे दृष्टान्ताभासों में सर्वप्रथम विवेचन प्रशस्तपाद के वैशेषिक भाष्य में मिलता है। उन्होंने दृष्टान्त के लिए निदर्शन शब्द का प्रयोग किया और इसके बारह भेद बताये। न्याय में भी कुछ नामपरिवर्तन के साथ वही बारह भेद

प्रचलित हुए। अतः यहाँ दृष्टान्ताभास के प्रथम दस भेदों का विवरण जयन्त भट्ट के मतानुसार दिया जा रहा है—

(क) साधर्म्य दृष्टान्ताभास

(1) साधनविकल : शब्द नित्य है, अमूर्त होने के कारण, यथापरमाणु (परमाणु में अमूर्तत्व (लिंग) सिद्ध नहीं है)।

(2) साध्यविकल : शब्द नित्य है, अमूर्त होने के कारण। जो अमूर्त होता है, वह नित्य होता है, यथा बुद्धि [बुद्धि में नित्यत्व (साध्य) सिद्ध नहीं है]।

(3) उभयविकल : शब्द नित्य है, अमूर्त होने के कारण। जो अमूर्त होता है, वह नित्य होता है जैसे—घट। यहाँ घट में न तो अमूर्तत्व (लिंग) है न ही नित्यत्व (साध्य)।

(4) अनन्वय : जो अमूर्त है वह नित्य है, जैसे आकाश, ऐसा वक्तव्य होने पर यह कहना कि आकाश में नित्यत्व तथा अमूर्तत्व है।

(5) विपरीतान्वय : जो नित्य है, वह अमूर्त है (कहना यह चाहिए था कि जो अमूर्त है, वह नित्य है।)

(ख) वैधर्म्यदृष्टान्ताभास

(1) साध्याव्यावृत्त : शब्द नित्य है, अमूर्त होने के कारण जो नित्य नहीं होता वह अमूर्त भी नहीं होता, जैसे परमाणु। यहाँ साधन अमूर्तत्व की व्यावृत्ति हो जाती है किन्तु साध्य (नित्यत्व) की व्यावृत्ति होती।

(2) साधनाव्यावृत्त : शब्द नित्य है, अमूर्त होने के कारण जो अनित्य होता है, वह मूर्त होता है, जैसे बुद्धि (या कर्म)। ज्ञातव्य है कि यहाँ बुद्धि (दृष्टान्त) में अमूर्तत्व (लिंग) की व्यावृत्ति दिखाई नहीं देती। फलतः यहाँ वैधर्म्य दृष्टान्त नहीं, अपितु गाधनाव्यावृत्त दृष्टान्ताभास है।

(3) उभयाव्यावृत्त : शब्द नित्य है, अमूर्त होने के कारण जो नित्य नहीं होता वह अमूर्त भी नहीं होता, जैसे आकाश। यहाँ आकाश को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया, किन्तु आकाश में अनित्यत्व और अमूर्तत्व दोनों का अभाव है।

(4) अव्यतिरेक (वचन दोष) : जहाँ नित्यत्व नहीं है, वहाँ अमूर्तत्व भी नहीं। जैसे घट में। ऐसा वक्तव्य होने पर यह कहना कि 'घट में नित्यत्व और अमूर्तत्व नहीं।'

(5) विपरीतव्यतिरेक (वचनदोष) : जहाँ आग नहीं, वहाँ धूम भी नहीं है।

प्रशस्तपाद के अनुसार निदर्शनाभास निम्नलिखित हैं।

साधर्म्यनिदर्शनाभास--(1) लिंगासिद्ध, (2) अनुमेयासिद्ध, (3) उभयासिद्ध, (4) आश्रयासिद्ध, (5) अननुगत, (6) विपरीतानुगत।

वैधर्म्यनिदर्शनाभास—(1) लिंगाव्यावृत्त, (2) अनुमेयाव्यावृत्त, (3) उभयाव्यावृत्त, (4) आश्रयाव्यावृत्त, (5) अव्यावृत्त, (6) विपरीत व्यावृत्त।

जैमिनि और शबर ने दृष्टान्ताभासों का उल्लेख नहीं किया। कुमारिल ने साधर्म्य दृष्टान्ताभास और वैधर्म्यदृष्टान्ताभास के दो-दो भेद बता कर कुल चार प्रकार के दृष्टान्ताभासों का उल्लेख किया है—

(1) रचनादोष—साधर्म्य दृष्टान्ताभास
(2) अर्थअन्यथात्वदोष---दृष्टान्ताभास
(3) रचनादोष—वैधर्म्यदृष्टान्ताभास।
(4) अर्थअन्यथादोष—वैधर्म्यदृष्टान्ताभास

पार्थसारथि मिश्र ने शास्त्र दीपिका में साध्यविकल साध्याभाव विकल आदि दृष्टान्ताभासों का दिग्दर्शन किया।

प्रभाकर मतानुयायी शालिकनाथ ने चार प्रकार के साधर्म्यदृष्टान्ताभास बताये हैं—(1) साध्यविकल, (2) साधनविकल, (3) उभयविकल, (4) संबंध नियमविकल। वैधर्म्य दृष्टान्ताभासों का इन्होंने उल्लेख ही नहीं किया। क्योंकि यह वैधर्म्यदृष्टान्त की उपयोगिता को ही स्वीकार नहीं करते।

योग और वेदान्त में दृष्टान्ताभासों का उल्लेख नहीं मिलता। सांख्य में भी केवल माठर ने दृष्टान्ताभासों की संख्या दस बताई पर उनका निरूपण नहीं किया।

बौद्ध ग्रन्थ 'न्यायप्रवेश' के अनुसार दृष्टान्ताभास के दस भेद निम्नलिखित हैं।

साधर्म्यदृष्टान्ताभास—(1) साधनधर्मासिद्ध, (2) साध्यधर्मासिद्ध, (3) उभयधर्मासिद्ध, (4) अनन्वय, (5) विपरीतान्वय।

वैधर्म्यदृष्टान्ताभास—(1) साध्यव्यावृत्त, (2) साधनाव्यावृत्त, (3) उभयाव्यावृत्त, (4) व्यतिरेक, (5) विपरीतव्यतिरेक।

धर्मकीर्ति ने इन भेदों को स्वीकार करते हुए इनमें आठ भेद और जोड़े जो इस प्रकार हैं—(1) संदिग्ध साध्य, (2) संदिग्धसाधन, (3) संदिग्धउभय, (4) अनन्वय, (5) संदिग्ध साध्यव्यतिरेक, (6) संदिग्धसाधन व्यतिरेक (7) संदिग्ध उभयव्यतिरेक (8) अव्यतिरेक।

जैन परम्परा में दृष्टान्तभासों का सर्वप्रथम उल्लेख 'न्यायावतार' में मिलता है।

साधर्म्य दृष्टान्ताभास–(1) साध्यविकल, (2) साधनविकल, (3) उभयविकल, (4) संदिग्धसाध्यधर्म (5) संदिग्धसाधनधर्म (6) संदिग्ध उभयधर्म।

वैधर्म्यदृष्टान्ताभास—(1) साध्याव्यतिरेक, (2) साधनाव्यतिरेक, (3) उभयाव्यतिरेक, (4) संदिग्धसाध्यव्यतिरेक, (5) संदिग्धसाधनव्यतिरेक (6) संदिग्धउभय व्यतिरेक।

हेमचन्द्र ने इनमें से अनन्वय और अव्यतिरेक को छोड़ कर बाकी सोलह भेदों का समर्थन किया।

उपनयाभास

उपनयाभासों और निगमनाभासों की चर्चा वादिदेव सूरि ने प्रमाणनयतत्त्वालोक में की है। उनका कथन है कि पक्ष (साध्यधर्मी) में हेतु का उपसंहार ही उपनय है, किन्तु यदि साध्यधर्म का साध्यधर्मी में अथवा साधन धर्म का दृष्टांत धर्मी (सपक्ष) में उपसंहार कर दिया जाये तो उपनयाभास हो जायेगा।

उदाहरण—शब्द परिणामी है, कृतक होने से, जो परिणामी होता है, वह कृतक होता है, जैसे घट। इन तीनों अवयवों के कथन के बाद यदि 'शब्द कृतक है,' ऐसा न कहकर कोई यह कहे कि 'शब्द परिणामी है' अथवा 'घट कृतक है' तो यह उपनयाभास होगा।

(ङ) निगमनाभास

साध्यधर्म का साध्यधर्मी में उपसंहार निगमन कहलाता है। इसके विपरीत यदि साधन धर्म का साध्यधर्मी में अथवा साध्यधर्म का दृष्टांत-धर्मी में उपसंहार कर दिया जाये तो यह निगमनाभास कहलायेगा। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में 'शब्द परिणामी है,' ऐसा न कह कर कोई यह कहे कि 'शब्दकृतकहै' अथवा 'घट परिणामी है' तो यह निगमनाभास कहलायेगा।

अनुमानाभासों के उपर्युक्त विश्लेषण को ध्यान में रखते हुये यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः हेत्वाभासों के अतिरिक्त अन्य अवयवों के आभासों की पृथक् चर्चा अनावश्यक है। क्योंकि ये किसी-न-किसी रूप में हेतु दोषों, जाति दोषों और निग्रहस्थानों में ही समाहित हो जाते हैं। प्रशस्तपाद आदि आचार्यों ने इनकी पृथक् गणना क्यों की ? इस सम्बन्ध में प्रो० कीथ का यह मत है कि उन्होंने दिङ्नाग से प्रभावित होकर ऐसा किया। किन्तु कीथ का यह कथन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि गौतम ने प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध तथा प्रतिज्ञा संन्यास की गणना निग्रहस्थानों में की है। अतः प्रशस्तपाद को जो प्रेरणा मिली वह गौतम और वात्स्यायन से ही मिली होगी, दिङ्नाग से नहीं। वैसे भी प्रशस्त द्वारा निर्दिष्ट पाँचों प्रतिज्ञाभासों का गौतम द्वारा उल्लिखित प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान में अन्तर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार प्रशस्तपाद द्वारा दृष्टांत-भासों के रूप में निर्दिष्ट लिंगासिद्ध, लिंगाव्यावृत्त, अनुमेयासिद्ध, अनुमेयाव्यावृत्त, उभयासिद्ध, उभयाव्यावृत्त, आश्रयासिद्ध, आश्रयाव्यावृत्त का गौतम द्वारा उल्लिखित साधर्म्यसम तथा वैधर्म्यसम जाति भेदों में अन्तर्भाव हो जाता है। इसके साथ ही प्रशस्तपाद द्वारा चर्चित अननुगत, अव्यावृत्ति तथा विपरीतानुगत विपरीत व्यावृत्ति नामक दर्शनाधासों का अन्तर्भाव गौतम द्वारा निरूपित न्यून तथा अप्राप्तकाल नामक निग्रह स्थानों में किया जा सकता है। जैन आचार्यों द्वारा निरूपित उपनयाभास और निगमनाभास का भी समावेश हेत्वाभासों में ही हो जाता है। अतः अनुमानाभास या न्यायाभास भी वस्तुतः हेत्वाभास ही हैं।

10. अनुमान की प्रक्रिया के आनुषंगिक तत्त्व

न्यायसूत्र में परिगणित प्रमाण प्रमेयादि सोलह विषयों में से प्रयोजन, दृष्टांत सिद्धांत, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, छल, जाति तथा निग्रह-स्थान वस्तुतः प्रमुखरूप से अनुमान की प्रक्रिया के अंग हैं। अतः अनुमान के सन्दर्भ में इनका विवेचन भी आवश्यक है।

[1] प्रयोजन

जिससे प्रेरित होकर किसी कार्य को करने में प्रवृत्ति होती है, वह प्रयोजन कहलाता है।[178] वात्स्यायन का कथन है कि 'जिस अभीष्ट की प्राप्ति और अनभीष्ट के निवारण के लिए इच्छा करते हुये प्रयत्न किया जाता है, वह प्रयोजन है। संसार के समस्त प्राणी, समग्र कर्म और सम्पूर्ण विद्याएँ कर्म से ही व्याप्त हैं। क्योंकि प्रयोजन से ही न्याय की प्रवृत्ति होती है, इसी कारण प्रयोजन न्याय का भी मूल हैं।[179] केशव मिश्र के विचार में संक्षेपत: सुख की प्राप्ति और दु:ख की हानि के उद्देश्य से ही व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है। अत: इस प्रवृत्ति के प्रेरक को ही प्रयोजन कहते हैं। गदाधर के अनुसार प्रयोजन के दो भेद होते हैं—मुख्य और गौण। जो प्रयोजन अपने आप में ही पूर्ण हो यानी किसी दूसरे प्रयोजन का अंग न हो वह मुख्य होता है। इसके विपरीत जो प्रयोजन किसी दूसरी इच्छा की पूर्ति का साधन बनता है, वह गौण प्रयोजन कहलाता है।[180]

[2] दृष्टांत

लोकव्यवहार को जानेवाले तथा शास्त्रों में निपुण लोगों का जिस विषय में एकमत हो, वह दृष्टान्त कहलाता है।[181] इसका आशय यह है कि लौकिक प्राणी जिस अर्थ को जिस प्रकार जानते हैं, यदि परीक्षक कोटि के लोग भी उस अर्थ को वैसा ही मानें तो वह दृष्टान्त माना जाता है। केशव मिश्र के अनुसार वादी और प्रतिवादी की सहमति (संप्रतिपत्ति) का विषय जो अर्थ है, वह दृष्टान्त कहलाता है।[182]

दृष्टान्त न्याय का अंग है क्योंकि इसी से वक्ता के द्वारा अपने पक्ष की स्थापना की जाती है। इसी प्रकार प्रतिपक्षी के मत का भी, प्राय: उसके द्वारा दिये गये दृष्टान्त में विरोध दिखाने से खण्डन हो सकता है। दृष्टान्त ही अनुमान के पाँच अवयवों में उदाहरण नामक अवयव बन जाता है, अत: दृष्टान्त का न्याय-प्रक्रिया में अपना विशिष्ट स्थान है।[183] सर्वदर्शनसंग्रहकार के अनुसार जिसके आधार पर व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान होता है वह दृष्टान्त है। दृष्टान्त दो प्रकार के होते हैं—साधर्म्य और वैधर्म्य। अन्वय व्याप्ति का उदाहरण—जैसे धूम से पर्वत में अग्नि के अनुमानमें पाकशाला साधर्म्य दृष्टान्त और व्यतिरेक व्याप्ति का उदाहरण—जैसे धूम से पर्वत पर अग्नि के अनुमान में जलाशय वैधर्म्य दृष्टान्त है।

बौद्ध नैयायिकों में से दिङ्नाग व्याप्ति की सिद्धि के लिए दोनों प्रकार के उदाहरण देना आवश्यक समझते हैं, जबकि धर्मकीर्ति दृष्टान्त को आवश्यक नहीं समझते। उनके मतानुसार 'जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है' इस व्याप्तिबोधक वाक्य में सब उदाहरणों का अन्तर्भाव हो जाता है। अत: अलग से दृष्टान्त देना व्यर्थ है। इस धारणा के विपरीत उद्योतकर और प्रशस्तपाद का यह कथन भी उल्लेखनीय है कि यदि उदाहरण का बन्धन न रहे तो असत्य व्याप्ति के बल पर भी कोई अपना पक्ष सिद्ध कर सकता है। दृष्टान्त का कार्य व्याप्ति का सम्बन्ध दिखलाना है, न कि उसे सिद्ध करना। अत: नैयायिकों के विचार में लाघव की दृष्टि से एक ही उदाहरण पर्याप्त है।

[3] सिद्धान्त

न्यायसूत्र के उपलब्ध पाठ में 'सिद्धान्त' का सुस्पष्ट लक्षण नहीं मिलता। फिर भी इस संदर्भ में सूत्रकार और भाष्यकार के मतों का सार यह है कि जब कोई विषय प्रमाण द्वारा सिद्ध या स्थापित हो जाय तो वह सिद्धांत कहलाता है। गौतम के अनुसार तन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम के सहारे ही सिद्धान्त स्थापित होता है।[184] केशव मिश्र के अनुसार प्रामाणिक रूप में माना गया अर्थ सिद्धान्त है।[185]

सिद्धांत के निम्नलिखित रूप से चार भेद माने गये हैं—

(क) सर्वतन्त्रसिद्धान्त—तन्त्र का अर्थ है शास्त्र। अत: जो सिद्धान्त सभी शास्त्रों में समानरूप से मान्य हो, यानी अपने शास्त्र में जिसका प्रतिपादन किया गया हो और जिससे किसी भी शास्त्र का मतभेद न हो, वह सर्वतन्त्र-सिद्धान्त कहलाता है।[186]

(ख) प्रतितन्त्रसिद्धान्त—जिस सिद्धांत को कुछ शास्त्र मानें और कुछ शास्त्र न मानें यानी जो सिद्धांत सर्वसम्मत न हो, वह प्रतितन्त्रसिद्धांत कहलाता है। जिन शास्त्रों में किसी सिद्धान्त को समानरूप से माना जाता है, वे समान-तन्त्र माने जाते हैं। न्याय और वैशेषिक समानतन्त्र हैं।

सांख्य तथा योग दर्शन आपस में समानतन्त्र हैं। इस प्रकार यदि कोई सिद्धांत न्याय वैशेषिक में स्वीकृत हो; किन्तु सांख्य में उसकी मान्यता न हो तो वह प्रतितन्त्र कहलायेगा। 'जैसे शब्द अनित्य है'—यह नैयायिकों का सिद्धांत है, किन्तु मीमांसा दर्शन इसको नहीं मानता, अत: वह प्रतितन्त्र सिद्धांत है।

(ग) **अधिकरणसिद्धान्त**—जिसकी सिद्धि होने पर अन्य प्रकरण की सिद्धि स्वाभाविक रूप से ही हो जाती है, वह अधिकरणसिद्धांत कहलाता है। जैसे यदि पुनर्जन्मवाद मान लिया जाये तो आत्मा का अस्तित्व और उसका शरीर से पार्थक्य अपने आप सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार क्षिति आदि के कर्त्ता (ईश्वर) की सिद्धि हो जाने पर उस कर्त्ता की सर्वज्ञता आदि स्वतः सिद्ध हो जाते हैं।

(घ) **अभ्युपगमसिद्धांत**—जो अर्थ सिद्धांतभूत न होने पर भी प्रयोजनवशात् कुछ समय के लिए सिद्धांत रूप में मान लिया जाता है, उसे अभ्युपगम सिद्धान्त कहा जाता है। उदाहरणतया शब्द की नित्यता और अनित्यता के विषय में विवाद है। मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं, और नैयायिक अनित्य। ऐसा होते हुये भी यदि थोड़ी देर के लिए मीमांसक शब्द को अनित्य मान लें तो यह अभ्युपगम सिद्धान्त कहलायेगा।

(4) तर्क

जिस विषय का तत्त्वज्ञान उपलब्ध नहीं है, उस विषय का तत्त्वज्ञान करने के लिये कारण की उपपत्ति करते हुये एक पक्ष की जो सम्भावना की जाती है, उसका नाम तर्क है। संदिग्ध पक्षों में से जिस ओर कारण की उपपत्ति देखने में आती है, उसी की सम्भावना मानी जाती है। इसी सम्भावना या अनुज्ञा को तर्क कहते हैं।[187] गौतम के अनुसार तर्क तत्त्वज्ञान में सहायक होता है, किन्तु उत्तरवर्ती नैयायिकों (विश्वनाथ) आदि के अनुसार तर्क अनुमानगत व्याप्ति में सहायक होता है।

तर्क अपने-आप में कोई प्रमाण नहीं है। वह अन्य प्रमाणों का अनुग्राहक (सहायक) है।[188] उदाहरणतया 'यह पर्वत अग्निमान् है, या अग्निहीन है ऐसा सन्देह होने पर यदि किसी व्यक्ति के द्वारा यह मान लिया जाता है कि 'पर्वत अग्निहीन है' तो इस धारणा को दूर करने के लिए यह कहा जा सकता है कि 'यदि पर्वत अग्निहीन होता तो धूमहीन भी होता, क्योंकि जहाँ अग्नि का अभाव होता है, वहाँ धूम का भी अभाव होता है।' अग्निराहित्य से पर्वत में होनेवाली धूमराहित्य की आपत्ति को तर्क कहा जाता है।[189]

तर्क का पर्यवसान विपरीतानुमान में होता है। जो तर्क विपरीतानुमान में फलित नहीं होता, तो वह तर्काभास होता है। विपरीतानुमान द्वारा पर्वत में अग्निराहित्य का प्रतिषेध होता है, जिससे कि पर्वत में अग्नि के अस्तित्व का प्रतिपादन होता है।

तर्क का अन्तर्भाव संशय में नहीं होता, क्योंकि संशय में परस्पर विरुद्ध दो कोटियों का ज्ञान होता है, जबकि तर्क में केवल एक ही कोटि का ग्रहण होता है। संशय में निश्चय या तदर्थ प्रयत्न नहीं रहता, जबकि तर्क में निश्चय के लिए प्रयत्न रहता है। प्रशस्तपाद ने तर्क का उल्लेख अनध्यवसाय के रूप में किया है और इसके दो भेद बताये हैं—(1) प्रत्यक्ष विषयक अनध्यवसाय और अनुमान विषयक अनध्यवसाय। तत्त्वज्ञान या अनुमान में सहायक होते हुये भी तर्क को प्रमा नहीं माना जाता, क्योंकि इसमें निश्चयात्मकता नहीं होती।

भाषापरिच्छेद में व्यभिचार की शंका के निवर्तक वाक्य को तर्क कहा गया है। किन्तु विश्वनाथ का यह कथन युक्तिसंगत नहीं लगता, क्योंकि तर्क के जितने भेद हैं, वे दोष हैं अतः वे व्यभिचार का निवारण कैसे कर सकते हैं।

तर्क के भेद

तर्क के निम्नलिखित पाँच भेद माने गये हैं।

(क) प्रमाणबाधितार्थप्रसंग (Reductio ad absurdum)—यह विरोधी पक्ष की असंभाव्यता बता कर अपने पक्ष को सिद्ध करने का प्रयास है। विरोधी के पक्ष के अनुकूल तर्क आरम्भ करके (जैसे यदि पर्वत पर अग्नि का अभाव होता तो उसमें धूम का भी अभाव होता) जब प्रत्यक्ष द्वारा उस तर्क का खण्डन हो जाता है (क्योंकि पर्वत पर धूम दिखाई दे रहा है) तो ऐसा तर्क प्रमाणबाधितार्थ प्रसंग कहलाता है। यहाँ तर्क द्वारा सिद्ध अर्थ का अन्य प्रमाण (प्रत्यक्ष) द्वारा बाध हुआ है। इस प्रकार विपरीत अनुमान का हेतु वस्तुतः हेत्वाभास है।

(ख) आत्माश्रय—यदि किसी वस्तु का प्रतिपादन उसी वस्तु के आधार पर किया जाये तो वहाँ आत्माश्रय दोष होता है (स्वनैव स्वस्य सिद्धिर्या तदात्माश्रयदूषणम्)।

उदाहरण—यद्ययं घट एतद्घटजन्यः स्यात् एतद्घटानधिकरणोत्तरक्षणवर्ती न स्यादिति।

(ग) अन्योन्याश्रय—जहाँ दो लक्षण या कथन अपने प्रयोग या सिद्धि के लिए एक दूसरे पर आश्रित हों तो, वहाँ अन्योन्याश्रय दोष होता है, और उस दोष की उपेक्षा करते हुये उसी पर आश्रित जो तर्क प्रस्तुत किया जाता है, वह अन्योन्याश्रय कहलाता है।[190]

उदाहरण—यद्येतौ बीजवृक्षौ अन्योन्यजन्यौ स्याताम्, तदा उभयभिन्नौ स्याताम्। एकासिद्ध्या वा उभावपि न स्याताम्।

(घ) **चक्रक**—जहाँ एक कथन दूसरे कथन पर और दूसरा तीसरे पर तथा तीसरा पहले पर आश्रित हो यानी अनेक पदार्थ परस्पर सापेक्ष भाव से चक्राकार रूप में एक दूसरे पर अवलम्बित हों, वहाँ चक्रक दोष कहलाता है।[191]

(ङ) **अनवस्था**—यदि किसी प्रसंग में तर्क की परम्परा का आरोप करते-करते कोई विराम न हो, यानी एक ही दिशा में कल्पना करें और कहीं भी उसका अन्त न हो तो वह अनवस्था दोषग्रस्त तर्क कहलाता है।[192]

अन्य दोष—उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त प्राचीन नैयायिकों के निम्नलिखित तर्क दोषों का भी उल्लेख किया है—

(1) व्याघात असम्बद्धार्थक वाक्य जैसे—मैं मूक हूँ (Self contradiction)
(2) प्रतिबन्धिकल्पना प्रतिवादिमतेऽनिष्टान्तरप्रसंजनम् (opposite hypothesis) यदि पुरुष होने के कारण यह चोर है, तो आप भी चोर हैं।
(3) कल्पनालाघव (Inadequate hypothesis)।
(4) कल्पनागौरव (Radundant hypothesis)।
(5) उत्सर्ग (सामान्य नियम, general Rule)।
(6) अपवाद (विशेष नियम, Exception)।

(5) निर्णय

निर्णय का अर्थ—अवधारणात्मक ज्ञान। जिस पक्ष की प्रमाण द्वारा स्थापना की जाती है, उसका अवधारण निर्णय कहलाता है। गौतम के अनुसार पक्ष और प्रतिपक्ष का सम्यक् विश्लेषण कर अर्थ का अवधारण करना निर्णय है। वात्स्यायन के विचार में निर्णयरूपी तत्त्वज्ञान ही प्रमाणों का फल है।

(6) वाद

तत्त्व की जिज्ञासा से किसी विषय पर जो चर्चा की जाती है, उसको 'वाद' कहा जाता है। वाद का उद्देश्य तत्त्वनिर्णय होता है। इसमें पक्ष की बौद्धिक श्रेष्ठता का प्रतिपादन या विपक्ष की दुर्बलता का आख्यान करने की भावना उतनी प्रबल नहीं होती, जितनी की सम्बद्ध विषय के तत्त्व को जानने की। अतः पक्ष और प्रतिपक्ष में वे ही बातें कही जाती हैं, जो प्रामाणिक हों। इसमें वादी और प्रतिवादी ज्ञान के भूखे होते हैं, न कि विजय के इच्छुक। गौतम के अनुसार वाद में निम्नलिखित लक्षण होने चाहिये (क) वाद में पक्ष-विपक्ष के खण्डन-मण्डन के लिए प्रमाण का ही आश्रय लिया जाता है, छल आदि का नहीं, (ख) इसमें सिद्धांत से विरुद्ध कोई बात नहीं कही जानी चाहिये। (ग) इसमें पंचावयवोपेत अनुमान

का प्रयोग अपेक्षित है। क्योंकि वाद का उद्देश्य विचार-विनिमय द्वारा तत्त्वज्ञान करना है; अतः वादी-प्रतिवादी इसे एकान्त में भी कर सकते हैं। इसके लिए सभी की अनिवार्यता नहीं है।[194]

(7) जल्प

किसी भी तरह जीतने की इच्छा से जो वादविवाद किया जाता है, वह जल्प कहलाता है। इसमें प्रतिद्वन्द्वी को परास्त करना ही एकमात्र लक्ष्य होता है, अतः प्रतिपक्षी को परास्त करने के लिए छल, जाति और अनुचित साधनों का भी प्रयोग किया जाता है। वादी या प्रतिवादी अपने पक्ष को दुर्बल जानते हुये भी अपने वाक्चातुर्य के बल पर अपनी बात को सिद्ध करना चाहता है। इस प्रकार जिसमें छलबल करने की अधिक शक्ति होती है, उसकी विजय हो जाती है।[195]

(8) वितण्डा

जिस कथा में केवल परपक्ष का खण्डन किया जाता है, किन्तु स्वपक्ष की स्थापना नहीं की जाती, उसको वितण्डा कहा जाता है। जल्प में पर पक्ष के खण्डन के साथ स्वपक्ष का स्थापन किया जाता है, जबकि वितण्डा में केवल परपक्ष का ही खण्डन किया जाता है। वैतण्डिक का अपना कोई पक्ष नहीं होता।

कथा—भाष्यकार वात्स्यायन का कथन है कि वाद, जल्प और वितण्डा को सामूहिक रूप से कथा कहते हैं। कथा वस्तुतः पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का प्रतिपादन करने के लिए अनेक वक्ताओं के द्वारा प्रयुक्त होनेवाला वाक्य समूह है। चरक-संहिता में कथा को सम्भाषा कहा गया है। सम्भाषा के दो भेद बताये गये हैं—(क) **'सन्धाय सम्भाषा'** अर्थात् सन्धि (सौमनस्य) से किया जानेवाला विचार-विनिमय और (ख) **'विगृह्य सम्भाषा'** यानी जय-पराजय के ध्येय से किया जानेवाला विचार-विनिमय। प्रथम के अन्तर्गत न्यायशास्त्रीय वाद का और द्वितीय के अन्तर्गत न्यायशास्त्रीय जल्प और वितण्डा का समावेश हो सकता है। जैन दार्शनिकों ने जल्प और वितण्डा को कथा न मानकर कथाभास माना और कथा का केवल एक ही प्रकार यानी 'वाद' माना। बौद्धदर्शन में पहले के आचार्यों ने तो कथा के तीनों भेद माने, किन्तु उत्तरवर्ती बौद्धों ने जैनाचार्यों के समान ही जल्प और वितण्डा को कथा के क्षेत्र से पृथक् कर 'वाद' को ही कथा के रूप में मान्य समझा। इस सन्दर्भ में गौतम का यह कथन भी उल्लेखनीय है कि न्यायशास्त्र में जल्प और वितण्डा यथार्थज्ञान के साधन तो नहीं हैं, किन्तु जैसे सफल

की रक्षा के लिए काँटे का घेरा बनाया जाता है, उसी प्रकार दुष्टों से तत्त्व की रक्षा करने के लिये जल्प और वितण्डा का प्रयोग किया जाता है। अतः कथा का त्रैविध्य युक्तिसंगत है।[196]

(9) छल

किसी के कथन का मनगढ़न्त या वक्ता द्वारा अनभिप्रेत अर्थ लगाकर उसमें दोष दिखाना 'छल' कहलाता है। सूत्रकार गौतम के अनुसार 'अर्थ भेद को ग्रहण कर वादी के वचन का जो खण्डन किया जाता है, उसका नाम छल है। उदाहरणतया यदि कोई वादी **'नवकम्बलोऽयं माणवकः'** इस वाक्य को इस अभिप्राय से कहें कि 'इस बालक के पास नया कम्बल है,' किन्तु प्रतिवादी नव शब्द का नौ अर्थ लगाकर यह कहे कि उक्त कथन असत्य है, क्योंकि बालक के पास नौ कम्बल नहीं हैं, तो यह छल कहलायेगा। प्रकारान्तर से इस बात को इस तरह से भी कहा जा सकता है कि वक्ता की बात का असली मतलब छोड़कर उसका दूसरा मतलब लगाकर उसकी धज्जियाँ उड़ाना छल है।

छल के तीन भेद होते हैं—वाक्छल, सामान्य छल और उपचार छल। इनका स्वरूप इस प्रकार हैं—

(क) **वाक्छल**—जब वक्ता किसी शब्द का प्रयोग किसी एक अर्थ को ध्यान में रख कर करता है, किन्तु श्रोता खण्डन करने की इच्छा से उस शब्द का कोई अन्य ही अर्थ कर डाले तो यह वाक्छल कहलायेगा। **'नव कम्वलोऽयं माणवकः'** इसका उदाहरण है।

(ख) **सामान्य छल**—वादी द्वारा प्रयुक्त शब्द का संभावित अर्थ छोड़कर सामान्यधर्म के आधार पर किसी असम्भव अर्थ की कल्पना करते हुये वक्ता के कथन में दोष दिखाना 'सामान्यछल' कहलाता है। उदाहरण के रूप में वादी ने कहा—'यह ब्राह्मण विद्वान् है'। इस पर यदि प्रतिवादी कहे कि यदि ब्राह्मण में विद्या हो तो वह व्रात्य (संस्कार रहित) ब्राह्मण में भी होनी चाहिये। इस प्रकार यद्यपि वादी ने ब्राह्मणत्व को विद्वता का कारण नहीं बताया था, किन्तु प्रतिवादी ब्राह्मणता रूपी सामान्य धर्म को विद्वता का कारण बताकर जानबूझकर वादी के वचन का खण्डन करने का प्रयास करे तो यह सामान्य छल कहलायेगा।

(ग) **उपचार छल**—शब्द के मुख्य और गौण दो प्रकार के अर्थ हो सकते हैं। कभी-कभी वक्ता मुख्य अर्थ की अपेक्षा गौण अर्थ में शब्दों का प्रयोग करता है। यानी वक्ता शब्द के अभिधेयार्थ की अपेक्षा उसके लाक्षणिक अर्थ को लक्ष्य

करके शब्द का प्रयोग करता है। ऐसी स्थिति में प्रतिवादी या श्रोता को सम्बद्ध शब्द का लाक्षणिक अर्थ ही ग्रहण करना चाहिये, किन्तु यदि वह जानबूझकर वक्ता पर दोषारोपण करने के लिए वाक्य का तात्पर्यार्थ न लेकर उसका अभिधेयार्थ ही ग्रहण करता है तो यह उपचार छल कहलायेगा। उदाहरणतया **'मंचाः क्रोशन्ति'** इस वाक्य का प्रयोग वादी इस अर्थ में करता है कि मंचस्थ पुरुष चिल्ला रहे हैं, किन्तु प्रतिवादी यदि यह कहे कि मंच तो निर्जीव हैं, वे कैसे चिल्ला सकते हैं ? तो यह उपचार छल माना जाएगा।

[10] जाति

असद् उत्तर को 'जाति' कहा जाता है। यदि वादी उदाहरण साधर्म्य से साध्य की सिद्धि दिखाता है और व्याप्ति की प्रक्रिया की उपेक्षा करके कोई प्रतिवादी, उदाहरण के वैधर्म्य से साध्य की असिद्धि दिखाता है अथवा वादी उदाहरण के वैधर्म्य से साध्य की सिद्धि दिखाता है और प्रतिवादी व्याप्ति की उपेक्षा करके उदाहरण के साधर्म्य से साध्य की असिद्धि दिखाता है और इस प्रकार वादी के कथन में प्रतिवादी दोषनिरूपण (प्रत्यवस्थान) करता है, तो इस प्रकार के दोष निरूपण को जाति कहते हैं। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि वादी द्वारा प्रस्तुत हेतु का खण्डन करने के लिये (निषेधबुद्धि से) विपरीत उदाहरण देने हेतु प्रतिवादी जो असद् उत्तर देता है, वह असद् उत्तर जाति कहलाता है। प्रतिवादी द्वारा इस प्रकार के असद् उत्तर का उद्देश्य यह होता है कि वादी घबराहट में डाल दिया जाये और अपने को पराजय की स्थिति से उबार कर सन्देह (पराजित हुआ या नहीं ?) की स्थिति में रख लिया जाये। शास्त्रार्थ में पराजय की स्थिति पर पहुँचने वाले प्रतिवादी इस विधि का सहारा लेते हैं।

जाति के चौबीस भेद बताये गये हैं। सभी भेदों का उत्तर पद 'सम' है। सम शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। यद्यपि प्रतिवादी का उत्तर हेतु से अधिक उत्तम नहीं है, तथापि यदि वादी जाति (असद् उत्तर) से घबराकर उत्तर न दे सके अथवा प्रतिवादी के उत्तर को असंगत सिद्ध न कर सके तो प्रतिवादी के निरनुयोज्यानुयोग के समान वादी को भी पर्यनुयोगोपेक्षण अथवा निरनुयोज्यानुयोग का पात्र बनना होगा, जिससे कि वादी और प्रतिवादी दोनों समान हो जाएँगे। भाष्यकार के अनुसार प्रयोग में होनेवाले विशेष हेतु के अभाव को ही साम्य कहा गया है। कुछ विद्वानों के अनुसार सम का अर्थ है—अपकृष्ट। उदयनाचार्य का यह मत है कि जाति (असद् उत्तर) दूसरे के साधन के समान अपना भी विरोध करता है, अतः दूसरे के समान अपना व्याघात करने के कारण यह उत्तर सम कहलाता है।

जाति के भेद

(1) **साधर्म्यसम**—अन्वय अथवा व्यतिरेक व्याप्ति के सहित समानधर्म को लेकर जब वादी साध्य की सिद्धि दिखाने का प्रयत्न करता है और प्रतिवादी व्याप्ति से रहित (यानी व्याप्ति पर ध्यान दिये बिना ही) साधर्म्य से साध्य की असिद्धि दिखाने का प्रयत्न करता है। अर्थात् बिना सुसंगत कारण के ही वादी के कथन का खण्डन (प्रतिषेध) करना चाहता है, तो प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाला इस प्रकार का असद् उत्तर 'साध्यसम' नामक जाति-दोष (प्रतिबन्ध) कहलाता है।

जैसे कि वादी के यह कहने पर कि **'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् घटवत्'** यदि प्रतिवादी इस कथन का प्रतिषेध यह कह कर करना चाहे कि–'यदि अनित्य घट की तरह कार्य होने से ही शब्द को अनित्य माना जाता है, तो नित्य आकाश के समान अमूर्त होने के कारण शब्द को नित्य क्यों नहीं माना जा सकता ?' यदि कार्यत्व के आधार पर घट और शब्द में साधर्म्य है तो अमूर्तत्व को लेकर शब्द और आकाश में भी तो साधर्म्य है।

(इस असद् उत्तर का खण्डन इस प्रकार हो जाता है कि आकाश और शब्द में अमूर्तत्व से जो साधर्म्य है, वह एकांगी है, सर्वांग नहीं।)

(2) **वैधर्म्यसम**—वादी द्वारा अन्वयव्यतिरेक युक्त वैधर्म्य को आधार मानकर यदि कोई स्थापना की जाए, और प्रतिवादी अन्वयव्यतिरेक रहित किसी अन्य वैधर्म्य से ही उसका खण्डन करे, तो प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले ऐसे असद् उत्तर को वैधर्म्यसम जाति कहा जाता है।

उदाहरण—आत्मा क्रियावान् नहीं है, विभु होने से। क्रियावान् द्रव्य (जैसे लोष्ठ) व्यापक नहीं होता, जबकि आत्मा व्यापक है।

खण्डन—क्रियारहित द्रव्य (जैसे आकाश) क्रिया के कारण से रहित देखने में आता है। आत्मा ऐसा नहीं है, अतः वह निष्क्रिय नहीं हो सकता।

(3) **उत्कर्षसम**—दृष्टान्त के धर्म को साध्य में समायोजित करने का नाम उत्कर्षसम है।[197] अर्थात् यदि साध्य में कोई धर्म न हो, केवल दृष्टान्त में हो, तथापि साध्य में उसका आरोप किया जा रहा हो तो यह दोष उत्कर्षसम जाति कहलाता है।

उदाहरण—(1) क्रिया में कारणगुण का सम्बन्ध होने से आत्मा भी लोष्ठ के समान क्रिया का आधार है, अतः लोष्ठ के समान वह स्पर्श गुण का

आश्रय भी होगा। यदि आत्मा लोष्ठ के समान स्पर्शगुणवाला न होता तो वह क्रिया का आधार भी न होता।

इस प्रकार दृष्टान्त (लोष्ठ) का धर्म (स्पर्श) आत्मा (पक्ष) में नहीं रहता, फिर भी उस पर स्पर्श का आरोप किया जाता है।

(2) घट में तीन गुण हैं। वह कारणजन्य है, अनित्य है और रूपवान् है। यदि शब्द घट के समान कार्य होने से अनित्य माना जाता है, तो फिर वह रूपवान् भी क्यों न माना जाए।

(4) **अपकर्ष**—जब पक्ष में विद्यमान धर्म को भी दृष्टान्त के बल से हटाया जाता है तो वह अपकर्ष सम जाति नामक दोष कहलाता है।[198]

उदाहरण—(1) लोष्ठ क्रिया का आधार होता हुआ भी अव्यापक है अतः आत्मा भी क्रिया का आधार होने के कारण अव्यापक है।[199] यहाँ दृष्टान्त (लोष्ठ) में व्यापकता का अभाव है, जबकि आत्मा में व्यापकता है किन्तु आत्मा में विद्यमान व्यापकता धर्म का उससे अपकर्ष किया जा रहा है। अतः यह अपकर्ष समा जाति का उदाहरण है।

(2) घट में तीन गुण हैं—रूप, कृतकत्व और अनित्यत्व। शब्द रूपरहित है, अतः यदि वह घट के समान रूपवान् नहीं है तो उसमें कृतकत्व और अनित्यत्व भी क्यों माना जाए?

(5) **वर्ण्यसम**—यदि पक्ष के धर्म का दृष्टान्त में आक्षेप किया जाए तो वह वर्ण्यसम जाति कहलाता है। जैसे कि वादी द्वारा किसी अनुमान की स्थापना करने पर प्रतिवादी यदि यह कहे कि वादी द्वारा जो दृष्टान्त दिया गया है उसके समान पक्ष को भी निश्चित साध्यवान् होना चाहिए।

(6) **अवर्ण्यसम**—जब दृष्टान्त के धर्म का पक्ष में आक्षेप किया जाता है तो अवर्ण्यसमा जाति कहलाती है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि दृष्टान्त के निश्चितसाध्यधर्मवत्ता रूप धर्म का जब सन्दिग्ध साध्यवाले पक्ष में आरोप किया जाता है तो उसे अवर्ण्यसमा जाति कहते हैं।

जैसे वादी द्वारा किसी अनुमान का प्रयोग करने पर यदि प्रतिवादी कहे कि वादी द्वारा जो दृष्टान्त दिया गया है, उसे पक्ष के समान संदिग्धसाध्यधर्मवाला होना चाहिए तो यह अवर्ण्यसमा जाति कहलायेगा।

(7) **विकल्पसम**—पक्ष में वर्तमान कोई धर्म यदि दृष्टान्त में भी विद्यमान हो तो वह साधनधर्म कहलाता है। उस (साधनधर्म) से युक्त दृष्टान्त में विद्यमान किसी अन्य धर्म की कल्पना करके यदि उस दृष्टान्त के सादृश्य से प्रस्तुत साध्य में प्रस्तुत हेतु के व्यभिचार की आपत्ति की जाए तो ऐसे असद् उत्तर को विकल्पसमा जाति कहा जाता है।[200]

उदाहरण के रूप में **'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् घटवत्'** इस कथन के खण्डन के लिए जातिवादी निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करे तो यह विकल्पसमा जाति कहलायेगा।

घट में कृतकत्व और गुरुत्व ये दो धर्म विद्यमान हैं। ये दोनों धर्म सहचर हैं, किन्तु वायु में कृतकत्व होते हुए भी गुरुत्व नहीं हैं। अतः सहचर होते हुए भी कृतकत्व और गुरुत्व नित्य सहचर नहीं हैं। इसी प्रकार गुरुत्व और अनित्यत्व घट में हैं, किन्तु परमाणु में गुरुत्व होते हुए भी अनित्यत्व नहीं है। इसी प्रकार घट में मूर्तत्व और अनित्यत्व दोनों धर्म हैं जबकि क्रिया में अनित्यत्व होते हुए भी मूर्तत्व नहीं होता। ऐसी स्थिति में, जबकि सभी धर्मों में परस्पर व्यभिचार देखने में आता है, तो कृतकत्व और अनित्यत्व में ही अव्यभिचार क्यों माना जाए? तात्पर्य यह है कि शब्द कार्य होते हुए भी नित्य क्यों न मान लिया जाए?

(8) **साध्यसम**—दृष्टान्त में देखे हुए धर्म में साध्य (जो अभी सन्दिग्ध है और जिसे हेतु के द्वारा सिद्ध किया जाना शेष है) होने की आपत्ति करने को साध्यसमा जाति कहा जाता है। हेतु आदि अवयवों के सामर्थ्य को रखने वाले धर्म को साध्य कहते हैं।[201] दृष्टान्त में उसकी आपत्ति देना साध्यसमा जाति कहलाती है। जाति के इस भेद में दृष्टान्त को भी साध्य की कोटि में खींच लिया जाता है।

'शब्दो नित्यः कृतकत्वात् घटवत्' इस प्रतिज्ञावाक्य का खण्डन यदि प्रतिवादी निम्नलिखित रूप से करने का प्रयास करे तो यह साध्यसमा जाति का उदाहरण होगा—

यदि घट के समान शब्द है, तो शब्द के समान घट भी होना चाहिए। यदि शब्द का अनित्य होना साध्य (अभी संदिग्ध है और उसे सिद्ध किया जाना है) है, तो शब्द से समता के कारण घट का अनित्य होना भी साध्य (अभी संदिग्ध है और उसे सिद्ध किया जाना है) ही है। अन्यथा घट और शब्द

की समानता कैसे हो सकती है, ? यहाँ शब्द को घट के दृष्टान्त से और घट को शब्द के दृष्टान्त से अनित्य सिद्ध किया जा रहा है। पक्ष और दृष्टान्त में अन्योन्याश्रय दोष दिखा कर प्रतिवादी निर्णय को रोकना चाहता है।

एक दूसरा उदाहरण लें। यदि लोष्ठ के सादृष्य से आत्मा में क्रियाधारता सिद्ध की जाए तो जिस प्रकार आत्मा में क्रियाधारता साध्य (यानी अभी संदिग्ध है और उसे सिद्ध किया जाना है) है, उसी प्रकार लोष्ठ में भी क्रियाधारता साध्य ही है। अन्यथा लोष्ठ और आत्मा का सादृश्य कैसे माना जा सकता है?

इस असद् उत्तर का खण्डन इस प्रकार किया जाता है कि जब आत्मा में क्रियाधारता सिद्ध करने के लिए लोष्ठ का उदाहरण दिया जाता है तो वादी यह नहीं कहता कि आत्मा में जितने धर्म हैं, वे सब लोष्ठ में भी हो सकते हैं। अतः लोष्ठ का क्रियाधारत्व यहाँ पर सब साध्य नहीं माना जा सकता।

(9) **प्राप्तिसम**—हेतु और साध्य के सहचार सम्बन्ध पर आधारित वाद का विरोध उसी सम्बन्ध को उल्टे क्रम में रखकर वादी के तर्क पर अनिश्चय का आरोप लगाते हुए तर्क करने का नाम 'प्राप्ति सम' जाति है। यहाँ 'प्राप्ति' का अर्थ है—सम्बन्ध (यानी हेतु और साध्य का सहचार)। यदि वादी द्वारा साध्य की सिद्धि करने के लिए कोई हेतु दिया जाए और प्रतिवादी उस हेतु को साध्य की कोटि में रख दे और वादी द्वारा प्रस्तुत साध्य को हेतु की कोटि में रख दे तो यह प्राप्तिसमा जाति कहलायेगी।

उदाहरणतया वादी कहता है—'पर्वत अग्नि से युक्त है, क्योंकि वहाँ धूम है, जैसे रसोई घर में।' इसके विरुद्ध प्रतिवादी यह कहता कि 'पर्वत धूम से युक्त है,' क्योंकि वहाँ अग्नि है, जैसे रसोई घर में, यहाँ प्रतिवादी का यह अभिप्राय है कि 'धूम साधन है कि साध्य यह निश्चय करना कठिन है,' अतः निश्चय के अभाव में वादी का कथन दोषपूर्ण है।

दूसरे शब्दों में कहा जाए तो प्रतिवादी कहता है कि वादी हेतु देकर साध्य को सिद्ध करना चाहता है। किन्तु इस सम्बन्ध में पहले तो यह स्पष्ट होना चाहिए कि हेतु और साध्य दोनों में सम्बन्ध है या नहीं ? यदि है तो दोनों में से साधक कौन और साध्य कौन है ? दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं है तो फिर सम्बन्ध के अभाव में साध्य-साधक भाव कैसे रह सकता है ?

(10) **अप्राप्तिसम**—साध्य और साधन में असम्बन्धता का आरोप लगाते हुए वादी के कथन का विरोध करना अप्राप्तिसम जाति कहलाता है।

हेतु साध्य को प्राप्त किये बिना ही साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता। हेतु और साध्य का पार्थक्य दिखाने (अर्थात् प्राप्तिसम जाति का निवारण करने के लिए) यदि कहा जाए कि हेतु साध्य को प्राप्त किए बिना ही उसे सिद्ध कर देता है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रकाश जब तक प्राप्त न हो, तब तक अन्धकार में वस्तुएँ दिखाई नहीं देतीं।

यह ज्ञातव्य है कि प्रतिवादी के अनुसार हेतु द्वारा साध्य की प्राप्ति मानने पर दोनों में अविशेष के कारण साध्य साधन का विवेक नहीं होता और फलत: वहाँ प्राप्तिसम जाति नामक दोष माना जाता है। इसी प्रकार हेतु द्वारा साध्य की प्राप्ति न मानने पर भी अप्राप्तिसम जाति नामक दोष उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि जो हेतु साध्य को प्राप्त ही नहीं होता वह साध्य की सिद्धि कैसे कर सकता है?

(11) **प्रसंगसम**—वादी द्वारा प्रस्तुत हेतु की सिद्धि के लिये किसी अन्य हेतु की आवश्यकता बताई जाए और उसकी सिद्धि के लिए किसी अन्य हेतु की कल्पना की जाए तो यह प्रसंगसम जाति दोष कहलायेगा।

उदाहरणतया 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् घटवत्'—वादी के इस कथन का प्रत्याख्यान करते हुए यदि प्रतिवादी यह कहे कि शब्द की अनित्यता को सिद्ध करने के लिए घट दृष्टान्त दिया गया है। किन्तु घट अनित्य है, इसका क्या प्रमाण है? यदि यह कहा जाए कि घट पट के समान कार्य होने के कारण अनित्य है तो फिर यह प्रश्न होगा कि पट कार्य है, इसका क्या प्रमाण है? इस प्रकार अनवस्था का प्रसंग लाकर प्रत्येक साधन साध्य होता जाएगा और प्रतिज्ञात अर्थ शब्द की अनित्यता की कभी भी सिद्ध नहीं हो सकेगी। ऐसे खण्डन का नाम प्रसंगसम है।

प्रसंगसम नामक जाति के परिहार के संदर्भ में सूत्रकार ने यह तर्क प्रस्तुत किया है जिस प्रकार दीपक अन्धकार में निहित वस्तु को आलोकित कर दिखलाता है, उसी प्रकार दृष्टान्त भी संदिग्ध विषय को स्पष्ट कर देता है। जिस प्रकार दीपक को देखने के लिए दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं पड़ती, उसी प्रकार दृष्टान्त को समझने के लिए दूसरे दृष्टान्त की आवश्यकता नहीं होती।

(12) **प्रतिदृष्टान्तसम**—प्रतिकूल दृष्टान्त देकर वादी का जो खण्डन किया जाता है, उसे प्रतिदृष्टान्तसम जाति कहा जाता है। यदि कोई वादी शब्द की अनित्यता सिद्ध करने के लिए घट का उदाहरण देता है और प्रतिवादी शब्द की

नित्यता को सिद्ध करने के लिए आकाश का दृष्टान्त दे तो यह प्रतिदृष्टान्तसम जाति कहलायेगा। प्रतिवादी का आशय यह होता है कि यदि वादी द्वारा आकाश के दृष्टान्त का खण्डन किया जाएगा तो प्रतिवादी द्वारा घट के दृष्टान्त का भी खण्डन किया जा सकता है।[202]

इस जाति दोष का परिहार इस प्रकार हो जाता है कि केवल दृष्टान्त के बल पर ही किसी कथन का खण्डन या मण्डन नहीं किया जा सकता। हेतु और साध्य में व्याप्ति सम्बन्ध का रहना आवश्यक है।

(13) **अनुत्पत्तिसम**—उत्पत्ति से पूर्व कारण का अभाव बतलाकर वादी के कथन का खण्डन करना अनुपत्तिसम जाति कहा जाता है।[203]

उदाहरणतया वादी कहता है कि शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रयत्न से उत्पन्न होता है, जैसे घट। इस पर यदि प्रतिवादी यह कहे कि शब्द नित्य है, क्योंकि यह प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होता, जैसे आकाश, तो प्रतिवादी का यह कथन अनुत्पत्तिसम जातिदोष कहलायेगा।

इस संदर्भ में प्रतिवादी का अभिप्राय यह होता है कि वादी के कथन में प्रयत्नोत्पाद्यता नामक हेतु दिया गया है, किन्तु वह तब तक हेतु के रूप में नहीं दिया जा सकता, जब तक कि पक्ष (शब्द) की उत्पत्ति नहीं होती।

इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि जब शब्द अनुत्पन्न था (अर्थात् जब उसकी उत्पत्ति नहीं हुई थी), तब उसमें कृतकत्व कैसे रह सकता था? और जब उसमें कृतकत्व नहीं था तो उसको नित्य मानना होगा। और जब उसमें नित्यता मानेंगे तब फिर उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? तात्पर्य यह कि नित्यत्व से युक्त शब्द अनित्य नहीं हो सकता?

इस जाति दोष का परिहार नैयायिक यह कह कर करते हैं कि उत्पत्ति से पहले जब शब्द था ही नहीं तब फिर उसमें नित्यत्व कैसे रह सकता था?

(14) **संशयसम**—वादी का कथन है कि शब्द अनित्य है, कृतक होने से, घट के समान। इस पर प्रतिवादी कहता है कि कृतक होने के कारण घट के समान शब्द अनित्य है जबकि इन्द्रिय ग्राह्य होने के कारण घटत्व (जाति) की तरह शब्द नित्य है। ऐसी स्थिति में जबकि शब्द की नित्यता या अनित्यता का संशय ही है तो घट की अनित्यता का निश्चय कैसे हो सकता है?[204]

नैयायिक इस आपत्ति का निरसन इस प्रकार करते हैं कि प्रयत्नानन्तरीयकतारूप विशेष धर्म का ज्ञान होने पर इन्द्रियग्राह्यतारूप समानधर्म को लेकर,

जाति के समान शब्द नित्य या घटादिकों के समान अनित्य—यह संशय नहीं रह जाता और परिणामस्वरूप यह निश्चय हो जाता है कि शब्द प्रयत्न के बाद उत्पन्न होने के कारण अनित्य है।[205]

(15) **प्रकरणसम**—वादी द्वारा 'अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् घटवत्,' ऐसा कथन करने पर प्रतिवादी यदि यह कहे कि 'शब्द नित्य है अस्पर्शवत्तारूप समान धर्म के कारण, आकाश के समान,' तो यह प्रकरणसम जाति का उदाहरण होगा। यहाँ प्रयत्नानन्तरीयकत्वरूप हेतु अनित्य के साधर्म्य से कहा जाने के कारण प्रकरण को नहीं छोड़ता अर्थात् संदिग्ध ही रहता है। प्रकरण न हटने से शब्द नित्य है या अनित्य—इसका निश्चय नहीं हो सकता। नित्य आकाश के साधर्म्य से कहे जाने वाले हेतु से भी पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों की प्रवृत्ति होने के कारण संशय बना रहता है और किसी एक पक्ष का निश्चय नहीं हो सकता।[206]

(16) **अहेतुसम**—वादी के कथन में प्रस्तुत हेतु (साधन) की तीनों कालों में असिद्धि दिखा कर प्रतिवादी द्वारा उसका खण्डन करना। यानी वादी द्वारा प्रयुक्त हेतु (साधन) को प्रतिवादी द्वारा अहेतु जैसा बता देना अहेतुसम नामक जाति कहलाता है।[207]

उदाहरण के रूप में वादी कहता है कि घट का साधन चाक है। इस पर प्रतिवादी कहता है कि चाक घट के पहले है या पश्चात् या समवर्ती? चाक घट से पूर्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस समय घट था ही नहीं। चाक को यदि घट के पश्चात् मानते हैं तो ठीक नहीं, क्योंकि कार्य तो बाद में होता है और कारण उसके पहले। दोनों युगपत् भी नहीं माने जा सकते, क्योंकि तब तो गाय की दाहिनी और बाईं सींगों के समान दोनों में कार्य-कारण भाव ही सिद्ध नहीं हो सकता।[208]

नैयायिकों द्वारा इस आपत्ति का खण्डन इस प्रकार किया जाता है कि कारण कार्य के पहले रहकर उसे सिद्ध करता है। जब कार्य नहीं होता तभी तो कारण के द्वारा उसकी उत्पत्ति होती है। साथ ही प्रतिवादी द्वारा जो प्रतिषेध किया जा रहा है, उसके सम्बन्ध में भी तो इसी प्रकार की आपत्ति उठाई जा सकती है।[209]

(17) **अर्थापत्तिसम**—अर्थापत्ति द्वारा विरुद्ध पक्ष को सिद्ध करने की आपत्ति को अर्थापत्तिसम जाति कहा जाता है। अर्थात् वादी द्वारा प्रस्तुत प्रतिज्ञा वाक्य का

यदि प्रतिवादी खींचतान कर अर्थापत्ति (अन्यथा असिद्धि का आक्षेप करते हुए) के द्वारा खण्डन करे तो प्रतिवादी का उत्तर अर्थापत्तिसम जाति कहलायेगा।[210]

उदाहरणतया वादी कहता है कि—'शब्द नित्यः, कृतकत्वात्, घटवत्।' इस पर यदि प्रतिवादी कहे कि 'शब्द को कृतकत्व के कारण अनित्य माना जाता है' तो इस हेतु के अतिरिक्त जो अन्य हेतु हैं, वे शब्द की नित्यता के साधक हैं। जैसे कि अमूर्तता नामक हेतु के आधार पर कहा जा सकता है कि शब्द नित्य है, आकाश के समान।

नैयायिक इस आपत्ति का समाधान इस प्रकार से करते हैं कि प्रतिवादी ने जो अर्थापत्ति दी है, वह जैसे उसके पक्ष का साधक है, वैसे ही वादी के पक्ष को भी सिद्ध करती है। अतः अर्थापत्ति दोनों पक्षों में समान ही है।

(18) **अविशेषसम**—यदि प्रतिवादी द्वारा वादी की इस प्रकार की स्थापना का कि **'शब्दोऽनित्यः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् घटवत्'** का विरोध इस आधार पर किया जाये कि यदि पक्ष (शब्द) और दृष्टान्त (घट) में समता (अविशेष यानी अन्तर का अभाव) है तो संसार के सभी पदार्थों में सत्ता रूप धर्म के आधार पर अविशेष दिखाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होना रूप धर्म को आधार मान कर यदि यह कहा जाये कि शब्द और घट की अनित्यता में कोई अन्तर नहीं है, तो सत्तारूप धर्म को आधार मानकर यह भी कहा जा सकता है कि संसार के समस्त पदार्थों में भी कोई पारस्परिक वैषम्य नहीं है। प्रतिवादी का तात्पर्य यह है कि जैसे संसार के समस्त पदार्थों में सत्ता-रूप धर्म के रहने पर भी वैषम्य है; वैसे ही शब्द और घट में प्रयत्नानन्तरीयकत्व रूप धर्म के होने पर भी पारस्परिक वैषम्य है। अतः प्रतिवादी का यह आक्षेप है कि वादी द्वारा प्रस्तुत दृष्टान्त द्वारा हेतु की पुष्टि नहीं होती। नैयायिक इस आक्षेप का समाधान यह कह कर करते हैं कि सत्तारूप हेतु व्यभिचारी है क्योंकि संसार के कुछ पदार्थों में नित्यता का निश्चय है, जैसे आकाश में और कुछ पदार्थों में अनित्यता का, जैसे घट में। अतः सत्तारूप हेतु नित्यता या अनित्यता का साधक नहीं हो सकता। फलतः प्रतिवादी के इस प्रति तर्क के आधार पर वादी प्रतिज्ञा का खण्डन नहीं होता।

(19) **उपपत्तिसम**—वह जाति, जिसमें पृथक्-पृथक् हेतुओं से साध्य और उसके विरोधी दोनों की सिद्धि दिखाई जा सके, उसको उपपत्तिसम कहा जाता है। उदाहरण के रूप में वादी यदि यह कहे कि कृतक होने के कारण शब्द अनित्य है, घट के समान, तो प्रतिवादी यह कहता है कि अस्पर्शत्व के कारण वह

(शब्द) नित्य भी माना जा सकता है, आकाश के समान। इस प्रकार यहाँ अनित्यता तथा नित्यता इन दोनों परस्पर विरोधी कारणों की उपपत्ति दिखाकर प्रत्यवस्थान हो रहा है। यानी प्रतिवादी, वादी के कथन (कृतकत्व के कारण शब्द अनित्यता है) को स्वीकार करके शब्द में नित्यता की आपत्ति करता हैं।[211]

(प्रकरण सम जाति में पक्ष तथा विपक्ष दोनों के साधनों में समान बल होने पर भी प्रतिपक्षी हेतु के आधार पर भी प्रतिवादी अपने कथन की सिद्धि करके वादी के कथन का खण्डन करना चाहता है। जबकि उपपत्तिसम जाति में प्रतिवादी अपने कथन को वादी के कथन के समान सिद्ध करना चाहता है।)

नैयायिक इस आपत्ति का समाधान यह कह कर करते हैं कि—हम 'कृतकत्व' को कारण मानते हुये शब्द को अनित्य सिद्ध करते हैं। यदि प्रतिवादी नैयायिकों द्वारा दिये हुये साधक कारण की उपपत्ति (चाहे खण्डन के लिये ही सही) स्वीकार करता है, यानी एक पक्ष के रूप में कृतकत्व को अनित्यता का कारण मानता है तो नैयायिकों का उद्देश्य तो इससे ही सिद्ध हो जाता है। यानी कृत-कत्व के कारण शब्द की अनित्यता तो सिद्ध ही रहती है।

एक ही शब्द में नित्यता और अनित्यता रूप व्याघात (परस्पर विरोध) से भी शब्द की अनित्यता का खण्डन नहीं होता, क्योंकि तब तो प्रतिवादी के सिद्धान्त यानी शब्द की नित्यता का समान रूप से खण्डन हो जायेगा। व्याघात किसी एक पक्ष का साधक नहीं हो सकता।[212]

(20) **उपलब्धिसम**—वादी द्वारा निर्दिष्ट कारण के अभाव में भी यदि प्रतिवादी किसी दूसरे कारण से साध्य की सिद्धि लिखा दे तो प्रतिवादी के अनु-सार यह उपलब्धिसम जाति दोष माना जायेगा।[213]

उदाहरणतया **'शब्दोऽनित्यः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् घटवत्'** इस उदाहरण में वादी द्वारा प्रयत्नानन्तरीयकत्व को अनित्यता का कारण बताया गया है। किन्तु प्रतिवादी कहता है कि हवा के चलने से किसी पेड़ की शाखा के टूटने पर जो शब्द होता है, वह भी अनित्य है। अतः प्रयत्नानन्तरीकत्व के अभाव में भी शब्द अनित्य है, यह सिद्ध हो जाता है।

नैयायिकों का इस संदर्भ में यह समाधान है कि किसी कार्य के एक से अधिक (विभिन्न) कारण हो सकते हैं। शाखा के टूटने से भी शब्द उत्पन्न होता है, किन्तु इससे इस बात का निषेध नहीं होता कि शब्द की उत्पत्ति प्रयत्न से भी होती है।[214]

(21) **अनुपलब्धिसम**—किसी वस्तु की अनुपलब्धि की अनुलब्धि दिखाकर उसके अभाव का खण्डन करना (यानी उसका सद्भाव दिखाना) अनुपलब्धिसम जाति कहलाता है।[215]

उदाहरण के रूप में वादी का कथन है कि "शब्द अनित्य है, क्योंकि उच्चारण के पूर्व और पश्चात् उसकी उपलब्धि नहीं होती।" इसकी यदि यह शंका की जाये कि जिस प्रकार मेघ से आच्छन्न सूर्य दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार किसी आवरण से आवृत्त होने के कारण शब्द की भी उपलब्धि नहीं होती, अर्थात् शब्द का अस्तित्व निहित रहता है, तो यह शंका भी उचित नहीं है, क्योंकि 'मेघ' तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है, जबकि शब्द का कोई आवरण देखने में नहीं आता।

वादी के उपर्युक्त कथन के विरुद्ध प्रतिवादी कहता है कि—'यदि आवरण की उपलब्धि न होने से आवरण का अभाव माना जाये तो उसी तरह आवरण की 'अनुपलब्धि' न होने से उसकी अनुपलब्धि का भी अभाव मानना होगा और इस प्रकार आवरण की अनुपलब्धि की अनुपलब्धि का आशय होगा—आवरण का अस्तित्व।

प्रतिवादी इस तर्क का समाधान नैयायिक इस प्रकार करते हैं कि 'अनुपलब्धि' तो उपलब्धि के अभाव का ही नाम है। जैसे 'भाव' का अभाव मानना असंगत है, उसी प्रकार प्रस्तुत संदर्भ में 'अभाव' का भाव मानना भी असंगत है। प्रतिवादी का तर्क नैयायिकों के अनुसार अनुभव विरुद्ध भी है, क्योंकि शब्द के उच्चारण के पूर्व उसके उपलब्ध न होने के कारणभूत किसी आवरण का अनुभव वक्ता को नहीं होता। अनुपलब्धि तथा उपलब्धिरूप ज्ञान के अनेक प्रकारों की सत्ता या अभाव का अनुभव प्राणिमात्र के हृदय में होता है। शब्द का कोई आवरण होता तो उसका भी अनुभव होता? आवरण का अनुभव नहीं होता, अतः उसका अस्तित्व ही नहीं।

(22) **अनित्यसम**—कुछ वस्तुओं में समता देखकर उनमें अनित्यता नामक तुल्य धर्म की सिद्धि करके संसार की सभी वस्तुओं को उनके समान अनित्य मानने की आपत्ति करना अनित्यसम जाति दोष कहलायेगा।[216]

उदाहरण के रूप में वादी कहता है—शब्द अनित्य है, प्रयत्नानन्तरीयकता के कारण घट के समान। इस प्रकार प्रतिवादी यदि यह कहे कि—अनित्य घट के साथ प्रयत्नानन्तरीयकतारूप साधर्म्य के कारण यदि शब्द को अनित्य माना जाये तो अनित्य घट के साथ संसार के सम्पूर्ण पदार्थों के सत्तारूप साधर्म्य के

कारण वे सब भी अनित्य माने जाने लगेंगे (जो कि वादी को अभिप्रेत नहीं है), और आकाश को भी अनित्य मानना होगा। सत्तागुणयुक्त घट के साधर्म्य से आत्मा और इस प्रकार अनित्यता को लेकर वादी के कथन का प्रत्यवस्थान (निषेध) करने के कारण प्रतिवादी का यह कथन अनित्यसम जाति कहलायेगा।

नैयायिक इसका समाधान इस प्रकार करते है कि केवल साधर्म्य से साध्य की उपपत्ति नहीं होती। कृतकत्व में अनित्यता की साधकता है, सत्ता में नहीं। इसलिए सत्ताविशिष्ट प्रत्येक पदार्थ में अनित्यता को सिद्ध नहीं किया जा सकता।[217]

(23) **नित्यसम**—धर्म के नित्यत्व और अनित्यत्व के इन दोनों विकल्पों द्वारा धर्मी का नित्य सिद्ध करना नित्यसमजाति है।[218]

उदाहरणतया वादी कहता है—'शब्द अनित्य है।' इस प्रकार प्रतिवादी पूछता है कि शब्द में रहनेवाला अनित्य धर्म, अपने-आप में नित्य है या अनित्य? यदि नित्य है तो धर्मी के बिना धर्म की स्थिति असंभव है, इसलिए धर्मी (शब्द) की भी नित्यता माननी ही पड़ेगी। यदि अनित्य है तो इसका आशय यह हुआ कि शब्द की अनित्यता भी अनित्य है। दोनों स्थितियों में प्रतिवादी की आपत्ति के अनुसार शब्द की नित्यता सिद्ध होती है।

नैयायिकों के अनुसार इस आपत्ति का समाधान यह है कि वादी का उद्देश्य है—शब्द की अनित्यता सिद्ध करना। वह अनित्यता अपने-आप में नित्य है या अनित्य यह देखना वादी का काम नहीं है। वैसे भी अनित्यता की नित्यता और अनित्यता का तो प्रश्न भी नहीं उठता। 'अनित्यता का निषेध करने योग्य शब्द में सर्वदा अनित्यता होने से'—ऐसा कहने से ही शब्द में अनित्यता मान ली गई। इस कारण 'धर्म में अनित्यता होने से शब्द अनित्य नहीं है' यह निषेध नहीं हो सकता।[219]

(24) **कार्यसम**—किसी प्रयत्न के अनेक परिणाम दिखाकर वादी के कथन का प्रतिवादी द्वारा खण्डन करना कार्यसम जाति है। (दो वस्तुओं में समान धर्म की आपत्ति को संशयसम जाति और कार्य की समानता को लेकर खण्डन करने का नाम कार्यसम जाति है।)

उदाहरणतया वादी कहता है—'**शब्दोऽनित्यः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्।**' इस पर प्रतिवादी कहता है कि प्रयत्न के दो कार्य होते हैं—(1) असद् वस्तु (जैसे) घट की उत्पत्ति, और पहले से विद्यमान वस्तु (जैसे कूपजल) की अभिव्यक्ति।

यदि शब्द उत्पत्ति के आधार पर प्रयत्न का कार्य है तो उसकी अनित्यता सिद्ध है, किन्तु यदि वह अभिव्यक्ति के रूप में प्रयत्न का कार्य है तो उसे अनित्य नहीं माना जा सकता। प्रतिवादी का आशय यह है कि प्रयत्न के उपर्युक्त दोनों कार्यों में से किसी एक पक्ष का साधक विशेष हेतु नहीं है, अतः प्रतिवादी के अनुसार वादी की स्थापना असंगत है।[220]

इस सन्दर्भ में नैयायिकों का समाधान यह है कि प्रयत्न के द्वारा किसी वस्तु की अभिव्यक्ति वहीं होती है, जहाँ किसी व्यवधान के कारण वह पहले अनुपलब्ध रहती है, जैसे भूगर्भ जल और हमारे बीच पृथ्वी है। किन्तु शब्द की अनुपलब्धि आवरणजन्य नहीं है। अतः प्रयत्न द्वारा शब्द की उत्पत्ति होती है, अभिव्यक्ति नहीं। अतः शब्द अनित्य है और प्रतिवादी की आपत्ति निर्मूल है।[221]

11. निग्रहस्थान

'निग्रहस्थान' का अर्थ है निन्दा या तिरस्कार का स्थल। शास्त्रार्थ में पराजय के प्रमुखतया दो कारण होते हैं—(1) विप्रतिपत्ति यानी वादी या प्रतिवादी द्वारा अपने पक्ष का प्रतिपादन नियमविरुद्ध (अनुचित रूप से) करना और (2) अप्रतिपत्ति यानी वादी या प्रतिवादी द्वारा प्रतिवादी या वादी के विपक्षी तर्कों का खण्डन न कर सकते हुए अपने पक्ष का प्रतिपादन न कर सकना। निग्रहस्थान के निम्नलिखित बाईस भेद बताये गये हैं :—

[1] प्रतिज्ञाहानि

वादी अपनी स्थापना के संदर्भ में जिस दृष्टान्त को देता है, यदि उसमें वह प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत प्रतिदृष्टान्त के धर्म का अस्तित्व मान लेता है तो इसका आशय यह हुआ कि वादी ने अपना पक्ष छोड़कर प्रतिवादी के पक्ष को स्वीकार कर लिया है। फलतः वह प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रहस्थान में पड़ कर पराजित समझा जाता है। अपने पक्ष को छोड़ने का अर्थ है अपनी प्रतिज्ञा को छोड़ना।
उदाहरण—

वादी— शब्द अनित्य है, इन्द्रिय से गृहीत होने के कारण, घट के समान।

प्रतिवादी—इन्द्रियग्राह्यता तो 'सामान्य'—जैसे गोत्व में भी रहती है; और गोत्व (जाति) नित्य है। अतः जैसे इन्द्रियग्राह्य गोत्व नित्य है, वैसे ही इन्द्रियग्राह्य घट भी नित्य माना जाना चाहिए।

वादी— अच्छा, यदि इन्यिग्राह्य होने के कारण गोत्व नित्य है, तो इन्द्रियग्राह्य होने के कारण घट भी नित्य माना जाए।

(जहाँ तक यह बात है कि इस प्रकार की स्वीकृति वादी कैसे कर सकता है, इसके संदर्भ में तो यही कहा जा सकता है कि निग्रहस्थान की चपेट में मध्यबुद्धि लोग ही आते हैं और उनके द्वारा ऐसा प्रमाद करना असंभव नहीं है।) यहाँ यह ज्ञातव्य है कि वादी ने घट के दृष्टान्त के आधार पर शब्द की 'अनित्यता' की प्रतिज्ञा की थी, किन्तु प्रतिवादी के तर्क से प्रभावित होकर उसने जब घट में नित्यता मान ली तो उसकी प्रतिज्ञा खण्डित हो गई। अतः वात्स्यायन के अनुसार यह प्रतिज्ञा हानि है। किन्तु उद्योतकर का यह कथन है कि घट में नित्यता को स्वीकार करने से यहाँ या तो दृष्टान्त में दोष माना जाना चाहिए या हेतु में। तात्पर्य यह है कि यह निग्रह स्थान तो है, परन्तु इसका नाम प्रतिज्ञाहानि नहीं रखना चाहिए। या फिर दृष्टान्त का अर्थ मानना चाहिए—स्वपक्ष, और प्रति-दृष्टान्त का अर्थ मानना चाहिए—परपक्ष। अतः प्रतिज्ञाहानि का अर्थ होगा—'प्रतिवादी के पक्ष के धर्म को वादी द्वारा अपने पक्ष में मान लिया जाना। उदयनाचार्य के अनुसार प्रतिज्ञाहानि दो प्रकार की होती है—(1) प्रतिज्ञा का त्याग और (2) दृष्टान्त का त्याग।[222]

(2) प्रतिज्ञान्तर

वादी द्वारा प्रतिज्ञात विषय का प्रतिवादी द्वारा खण्डन होने पर, वादी यदि अपने कथन की सिद्धि के लिए पहली से विशिष्ट कोई दूसरी प्रतिज्ञा कर बैठता है, तो वह प्रतिज्ञान्तर नामक निग्रहस्थान से ग्रस्त हो जाता है।[223]

उदाहरण—

वादी— शब्द अनित्य है, इन्द्रिय का विषय होने के कारण, घट के समान।

प्रतिवादी—'जाति' (जैसे गोत्व) इन्द्रियग्राह्य होने पर भी नित्य है।

वादी— इन्द्रिय का विषय होते भी हुए जाति नित्य है। किन्तु वह सर्वगत है, इसलिए नित्य है। घट सर्वगत नहीं है, इसलिए अनित्य है (दूसरी प्रतिज्ञा)।

ज्ञातव्य है कि प्रतिवादी द्वारा प्रथम प्रतिज्ञा (शब्द अनित्य है) का खण्डन होने पर वादी को उसकी सिद्धि के लिए अधिक साधक हेतु और दृष्टान्त का सहारा लेना चाहिए था। किन्तु उसने ऐसा न करके एक दूसरी ही प्रतिज्ञा (घट सर्वगत नहीं है) कर डाली। अतः स्पष्ट है कि वह अपने पूर्वपक्ष का प्रतिपादन नहीं कर सका। दूसरी प्रतिज्ञा से पहली प्रतिज्ञा की सिद्धि नहीं हुआ करती। प्रतिज्ञा की पुष्टि तो हेतु और दृष्टान्त से होती है, जो यहाँ नहीं हुई। यद्यपि

वादी के मन में यह बात है कि 'शब्द में असर्वगतता सिद्ध कर वह इन्द्रिय ग्राह्यता रूप हेतु में भी असर्वगतता नामक विशेषण जौड़ देगा, जिससे प्रतिवादी द्वारा हेतु में निर्दिष्ट व्यभिचार दोष का निवारण हो जाएगा, किन्तु वादी ने व्यावहारिक रूप में ऐसा नहीं किया। वह तो घट के समान शब्द सर्वत्र नहीं रहता, इतना कह कर चुप हो गया।

[3] प्रतिज्ञाविरोध

वादी के प्रतिज्ञा वाक्य का उसके ही द्वारा प्रस्तुत हेतु वाक्य के साथ परस्पर विरोध हो जाए, तो यह प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान कहलाता है।[224] उदाहरण प्रतिज्ञा-'द्रव्य गुण से भिन्न है।'

हेतु—रूप आदि से भिन्न पदार्थ के उपलब्ध न होने के कारण।

पारस्परिक विरोध—गुणों से भिन्न द्रव्य का होना (प्रतिज्ञा) और रूपादि गुणों से भिन्न अर्थ की उपलब्धि होना (हेतु) इन दोनों कथनों में परस्पर विरोध है, क्योंकि प्रतिज्ञावाक्य के अनुसार द्रव्य गुण से भिन्न है, जबकि हेतु वाक्य में यह कहा गया है कि द्रव्य गुण से भिन्न नहीं है।

[4] प्रतिज्ञासंन्यास

यदि अपनी प्रतिज्ञा का खण्डन होते हुए देखकर वादी यह कहे कि मैंने तो ऐसी प्रतिज्ञा की ही नहीं, तो यह प्रतिज्ञासंन्यास नामक निग्रहस्थान कहलायेगा।[225]

उदाहरण—

वादी— शब्द अनित्य है, इन्द्रिय का विषय होने के कारण।

प्रतिवादी—जाति इन्द्रिय का विषय होते हुए भी अनित्य नहीं है, इसी प्रकार शब्द भी इन्द्रिय का विषय होते हुए भी अनित्य नहीं है।

वादी— हाँ, हाँ, शब्द तो नित्य ही है, उसको अनित्य कौन कहता है? मैंने तो शब्द को अनित्य नहीं कहा।

[5] हेत्वन्तर

वादी का दिया हुआ हेतु यदि प्रतिवादी द्वारा खण्डित होने लगे और तब उसमें कुछ विशेषण जोड़कर यानी उसका संशोधन कर उससे वादी साध्य की सिद्धि करना चाहे तो यह हेत्वन्तर नामक निग्रह स्थान कहलायेगा।[226]

उदाहरण—

वादी— शब्द अनित्य है, इन्द्रियग्राह्य होने के कारण

प्रतिवादी—सामान्य (जाति) भी इन्द्रियग्राह्य है, किन्तु वह अनित्य नहीं है।

वादी— इन्द्रिय का विषय और सामान्यगुण से युक्त होने के कारण शब्द अनित्य है।

ज्ञातव्य है कि वादी ने 'शब्दोऽनित्यः सामान्यवत्वेसति ऐन्द्रियकत्वात्' इस रूप में संशोधित हेतु प्रस्तुत किया। इससे प्रतिवादी के कथन का समाधान तो हो गया, किन्तु आरम्भ में वादी ने जो हेतु प्रस्तुत किया था, उसमें 'साध्य' की साधकता तो सिद्ध नहीं हुई। साध्य की सिद्धि तो संशोधित हेतु से हुई, मूल हेतु से नहीं। और संशोधित हेतु हेत्वन्तर है, न कि मूल हेतु।

[6] अर्थान्तर

वादी या प्रतिवादी अपने साध्य की सिद्धि करने में असमर्थ हो जाने पर यदि अप्रासंगिक बातें करने लग जाएँ, तो यह अर्थान्तर नामक निग्रहस्थान में पड़कर पराजित समझा जाएगा।[227]

उदाहरण—

वादी— शब्द नित्य है, स्पर्श रहित होने के कारण।

प्रतिवादी—तब तो नित्यता सुखादि में भी व्यभिचरित हो जाएगी।

वादी— देखिए 'हेतु' शब्द 'हि' धातु में तुन् प्रत्यय जोड़कर बना है। यह कृदन्त है। पद चार प्रकार के होते हैं—नाम, आख्यात उपसर्ग और निपात। आदि आदि।

ज्ञातव्य है कि हेतु शब्द की व्युत्पत्ति, पद के भेद आदि का उल्लेख बिल्कुल अप्रासंगिक है। वादी द्वारा प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध न रखने वाली ऐसी अनर्गल बातें कही गईं, जिनका शब्द की नित्यता या अनित्यता से कोई सम्बन्ध नहीं है।

[7] निरर्थक

यदि वादी या प्रतिवादी अपने तर्क में निरर्थक शब्दों (अक्षरों) का प्रयोग करें तो वह निरर्थक नामक निग्रहस्थान में पड़कर पराजित समझा जाता है।

उदाहरण—

वादी— क, च, ट, प यह शब्द नित्य है, जब ग ड द श होने से झ भ घ ढ ध ष के समान।

स्पष्ट है कि ऐसा कथन प्रलापमात्र है। अतः यह निरर्थक है।

[8] अविज्ञातार्थ—

अपने असामर्थ्य को छिपाने के लिए यदि वादी इस तरह से या ऐसा कथन करे कि तीन बार कहने पर भी प्रतिवादी और सभा में बैठे लोग उस कथन को न समझ सकें, तो वादी अविज्ञातार्थ नामक निग्रहस्थान से ग्रस्त माना जाता है।[229] यह ज्ञातव्य है कि वादी ऐसा या तो श्लिष्ट या अप्रचलित शब्दों का प्रयोग करके करता है, या वह शब्दों का उच्चारण इतनी द्रुत गति से करता है कि वे प्रतिवादी और सभ्यों को स्पष्ट रूप से सुनाई ही नहीं देते।

[9] अपार्थक

यदि वादी का प्रतिवादी अपने कथन में ऐसे पदों या वाक्यों का प्रयोग करे, जिनकी पूर्वापर संगति नहीं बैठती, तो उसका कथन अपार्थक नामक निग्रहस्थान से ग्रस्त माना जाएगा।[230] उदाहरण—दस अनार हैं, छः अपूप हैं, बकरी का चमड़ा है। उसका पिता वृद्ध है—आदि।

इन वाक्यों का कोई समुदायार्थ नहीं निकलता। अतः इनका प्रयोग अपार्थक है। यह ज्ञातव्य है कि वाक्य से कोई अर्थ न निकले तो निरर्थक और समुमाय से कोई अर्थ न निकले तो अपार्थक नामक निग्रहस्थान होता है।

[10] अप्राप्तकाल

अनुमान के पाँच अवयवों का प्रयोग निर्दिष्ट क्रम से न कर यदि कोई वादी उसमें उलटफेर करके अपना कथन करे तो वह अप्राप्तकाल नामक निग्रह-स्थान से ग्रस्त समझा जाएगा।[231]

[11] न्यून

अनुमान के प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों में से किसी एक की भी कमी रहने पर वादी या प्रतिवादी का कथन न्यून नामक निग्रहस्थान से ग्रस्त हो जाता है।[232]

[12] अधिक

एक ही हेतु तथा दृष्टान्त से साध्य की सिद्धि होने पर भी यदि कोई वादी या प्रतिवादी अनेक हेतुओं और दृष्टान्तों का प्रयोग कर दे तो वह अधिक नामक निग्रहस्थान से ग्रस्त हो जाता है ।[233]

वैसे यह दोष तो नहीं है, किन्तु अनावश्यक होने के कारण ऐसे प्रयोगों का निषेध किया गया है ।

[13] पुनरुक्त

बिना प्रयोजन के ही एक बात को बार-बार कहना पुनरुक्त नामक निग्रह स्थान कहलाता है ।[234]

[14] अननुभाषण

वादी के द्वारा तीन-तीन बार प्रतिपादित करने तथा सभा द्वारा समझ लिये जाने पर भी यदि प्रतिवादी चुप्पी साध ले तो वह अननुभाषण नामक निग्रह-स्थान से ग्रस्त समझा जाता है, क्योंकि जब वह कुछ बोलेगा ही नहीं तो वादी के कथन का खण्डन कैसे कर सकता है ?[235]

ज्ञातव्य है कि **अविज्ञातार्थ** नामक निग्रह स्थान में वादी के कथन में ही दोष रहता है, **अज्ञान** नामक निग्रह स्थान में वादी का कथन प्रतिवादी की समझ में ही नहीं आता, जबकि अननुभाषण में प्रतिवादी समझता तो है किन्तु उत्तर नहीं दे पाता। विक्षेप नामक निग्रहस्थान में प्रतिवादी कोई बहाना (समयाभाव आदि का) बनाकर उत्तर देने से बचना चाहता है ।

[15] अज्ञान

वादी द्वारा अपने पक्ष का तीन-तीन बार प्रतिपादन करने और सभा द्वारा उसका अर्थ समझ लिये जाने पर भी यदि उसका कथन प्रतिवादी की समझ में नहीं आता तो प्रतिवादी अज्ञान नामक निग्रह स्थान में पड़कर पराजित समझा जाता है ।[236] जब प्रतिवादी समझेगा ही नहीं तो वह वादी के कथन का उत्तर कैसे दे सकता है ?

[16] अप्रतिभा

यदि वादी या प्रतिवादी की बुद्धि कुण्ठित हो जाये और उसे प्रतिपक्ष का खण्डन करने के लिए कोई उत्तर ही न सूझे तो वह अप्रतिभा (उत्तर की स्फूर्ति न होना) नामक स्थान से ग्रस्त होकर पराजित माना जाता है ।[237]

[17] विक्षेप

हारने के भय से यदि कोई वादी या प्रतिवादी विवाद के बीच में ही किसी दूसरे कार्य का बहाना बनाकर बहस बन्द कर दे, तो वह विक्षेप नामक निग्रह-स्थान से ग्रस्त होकर पराजित समझा जाता है।[238]

[18] मतानुज्ञा

वादी के कथन में यदि प्रतिपक्षी कोई दोष निकाले और वादी उसका खण्डन न करके उस दोष को अपने कथन में स्वीकार करते हुये प्रतिपक्षी के कथन में भी कोई दोष निकाल दे तो वादी मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान में पड़कर परास्त माना जाता है।[239] क्योंकि प्रतिपक्ष में दोष प्रदर्शन मात्र से स्वपक्ष के दोष का तो समाधान नहीं होता।

[19] पर्यनुयोज्योपेक्षण

प्रतिवादी अपनी किसी गलती के कारण निग्रहस्थान में पड़ जाये, फिर भी यदि वादी उसके दोष का उद्घाटन न कर सके तो वादी स्वयं प्रतिवादी की पराजय की उपेक्षा करने के कारण पर्यनुयोज्योपेक्षण नामक निग्रह स्थान में पड़कर परास्त माना जाता है।[240]

पराजित वादी या प्रतिवादी स्वयं ही सभा को सूचना नहीं देता कि वह पराजित हो गया। सभा के लोग भी प्रतिवादी की पराजय की व्यवस्था तभी देंगे, जबकि वादी उसका निर्देश करेगा। इस प्रकार यदि वादी प्रतिवादी के दोष का निर्देश नहीं करता, तो वह अपने आपको दोषग्रस्तता की स्थिति में डाल देता है।

[20] निरनुयोज्यानुयोग

प्रतिवादी की पराजय न होने पर भी यदि वादी उस पर झूठमूठ ही दोषा-रोपण करे तो अदोष में दोष की उद्भावना करने के कारण वादी स्वयं निरनु-योज्यानुयोग नामक निग्रहस्थान में ग्रस्त होकर परास्त माना जाता है।[241]

[21] अपसिद्धान्त

यदि कोई वादी किसी एक सिद्धान्त की स्थापना करता है किन्तु बाद में नियम को छोड़कर उसके विरुद्ध मत को स्वीकार कर लेता है तो यह अपसिद्धांत नामक निग्रहस्थान में पड़कर परास्त माना जाता है।[242] उदाहरण, पहले यदि इस सिद्धान्त को मानते हुये भी कि सत्पदार्थ का नाश नहीं होता और असत्

पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती; कोई वादी बाद में यह मान ले कि अनुपन्न वस्तु की उत्पत्ति और उत्पन्न वस्तु का नाश होता है, तो यह अपसिद्धान्त कहलायेगा।

[22] हेत्वाभास

आपाततः जो हेतु जैसा दिखाई दे, किन्तु यथार्थतः हेतु न हो तो वह हेत्वाभास कहलाता है। यदि कोई वादी या प्रतिवादी ऐसे हेतु का सहारा लेता है तो वह हेत्वाभास नामक निग्रहस्थान से ग्रस्त होकर परास्त हो जाता है। (हेत्वाभास का विस्तार से विश्लेषण पहले किया जा चुका है।)

12. अनुमान के सम्बन्ध में भारतीय तथा पाश्चात्य मान्यताओं का साम्य-वैषम्य

वैसे तो यह प्रश्न उठाना अनावश्यक सा है कि भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों द्वारा अनुमान के सम्बन्ध में जो मान्यताएँ स्थापित की गईं, उनमें कितना साम्य है और कितना वैषम्य, क्योंकि दोनों परम्पराओं का विकास अपने-अपने सन्दर्भों के साथ हुआ और तुलना का आधार भी न होने के बराबर ही है, फिर भी दोनों परम्पराओं का विषय-क्षेत्र तो एक ही है और दोनों में अनुमान को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है, इसलिए इस विषय पर कुछ संक्षिप्त चर्चा कर ली जाये तो अनुपयुक्त न होगा।

दोनों परपम्राओं का स्वतन्त्र विकास

भारत में प्रायः सभी दर्शनों के आचार्यों ने अनुमान की समस्या पर विचार किया है और इसकी परम्पराओं के सूत्र उपनिषदों में भी उपलब्ध हो जाते हैं।

पाश्चात्य दर्शन में अनुमान पर चिन्तन का आरम्भ सुकरात, प्लेटो, अरस्तू प्रभृति द्वारा हुआ। आधुनिक युग में इस चिन्तन परम्पराओं को आगे बढ़ाने वाले अनेक विद्वान हुये, जिनमें से फ्रांसिस वेकन, लाइबनीत्ज, जे०एस० मिल, हर बार्ट लुट्ज, ब्रेडले, बोसांके, सिगवार्ट, हेमिल्टन, जान्सन आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त आधुनिक काल में यूरोप में कई ऐसे तार्किक हो गये हैं, जिन्होंने प्रतीकों के माध्यम से या गणितीय पद्धति से अनुमान का विश्लेषण किया है। ऐसे चिन्तकों में जार्ज बूल, डी० मार्गन, पीअर्स, शोडर फ्रेग, ह्वाइहेड, बरट्रण्ड रसेल, विटगेन्स्टीन, लेविस प्रमुख हैं।

भारतीय चिन्तकों में गंगेश ने नव्यन्याय की शैली में अनुमान सम्बन्धी समस्याओं का विश्लेषण किया और उनके अनुयायी रघुनाथ शिरोमणि, जगदीश,

तर्कालंकार, गदाधर भट्ट आदि ने उनके मतों का विश्लेषण और यथावसर परिष्कार किया।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि अनुमान को सर्वाधिक महत्त्व देने में दोनों परम्पराओं में पर्याप्त साम्य है। किन्तु अनुमान के अवान्तर विश्लेषण में दोनों परम्पराओं में पर्याप्त अन्तर है।

नैयायिकों ने अनुमान का उद्देश्य भी निःश्रेयस की प्राप्ति माना है, जबकि पाश्चात्य तार्किकों ने तर्क को मानसिक जिज्ञासा के समाधान का ही साधन बताया है। पाश्चात्य अनुमान आकारिक (निगमन) और वस्तुमूलक (आगमन) इन दो प्रकारों में विभक्त है, किन्तु भारतीय अनुमान में (व्याप्यि तथा पक्ष-धर्मता पर अवस्थित होने के कारण) आकारिकता और वस्तुमूलकता इन दोनों का समाहार हो गया है।

भारतीय अनुमान प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा ज्ञात विषय का अन्वीक्षण है, जबकि पाश्चात्य अनुमान में 'भाषा में अभिव्यक्त तर्कों' पर विचार किया जाता है। विचार दो प्रकार के होते हैं—विशेष (जैसे राम) और सामान्य (जैसे मनुष्य)। सामान्य को ही प्रत्यय या धारणा कहते हैं। दो प्रत्ययों की परस्पर तुलना का नाम निर्णय है। इस प्रकार पाश्चात्य तार्किकों के अनुसार "अनुमान उस मानसिक क्रिया का फल है, जिसमें एक या एक से अधिक निर्णयों के द्वारा एक ऐसे नवीन निर्णय की ओर अग्रसर हुआ जाता है, जो उनसे आवश्यक रूप से फलित होता।" प्रत्ययों के उस संयोग को निर्णय कहा जाता है, जिसमें किसी वस्तु की सत्यता या असत्यता का परिचय मिलता है। भाषा में अभिव्यक्त होने पर निर्णय 'तर्कवाक्य' कहलाता है। अतः इच्छार्थक, आज्ञार्थक आदि वाक्य तर्कवाक्य नहीं कहला सकते। तर्कवाक्य के तीन अंग होते हैं—उद्देश्य जैसे राम, विधेय जैसे मरणशील, और संयोजक जैसे 'हैं'। उद्देश्य और विधेय पद (टर्म) कहलाते हैं और संयोजक (जैसे है) को पदसंयोज्य कहा जाता है। भारतीय दर्शनों के वाक्य का विभाजन उद्देश्य और विधेय में किया गया। संयोजक की पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं की गई।

अतः यह ज्ञातव्य है कि पाश्चात्य तार्किकों के अनुसार व्याकरण सम्मत प्रत्येक शब्द (जैसे—'है') अनुमान में 'पद' नहीं कहला सकता और व्याकरण सम्मत प्रत्येक वाक्य 'तर्कवाक्य' नहीं कहला सकता। भारतीय न्यायशास्त्र में पद और वाक्य का विवेचन शब्द प्रमाण के अन्तर्गत किया गया है, और उसमें भी शब्द अर्थ के सम्बन्ध पर जितना बल दिया गया है, उतना अन्य पक्षों पर नहीं दिया गया। भारतीय अनुमान के भेदों का निरूपण पूर्व पृष्ठों में किया जा

चुका है। पाश्चात्य अनुमान के 'निगमन' और 'आगमन' नामक भेदों की रूपरेखा संक्षेप में इस प्रकार है—

'निगमन' और 'आगमन' में अन्तर

(क) **व्यापकतामूलक 'निगमन'** (Deduction)—में अनुमान का आधार अनुमित तथ्य से अधिक व्यापक होता है। अनुमित तथ्य की व्यापकता आधार की व्यापकता के बराबर हो सकती है, उससे अधिक नहीं। यहाँ समष्टि नियम को आधार बना कर व्यक्ति के सम्बन्ध में निर्णय पर पहुँचा गया। उदाहरण—

सभी मनुष्य नश्वर हैं।
श्याम मनुष्य है।
अतः श्याम नश्वर है।

प्रस्तुत उदाहरण में 'श्याम नश्वर है'—यह निगमन अपने आधार (सभी मनुष्य नश्वर हैं) से बहुत कम व्यापक है। यानी यहाँ आधार बड़ा है और अनुमित तथ्य (निगमन) छोटा।

आगमन (Induction) में अनुमान का आधार अनुमित तथ्य से बहुत कम व्यापक होता है। यानी आधार छोटा और अनुमित तथ्य बड़ा होता है। यहाँ व्यष्टि को आधार मान कर समष्टि के सम्बन्ध में निर्णय पर पहुँचा जाता है। उदाहरण—

राम नश्वर है।
श्याम नश्वर है।
अतः सभी मनुष्य नश्वर हैं।

स्पष्ट है कि यहाँ एक व्यक्ति को आधार मानकर समष्टिगत तथ्य पर पहुँचा गया।

(ख) **सत्यता मूलक**

निगमन—आकारिक सत्यता तक ही सीमित है। इस अनुमान में पहले कोई आधार मान लिया जाता है, और बाद में यह देखा जाता है कि निगमन और आधार के मध्य आन्तरिक सामंजस्य है या नहीं। उदाहरण—

सभी मनुष्य अमर हैं।
राम मनुष्य है।
अतः राम अमर हैं।

तार्किक प्रक्रिया की दृष्टि से समुचित होने पर भी यहाँ जो अनुमान किया गया है, वह वास्तविकता से सम्बन्ध नहीं रखता। क्योंकि वस्तुतः यहाँ अनुमान का आधार ही अवास्तविक है।

आगमन—वास्तविकता पर आधारित होता है। जिन घटनाओं के आधार पर यह अनुमान किया जाता है, वे अनुभूत तथा सत्य होती हैं। उदाहरण—

राम नश्वर है।
राम मनुष्य है।
सभी मनुष्य नश्वर हैं।

ज्ञातव्य है कि पाश्चात्य तार्किकों में से अरस्तू ने तो अनुमान के निगमन-मूलक और आगमन मूलक दो भेदों का प्रवर्तन किया, जबकि कान्ट ने अनुमान के अव्यवहित और व्यवहित नाम से दो भेद प्रचलित किये। भारतीय न्यायशास्त्र में अनुमान के अव्यवहित और व्यवहित जैसे भेद स्वीकार नहीं किये गये, क्योंकि भारतीय अनुमान में मध्यवर्ती पद व्याप्ति-पक्षधर्मता विशिष्ट हेतु के बिना उत्पन्न ही नहीं हो सकता। भारतीय अनुमान के (क) पूर्ववत् शेखवत् सामान्यतोदृष्ट, (ख) स्वार्थ परार्थ (ग) वीत अवीत (घ) केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी, अन्वय-व्यतिरेकी आदि भेदों का आधार व्याप्तिभेद, प्रयोजनभेद, विधि-निषेध आदि हैं।

भारतीय अनुमान मात्र के लिए पाँच लक्षण (पक्षसत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व) अथवा तीन (प्रथम तीन) बताये गये हैं, जबकि पाश्चात्य विचारकों में अनुमान के विभिन्न भेदों के लिए विभिन्न नियम बताये हैं।

पाश्चात्य तार्किकों ने अनुमान के तीन ही अवयव बताये हैं, किन्तु भारतीय चिन्तकों में इस सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। नैयायिकों ने पाँच अवयव माने हैं। भूलों का नाम ही आभास है। मनुष्य कभी तो स्वयं भूल में पड़ जाता है और कभी जानबूझ कर दूसरों को भूल में डालता है। कान्ट ने पहले को 'पेरागालिज्म' और दूसरे को 'सोफिज्म' कहा है।

भारतीय न्यायशास्त्र में उल्लिखित हेत्वाभास विशुद्ध तार्किक दोष हैं, जबकि अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट दोष भाषा सम्बन्धी होने के कारण मनोवैज्ञानिक हैं। भारतीय न्यायशास्त्र में भाषा सम्बन्धी दोषों (छल, जाति निग्रहस्थान) का पृथक् विवेचन किया गया है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय और पाश्चात्य अनुमान परम्पराओं का विकास विभिन्न परिवेशों में विभिन्न दृष्टिकोणों से हुआ। अतः उनमें तुलना के लिये भी कोई स्पष्ट आधार नहीं मिलता।

13. अनुमान की उपयोगिता

चार्वाकों के अतिरिक्त अन्य सभी दार्शनिकों ने अनुमान को एक पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य के सभी कार्यकलाप केवल प्रत्यक्ष पर ही निर्भर नहीं हो सकते। अतः व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी अनुमान के अस्तित्व का निषेध नहीं किया जा सकता। जयन्त भट्ट ठीक ही कहते हैं कि महापुरुषों से लेकर साधारण गड़रियों तक सभी लोग अनुमान का सहारा लेकर काम चलाते हैं, अनुमान का अपलाप करने पर तो प्रत्यक्ष प्रमाण से भी काम नहीं चल सकता, यानी लौकिक कार्यकलाप करने भी कठिन हो जायेंगे।[243]

चार्वाकों का यह कथन है कि जिस पदार्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता, उसकी सत्ता ही नहीं है। मनुष्य सम्भावना से प्रवृत्त होता है, यह अवश्य है कि कभी-कभी सम्भावना पर ही निश्चय का आरोप कर लिया जाता है। किन्तु चार्वाक के अनुसार सम्भावना सदा ही सफल प्रवृत्ति की जनक नहीं होती, अतः वह प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। चार्वाकों का यह भी कहना है कि उपाधि-शून्य हेतु का मिलना असम्भव है, क्योंकि देशान्तर और कालान्तर में उसके उपाधि से युक्त होने की सम्भावना है। इसके अतिरिक्त जिनको दिव्य शक्ति प्राप्त है, उनको अनुमान की क्या आवश्यकता है? यदि व्याप्ति का आधार 'सामान्य' माना जाये तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सामान्य की तो वस्तुसत्ता ही नहीं है। भूयोदर्शन का सिद्धान्त भी अनुपयुक्त है, क्योंकि विपक्षी उदाहरण अनेक हैं और साधारण व्यक्तियों के लिये यह देखना अत्यन्त असम्भव है कि सभी विरोधी उदाहरणों में 'हेतु' नहीं है। यदि व्याप्ति का आधार सामान्य न मान कर व्यक्ति माना जाये तब भी अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि व्यक्ति अनन्त है। उदाहरणतया हम सभी कालों के सभी धूमों और अग्नियों का ज्ञान नहीं कर सकते। नैयायिकों द्वारा अनुमान की परिभाषा में प्रयुक्त शब्द लिंग 'पक्षधर्मता' आदि भी गौण अर्थ में प्रयुक्त हुये हैं। इस प्रकार चार्वाकों के मत में जब व्याप्ति सम्बन्ध ही स्थापित नहीं किया जा सकता, तो अनुमान को प्रमाण के रूप में कैसे स्वीकार किया जा सकता है?[244]

नैयायिकों ने चार्वाकों के उपर्युक्त तर्कों का समाधान निम्नलिखित रूप से किया है।

सम्भावना एक प्रकार का 'सशय ज्ञान' ही है और अनुमान सम्भावना पर नहीं, अपितु निश्चित रूप से ज्ञात स्वाभाविक सम्बन्ध पर आधारित होता है। उदाहरणतया पर्वत आदि पर धूम को देखकर अग्नि होने की सम्भावना तब तक नहीं की जा सकती, जब तक कि धूम के साथ अग्नि ज्ञान का निश्चय पहले न किया गया हो। चार्वाकों के अन्य तर्कों का खण्डन इस प्रकार किया गया है कि अनुमान एक कोरी कल्पना नहीं है। यह हेतु और साध्य के नियम सहचार पर आधारित है। जाति या सामान्य की वस्तुसत्ता है। अनुमान व्यक्ति विशिष्ट सामान्य को आधार मानकर किया जाता है। परिभाषा में यदि किसी शब्द का गौण अर्थ में भी प्रयोग किया गया हो तो उससे अनुमान की धारणा खण्डित नहीं हो जाती। कालान्तर और देशान्तर में हेतु के उपाधियुक्त होने की सम्भावना के आधार पर अनुमान के दूषित होने की आपत्ति उठाई गई है, वह अनुचित है, क्योंकि प्रत्यक्षगम्य न होने के कारण कालान्तर और देशान्तर के सद्भाव की भी सिद्धि नहीं हो सकती। चार्वाक कार्यकारणभाव पर संशय करते हैं, किन्तु संशय का भी तो कोई कारण होता है। अतः वे स्वयं जिस अस्त्र का प्रयोग करते हैं, उसका तो कारण उन्हें मानना ही होगा, जिससे उनकी आपत्ति स्वयं ही निरस्त हो जाती है।

यह कहना भी कि 'सदैव निर्दोष न होने के कारण अनुमान को प्रमाण नहीं माना जा सकता'—युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि भ्रान्ति तो प्रत्यक्ष ज्ञान में भी हो जाती है। यदि किसी एक वस्तु को देखकर किसी अन्य वस्तु की प्रतीति होती है तो दोनों में अवश्य कोई सम्बन्ध होगा, इसी को सहचार नियम कहा गया है। अतः अनुमान की उपयोगिता पर शंका करना उचित नहीं है।[245]

—o—

चतुर्थ अध्याय के सन्दर्भ

1. तत्त्व चिन्तामणि, भाग 2, पृ० 18.
2. न्या०भा०
3. अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैंगिकम् वै०सू० 9-2-1, लिंगदर्शनात् संजायमानं लैंगिकम्, प्र०भा०, 162.
4. प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य, वै०सू० 3.1.14.
5. दर्शनं ज्ञानं तथा च दृष्टादनुमितात् स्मृताच्च लिंगादित्यर्थः, किरणावली।
6. लिंग दृष्टमनुमितं श्रुतं वा यदनुभवरूपं ज्ञानं जनयति तल्लैंगिकम् लिंगाज्जातं लैंगिकम्, व्याप्तिविशिष्टः पक्षधर्मोलिंगम् उ०पृ० 215
7. अनुमितिप्रमायोगव्यवच्छिन्नमनुमानम्, तच्च व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्ट-लिंगज्ञानम्, स०प० 146.
8. त०दी० अनु०
9. तत्पूर्वकमित्यनेन लिंगलिंगिनोः सम्बन्धदर्शनं लिंगदर्शनं चाभिसम्बध्यते। लिंगलिंगिनो सम्बद्धयोक्षोर्दर्शनेन लिंगस्मृतिरभिसम्बध्यते । स्मृत्या लिंगदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते, न्या०भा० 1.1.5.
10. ते पूर्वकम्, तानि पूर्वकम् तत्पूर्वकम्
11. (क) मितेन लिंगेनार्थस्य पश्चान्मानम्, (ख) लिंगलिंगिनोः सम्बन्ध-दर्शनम्, (ग) प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य प्रतिपत्तिः । न्या०भा०, 1.1.3, 1.1.5, 2.2.2.
12. पंचलक्षणकाल्लिंगाद्गृहीतान्नियमे स्मृतेः
परोक्षे लिंगिनि ज्ञानमनुमानं प्रचक्षते । न्या०म० 1; 101.
13. व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यं ज्ञानमनुमितिः तत्करणमनुमानं, तच्च लिंगपरामर्शो, न तु परामृश्यमानं लिंगम्, त०चि०

14. व्याप्तिविशिष्टश्च पक्षधर्मश्च व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मौ तयोर्भाव: व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता, तस्या ज्ञानम् ।

15. व्यापारस्तु परामर्श: करणं व्याप्तिधीर्मवेत् ।
अनुमायां ज्ञायमानं लिंग तु करणं न हि ॥
अनागतादिलिंगेन न स्यादनुमतिस्तदा ।
व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधी: परामर्श उच्यते ॥—कारिकावली 66, 67.

16. प्रतिबन्धदृश: प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्, सां०सू० 1–100

17. सां०, प्र०भा०, पृ० 53.

18. सां०का० 5.

19. माढर वृ० पृ० 12–13.

20. सां० त०कौ० पृ० 38.

21. सिद्धं चानुमानादिषु प्रमाणत्वमनुभूते: बृ०पृ० 80

22. साध्याविनाभुवो लिंगात् साध्यनिश्चायकं स्मृतम् ।
अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत् ॥—न्यायावतार, का० 5.

23. साधनात् साध्यविज्ञानम् अनुमानं तदत्यये, न्या०वि०द्वि०भा० 2 ॥

24. लिंगसाध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात् ।
लिंगधीरनुमानं तत्फलं हानादिबुद्धय: ॥ ल०का० 12.

25. व्याप्तिनिश्चयस्य पश्चाद्भाविमानमनुमानम् प्र०न०न० 3/9, 10, 23.

26. नान्तरीयकार्यदर्शनं तद्विदोऽनुमानम् ।
या च सम्बन्धिनो धर्माद् भूतिर्धर्मिणि ज्ञायते ।
सानुमानं परोक्षाणामेकान्तेनैव साधनम् । प्र०वा 2–62.

27. (क) तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिंगाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्, 23
(ख) त्रिरूपलिंगाख्यानं परार्थानुमानम् ।

28. श०भा० 1.1.5.

29. सिद्धं चानुमानादिषु प्रमाणत्वमनुभूते:—बृ०पृ० 80.

30. अनुमितिकरणमनुमानम्, अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञान-जन्या, अनुमितिकरणं च व्याप्तिज्ञानम्, तत्संस्कारोऽवान्तरव्यापार: ।

न तु तृतीय लिंगपरामर्शोऽनुमितिकरणम्। हेतुत्वासिद्ध्या तत्करणत्वस्य दूरनिरस्तत्वात्, वे०प०पृ० 116–124.

31. साधनीयस्यार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते, तस्य पंचावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहमपेक्ष्यावयवा उच्यन्ते। तेषु प्रमाण-समवायः आगमः प्रतिज्ञा। हेतुरनुमानम्, उदाहरणं प्रत्यक्षम्, उप-नयनमुपमानम्, सर्वेषामेकार्थसमवाये सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति। सोऽयं परमो न्याय इति, न्या०भा० 1.1.1.

32. अनुमितिचरमकारणलिंगपरामर्श प्रयोजकशाब्दज्ञानजनकवाक्यत्वमवयव-त्वम्, त०चि०

33. उचितानुपूर्वीकं प्रतिज्ञादिपंचकसमुदायत्वं न्यायत्वम्, दी०

34. अनुमानवाक्यस्यैकदेशा अवयवाः त०भा०पृ० (श्रीमने०), 268, न्या०वा०त०टी० 1.1.1.

35. साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा, न्या०सू० 1.1.33; प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा, न्या०भा० 1.1.33; साध्यधर्म-विशिष्टपक्षप्रतिपादकं वचनं प्रतिज्ञा, त०भा० (व्याख्या भु०) पृ० 373.

36. तत्र प्रतिज्ञा न साध्यनिर्देशः —साध्यपदेऽव्याप्तेः। किन्तूद्देश्या-नुमितिहेतुलिंगपरामर्शप्रयोजकवाक्यार्थज्ञानकत्वे सत्युद्देश्यानुमित्य-न्यूनानतिरिक्तविषयकशाब्दजनकं वाक्यम्, त०चि० 140 4; भा०द० में अनुमान, ब्रजनारायण शर्मा पृ० 278.

37. न्या०सू०वृ० 1.1.33.

38. न्या०सू०, भाष्य, वार्तिक, 1.1.34.

39. तृतीयान्तं पंचम्यन्तं व लिंगप्रतिपादकं वचनं हेतुः। यथा धूमवत्त्वेन धूमवत्वादिति वा, त०भा० (शु०) पृ०

40. पंचम्यन्तं लिंगप्रतिपादकं वचनं हेतुः, त०दी०(भा०), पृ० 124.

41. हेतुरपदेशो लिंग प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम्, वै०सू० 9–2–4

42. प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य, वै०सू० 3.1.14 अन्यदेव हेतुरित्यनपदेशः, वै०सू० 3.1.7; यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते। तदभावे च नास्त्येव तल्लिंगमनुमापकम्, प्र०भा०

43. त०भा० व्याख्या, शुक्ल, बदरीनाथ, पृ० 374.

44. उदाहृयतेऽनेन धर्मयोः साध्यसाधनभाव इत्युदहारणम्; न्या०भा० 1.1.36. अवयवेषु चोदाहरणाय कल्पत इति, न्या०भा० 1.1.25.

45. त०सं० बोदास, पृ० 273–74.

46. तत्रानुमितिहेतुलिंगपरामर्शवाक्यजन्यज्ञानजनक—व्याप्यत्वाभिमतवन्निष्टनियतत्वाभिमतसम्बन्धबोधजनकशब्दत्वमुदाहरणत्वम्, त०चि०

47. जैन तर्कशास्त्र में अनुमान, काठिया, पृ० 176.

48. पक्षे लिंगोपसंहारवचनमुपनयः तर्कभाषाव्याख्या, शुक्ल बदरीनाथ, पृ० 374.

49. उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः, न्या०सू० 1.1.38, न्या०सू०वृ० 1.1.38.

50. अनुमितिकारणतृतीयलिंगपरामर्शजनकावयवत्वमुपनयत्वमिति सामान्यलक्षणम्, त०चि०

51. पक्षधर्मताज्ञानार्थमुपनयः, तं०सं० (भार्गव) पृ० 124.

52. साध्यदृष्टान्तयोरेकक्रियोपसंहार उपनयः, यु०दी०का०–6

53. हेतुरुपसंहार उपनयः, परीक्षामुखसूत्र, 3.50.

54. हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्, न्या०सू० 1.1.39.

55. सर्वेषामेकार्थप्रतिपत्तौ सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति, न्या०भा० 1.1.39.

56. प्रतिज्ञाविषयस्यार्थस्याशेषप्रमाणोपपत्तौ साध्यविपरीतप्रसंगप्रतिषेधार्थ यत्पुनरभिधानं तत् निगमनमिति, न्या०वा०, 1.1.38, 39.

57. चतुर्भिः खल्ववयवैर्हेतोस्त्रीणि रूपाणि द्वे वा प्रतिपादिते न त्वबाधिताविषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वे। पंचसु वा चतुर्षु वा रूपेषु हेतोरविनाभावः परिसमाप्यते, तस्मादबाधितत्वासत्प्रतिपक्षितत्वरूपद्वयसंसूचनाय निगमनम्, न्या०वा०ता०टी०, 1.1.39

58. अनुमितिहेतुलिंगपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञानकारणव्याप्तिपक्षधर्मताधीप्रयुक्तसाध्यधीजनकवाक्यम्, त०चि०

59. अनुमेयत्वेनोद्दिष्टे चानिश्चिते च परेषां निश्चयापादनार्थं प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं प्रत्याम्नायः, प्र०भा०

60. पंचावयवप्रयोगात्सुखसंवित्तिः, सां०सू० 5–27.

61. प्र०मी०स्वो०वृ०, 2.1.15.

62. त०श्लो०, 1.13.353.

63. असत्यां प्रतिज्ञायामनाश्रया हेत्वादयो न प्रवर्त्तेरन्, असति हेतौ कस्य साधनभावः प्रदर्श्येत, उदाहरणे साध्ये च कस्योपसंहारः स्यात्, कस्यचापदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनं स्यादिति। असत्युदाहरणे केन साधर्म्यं वैधर्म्यं वा साध्यसाधनमुपादीयेत, कस्य वा साधर्म्यवशादुपसंहारः प्रवर्त्तेत। उपनयं चान्तरेण साध्येऽनुपसंहृतः साधको धर्मो नार्थं साधयेत। निगमनाभावे नानभिव्यक्तसम्बन्धानां प्रतिज्ञादीनामेकार्थेन प्रवर्तनं तथेति प्रतिपादनं कस्येति, न्या०भा० 1.1.39.

64. न्या०भा०, 1.1.32.
युक्तिदीपिका, का० 6.

65. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानीति त्र्यवयवमनुमानमिति सहोपनयेन चतुरवयवमिति मीमांसकाः, प्र०मी०वृ०पृ० 52.

66. तस्मात्त्र्यवयवं ब्रूमः पौनरुक्त्यसहा वयम्
उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम् ॥ मानमेयोदय, पृ० 64.

67. 'तत्राबाधित' इति प्रतिज्ञा, 'ज्ञातसम्बन्धनियमस्य' इत्यनेन दृष्टान्तवचनम् 'एकदेशदर्शनात्' इति वे०प०

68. पक्षहेतुदृष्टान्ता इति त्र्यवयवम्, माठर वृ० का० 5.

69. सर्वत्रैव न दृष्टान्तो नान्वयेनापि साधनात्।
अन्यथा सर्वभावानामसिद्धोऽयं क्षणक्षयः, न्या० वि० का० 381

70. ना० न्या०, पृ० 109,

71. त० सं०, का० 1437-39.

72. बौद्धतर्कभाषा, पृ० 45.

73. तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः।
ख्याप्येते, विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः; प्र० वा० 3-27; वादन्याय, पृ० 102.

74. Bijalwan, C. D. ; Indian Theory of Knowledge, p.

75. यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते, यथा मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति, न्या० भा० 1.15.

76. यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनेनान्यतरस्याप्रत्यक्षस्यानुमानं यथा धूमेनाग्निरिति, न्या० भा० 1.1.5.

77. वृष्टिमत्पृष्ठदेशसंसृष्टा इयं नदी फेनिलकलुषत्वादिविशिष्टपूरोपेतत्वात् पूर्वोपलब्धैवैविधधुनीवत्…फलतस्त्वियं वाचोयुक्तिः कार्येण कारणमनुमीयते इति। परामर्शतस्तु धर्मी धर्मवत्वेन धर्मवाननुमीयते इति स्थितिः, न्या० मं०, 1.110.

78. सामान्यतो दृष्टं तु यदकार्यकारणभूताल्लिंगात्तादृशस्यैव लिंगिनोऽनुमानं यथा कपित्थादौ रूपेण रसानुमानम्।…यत्पुनर्भाष्यकारेण भास्करस्य देशान्तरप्राप्त्या गत्यनुमानमुदाहृतं तदयुक्तम्। देशान्तरप्राप्तेर्गतिकार्यत्वात् कार्येण कारणानुमानं शेषवदेवेदं स्यात्, न्या० मं०, 1-119.

79. अन्वयमुखेनप्रवर्तमानं विधायकं वीतम्, व्यतिरेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकमवीतम्। तत्रावीतं शेषवत्, सां०, त० कौ० .

80. दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयं यत् तत्पूर्ववत्, सा० त० कौ०

81. तत्रावीतं शेषवत्। शिष्यते परिशिष्यते इति शेषः।
स एव विषयतया यस्यास्त्यनुमानज्ञानस्य तच्छेषवत्, सां० त० कौ० (मिश्र, आ० प्र०) पृ० 112.

82. प्रत्यक्षयोग्यार्थानुमापकं दृष्टम्, यथा धूमोऽग्नेरिति।
स्वभावविप्रकृष्टार्थानुमापकं सामान्यतोदृष्टम्, यथा रूपादिज्ञानं चक्षुरादेरिति, न्या० सा०, तत्पुनर्द्विविधं, स्वार्थं परार्थं चेति। तत्र परोपदेशानपेक्षं स्वार्थं, परोपदेशापेक्षं परार्थं, परोपदेशस्तु पंचावयवं वाक्यम्, न्या० सा०

83. यन्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परप्रतिपत्यर्थं पंचावयववाक्यं प्रयुङ्क्ते तत् परार्थानुमानम्, त० सं० (सं० भार्गव) पृ० 119.

84. तत्रान्वयव्यतिरेकी—विवक्षिततज्जातीयोपपत्तौ विपक्षावृत्तिः, यथा अनित्यः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्यकरणप्रत्क्षत्वाद् घटादिवदिति।

अन्वयी—विवक्षिततज्जातीयवृत्तित्वे सति विपक्षहीनः, यथा सर्वानित्यत्ववादिनामनित्यः शब्दः कृतकत्वादिति, अस्य हि विपक्षो नास्ति।

व्यतिरेकी—विवक्षितव्यापित्वे सति सपक्षाभावे सति विपक्षावृत्तिः, तथा नेदं जीवच्छरीरं निरात्मकम्, अप्राणादिमत्वप्रसंगात् इति, न्या० वा० 1.1.5.

85. प्रसिद्धि पूर्वकत्वादपदेशस्य, अप्रसिद्धोऽनपदेशः, वै० सू० 3.10.14.15

86. विधिस्तु यत्र धूम स्तत्राग्निरग्न्यभावे धूमोऽपि न भवति इति। एवं प्रसिद्धसमयस्यासन्दिग्धधूमदर्शनात् साहचर्यानुस्मरणात् तदनन्तरम् अग्न्यध्यवसायो भवतीति, प्र० भा०, पृ० 294.

87. व्याप्तिरविनाभावो नित्य साहचर्यमित्यर्थः, न्या० मं० 1/103.

88. साध्याभाववदवृत्तित्वम्, त० चि० (अनु०)

89. साध्यवद्भिन्नसाध्याभाववदवृत्तित्वम्, त० चि० (अनु०)

90. साध्यवत्प्रतियोगिकान्योन्याभावासामानाधिकरण्यम्, त० चि० (अनु०)

91. सकलसाध्याभाववन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वम्

92. साध्यवदन्यावृत्तित्वम्

93. केवलान्वयिन्यभावात्, त० चि० (अनु०)

94. नापि साध्यासामानाधिकरण्यानधिकरणत्वम्, त० चि० (अनु०)

95. नापि साध्यवैयधिकरण्यानधिकरणत्वम्, त० चि० (अनु०)

96. प्रतियोग्यसमानाधिकरणयत् समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नं यत्र भवति तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः, त० चि० (अनु०)

97. साहचर्यनियमो व्याप्तिः, त० भा०

98. यत्र यत्र धूम स्तत्र तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः, त० सं० (आनन्द भा० सं०) 134,

99. साहचर्य-सामानाधिकरण्यम्, तस्य नियमः हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरित्यर्थः, त० दी० (सं० आनन्द झा) पृ० 134.

100. व्याप्तिः साध्यवदन्यस्मिन्नसम्बन्ध उदाहृतः, भा० प० 68.

101. अथवा हेतुमन्निष्ठविरहाप्रतियोगिना । साध्येन हेतोरैकाधिकरण्यं व्याप्तिरुच्ययेे, भा० प० 69.

102. सां० सू० 5-26-27.

103. आधेयशक्तियोग इति पंचशिखः, सां० सू० 5.32.

104. अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृतौ भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धः, यो० भा०

105. सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिंगधर्मस्य लिंगिना। व्याप्यस्य गमकत्वं च व्यापकं गम्यनिष्यते, श्लो० वा० 101.5 न्या० र० मा० पृ० 326, 336.

106. सम्बन्धनियमोव्याप्तिः दृश्यमानेषु देशकालादिषु यो लिंगस्य लिंगिना सहभावः स एव नियमः, तन्त्रसिद्धान्तरत्नावलिः, पृ० 58, 153.

107. प्र० पं०, पृ० 202.

108. व्याप्तिश्चाशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्यरूपा, वे० प०, पृ० 172.

109. न्या० वि० टीका 2-22-23.

110. नाप्यविनाभावः केवलान्वयिन्यभावात् त० चि०

111. इदमस्मिन् सत्येव सवत्यसति तु न भवत्येव ।
यथाग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च, प० मु० 3/12, 13.

112. सहक्रमभावनियमाऽविनाभावः, प० मु, 3.12,
सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः वही 3.13.
पूर्वोत्तरचारिणोःकार्यकारणयोश्च क्रमभावः, वही 3.14.

113. विख्यातः प्रतिबन्धश्च व्यतिरेकान्वयात्मकः, न्या० मं०

114. यो यस्य देशकालाभ्यां समो न्यूनोऽपि वा भवेत् ।
स व्याप्यो व्यापकस्तस्य समो वाऽप्यधिकोऽपि वा ।।
व्याप्यस्य गमकत्वं च व्यापकं गम्यमिष्यते ।
तेन व्याप्ये गृहीतेऽर्थे व्यापकस्तस्य गृह्यते
न ह्यन्यथा भवत्येषा व्याप्यव्यापकता तयोः ।। श्लो० वा० (अनु०) 4-6

115. न्या० मं० 1-3

116. न्या० म० 1-3

117. न्या० र० मा० पृ० 328-30;
न सकृद्दर्शनात् सम्बन्धसिद्धिः, सा० सू० 5.28

118. श्लो० वा०, अनु० 12-13.

119. यद्यपि यत्र-यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वमपि इति भूयोदर्शनं समानमवगम्यते, तथापि मैत्रीतनयत्व-श्यामत्वयोर्न स्वाभाविकः सम्बन्धः, किन्त्वौपाधिक एव,—त० भा० (बदरीनाथ शुक्ल कृत टीका) पृ० 107.

120. तस्मिन् सत्येव भवने न बिना भवनं ततः ।
अयमेवाविनाभावो नियमः सहचारिता ॥ न्या० मं० (विज०) 121.

121. त० चि० पृ० 662

122. सा च व्यभिचारादर्शने सति सहचारदर्शनेन गृह्यते । तच्च सहचार-दर्शनं भूयोदर्शनं सकृद्दर्शनं वेति विशेषो नादरणीयः, सहचारदर्शनस्यैव प्रयोजकत्वात्, वे० प० 125–6 (2021 सं०)

123. ता० टी०, पृ० 308 (मद्रास, 1940)

124 प्र० पं०, पृ० 203.

125. स्वभावप्रतिबन्धे हि सत्यर्थोऽर्थं गमयेत् ।

126. कार्यकारभावाद्वा स्वभावाद् वा नियामकात् ।
अविनाभावनियमो दर्शनान्न न दर्शनात् ॥

127. अन्येषामपि हेतूनां भूम्ना जगति दर्शनात् ।
सूर्यास्तमयमालोक्य कल्प्यते तारकोदयः ॥ न्या० मं 1-110.

128. तादात्म्ये तावद् गमकांगे हेतुसाध्ययोर्व्यतिरेके गम्यगमकभाव एव दुरुपपादः, न्या० मं, 1-104.

129. अभावेन हि धर्मेण तद्वत्ता धर्मिणः कथम् ।
अभावग्रहवेलायां धर्मिणोऽनुपलम्भनात्, न्या० मं 1–105.

130. तादात्म्यं प्रतिबन्धः

131. उत्पन्नस्य च भावस्य विनाशो नतूत्पाद एव विनाशः
इति कथं साध्यसाधनयोर्व्यतिरेकः ? न्या० मं० 1.115.

132. प्रमातुः शिंशपात्वं हि यस्य प्रत्यक्षगोचरः।
परोक्षं तस्य वृक्षत्वमिति नातीव लौकिकम्, न्या० मं० 1-104.

133. न्या० वा०, पृ० 142-43.

134. लिंगदर्शनात् संजायमानं लैंगिकम्, प्र० मा० अनु०

135. प्रसिद्धसमयस्यासन्दिग्धधूमदर्शनात् साहचर्यानुस्मरणात् तदन्तरमग्न्यध्यवसायो भवति, प्रा० भा०, अनु० (दुण्ढी०, चौ० 1956), पृ० 167.

136. व्यापारस्तु परामर्शः करणं व्याप्तिधीर्भवेत्।
अनुमानायां ज्ञायमानं लिंगतु करणं न हि॥
अनागसादि लिंगेन न स्यादनुमितिस्तदा।
व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्श उच्यते॥
व्याप्तिः साध्यवदन्यस्मिन्नसबम्न्ध उदाहृतः॥
भा० प० 66-68

137. अनुमिति करणमनुमानम्।
तत्करणं च व्याप्तिज्ञानम्। तत्संकारोऽवान्तरव्यापारः।
न तृतीय परमर्शोऽनुमितिकरणम्। हेतुत्वासिद्धया तत्करणस्य दूरनिरस्तत्वात्

138. लिंगपरामर्शोऽनुमाननम्। येन हि अनुमीयते
तदनुमानम् लिंगपरामर्शेन चानुमीयतेऽतो लिंगपरामर्शोऽनुमानम्।
तच्च (लिंगपरामर्शः) धूमादिज्ञानम्, अनुमितिं प्रति करणत्वात्।
त० भा० (श्री० नि०) पृ० 78.

139. त० चि० (अनु०)

140. व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता।

141. स्वाभाविकश्च सम्बन्धो व्याप्तिः, त० भा० पृ० 84.

142. तस्मादुपाधिं प्रयत्नेनान्विष्यन्तोऽनुपलभमानानास्तीत्यवगम्य स्वाभाविकं सम्बन्धस्य निश्चिनुमः, न्या० वा० ता० टी०, 1.1.5.

143. काठिया, दरबारीलाल, जैन तर्कशास्त्र में अनुमान, पृ० 132.

144. उप समीपवर्त्तिनि आदधाति स्वकीयं रूपमिति उपाधिः।

145. साध्यत्वाभिमतव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम्, कि० पृ० 301.

146. साध्यत्वाभिमतव्यापकत्वे सति साधनत्वामिमताव्यापकः, त० चि० पृ० 877

147. प्रयोजकश्चोपाधिः त० भा०

148. सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः, त० स०

149. न्या० व० ता० टी० प० 1.1.5 सर्वदर्शन संग्रह

150. तर्कश्च सर्वशंकानिराकरणपटीयान् विराजते, न्या० वा० ता० टी०, 1.1.5

151. अयोग्यस्य शंकितुमशक्यत्वात्, यत्नोपाधिरास्ते तत्र उपलभ्यते, त० भा० पृ० (श्रीनि०) 82.

152. न्या० वा० ता० टी० 1. 1, 34.

153. हेतुत्वंचानुमितिकारणीभूतलिंगपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञानजनकसाध्याविषयक शब्दधीजनक हेतुविभक्तिमच्छब्दत्वम्, त० चि०, पृ० 1535।

154. अन्यथानुपपन्नत्वं रूपैः किंपंचभिः कृतम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं रूपैः किं पंचभिः कृतम्॥

155. अथवा त्रिविधिमिति लिंगस्य प्रसिद्धसदसन्दिग्धतामाह।
प्रसिद्धमिति पक्षे व्यापकं सदिति सजातीये
असन्दिग्धमिति सजातीयाविनाभावि, न्या० वा० 1. 1. 5

156. अनुमेयेनसम्बन्द्धं प्रसिद्धं च तदन्विते।
तदभावे न नास्त्येव तल्लिंगमनुमापकम्॥ प० मा० पृ० 100.

157. हेतु स्त्रिरूपः किंपुनस्त्रैरूप्यम्? पक्षधर्मत्वम्, सपक्षेसत्त्वम्, विपक्षेचासत्त्वमिति, न्या० प्र० पृ०।

158. च शब्दात् प्रत्यक्षागमाविरुद्धं चेत्येवं
चतुर्लक्षणं पंचलक्षणमनुमानमिति, न्या० वा० 1.1.5.
तत्र चतुर्लक्षणं द्वयम्। एकं पंचलक्षणमिति, न्या० वा० ता० टी०, 1. 1. 5

159. न्या० म०,

160. हेतुबिन्दु, पृ० 68

161. जैनतर्कशास्त्र में अनुमानविचार, पृ० 225.

162. ये चैते पक्षदोषा ये च वक्ष्यमाणदृष्टान्तदोषास्ते वस्तुस्थित्या हेतुदोषा एव । न हि पक्षदृष्टान्तमात्रप्रतिष्ठो वादो भवति, अतएव सूत्रकृता हेत्वाभासा एव लक्षिताः, न पक्षाभासा इति, न्यायकलिका. पृ० 10.

163. न्यायकलिका, पृ० 10.

164. हेत्वाभासास्तत्वनिर्णयविजयप्रयोजकत्वान्निरूप्यन्ते, त० चि० पृ० 15- 9.

165. प्रमाणवार्तिक, 2.1

166. वही 3. 14.

167. त० चि०, पृ० 1702.

168. त० चि० पृ० 1721

169. त० चि० तृ० 1747.

170. साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः, त० भा० पृ० 280 (सं० श्रीनिवास-शास्त्री)

171. तत्वचिन्तामणि, कारिकावली, 75.

172. त० चि० पृ० 1787.

173. साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः, न्या०सू० 1.2.8.

174. लिंगत्वेनासिद्धो हेतुरसिद्धः त०भा० पृ० 111 (श्री नि०)

175. त० चि० रहस्य० पृ० 1866

176. त० चि० पृ० 1886.

177. त० चि० पृ० 1882.

178. यमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत् प्रयोजनम्, न्या० सू० 1.1.24

179. येन प्रयुक्तः प्रवर्तते, तत् प्रयोजनम् ।

यमर्थमभीप्सन् जिहासन् वा कर्मारभते । तेनानेन सर्वे प्राणिनः सर्वाणि कर्माणि सर्वाश्च विद्या व्याप्ताः, तदाश्रयश्च न्यायः प्रवर्वते, न्या०भा० (अवतरणभाष्य), 1.1.1.

180. अन्येच्छानधीनेच्छाविषयत्वं मुख्यप्रयोजनत्वम्, अन्येच्छाधीनेच्छा विषयत्वं गौणप्रयोजनत्वम्,

181. लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः, न्या०सू० 1.1.25;

182. वादिप्रतिवादिनो संप्रतिपत्तिविषयोऽर्थो दृष्टान्तः।

183. दृष्टान्तविरोधेन हि प्रतिपक्षाः प्रतिषेधव्याः भवन्ति-इति दृष्टान्त-समाधिना च स्वपक्षाः स्थापनीया भवन्तीति अवयवेषु चोदाहरणाय कल्पत इति।

184. तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः, 1.1.26.

185. प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः, त०भा०

186. सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः, न्या०सू० 1.1.28

187. अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूह स्तर्कः, न्या० सू० 1.140.

188. तर्को न प्रमाणसंगृहीतो न प्रमाणान्तरं प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्त्वज्ञानाय कल्पते, न्या०भा० 1.1.1.

189. तर्कोऽनिष्टप्रसंगः, ···यद्ययमनग्निरभविष्यत् तदाऽनग्नित्वादधूमोऽप्य भविष्यत्, त०भा० 269.

190. स्वापेक्षापेक्षितत्वनिबन्धनोऽनिष्टप्रसंगः अन्योन्याश्रयः, अनेनान्यस्तत-श्चायमित्यन्योन्याश्रयः, मानमेयोदयः, का० 12.

191. स्वापेक्षणीयापेक्षितसापेक्षत्वनिबन्धनोऽनिष्टप्रसंगश्चक्रकम्

192. अव्यवस्थितपरस्परारोपाधीनानिष्टप्रसंग अनवस्था।

193. झा, हरिमोहन, भारतीय दर्शन परिचय, भाग 1, पृ० 131.

194. प्रमातर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताऽविरुद्धः पचावयवोपपन्नः पक्ष-प्रतिपक्षपरिग्रहोवादः, न्या०सू० 1.2.1.

195. यथोक्तोपपन्नच्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः।

196. तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टक-शाखावरणवत्, न्या०सू० 4-2-50.

197. दृष्टान्तधर्मं साध्ये समासजन् उत्कर्षसमः, न्या०भा०, 5.1.4.

198. साध्येधर्माभावं दृष्टान्तात् प्रसजतोऽपकर्षसमः न्या०भा० 5.1.4

199. लोष्ठः खलु क्रियावानविभूर्दृष्टः काममात्माऽपि क्रियावानविभुरस्तु।

200. साधनधर्मयुक्ते दृष्टान्ते धर्मान्तरविकल्पात् साध्यधर्मविकल्पं प्रसजतो विकल्पसमः, न्या० भा० 5.1.4;

धर्मस्यैकस्य केनापि धर्मेण व्यभिचारतः।
हेतोः साध्याभिचारोक्तौ विकल्पसमजातिता ॥ ता०र०

201. साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वात् साध्यसमः, न्या०सू० 5.1.4.

हेत्वाद्यवयवसामर्थ्ययोगी धर्मः साध्यः तं दृष्टान्ते प्रसजतः साध्यसमः, न्या०भा०, 5.1.4.

202. प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाहेतुर्दृष्टान्तः, न्या०सू० 5.1.11.

203. प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसमः, न्या०सू०, 5.1.13.
तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्नकारणप्रतिषेधः, 5.1.12.

204. सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात् संशयसमः, न्या०सू० 5.1.14

205. वैधर्म्याद् विशेषात् प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् अवधार्यमाणे शब्दस्यानित्यत्वे नित्यानित्यसाधर्म्यात् संशयोऽवकाशं न लभते, न्या०भा०, 5.1.15.

206. उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः, न्या०सू० 5.1.16.
प्रतिपक्षात्प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः, न्या०सू० 5.1.17.

207. त्रैकाल्यासिद्धेरहेतुसमः, न्या०सू० 5.1.18

208. न हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः, 5.1.19.

209. प्रतिषेधानुपपत्तेः प्रतिषेधव्याप्रतिषेधः, पृ० 5.1.20.

210. अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः, न्या०सू० 5.1.21.
अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वादनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः 5.1.22.

211. उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः न्या०सू० 5.1.25

212. उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः, न्या०सू० 5.1.26.

213. निर्दिष्टस्य साधनस्याभवेऽपि साध्यधर्मोपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमः, न्या०भा० 5.1.27

214. यदि च कारणान्तरादप्युत्पद्यमानस्य शब्दस्य तदनित्यत्वमुपपद्यते किमत्र प्रतिषिध्यत इति; न्या०भा०, 5.1.28.

215. तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमः, न्या०सू० 5.1.27

अनुपलम्भकत्वादनुपलब्धेरहेतुः, 5.1.30

ज्ञानविकल्पानां च भावाभावसंवेदनादध्यात्मम् न्या०सू०, 5.1.31.

216. साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्व-प्रसंगात् अनित्यसमः, न्या०सू० 5.1.32.

217. न्या०सू० 5.1.33.34.

218. नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्ते नित्यसमः, न्या०सू० 5.1.35

219. प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्येऽनित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावाः । न्या०सू० 5.1.36

220. प्रयत्नकार्यानेकत्वात्कार्यसमः न्या०सू० 1.1.37.

221. कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः, न्या०सू० 5.1.38.

222. प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः, न्या०सू० 5.2.2

223. प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम्; न्या०सू० 5.2.3

224. प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः, न्या०सू० 5.2.4.

225. पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः, न्या०सू० 5.2.5.

226. अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम्, न्या०सू० 5.2.6

227. प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम्, न्या०सू० 5.2.7

228. वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम, न्या०सू० 5.2.8.

229. परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम्; न्या०सू० 5.2.9

230. पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम्, न्या०सू० 5.2.10.

231. अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम्, न्या०सू० 5.2.11.

232. हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम्, न्या०सू० 5.2.12.

233. हेतूदाहरणाधिकमधिकम, न्या० सू० 5.2.13.

234. शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात्, न्या० सू० 5.2.14. अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम्

235. विज्ञातस्य परिषदात्रिरभिहितस्याप्यप्रत्युच्चारणयननुभाषणम्, न्या० 5.2.16

236. अविज्ञातं चाज्ञानम्, न्या० सू० 5.2.17.

237. उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा, न्या० सू० 5.2.18.

238. कार्यव्यासंगात् कथाविच्छेदो विक्षेपः, न्या० सू० 5.2.19.

239. स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसंगो मतानुज्ञा, 5.2.20.

240. निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम्, न्या०सू० 5.2.21

241. अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगोनिरनुयोज्यानुयोगः न्या० सू० 5.2.22

242. सिद्धान्तमम्युपेत्यानियमात् कथाप्रसंगोऽपसिद्धान्तः, न्या० सू० 5.2.23

243. अवलावालगोपालहालिकप्रमुखादयः ।
बुध्यन्ते नियतादर्थादर्थान्तरमसंशयम् ।। न्या० मं० 110.
अनुमानापलापे तु प्रत्यक्षादपि दुर्लभा ।
लोकयात्रेति लोकाः स्यु र्लिखिता इव निश्चलाः

244. विशेषेऽनुगमाभावात् सामान्ये सिद्धसाधनात् ।
द्वयोरनुपपन्नत्वादनुमानकथा वृथा ।।
भवन्नप्यविनाभावः परिच्छेतुं न शक्यते ।
जगत्रयगताशेषपदार्थालोचनाद् बिना ।।
सामान्यद्वारकोऽप्यस्ति नाविनाभावनिश्चयः ।
वास्तवं हि न सामान्यं नाम किंचन विद्यते ।।

245. अतो यद्दर्शनाद्यत्र प्रतीतिरुपजायते ।
तयोरस्त्यर्थयोः कश्चित् सम्बन्ध इति मन्महे ।।
तादात्मतातदुत्पत्ती न श्रद्धधति तद्विदः ।
साहचर्यं तु सम्बन्ध इति नो हृदयंगम् ।।

—न्या० मं० 1–111

अध्याय 5

उपमान प्रमाण का स्वरूप

उपमान का स्वरूप

भासर्वज्ञ को छोड़कर अन्य सभी नैयायिकों ने उपमान को पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। मीमांसकों और वेदान्तियों ने भी उपमान को प्रमाण माना है, किन्तु चार्वाक, बौद्ध तथा वैशेषिक दर्शन में उपमान को प्रमाण नहीं माना गया। इससे पहले कि उपमान के प्रमाणत्व के पक्ष-विपक्ष में प्रस्तुत तर्कों की समीक्षा की जाये, यह उचित होगा कि उपमान के स्वरूप का परिचय कर लिया जाये।

अक्षपाद गौतम के अनुसार, प्रसिद्ध वस्तु (जैसे गाय) के साधर्म्य से अप्रसिद्ध वस्तु (जैसे गवय) के ज्ञान को उपमिति और उसके साधन को उपमान कहा जाता है।[1] संभवत: गौतम उपमान विरोधियों के इस तर्क से परिचित थे कि 'साधर्म्य की मात्रा निश्चित नहीं हो सकती अत: उपमान प्रमाण नहीं है।' इसलिए वे कहते हैं कि उपमान का आधार साधर्म्य की मात्रा या स्तर नहीं, अपितु उसकी प्रसिद्धि है।[2] गौतम के कथन का विश्लेषण करते हुये वात्स्यायन ने कहा कि ज्ञात वस्तु के साम्य के आधार पर ज्ञापनीय वस्तु का ज्ञान करानेवाला साधन उपमान है। उदाहरणतया "जिस प्रकार की गौ होती है, उसी प्रकार का गवय होता है"— इस कथन में गवय का ज्ञान करानेवाला जो साधन है, वह उपमान प्रमाण कहलायेगा। इस प्रकार उपमान के द्वारा नाम और नाम वाले पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान होता है। वात्स्यायन के कथन में संशोधन करते हुये उद्योतकर ने यह कहा कि साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्य और असाधारण धर्म के द्वारा भी उपमिति होती है। उत्तरवर्ती नैयायिकों ने उपमान की परिभाषा में साधर्म्य-वैधर्म्य की अपेक्षा संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध का उल्लेख किया है। वात्स्यायन ने भी इसकी चर्चा कर दी थी, किन्तु उन्होंने इसको 'समाख्या-सम्बन्ध प्रतिपत्ति' कहा था।[3]

केशवमिश्र के अनुसार अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण करने के साथ ज्ञात वस्तु (गाय) के सादृश्य से युक्त अज्ञात पिण्ड (गवय) का ज्ञान कराने वाला प्रमाण

उपमान कहलाता है। अतिदेश वाक्य का अर्थ है—समानता आदि बतानेवाला वाक्य।[4] उदाहरणतया गौ की समानता से युक्त पिण्ड के ज्ञान के पश्चात् यह पिण्ड गवय शब्द का वाच्य है—इस प्रकार जो संज्ञा (गवय शब्द) तथा संज्ञी (गवय वस्तु) के सम्बन्ध की प्रतीति होती है,[5] वह ऊपमिति यानी उपमान का फल है। उपमान की प्रक्रिया के तीन सोपान हैं—गोसदृश पशुविशेष का ज्ञान, अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण और 'गोसदृश पशु विशेष गवय शब्द का वाच्य है'—इस प्रकार की प्रतीति। इसमें से प्रथम दो उपमान और अन्तिम को उपमिति कहा जाता है।

विश्वनाथ पंचानन का यह कथन है कि उपमिति में सादृश्य का दर्शन करण है, अतिदेश वाक्य (यथा गाय के सदृश प्राणी गवय पद वाच्य है) का स्मरण अवान्तर व्यापार है, और 'गोसदृश प्राणी को गवय कहना चाहिये'—यह ज्ञान फल है, न कि यह कि सामने दिखाई देने वाला पशु गवय है। अन्यथा गवयान्तर में शक्तिग्रह नहीं हो पायेगा।[6] अन्नंभट्ट का कथन भी ऐसा ही है।[7]

सादृश्य (सिमिलरिटी) और तादाम्य (आइडेन्टिटि) में अन्तर है। सादृश्य का अर्थ है कुछ अन्तर के साथ कुछ समानता या कुछ-कुछ समानता के साथ कुछ अन्तर। जबकि तादाम्य में पूर्ण समानता होती है, अन्तर बिल्कुल नहीं होता।

मीमांसा और वेदान्त में सादृश्य ज्ञान के कारण को उपमान और 'गाय गवय के सदृश है'—इस ज्ञान को उपमिति कहा गया है।

यह ज्ञातव्य है कि सादृश्य ज्ञान की करणता तो न्याय के समान मीमांसा और वेदान्त में भी स्वीकार की गई है, किन्तु जहाँ नैयायिक संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध ज्ञान को फल मानते हैं, वहाँ मीमांसकों और वेदान्तियों के मतानुसार 'गाय, गवय के सदृश है'—यह ज्ञान फल है।

मीमांसकों के अनुसार 'यथा गौ स्तथा गवयः'—इस अतिदेश वाक्य को सुनने के बाद कोई व्यक्ति वन में जाकर गौ के सदृश पिण्ड को देखता है तो उसे विदित होता है कि मेरी गाय इस पशु के सदृश है। यही ज्ञान उपमान प्रमाण का फल है।

प्रभाकर और कुमारिल के मत में यह अन्तर है कि कुमारिल सादृश्य को गुण मानते हैं, जबकि प्रभाकर उसको एक पृथक् पदार्थ मानते हैं।[8]

2. उपमान का पृथक् प्रमाणत्व

बौद्धों के अनुसार नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में हो जाता है। उनका कथन है कि नागरिक जब गवय को देखता है तो उसे यह मालूम होता है कि दृश्यमान प्राणी गाय के सदृश है। इस प्रकार अपने साक्षात् ज्ञान के आधार पर ही वह ऐसा ज्ञान भी प्राप्त करता है कि 'गवय गाय के सदृश है।' अतः यह प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं है।

इस सन्दर्भ में नैयायिकों का यह कथन है कि "सादृश्य का कथन केवल गवय में ही नहीं, अपितु 'गाय' में भी होता तो यह प्रत्यक्ष होता 'किन्तु गाय तो नागरिक के समक्ष है ही नहीं, अतः सादृश्य ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय नहीं है।"—बौद्ध अपने कथन का समर्थन इस प्रकार करते हैं कि सादृश्य आंशिक रूप से नहीं रहा करता, अतः गाय का उस समय दर्शन हुये बिना भी यानी केवल गवय को देखने से भी सादृश्य का बोध हो सकता है। अतिदेश वाक्य के अभाव में भी गवय का दर्शन तो नागरिक कर ही सकता है।

जयन्त भट्ट ने बौद्धों के उपर्युक्त तर्क का समाधान करते हुये कहा कि जैसा अनुमान प्रमाण के सन्दर्भ में पर्वत पर जो धूम देखा जाता है वह प्रत्यक्ष होते हुये भी प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न है, उसी प्रकार सादृश्य का जो प्रत्यक्ष नागरक को होता है, वह भी प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न है। क्योंकि धूम दर्शन और सादृश्य दर्शन ज्ञान प्रक्रिया के मध्यवर्ती सोपान हैं, वे अपने आप में लक्ष्य नहीं हैं। लक्ष्य तो अनुमान के सन्दर्भ में पर्वत पर अग्नि का ज्ञान है और उपमान के सन्दर्भ में संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध प्रतीति।

अतः जैसे अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष का सहारा लेते हुये भी प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न है, उसी प्रकार उपमान प्रमाण भी प्रत्यक्ष का सहारा लेने पर भी प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न है।[9] उदयनाचार्य का भी यही कथन है कि संज्ञा का संज्ञी के साथ सम्बन्ध का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता। उसके लिए उपमान प्रमाण को मानना आवश्यक है।[10]

तर्क संग्रह के टीकाकार नीलकण्ठ का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है कि उपमान से जो ज्ञान होता है, वह सम्भावित होता है, जबकि प्रत्यक्ष और अनुमान से जो ज्ञान होता है, वह निश्चित होता है।

सांख्य मत के अनुसार उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में हो जाता है। सांख्य-तत्त्व कौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने यह कहा कि नीलगाय के साथ चक्षु का सन्नि-

कर्ष होता है जिससे कि ऐसा ज्ञान होता है कि 'नीलगाय गौ के सदृश है।' इस प्रकार सन्निकर्ष से उद्भूत होने के कारण यह प्रत्यक्ष ही है। स्मर्यमाण गाय में नीलगाय के सादृश्य का स्मरण भी प्रत्यक्षमूलक ही है।

नैयायिकों के अनुसार सांख्यों के उपर्युक्त तर्क के आधार पर भी उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष से तो केवल यह ज्ञान होता है कि दृश्यमान वस्तु (यथा गवय) स्मर्यमाण वस्तु (यथा गौ) के धर्मों के सदृश धर्मों से युक्त है। अतः 'यह गवय है' यह ज्ञान प्रत्यक्ष पर उतना आधारित नहीं है, जितना कि आप्त व्यक्ति द्वारा कथित इस वाक्य के स्मरण पर कि 'गवय गाय के सदृश होता है।' इस प्रकार सादृश्य के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान अथवा अतिदेश वाक्य से प्राप्त ज्ञान के स्मरण से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमिति नहीं कहा जा सकता।

नैयायिकों के अनुसार उपमान प्रमाण का जो फल (संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध प्रतीति) है, उसकी सिद्धि प्रत्यक्ष या अनुमान से नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्ष पर आधारित है, उसमें अतिदेश वाक्य के अर्थ के स्मरण की अपेक्षा नहीं रहती, जबकि उपमान के लिए उसकी अनिवार्यता है।

प्रशस्तपाद के अनुसार उपमान आप्तवचन से भिन्न नहीं है।[11] किन्तु उन्होंने शब्द (आप्तवचन) का अन्तर्भाव अनुमान में किया है।[12] अतः वे परम्परया उपमान का अन्तर्भाव भी अनुमान में ही मानते हैं, अन्तर्भाव की प्रक्रिया इस प्रकार है :

(1) गवय शब्द नीलगाय का वाचक है।
(2) नीलगाय के लिए इस शब्द का प्रयोग होने के कारण,
(3) जो शब्द विद्वानों द्वारा जिस अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है, वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है, जैसे गौ शब्द गौ पिण्ड का वाचक है।
(4) अतः गवय शब्द नीलगाय अर्थ से सम्बद्ध है। प्राभाकर मीमांसक शालिकनाथ के अनुसार भी नैयायिकों द्वारा प्रस्तुत उपमान का अन्तर्भाव अनुमान में हो जाता है।

वरदराज ने तार्किकरक्षा में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव हो सकता है।

किन्तु इस सन्दर्भ में कुमारिल का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि मीमांसकों के उपमान वाक्य में न तो पक्षधर्मता की स्थापना की जा सकती है, न ही

व्याप्ति की। अनुमान वाक्य में हेतु, पक्ष का धर्म होता है, किन्तु उपमान वाक्य में हेतु का निश्चय ही सम्भव नहीं है। सादृश्य को हेतु नहीं माना जा सकता, क्योंकि पक्ष (गाय), जिसमें वह रह सकता था, दृष्टिगम्य नहीं है। इसके विपरीत यहाँ गवय उपस्थित है, जो कि साध्य भले ही माना जा सके पर हेतु नहीं कहा जा सकता। गवय को हेतु न मानने का कारण यह है कि पक्ष (गाय) से उसका सम्बन्ध ही नहीं है। गाय में विद्यमान सादृश्य भी हेतु नहीं है, क्योंकि वह भी तो साध्य की परिधि में आ जाता है।

अनुमान में उपमान के अन्तर्भाव का खण्डन करते हुये गौतम कहते हैं कि अनुमान द्वारा ऐसा बोध नहीं होता कि 'जैसा धूम है वैसी अग्नि है' जबकि उपमान द्वारा यह बोध होता है कि 'जैसी गाय है वैसी नीलगाय'। अतः दोनों पृथक् हैं।

अनुमान व्याप्ति पर निर्भर होता है, जबकि उपमान में लिंग और लिंगी का व्याप्ति सम्बन्ध नहीं होता। ज्ञातव्य (गवय) और ज्ञात (गौ) के सादृश्य का दर्शन पहले नहीं हुआ। अनुमान तो यह उस अवस्था में होता जबकि यह व्याप्ति संभव होती कि "जो-जो गौ के सदृश है, वह नीलगाय है।" किन्तु इस प्रकार के साहचार्य का दर्शन प्रमाता को पहले कभी नहीं हुआ। सादृश्य को हेतु भी नहीं कहा जा सकता। अतः नैयायिकों के मतानुसार उपमान का अन्त-र्भाव अनुमान में नहीं कहा जा सकता।

मीमांसकों द्वारा उपमान की जो परिभाषा बताई गई है, उसके अनुसार उपमान का शब्द में अन्तर्भाव हो सकता है या नहीं, यह भी विवादास्पद बात मानी जाती रही है।

नैयायिक के अनुसार उपमान का अन्तर्भाव शब्द प्रमाण में नहीं किया जा सकता, क्योंकि शब्द प्रमाण में विषय के प्रत्यक्ष की आवश्यकता नहीं पड़ती, जबकि उपमिति के लिए गवय नामक पिण्ड का प्रत्यक्ष दर्शन आवश्यक है। इसके साथ ही गाय के धर्मों तथा अतिदेश वाक्य का स्मरण और गाय तथा गवय के धर्मों में समानता का ज्ञान भी अपेक्षित होता है। जयन्त भट्ट ने यह स्पष्ट किया है कि सामग्री भेद और फलभेद से प्रमाणभेद होता है और उपमान तथा शब्द प्रमाण की सामग्री और फल अलग-अलग हैं।[13]

कुमारिल नैयायिकों के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'गवय गाय के सदृश है—इस वाक्य में प्रयुक्त 'गवय' शब्द का नीलगाय से जो सम्बन्ध है,

उसका ज्ञान तो अतिदेश वाक्य से ही हो जाता है। और इस प्रकार तो नैया-निकों द्वारा प्रतिपादित उपमान शब्द प्रमाण से भिन्न नहीं माना जा सकता।

इसके विपरीत नैयायिक भी कुमारिल द्वारा प्रतिपादित उपमान का खण्डन करते हुए यह कहते हैं कि वस्तुतः हमें जो अनुभव होता है वह इस प्रकार होता है कि 'गवय गाय के सदृश है' न कि यह कि गाय गवय के सदृश है।[14] इसके विपरीत थोड़ी देर के लिए यह भी मान लिया जाए कि 'गाय गवय के सदृश है'—ऐसा अनुभव होता है तो यह स्मृति का उदाहरण होगा, न कि उपमान का। यदि इसको स्मृति न भी मानें तो यह अनुमान में अन्तर्भूत हो जाएगा, जिसका स्वरूप इस प्रकार होगा—

(1) स्मर्यमाण गाय गवय के समान है

(3) क्योंकि गाय के अनेक अंग गवय के अंगों के समान हैं।

(3) यदि एक वस्तु के अनेक अंग दूसरी वस्तु के अनेक अंगों से मिलते हों तो दोनों वस्तुओं में समानता मानी जाती है; जैसे कि जुड़वाँ भाइयों में।

3. उपमान और पाश्चात्य सादृश्यानुमान

उपमान तथा पाश्चात्य सादृश्यानुमान में यद्यपि कुछ अंशों में समानता है' फिर भी दोनों कुल मिलाकर एक-दूसरे से भिन्न हैं।

नैयायिकों के अनुसार उपमान से 'संज्ञा-संज्ञि' सम्बन्ध का ज्ञान होता है, 'जबकि मीमांसकों के मतानुसार उपमान से 'ज्ञात वस्तु की समानता के आधार पर अज्ञात वस्तु का ज्ञान होता है।'

सादृश्यानुमान में कुछ ज्ञात समानताओं के आधार पर एक नयी समानता का अनुमान करते हैं, जबकि उपमान से कुछ समानताओं के आधार पर किसी शब्द की वाचकता (डिनोटेशन) का बोध होता है। सादृश्यानुमान द्वारा जो निष्कर्ष निकलते हैं, वे सम्भावित होते हैं, जबकि उपमान द्वारा जो ज्ञान होता है, वह यथार्थ होता है। सादृश्यानुभान द्वारा किसी वस्तु के किसी विशेष गुण या भाग का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, जबकि उपमान द्वारा समग्र पिण्ड का बोध होता है। सादृश्यानुमान का आधार केवल समानता है, जबकि उपमान का आधार समानता के अतिरिक्त असमानता और विलक्षणता भी है।

4. उपमान प्रमाण की उपयोगिता

उपमान को ज्ञान की प्राप्ति का एक पृथक् साधन माना जाए या नहीं, इस पर मतभेद होने पर भी उपमान की उपयोगिता को सर्वथा नकारा नहीं जा सकता। यह मालूम होने पर भी कि सभी अभिधेय प्रमेय हैं, यह जानना कई बार कठिन हो जाता है कि कौन शब्द किस वस्तु का वाचक है। अत: कई पारिभाषिक शब्दों की वाचकता के निर्धारण के लिए उपमान का सहारा लेना पड़ता है। पूर्वपरिचित वस्तुओं के सादृश्य के आधार पर अनेक अपरिचित औषधियों के ज्ञान का उल्लेख स्वयं वात्स्यायन ने भी किया है। जैसे मूंग के आकार में दीखने वाला पौधा विष दूर करने की औषधि है, ऐसा सुनने के बाद जब मनुष्य जंगल में जाकर मूंग के आकार वाला कोई पौधा देखता है तब उसे अतिदेश वाक्य का स्मरण होने पर यह निश्चय होता है कि मूंग के आकार वाला यह पौधा विष को दूर करनेवाला है।

मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित उपमान का भी अपना एक विशेष उद्देश्य बताया गया है। उनके अनुसार अरण्यगत नागरक को ग्रामस्थ गाय में गवय के सादृश्य का ज्ञान उपमान प्रमाण से ही हो सकता है प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों में उपर्युक्त कारणों से उपमान का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। अत: नैयायिकों और मीमांसकों में उपमान के स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद होते हुए भी उनके इस कथन में समानता है कि उपमान की अपनी निजी उपयोगिता है, क्योंकि किसी अन्य प्रमाण से उसका कार्य नहीं चलाया जा सकता।

—०—

पाँचवे अध्याय के संदर्भ

1. प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्—न्या० सू० ।। 6
2. अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धि न्या० सू० 2.1.44; प्रसिद्धिसाधर्म्यादुपमानसिद्धे र्यथोक्तदोषानुपपत्तिः, न्या० सू० 2.1.45
3. यथा गौरेवं गवय इत्युपमाने प्रयुक्ते गवा समानधर्ममर्थमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपलममानोऽस्य गवयशब्दः संज्ञेति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यते इति, न्या० भा० 1.1.6
4. अतिदिश्यते प्रतिपाद्यतेऽनेन साधर्म्यादिः इति अतिदेशः, त० भा०, पृ० 119.
5. अयमसौ गवयशब्दवाच्यः पिण्ड इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध प्रतीतिरुपमितिः, त० भा० (श्रीनिवासशास्त्री सं०) पृ० 110.
6. यत्रारण्यकेन केनचिद् ग्रामीणायोक्तं गोसदृशो गवयपदवाच्य इति पश्चाद् ग्रामीणेन क्वचिदरण्यादौ गवयो दृष्टः तत्र गोसादृश्यदर्शनं यज्जातं तदुपमितिकरणं, तदनन्तरं 'गोसदृशो गवयपदवाच्य' इत्यतिदेशवाक्यार्थस्मरणं यज्जायते तदेव व्यापारः, तदनन्तरं गवयो गवयपदवाच्य इति ज्ञानं यज्जायते तदुपमितिः न त्वयं गवयपदवाच्य इत्युपमितिः गवयान्तरे शक्तिग्रहाभावप्रसंगात्—न्या०सि०मु०
7. उपमितिकरणमुपमानं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः—त० सं०
8. बृहती (चौ० 1929) पृ० 83
9. प्रत्यक्षस्येन्द्रियसन्निकर्षादिस्वभावस्यसंज्ञासंज्ञिसम्बन्धबोधकरणासमर्थत्वात्, न्या० मं०, पृ० 1—131;
   यथा प्रत्यक्षफलमपि धरणिधरकुहरभुवि धूमदर्शनमनिन्द्रिय विभावसु बोधसाधनत्वादनुमानम् एवं गोसारूप्य विशेषितविपिन गत गवय पिण्ड दर्शनमध्यक्षफलमपि तदनवगतसंज्ञासंज्ञिसम्बन्ध बोधविधाना दुपमानमुच्यते, यथा च तत्र पूर्वावगतधूमाग्निप्रतिबन्ध स्मरणं सहकारितामुपैति, तथा इहापि पूर्वश्रुतारण्यकवाक्यार्थ स्मरणम् ।

10. सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह ।
प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वात् उपमानफलं विदुः न्या० कु० 3.8

11. आप्तेनाप्रसिद्धस्य गवयस्य गवा
गवयप्रतिपादनादुपमानमाप्तवचनमेव, प्र०भा० पृ०–178

12. शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात् । यथा
प्रसिद्धसमयस्यासंदिग्धलिंगदर्शनप्रसिद्ध्यनुस्मरणाभ्यामतीन्द्रियेऽर्थे
भवत्यनुमानमेवं शब्दादिभ्योऽपीति, प्र०भा०, पृ० 173 (चौ० 1966)

13. सामग्रीभेदात् फलभेदाच्च प्रमाणभेदः ।
अन्ये एव च सामग्रीफले शब्दोपमानयोः ॥ न्या० मं० 1–30

14. प्रसिद्धेन हि साधर्म्यम् अप्रसिद्धस्य गम्यते ।
गवा गवयपिण्डस्य न तु युक्तो विपर्ययः ॥ न्या० मं० 1–33

अध्याय 6

शब्द प्रमाण

1. शब्द प्रमाण का स्वरूप

ज्ञान के क्षेत्र में परम्परा का भी अपना महत्त्व है और परम्परा का प्रमुख वाहक शब्द ही है। यह अलग बात है कि शब्द के माध्यम से प्रवर्तित ज्ञानराशि अलिखित रूप में ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलती रही और मातृकाओं की रचना का आरम्भ भी बहुत बाद में हुआ। ऋग्वेद संसार का सर्वप्रथम ग्रन्थ माना जाता है। अत: शब्द के इतिहास तथा शब्द प्रमाण की समस्या के सन्दर्भ में भी यदि हमारा ध्यान वेदों की ओर जाता है, तो इसमें कोई असंगति नहीं है।

भारतीय दर्शनों के वैदिक और अवैदिक नाम से दो वर्ग हैं। अवैदिक वर्ग के दार्शनिकों में से चार्वाक और बौद्ध शब्द का प्रमाणत्व स्वीकार नहीं करते इसके साथ ही वैदिक वर्ग के दार्शनिकों में से वैशेषिक भी शब्द को पृथक् प्रमाण नहीं मानते।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'शब्द' ध्वनि (शब्दयति) का पर्याय है। जनसामान्य की दृष्टि से शब्द और पद में कोई भेद नहीं है। जिससे अर्थ का बोध हो वह 'शब्द' है, ऐसा भी कई आचार्यों का मत है।[1] किन्तु वैयाकरणों की दृष्टि से सुप् तिङन्त विभक्ति युक्त शब्द को पद कहते हैं। ज्ञान के साधनों के प्रसंग में 'शब्द' को एक प्रमाण माना गया है और यहाँ हम शब्द के इसी पक्ष पर चर्चा करेंगे। साधारणत: इस प्रकार के पदों के समूह को वाक्य कहा जाता है, जो उच्चरित, परस्परसाकांक्ष, परस्पर-अन्वययोग्य अर्थों के प्रतिपादक तथा परस्पर सन्निहित होते हैं। यथार्थ उपदेश करने वाले व्यक्ति के द्वारा प्रयुक्त होने पर ऐसे ही वाक्य शब्द प्रमाण कहलाते हैं।[2] अन्य प्रमाणों के समान शब्दप्रमाण की परिभाषा के विभिन्न पक्षों पर भी विभिन्न मत पाये जाते हैं।

(क) चार्वाक मत

चार्वाक शब्द प्रमाण को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वे दूसरों के कथन से सब कुछ पर विश्वास नहीं कर लेते और उनके विचार में इस तरह तो उन्हें

किसी मूर्ख के कथन को भी प्रामाणिक मानना पड़ेगा। यदि केवल विश्वसनीय व्यक्तियों की ही बात भी मानी जाए, तो भी यह अनुमान मात्र होगा, जिसको कि वे अनवस्था दोष के कारण स्वीकार नहीं करते।

(ख) बौद्धमत

बौद्ध शब्द को पृथक् प्रमाण नहीं मानते। उनके अनुसार शब्द प्रमाण का प्रत्यक्ष या अनुमान में अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि यदि यह कहा जाए कि 'जो व्यक्ति विश्वसनीय कथन करता है, वह आप्त है' तो यह अनुमान ही है। यदि यह कहा जाए कि आप्त व्यक्ति का कथन यथार्थ होने के कारण विश्वसनीय है तो यह प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं है। मोक्षाकर गुप्त ने इस संदर्भ में यह कहा है कि यदि शब्दज्ञान की बाह्य विषय के साथ संगति मानी जाए तो उनके बीच कोई सम्बन्ध भी मानना होगा, जोकि तादात्म्य और तदुत्पत्ति में से कोई एक होना चाहिए। किन्तु तथ्य यह है कि शब्द और अर्थ अत्यन्त भिन्न रूप में प्रतिभासित होते हैं, अतः उनमें तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। शब्द और अर्थ में उत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं है, क्योंकि इन दोनों में अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध का अभाव है।[3] शब्द व्यापार के न होने पर भी घट आदि अर्थ दीख पड़ता है। इसी प्रकार बाह्यार्थ के उपस्थित न रहने पर भी शब्द का उच्चारण तो पुरुष की इच्छामात्र से भी हो ही सकता है। यदि तादात्म्य और तदुत्पत्ति से भिन्न वाच्यवाचक सम्बन्ध माना जाए तो शब्द के संकेत को न जानने वाले व्यक्ति को भी शब्द के उच्चारणमात्र से निश्चित अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए, उसी प्रकार जैसे कि योग्यता होने मात्र से दीपक से घट आदि विषयों की प्रतीति हो जाती है। किन्तु देखा यह जाता है कि जो व्यक्ति 'अग्नि' शब्द के संकेत से परिचित नहीं है, वह सुनने पर भी इस शब्द का कोई अर्थ नहीं समझेगा। यदि यह कहा जाए कि असम्बद्ध होना ही शब्द और अर्थ का स्वभाव है, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि जो सम्बद्ध ही नहीं है, उसका सम्बन्ध कैसे हो सकता है? यह कहना भी ठीक नहीं है कि शब्दशक्ति के स्वभाव से ही शब्द निश्चित अर्थ का अव्यभिचरित बोधक होता है, क्योंकि यदि 'घट' शब्द स्वभाव से ही शंख सदृश गर्दन के आकारवाले जलधारण समर्थ पदार्थ का बोध कराता है तब फिर वह किसी व्यक्ति की इच्छामात्र से 'अश्व' आदि का बोध कैसे कर सकता है? इसके साथ ही 'आप्त' कौन है, इसका निर्णय करना भी संभव नहीं है।

शान्तरक्षित के अनुसार जब कोई व्यक्ति कुछ कहता है तो श्रोता उसके प्रयोजन के अनुसार अर्थ निकालता है। अनुमान में भी ऐसा ही होता है।[4]

यों भी बौद्ध वेदों पर विश्वास नहीं करते। तत्त्ववेत्ता बुद्ध के वचनों पर वे विश्वास करते हैं, पर बुद्ध के वचन तो स्पष्ट ही लौकिक हैं।

(ग) जैनमत

जैन दर्शन में श्रुत ज्ञान या शाब्दज्ञान को आगम कहा गया और इसको पृथक् प्रमाण माना गया है। उमास्वाति ने यथार्थ के अभिधान को शब्द कहा है।[5] सिद्धसेन दिवाकर माणिक्यनन्दी, देवसूरि, प्रभाचन्द्र, यशोविजय आदि ने शब्द प्रमाण के लक्षण में 'आप्त' शब्द को भी समाविष्ट किया।[6] जैनाचार्यों के अनुसार मोह, राग, द्वेष आदि शंकाओं से रहित व्यक्ति ही आप्त होता है।[7] प्रभाचन्द्र तथा देवसूरि के अनुसार आगम के दो रूप हैं—(क) अलौकिक यानी तीर्थंकरों के कथन और (ख) लौकिक यानी रागद्वेषरहित व्यक्तियों के वचन। हेमचन्द्र ने शाब्द ज्ञान दो प्रकार का बताया है—(क) दृष्टार्थक और अदृष्टार्थक।

'दृष्टार्थक' का सम्बन्ध लोक से और 'अदृष्टार्थक' का परलोक से होता है। यह ज्ञातव्य है कि जैन अदृष्टार्थक शब्द में वेदों का परिगणन नहीं करते। वे अर्हत के कथनों को ही प्रमाण मानते हैं, जबकि नैयायिक वेदों को पौरुषेय मानते हुए भी उनको आप्तवचन मानते हैं। अनुयोगद्वार आदि ग्रन्थों में यह भी बताया गया है कि आगम तीन प्रकार का होता है—(क) सूत्रागम (ख) अर्थागम और (ग) उभयागम।[8] प्रकारान्तर से एक अन्य वर्गीकरण भी है जो कि इस प्रकार है—(क) आत्मागम (तीर्थंकारों द्वारा स्वयंबुद्ध ज्ञान) (ख) अनन्तरागम (तीर्थकरों के उपदेश से शिष्य द्वारा गृहीत ज्ञान) और (ग) परम्परागत (प्रशिष्यों द्वारा गृहीत ज्ञान)। जैनाचार्य यथोविजय का भी यह मत है कि आगम व्याप्ति निरपेक्ष होने के कारण अनुमान में अन्तर्भूत नहीं होता।[9]

(घ) वैशेषिक मत

वैशेषिकों के अनुसार शब्द का अन्तर्भाव अनुमान में हो सकता है, क्योंकि शब्द और अनुमान का आधार समान है।[10] अतः वैशेषिक दर्शन में शब्द प्रमाण की परिभाषा उपलब्ध नहीं होती। वैशेषिकसूत्र में कणाद ने यह कहा है कि 'शब्द' 'अनुमान' के समान है।[11] प्रशस्तपाद ने सूत्रकार के कथन को और स्पष्ट करते हुये कहा है कि 'अनुमान में व्याप्तिग्रह, लिंगदर्शन, व्याप्तिस्मृति और उसके बाद अनुमिति होती है। इसी प्रकार शब्द में भी शक्तिग्रह, वाक्यश्रवण, पदार्थस्मृति और उसके बाद वाक्यार्थबोध होता है। इस प्रकार समान विधि के कारण यह अनुमान के अन्तर्गत माना जाता है।[12] श्रीधर का भी यह कथन है

कि शब्द भी व्याप्ति के माध्यम से ही अर्थ का प्रतिपादक होता है, अतः वह अनुमान ही है ।[13]

(ङ) सांख्यमत

शब्दप्रमाण की परिभाषा के सम्बन्ध में सांख्याचार्यों के कथन लगभग वैसे ही हैं, जैसे कि नैयायिकों के, किन्तु आप्त जैसे शब्दों की व्याख्या में कुछ अन्तर है । सांख्य सूत्रकार के अनुसार 'आप्तोपदेश' शब्द है, किन्तु आप्त का अर्थ है आप्ति से युक्त, आप्ति का तात्पर्य है—योग्यता और उपदेश का आशय है—यथाभूत पदार्थ का निर्दोष कथन। इस परिभाषा का विश्लेषण करते हुये उत्तरवर्ती भाष्यकारों ने यह कहा है कि जो व्यक्ति वस्तुओं का साक्षात् ग्रहण करके उनका यथार्थ ज्ञान करता है, वह उस विषय में आप्त कहलाता है। ऐसे व्यक्ति का उपदेश ही संदर्भगत विषय में शब्द प्रमाण माना जाता है। ईश्वरकृष्ण ने विश्वसनीय वचन को आप्त वाक्य कहा है ।[14]

ईश्वरकृष्ण के कथन का विश्लेषण करते हुये वाचस्पति मिश्र ने यह कहा कि 'आप्त' शब्द का अर्थ है—प्राप्त या युक्त (यथार्थ) । इस प्रकार जो श्रुति आप्ता है, वह आप्तश्रुति है। श्रुति का अर्थ है—वाक्य से उत्पन्न वाक्यार्थज्ञान। वाचस्पति मिश्र ने यह भी कहा है कि जिन वचनों की युक्तता प्रमाणसंगत और वेद, स्मृति आदि के अनुरूप नहीं है, उनको कहने वाले (बौद्धभिक्षु आदि) आप्त नहीं माने जा सकते। ईश्वरकृष्ण की परिभाषा आप्तश्रुतिराप्तवचनं (तु) में प्रयुक्त 'तु' पद का विश्लेषण करते हुये वाचस्पति कहते हैं कि यह (तु) आगम प्रमाण को अनुमान प्रमाण से पृथक् करने के लिए प्रयुक्त किया गया है। शब्द प्रमाण में वाक्यार्थ प्रमेय होता है। वाक्य, वाक्यार्थ का धर्म नहीं, अतः वह वाक्यार्थ का लिंग (ज्ञापक) भी नहीं होता यानी वाक्य और वाक्यार्थ में व्याप्तिसम्बन्ध नहीं है। अभिनव कविरचित अश्रुतपूर्व वाक्य भी सर्वथा नूतन अर्थ का ज्ञान कराता है। अतः 'शब्द' अनुमान से पृथक् है।[15] माठर ने भी उपर्युक्त कथनों का समर्थन किया है ।[16]

(च) योगमत

योग में शब्द के लिये आगम शब्द का प्रयोग किया गया है। व्यासभाष्य में यह उल्लेख मिलता है कि अपने बोध का सम्प्रेषण करने के लिए तत्त्वज्ञानी अर्थात् यथार्थद्रष्टा आप्त पुरुषों द्वारा शब्द के माध्यम से जो उपदेश किया जाता वह आगम प्रमाण है ।[17]

(छ) मीमांसक मत

शबर भाष्य में शब्द प्रमाण की चर्चा का आरम्भ तो हुआ, किन्तु उसका विधिवत् विश्लेषण कुमारिल प्रभृति के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। शबर स्वामी के अनुसार शब्द से होने वाले अप्रत्यक्ष वस्तु विषयक ज्ञान को शाब्द कहा जाता है। कुमारिल ने भाष्यकार के कथन का आशय यह बताया कि "शब्द प्रमाण वह कथन है, जो शब्दों का अर्थ जाननेवाले श्रोता को उस तथ्य का बोध करा देता है, जो श्रोता के प्रत्यक्षण की सीमा से बाहर होता है।"[18] पार्थसारथि ने उपर्युक्त कथन में यह भी जोड़ा कि इस प्रमाण के द्वारा जो ज्ञान हो, वह नवीन होना चाहिए।[19]

कुमारिल ने शब्द प्रमाण जन्य ज्ञान को दो प्रकार का बताया—(1) पौरुषेय और (2) अपौरुषेय। पौरुषेय शाब्द ज्ञान सांसारिक आप्त पुरुषों के कथन पर आधारित होता है, और अपौरुषेय नित्य अनादि वाक्य हैं जो वेदों में निहित है। यह ज्ञातव्य है कि मीमांसक वेदों को ईश्वर निर्मित नहीं मानते। वे ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। अतः वेद उनके मतानुसार अनादि अपौरुषेय शाब्दज्ञान है। नैयायिकों का मत उनसे भिन्न है। वे वेदों को ईश्वर निर्मित मानते हैं अतः शाब्दज्ञान का विभाजन उन्होंने पौरुषेय और अपौरुषेय में नहीं किया है। वे वेदों को भी आप्तपुरुष ईश्वर का कथन मानते हैं। अतः वेद भी नैयायिकों के मतानुसार पौरुषेय ही हैं।

प्रभाकर के मतानुसार लौकिक या पौरुषेय शाब्दबोध तो अनुमान में अन्तर्भूत हो जाता है, अतः अपौरुषेय वैदिक वाक्यों से जन्य ज्ञान ही शाब्दी प्रमा है। अवैदिक वाक्यों में प्रभाकर प्रामाण्याभाव मानते हैं।[20]

(ज) वेदान्त मत

धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार जिस वाक्य का तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग प्रमाणान्तर से बाधित नहीं होता, वह वाक्य आगम कहलाता है।[21] वेदान्तियों के मतानुसार वेदों का साक्षात्कार किया गया है, निर्माण नहीं, जबकि नैयायिकों का यह मत है कि वेदों का निर्माण ईश्वर ने किया।

(झ) न्यायमत

न्यायसूत्रकार गौतम ने आप्तोपदेश को शब्द कहा है। भाष्यकार वात्स्यायन ने यह स्पष्ट किया कि जो वस्तु जैसी है, उसको वैसी ही बताने वाले (अर्थात् वस्तुओं का साक्षात् ज्ञान कर उनको यथार्थरूप में दूसरों को बताने वाले) पुरुष

के उपदेश को शब्द कहा जाता है। वस्तुओं का साक्षात् ज्ञान है आप्ति और आप्ति में जो प्रवृत्त हो वह आप्त कहलाता है। आप्तता किसी जातिविशेष पर निर्भर नहीं है। उद्योतकर ने इस संदर्भ में इतनी बात और जोड़ी कि इन्द्रियों से सम्बद्ध या असम्बद्ध अर्थों के प्रसंग में शब्द का प्रयोग करके जो प्रतिपत्ति (बोध) होती है, वह शब्दप्रमाण जन्य है। वाचस्पति मिश्र ने इस सम्बन्ध में कोई नई बात नहीं कही, किन्तु जयन्त भट्ट ने इस बात पर प्रकाश डाला कि 'आप्त' और 'उपदेश' शब्द का प्रयोग शब्दप्रमाण की परिभाषा में क्यों अपेक्षित है। जयन्त के मतानुसार 'आप्त' पद के अभाव में शब्दप्रमाण की परिभाषा 'ऐतिह्य' पर भी अतिव्याप्त हो जाती, क्योंकि उपदेश का तत्त्व तो ऐतिह्य में भी है ही। वात्स्यायन द्वारा प्रयुक्त 'उपदेष्टा' और 'चिरव्यापयिषा' शब्द साभिप्राय हैं। इनसे यह ध्वनित होता है कि आप्त व्यक्ति का वीतराग (सम्बद्ध बात के कथन में उसका अपना कोई स्वार्थ न हो।) तथा उपदेशकुशल होना आवश्यक है। जयन्त के मत में यद्यपि आप्त व्यक्ति का सर्वज्ञ होना आवश्यक नहीं है, किन्तु उसे वस्तुओं का समुचित ज्ञान तो होना ही चाहिये। जयन्त के विचार में आप्तता का सम्बन्ध कुल की उच्चता से नहीं है। ऋषि, आर्य, म्लेच्छ सभी में आप्तता रह सकती है।[22] जयन्त के मतानुसार उपदेश का आशय है—अभिधानक्रिया अर्थात् वस्तुओं की प्रतीति करने में समर्थ श्रोत्रग्राह्य शब्द का बोध।[23] कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन नैयायिकों के अनुसार आप्त का उपदेश ही शब्द प्रमाण कहलाता है।

भासर्वज्ञ ने कुछ भिन्नता के साथ शब्द प्रमाण का लक्षण किया है। उनके मत को स्पष्ट करते हुये न्यायसार के टीकाकार वासुदेव सूरी कहते हैं कि सम्यक् यानी संशय आदि से विलक्षण ज्ञान के चेष्टा, लिपि, अक्षर आदि समेत शब्दात्मक या अशब्दात्मक जितने साधन हैं, वे आगम यानी शब्द प्रमाण हैं।[24]

गंगेश तथा उनके अनुयायियों ने आप्तता के विचार को अस्वाभाविक मानकर उसको छोड़ दिया। वे वाक्यार्थज्ञान को शब्द प्रमाण बताते हैं। वाक्यार्थज्ञान से उनका आशय है—'वाक्य के अन्तर्गत पदसमूह का स्मरणात्मक ज्ञान।'[25]

केशवमिश्र और अन्नंभट्ट जैसे उत्तरवर्ती नैयायिकों ने शब्द प्रमाण की परिभाषा में कुछ परिवर्तन कर दिया। उन्होंने 'उपदेश' के स्थान पर 'वाक्य' का प्रयोग कर आप्तवाक्य को शब्द प्रमाण माना।[26]

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, चार्वाक, बौद्ध और वैशेषिक उपर्युक्त आधारों पर शब्द को पृथक् प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं करते। जैन दर्शन,

सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त में शब्द का पृथक् प्रमाणत्व स्वीकार किया गया है, किन्तु शब्द प्रमाण के आन्तरिक विश्लेशण में इन दर्शनों की न्याय से कुछ भिन्नता है। मुख्य बात वैमत्य की यह है कि नैयायिक वेद को ईश्वर प्रणीत मानते हैं, जैसे वेद का प्रामाण्य ही स्वीकार नहीं करते और सांख्य, योग मीमांसा तथा वेदान्त में वेद को अनादि माना गया है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वेद के पौरुषेयत्व या अपौरुषेयत्व के प्रश्न पर प्रस्तुत संदर्भ में विशेष बल न दिया जाये तो शब्द को पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकार करनेवाले सभी दार्शनिक इस बात पर सहमत हैं कि आप्त पुरुषों का कथन ही शब्द प्रमाण है। 'उपदेश' और 'वाक्य' इन शब्दों में न्यायशास्त्र के आचार्यों ने ही जो पारस्परिक परिवर्तन किया, वह भी उत्तरवर्ती आचार्यों के चिन्तन की व्यावहारिकता या प्रगतिशीलता का ही निदर्शन कराता है। गंगेश इस संदर्भ में भी सबसे आगे बढ़े और उन्होंने शब्द प्रमाण से साथ 'आप्तत्व' को जोड़ना अनावश्यक बताया, किन्तु जयन्त भट्ट के इस कथन को याद रखा जाए कि—"आप्त शब्द के प्रयोग के अभाव में शब्द प्रमाण की परिभाषा 'ऐतिह्य' पर भी अतिव्याप्ति हो जायेगी"—तो गंगेश का कथन भी पूर्णतया ग्राह्य नहीं कहा जा सकता। अत: न्याय शास्त्र के प्रवर्तक अक्षपाद गौतम ने शब्दप्रमाण की जो परिभाषा दी वह उपयुक्त प्रतीत होती है। इसके साथ ही केशवमिश्र आदि ने उपदेश के स्थान पर वाक्य शब्द का जो प्रयोग किया है, वह भी असंगत नहीं है। वस्तुत: शब्द प्रमाण के सन्दर्भ में जिन प्रमुख या आनुषंगिक विषयों पर चर्चा अपेक्षित है, वे वाक्य से ही सम्बद्ध हैं।

2. वाक्य का स्वरूप

प्रकरण ग्रन्थकारों ने शब्द प्रमाण की परिभाषा में 'उपदेश' के स्थान पर 'वाक्य' शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया कि इस सन्दर्भ में 'वाक्य' का अपना विशिष्ट महत्त्व है। यों तो वाक्य के लक्षण में कोई विशेष वैमत्य नहीं रहा, किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि वाक्य का लक्षण सभी आचार्यों ने एक प्रकार से ही किया। संक्षेप में कहें तो पदों के समूह को वाक्य कहा जा सकता है। पर प्रश्न यह है कि किस प्रकार के पदों के समूह को वाक्य कहा जाए? दार्शनिकों के अतिरिक्त वैयाकरणों और लक्षणग्रन्थकारों ने भी इस पर गहन विचार विमर्श किया है। आइये, संक्षेप में इस पर कुछ चर्चा कर ली जाये।

पदों का समूह ही वाक्य है, परन्तु उन्हीं पदों के समूह को वाक्य कहा जा सकता है, जिनके समूह से निश्चित अर्थ निकले। अत: वाक्य की योग्य रचना के

लिए पदों में परस्पर आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति (सन्निधि) का अस्तित्व होना चाहिये। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने वाक्य में अर्थ बोधकता को सिद्ध करते हुए लिखा कि सांकाक्ष पदों को वाक्य कहते हैं। जगदीश तर्कालंकार ने भी आकांक्षायुक्त शब्दों के समूह को वाक्य कहा है। मीमांसकों के अनुसार वाक्य वह है, जिसमें विभिन्न शब्द निश्चित सान्निध्य में रहते है तथा अर्थ की अभिव्यक्ति करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार वाक्य ऐसे अलग-अलग शब्दों का समूह है, जो एक दूसरे के संयोग से विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन अथवा निर्णय करते हैं। जैमिनि के अनुसार 'एकार्थक पदों का समूह' वाक्य है।

योग भाष्य में कहा गया है कि सभी पद अन्य पदों के साथ मिलकर वाक्य बनने की शक्ति रखते हैं। अर्थात् पद अन्य पद के साथ मिलकर वाक्य कहे जाते हैं। किन्तु वे आकांक्षा युक्त होने चाहिएँ। शबरस्वामी का कथन भी लगभग इसी प्रकार है।[28] मीमांसकों के अनुसार "आकांक्षा योग्यता, आसत्ति के कारण परस्पर समन्वित पदों का समूह वाक्य है।"[29] मीमांसा सम्प्रदाय के कुछ आचार्य कर्त्ता, कर्म तथा क्रिया से सम्बद्ध पदों के समूह को वाक्य मानते हैं। तात्पर्य यह है कि वाक्य में कर्त्ता, कर्म और क्रिया तीनों रहते हैं।[30] क्रिया कर्तृनिष्ठ होती है और कर्म में सम्बन्ध बतलाती है। जैसे 'देवदत्त जाता है'—इस उदाहरण में गमनशील देवदत्त का बोध होता है। इस प्रकार वाक्य में क्रिया प्रधान होने से वस्तुतः क्रियाबोधक पदसमूह को ही वाक्य कहा गया है। नैयायिक वाक्य को क्रियाप्रधान तो मानते हैं, परन्तु साथ ही वे क्रियावाचक शब्द के न होने पर भी शक्त पदों के एक साथ रहने मात्र से भी अर्थबोध मानते हैं। जैसे 'त्रिभुवनतिलको भूपतिः'—इस वाक्य में। वे दोनों प्रकार के वाक्यों की स्वतंत्र सत्ता मानते हैं। अतः नैयायिकों के अनुसार पदों के समूह रूप वाक्य से भी 'वाक्यार्थ ज्ञान' हो जाता है। यशोविजय के भनुसार परस्पर सांकक्ष पदों का समुदाय ही वाक्य है।[31]

वाक्य विवेचन दार्शनिकों के अतिरिक्त वैयाकरणों व काव्यशास्त्रियों का भी एक प्रिय विषय रहा है। पतंजलि ने प्राचीन आचार्यों के विभिन्न लक्षणों का संग्रह करते हुए वाक्य के चार लक्षण दिए हैं।[32] (1) 'आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्' अर्थात् उसमें क्रिया हो और उसके साथ अव्यय, कारक विशेषण में से एक या सभी हों (2) 'सक्रियाविशेषणं च' (2) 'आख्यातं सविशेषणं' अर्थात् उस क्रिया को वाक्य कहते हैं, जिसके साथ विशेपण हो। (4) 'एकतिङ्'—एक

तिङ्न्त को वाक्य कहते हैं जैसे—ब्रूहि । अमरकोष में सुप और तिङ्न्तपदों के समूह को अथवा कारक से युक्त क्रिया को वाक्य कहा गया है ।[33] परन्तु जगदीश तर्कालंकार ने अमरसिंह के इस लक्षण में अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति दोष बताया था ।[34]

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पदों का समूह वाक्य है ।[35] 'व्यक्तिविवेक' में आकांक्षा के साथ क्रियाप्रधान को वाक्य कहा गया है ।[36] विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रस्तुत वाक्य तथा वाक्यार्थ के लक्षणों को भर्तृहरि ने आठ वर्गों में विभक्त किया, जो इस प्रकार हैं—

(1) क्रियावाचक शब्द को वाक्य कहते हैं । (2) क्रिया तथा उसके साथ कारक आदि के समूह को वाक्य कहते हैं। (3) क्रिया, कारक आदि के समूह में रहने वाली जाति (अखण्ड और नित्य) को वाक्य कहते हैं। (4) क्रिया आदि के एक अखण्ड (नित्य) समूह (शब्द स्फोट) को वाक्य कहते हैं। (5) क्रियादि के एक विशेषक्रम को वाक्य कहते हैं। (5) क्रियादि के अखण्डनीय बुद्धिगत सामान्य को वाक्य कहते हैं। (7) आकांक्षा से युक्त पहले ही पद को वाक्य कहते हैं। (8) आकांक्षा से युक्त सारे पदों को ही वाक्य कहते हैं ।[37]

'विश्वनाथ' ने योग्यता, आकांक्षा आदि से युक्त वाक्यों के समूह को 'महा-वाक्य' का नाम दिया है। इस तरह वाक्य के दो वर्ग बताए हैं—(1) वाक्य और (2) महावाक्य ।

(क) वाक्य-गठन के आधारभूत तत्त्व

वाक्य के लक्षण मुख्य रूप से आकांक्षा आदि से युक्त पदसमूह को वाक्य कहा गया है, लेकिन यह पदों में नहीं अपितु पदार्थों में ही संभव है। आकांक्षा, योग्यता व आसत्ति के अभाव में पदों का अर्थ वाक्यार्थ का अंग नहीं बन सकता। केशव मिश्र का कहना है कि आकांक्षा आदि के अभाव में कोई पदसमूह वाक्य नहीं बन सकता। अतः यह कहा जा सकता है कि पद व पदार्थ के अतिरिक्त इन तीनों की करणता वाक्यार्थ ज्ञान अथवा शाब्दबोध के लिए आवश्यक है ।

विभिन्न आचार्यों द्वारा अकांक्षा आदि का लक्षण अपनी दृष्टि से दिया गया है। यद्यपि उनके शब्दों में अन्तर है, फिर भी संक्षेप में इनका स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है—

(क) आकांक्षा

आकांक्षा का अर्थ है—'अभिधानपर्यवसानम्' । उदाहरणतया '**घट**' कहने से आकांक्षा बनी रहती है । उस आकांक्षा की पूर्ति '**आनय**' कहने से होती है । अन्य पद को सुनने की यह इच्छा ही आकांक्षा है । परस्पर आकांक्षा विरहित होने पर गाय, घोड़ा, मनुष्यादि पदों का समूह वाक्य नहीं कहला सकता । अतः एक पद में दूसरे पद के बिना प्रयुक्त होने पर शाब्दबोध करवाने की जो असमर्थता रहती है वही आकांक्षा है ।[38] विश्वनाथ पंचानन ने भी यह कहा है कि जिस पद के बिना जिस पद में शाब्धबोधजनकता न रहे, उसके साथ उसकी आकांक्षा होती है ।[39] जैसे जिस क्रिया पद के बिना कर्मादि कारक पद का अन्वयबोध न हो सके उस क्रियापद के साथ उस कारक पद की आकांक्षा है । इस प्रकार साधारण-तया यह कहा जा सकता है कि शब्दों की आकांक्षा का क्रियात्व और कारकत्व से सम्बन्ध है । 'जगदीश तर्कालंकार' के अनुसार स्वरूपयोग्य और अजनिता-न्वयबोध वाले पदों में परस्पर आकांक्षा होती है ।[40] अन्य नैयायिकों द्वारा भी आकांक्षा का यही अभिप्राय बताया गया है ।[41] आचार्य 'नारायण ने कहा है कि—'अन्वयादर्शनात्तावदाकांक्षा परिगृह्यते' अर्थात् एक पद का दूसरे पद के साथ अन्वय आकांक्षा है । आचार्य 'धर्मराजाध्वरीन्द्र ने आकांक्षा का अभिप्राय इच्छा बताया । वह चेतन ही होती है । जब तक पदार्थान्तिर की इच्छा होती है ।[42] किन्तु जब अन्वय बोध हो जाता है तब उसकी आवश्यकता नहीं होती आकांक्षा को शाब्द बोध का हेतु समझना चाहिए । साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने भी प्रतीति के पर्यवसान के अभाव को आकांक्षा कहा है अतः वाक्यार्थ की प्रतीति के लिए पदार्थ में जिज्ञासा का रहना आवश्यक है ।[43]

(2) योग्यता

योग्यता का अर्थ है पदों के अर्थों में पारस्परिक विरोध का अभाव उदा-हरणतया 'वह्निना सिंचति' यहाँ आकांक्षा तो है, परन्तु योग्यता नहीं, क्योंकि वह्नि व सिंचन का परस्पर विरोध है । अतः अन्नंभट्ट ने अर्थ-बोधन में बाधा के अभाव को 'योग्यता' कहा है ।[44] उस योग्यता के न रहने के कारण ही 'बह्निना सिंचति' इत्यादि पदों के समूह से शाब्दबोध नहीं होता, क्योंकि सिंचन की योग्यता जल में होती है; अग्नि में नहीं ।

नव्यनैयायिकों का विचार है कि योग्यता का ज्ञान शाब्दबोध में कारण नहीं होता, परन्तु ऐसा कहना उपयुक्त नहीं, क्योंकि इस प्रकार से तो बह्निना सिंचति' इत्यादि वाक्य में अयोग्यता के होते हुए भी शाब्द बोध हो सकेगा ।

संक्षेप में न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय के आचार्यों ने बाधक प्रमा के अभाव को योग्यता कहा है।[45] मीमांसकों के अनुसार भी 'योग्यता' अर्थप्रतिपादन में वाक्य की सहकारिणी है। कुछ आचार्य बाधाभाव को 'योग्यता' मानते हैं। कुमारिल भट्ट तथा उसके अनुयायी 'योग्यता' को वाक्यार्थ ज्ञान का हेतु नहीं अपितु अयोग्यता-निश्चय का प्रतिबन्धक मानते हैं। अर्थात् योग्यता से अयोग्यता का बाध हो जाता है।[46] धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार भी संसर्ग का बाध ही योग्यता है।[47] साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ आदि आलंकारिकों ने भी एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध के होने में बाधा के अभाव को ही योग्यता कहा।[48] इस प्रकार पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा का न होना ही योग्यता है।

3. आसत्ति (सन्निधि)

सन्निधि का अर्थ है—दो या दो से अधिक पदों का बिना किसी अन्तराल के विद्यमान रहना। इसलिये अन्नंभट्ट का कथन है कि पदों का बिना विलम्ब के उच्चारण करना सन्निधि है। तात्पर्य यह है कि वाक्य में प्रयुक्त शब्दों में परस्पर सन्निधि होनी चाहिए। यदि वाक्य में शब्दों का उच्चारण एक दूसरे के बीच बहुत लम्बे अन्तराल से किया जाए तो इस प्रकार के शब्दों से कोई वाक्य नहीं बन सकता। उसी प्रकार लिखित शब्दों की अंकन यदि बहुत दूर-दूर की जाए तो लिखित शब्दों से वाक्य की रचना नहीं हो सकती। 'गाय को लाओ' इस वाक्य के तीन शब्दों का उच्चारण तीन अलग-अलग प्रहरों में किया जाए या इनको तीन अलग-अलग पृष्ठों में लिखा जाए तो कोई वाक्य नहीं बनेगा। अतः तर्कदीपिका में कहा गया है कि सन्निधि का अर्थ शब्दों का निरन्तर बोध है। 'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन' इस उदाहरण में आसत्ति का अभाव होने के कारण शाब्दबोध नहीं होगा। क्योंकि उक्त पदों के समूह में पद की व्यवधान से रहित उपस्थिति नहीं है। अतः इसे वाक्य नहीं कह सकते। यह व्यवधान देश-कृत व्यवधान कहा जा सकता है। इस प्रकार पदों में अव्यवधान का नाम ही आसत्ति है। कालकृत व्यवधान उन स्थलों में होता है, जो बिलम्ब से उच्चरित किए जाते हैं। लेकिन इस विषय में प्रश्न यह उठता है कि सब पदार्थों का एक ही काल में परस्पर अन्वय कैसे हो सकता है? इसके अतिरिक्त आशुविनाशी पदार्थों की क्रमिक रूप से प्रतीत नहीं हो सकती। इसके लिए कहा गया है कि जितने भी पद-जन्य पदार्थ हैं, उनमें एक काल में 'स्मरण' द्वारा 'खलेकपोतन्याय' से पदार्थों का क्रिया कर्मभाव से अन्वयरूप शाब्दबोध हो जाता है। अर्थात् जैसे

खलिहान में वृद्ध, युवा, शिशु अवस्था के कबूतर एक साथ उतरते हैं, वैसे ही सब पदार्थ एक ही काल में उपस्थित होकर परस्पर अन्वय प्राप्त करते हैं ।[49] यहाँ क्रमिक प्रतीति न होकर 'खलेकपोतन्याय' से सामूहिक और सहप्रतीति होती है । 'विश्वनाथ' ने आसत्ति का अभिप्राय अन्नंभट्ट तथा केशवमिश्र से कुछ भिन्न प्रकार से बताया है । जगदीश तर्कालंकार द्वारा प्रस्तुत आसत्ति की परिभाषा बहुत कुछ विश्वनाथ के समान ही है ।[50]

कुमारिल भट्ट के अनुयायी आचार्य नारायण के अनुसार आसत्ति का लक्षण इस प्रकार **"शब्दैः सन्निहितत्वेन बोधितत्वं हि पदार्थानां सन्निधिरित्युच्यते ।"** सांख्य योग में इसका पृथक् रूप से विवेचन नहीं किया गया है । वेदान्त परिभाषा में भी यही कहा गया है कि पदों का व्यवधान हो या न हो, जिस पदार्थ का जिस पदार्थ से अन्वय बोध होता हो, उन पदार्थों की स्मृति में व्यवधान नहीं होना चाहिये ।[51] अतः व्यवधान से रहित पद जन्य पदार्थ की उपस्थिति आसत्ति है । इन दार्शनिकों के अतिरिक्त आलंकारिकों ने भी बुद्धि के अव्यवधान को 'आसत्ति' कहा है । विश्वनाथ ने यहाँ 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग किया है जिसका अभिप्राय यही है कि प्रकृतोपयोगी पदार्थों की उपस्थिति के अव्यवधान को आसत्ति कहते हैं । अथवा यह भी कह सकते हैं कि जिन पदार्थों का प्रकरण में सम्बन्ध होता है, उनके बीच में व्यवधान न होना ही 'आसत्ति' है । न्याय के समान इन्होंने भी देशकृत तथा कालकृत इन दो व्यवधानों का उल्लेख किया है । देशकृत में तो पदार्थों के बीच अनुपयुक्त पदार्थ के आने पर व्यवधान होता है । तथा कालकृत में पदार्थों की उपस्थिति के अनन्तर बीच में अधिक काल के हो जाने के व्यवधान होता है । अतः यह स्पष्ट ही है कि वाक्य में इन तीनों में से एक का भी अभाव होने पर वह वाक्य नहीं हो सकेगा और साथ ही उसका अर्थ भी अनुपयुक्त होगा । इसलिए आकांक्षा, योग्यता व आसत्ति ये तीनों वाक्यगठन के अनिवार्य आधारभूततत्व हैं ।

3. वाक्यार्थबोध की विधियाँ

वाक्यार्थबोध के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहता आया है । जब हम किसी वाक्य को सुनते हैं तो हमें अर्थ का बोध होता है । यहाँ प्रश्न यह उठता है कि अर्थ समग्र वाक्य से निकलता है या वाक्य के घटक पदों के अर्थों के मिलने से निकलता है ? वैयाकरणों के मतानुसार वाक्य एक समष्टि के रूप में अपने अर्थ का बोधक होता है उसमें पद या वर्णों का पृथक अस्तित्व नहीं होता । इस प्रकार वैयाकरण अनवयववादी कहला सकते हैं । इसके विपरीत नैयायिकों का

यह मत है कि जैसे पूर्व-पूर्व वर्णों के संस्कार से सहकृत अन्त्य वर्ण 'पद' के घटक होते हैं, उसी प्रकार पूर्व-पूर्व पद के संस्कार से सहकृत अन्तिम पद 'वाक्य' का घटक होता है। और इस प्रकार वर्णों और पदों का स्वतंत्र अस्तित्व होता है। भाट्ट मीमांसकों का कथन है कि जब पद अपने-अपने अर्थों को अभिव्यक्त करते ही निवृत्तव्यापार हो जाते हैं, तब उनके अर्थ सामूहिक रूप से वाक्य के अर्थ का बोध कराते हैं। इस प्रकार पद और वाक्य एक दूसरे से अभिन्न होते हुए भी भिन्न हैं। इस मत को शब्द और वाक्य के संदर्भ में भेदाभेदवाद कह सकते हैं। वाक्यार्थबोध के संबंध में यही अभिहितान्वयवाद कहलाता है। प्राभाकर मीमांसक भाट्ट मीमांसकों के विचार से सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि परस्पर अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ हैं। उनका मत अन्विताभिधानवाद के नाम से प्रसिद्ध है। मुकुलभट्ट जैसे कुछ आचार्यों की दृष्टि में मीमांसकों के उयुर्युक्त दोनों मतों में आंशिक सत्यता है। उनको मिलाकर देखा जाना चाहिए। इसी मत को समुच्चयवाद कहा जाता है। जयन्त भट्ट ने मीमांसकों के मतों की समीक्षा करने के साथ ही एक नये मत का प्रवर्तन किया जो तात्पर्यवाद के नाम से विख्यात है। इन मतों की रूपरेखा संक्षेप में दी जा रही है। शबर ने अपने भाष्य में यह कहा था कि **'पदानि हि स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि अथेदानी पदार्थों अवगता सन्तो वाक्यार्थ गमयन्ति'**। इस कथन का कुमारिल और प्रभाकर ने जो पृथक्-पृथक् विश्लेषण किया, वही अभिहित्वान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद के रूप में प्रवर्तित हुआ।

(क) अभिहितान्वयवाद

कुमारिल ने भाष्यकार के कथन का यह आशय बताया कि पद अपने-अपने अर्थ को व्यक्त कर उपरत हो जाते हैं। पदार्थ के अवगत हो जाने पर वे वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। दूसरे शब्दों में भाट्ट मीमांसकों के मतानुसार वाक्यार्थ का ग्रहण पदों के अर्थों पर निर्भर करता है। पद पहले सामान्य अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं और तत्पश्चात् योग्यता आदि के सहारे उन अर्थों के पारस्परिक अन्वय से जिस समग्र अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, उसको वाक्यार्थ कहते हैं। इसका आशय यह हुआ कि पदों के अर्थों का बोध पृथक्-पृथक् हो जाता है, किन्तु वाक्य के अर्थ का बोध उन अर्थों के पारस्परिक संयोग पर निर्भर करता है। पद समूह ही आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के कारण परस्पर समन्वित होकर वाक्य बन जाता है और इस प्रकार **'संसर्ग'** ही वाक्यार्थ है। वाक्यार्थ की प्रतीति पदार्थप्रतीति पूर्वक होती है। जब तक पदार्थ का ज्ञान न हो, वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। कुमारिल के कथन का आशय यह है कि पद अपने विशिष्ट

अर्थ का बोध कराते हैं और वाक्य में उनका पारस्परिक समन्वय उनके अर्थों के समन्वय के माध्यम से होता है, न कि एक पद का अन्य पद के साथ समन्वय से। वाक्य में प्रयुक्त हुए बिना भी पद का अर्थ समझा जा सकता है, किन्तु जहाँ तक वाक्य के अर्थ का सम्बन्ध है, वह पद के अर्थों के समन्वय से ही घटित होता है।

प्राभाकर मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित 'अन्विताभिधानवाद' के विरुद्ध भाट्ट मीमांसकों के तर्क इस प्रकार हैं कि यदि यह माना जाये कि वाक्य का प्रथम पद का कोई अन्य पद वाक्य में प्रयुक्त सभी पदों के समन्वित अर्थ का बोध कराता है, तो अन्य पदों का अस्तित्व निरर्थक हो जायेगा। यदि पदों का स्वतंत्र पृथक् अस्तित्व न होता तो किसी एक संदर्भ में प्रयुक्त पद का किसी अन्य संदर्भ में प्रयोग करना संभव न होता। प्राय: यह भी देखा जाता है कि किसी लम्बे वाक्य को सुनने पर यदि उसके कुछ आरम्भिक शब्दों को हम भूल भी जाएँ, तब भी हम वाक्य का अर्थ समझ लेते हैं, क्योंकि हमें उन पदों का अर्थ तो याद रहता ही है जिन्हें हम भूल जाते हैं। इस प्रकार भाट्ट मीमांसकों के मत में अन्विताभिधान की अपेक्षा अभिहितान्वय ही ग्राह्य माना जाना चाहिये। यह ज्ञातव्य है कि कुमारिल ने 'वाक्यार्थ' को पदार्थ से पृथक् माना है। इसी प्रकार जगदीश तर्कालंकार ने भी वाक्यार्थ को अपूर्व तथा विलक्षण बताया है।[52] जयन्त भट्ट ने वाक्यार्थ को अपूर्व या विलक्षण तो नहीं कहा, किन्तु संसृष्ट पदार्थों को वाक्यार्थ माना है। इस प्रकार यद्यपि अन्विताभिधान की अपेक्षा नैयायिकों का झुकाव अभिहितान्वयवाद की ओर अपेक्षाकृत अधिक प्रतीत होता फिर भी जयन्त जैसे नैयायिकों ने अभिहितान्वयवाद को भी उपयुक्त नहीं माना।

अभिहितान्वयवाद का खण्डन करते हुए जयन्त कहते हैं कि कोई शब्द दीपक की तरह अर्थ को प्रकाशित नहीं करता क्योंकि कोई व्यक्ति किसी शब्द का अर्थ तभी समझता है, जबकि उसको एदतर्थ शिक्षा दी गई हो। अनुभवी लोग अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए वाक्यों का प्रयोग करते हैं। शब्द वाक्यों के स्थान पर प्रयुक्त नहीं किये जा सकते। कोई शब्द अकेला तब तक समग्र वाक्य के अर्थ का बोध नहीं करा सकता, जब तक उसके साथ अन्य शब्दों का योग या अध्याहार न हो। वस्तुत: जैसे पालकी के सभी ग्राहक संयुक्त रूप से पालकी उठाते हैं, उसी प्रकार किसी वाक्य में प्रयुक्त सारे शब्द संयुक्त रूप से वाक्य के अर्थ के बोधक हुआ करते हैं। शब्द टीम की तरह कार्य करते हैं, और जिस प्रकार खिलाड़ियों से पृथक् टीम का कोई अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार

शब्दों से पृथक् वाक्य की भी सत्ता नहीं मानी जा सकती। जिस प्रकार रथ के कई भाग तथा कलपुर्जे होते हैं, किन्तु प्रत्येक पुर्जा अपनी क्रिया के लिए दूसरे पुर्जों पर निर्भर है, उसी प्रकार वाक्य एक समष्टि है। उसमें शब्द व्यष्टियाँ हैं पर प्रत्येक व्यष्टि इस प्रकार अन्य व्यष्टियों से संश्लिष्ट है कि किसी की पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि संहति अर्थ को बताने वाला पद समूह वाक्य है।

(ख) अन्विताभिधानवाद

प्रभाकर ने भी शबर के उपर्युक्त कथन की अपने मतानुसार व्याख्या करते हुए कहा कि पद **व्यतिषक्त** का अभिधायक है, **व्यतिषंग** का अभिधायक नहीं।[54] इसका आशय यह है कि भाष्य में प्रयुक्त पदार्थ शब्द का अभिप्राय अन्वित से है, वाक्यार्थ शब्द का अभिप्राय अन्वय से है। पद अन्वित होकर अन्वय का अवबोध कराते हैं। प्रभाकर के अनुसार वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के दो कार्य होते हैं—अपना निजी अर्थ प्रकट करना और सामूहिक अर्थ को प्रकट करना। इस मत के अनुसार वाक्यार्थ वाक्य से पृथक् कुछ भी नहीं हैं, किन्तु वह पदों में ही रहता है। प्रत्येक पद अपने सामान्य अर्थ का ही नहीं अपितु अन्य पदों के अर्थ से समन्वित अर्थ का भी बोध कराता है।

वैयाकरण वाक्य को भाषा की इकाई मानते हैं।[55] प्रभाकर के अनुसार वाक्य इकाई होते हुए भी सावयव है। अन्विताभिधानवादियों का कथन है कि पहले ही पद से सारे वाक्य का अर्थ ज्ञात हो जाता है। आगे के शब्द उस अर्थ को ही स्पष्ट करने के लिए प्रयुत्त किये जाते हैं। यदि यह कहा जाए कि सब पदों से सामूहिक रूप में वाक्यार्थ का ज्ञान होता है तो अन्विताभिधान ही सिद्ध नहीं होता। अन्विताभिधानवादियों के अनुसार वाक्य से ही व्यवहार होता है, पद से नहीं। वे पद के निजी अर्थ के अस्तित्व का निषेध नहीं करते। उनके कथन का आशय तो यह है कि पद का निजी अर्थ भी तभी सम्भव है, जबकि यह वाक्य का अंग बना हुआ हो। उदाहरणतया जब कोई बालक उत्तमवृद्ध प्रयोजित मध्यम वृद्ध के व्यवहार से अर्थबोध करता है तो पूरे वाक्य से ही पूरा अर्थ समझता है। यद्यपि वाक्य में अनेक पदों का प्रयोग होता है, किन्तु उद्देश्य की एकता के कारण उनमें एकता निहित रहती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रभाकर के मतानुसार वाक्य का ही अर्थ होता है। पदों का अर्थ वाक्य में प्रयुक्त होने के कारण ही माना जाता है।[56]

नैयायिकों ने अन्विताभिधानवाद को भी स्वीकार नहीं किया। जयन्त भट्ट ने अन्विताभिधान वाद का खण्डन करते हुये यह कहा कि समग्र वाक्य को अर्थ का बोधक मानने पर ज्ञान का प्राप्त करना ही असम्भव हो जाएगा क्योंकि वाक्यों की संख्या अनन्त है। प्रभाकर के अनुयायियों ने अपने मत के समर्थन में रथ का उदाहरण दिया। किन्तु जैसे रथ में प्रयुक्त प्रत्येक कल-पुर्जे का अपना व्यक्तित्व है उसी प्रकार वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द का अपना व्यष्टित्व माना जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त शब्दों का अर्थ समझने के लिए उनका जो निर्वचन किया जाता है, वह निरर्थक हो जायेगा। अन्विताभिधान सिद्धान्त पर अन्य आचार्यों द्वारा भी जो आपत्तियाँ की गई हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं कि यदि एक ही पद समन्वित अर्थ का वाचक माना जाएगा तो वाक्य में अन्य पद निरर्थक हो जाएँगे। अतः यह कहना अनुपयुक्त है कि व्यक्त की अभिव्यक्ति के लिये ही अन्य शब्दों का प्रयोग किया गया है। प्रतियोगी अनन्त हैं अतः अन्वय की अनन्तता के कारण अन्वित के अभिधान का ग्रहण भी न हो सकेगा। अभिनव कवियों की कविता का अर्थ पद और पदार्थ की व्युत्पत्ति के बल पर ही होता है। वाक्यार्थ की व्युत्पत्ति के सहारे नहीं होता। अविन्ताभिधान सिद्धान्त को मानने पर पहले प्रकृति-प्रत्यय का अन्वय और तदनन्तर पदार्थों का अन्वय इस रूप में दो बार अभिधान मानना पड़ेगा।[57] यदि यह कहा जाये कि प्रथम पद के अन्वय के समय दूसरे पद का अर्थ अभिहित रहता है तो यह भी कहना होगा कि प्रथम पद पदान्तरजन्य अर्था-भिधान की अपेक्षा रखता है और इस प्रकार यहाँ इतरेतराश्रय दोष होगा।

कुमारिल और प्रभाकर के सिद्धान्तों में जो अन्तर है वह संक्षेप में इस प्रकार है कि कुमारिल और प्रभाकर दोनों के अनुसार यद्यपि एक पद का अर्थ अन्य पद के अर्थ के साथ समन्वय की क्षमता रखता है, तब भी वस्तुतः वह उसी पद के साथ समन्वित होता है जो कि सम्बद्ध वाक्य में प्रयुक्त हुआ हो। किन्तु प्रभाकर अर्थ को पहले से ही समन्वित मानते हैं, जबकि कुमारिल के मत में प्रत्येक पद का अर्थ पहले व्यष्टि रूप में रहता है और बाद में अन्य अर्थों से सम्बद्ध होता है।[58]

(ग) समुच्चयवाद

कतिपय आचार्यों ने मीमांसकों द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त 'वादों' में समन्वय करने का प्रयत्न किया। मुकुल भट्ट का विचार है कि अभिहितान्वयवाद और अन्विता-भिधानवाद दोनों ही आंशिक रूप से सही हैं। यदि शब्दों को ध्यान में रखकर विचार किया जाये तो अभिहितान्यवाद उचित है और वाक्य की दृष्टि से विचार

किया जाये तो अन्विताभिधानवाद। अतः मुकुलभट्ट दोनों वादों को मिलाकर समुच्चयवाद का प्रतिपादन करते हैं।

जयन्त प्रभृति नैयायिकों का विचार है कि मीमांसकों के उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों को मिला देने से भी उनके दोषों का परिहार नहीं होता। अतः मुकुल भट्ट का समुच्चयवाद भी निर्दोष नहीं माना जा सकता।

(घ) तात्पर्यवाद

वाक्यार्थ बोध के संदर्भ में तात्पर्यवाद का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है। तात्पर्यवाद की चर्चा काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि लाक्षणिक ग्रंथों में भी हुई, किन्तु ऐसा लगता है कि इस सिद्धांत की सर्वप्रथम व्याख्या जयन्तभट्ट ने ही की है। जयन्त के अनुसार शब्द व्यष्टि रूप में अपनी अभिधाशक्ति से मुख्यार्थ का बोध करवाते हैं, किन्तु जब किसी वाक्य में समष्टिरूप में उनका प्रयोग होता है तो उनके अन्दर वर्तमान एक ऐसी अतिरिक्त शक्ति क्रियाशील हो जाती है जो शाब्द-बोध परिवार में तब तक काम करती जाती है, जब तक शब्द का अभिधेयार्थ ही नहीं अपितु समष्टयर्थ भी स्पष्ट नहीं हो जाता।[59] वक्ता 'शब्द' का प्रयोग वस्तुतः वाक्य के अर्थ या वक्तव्य को ध्यान में रखकर करता है। यह तो कुमारिल ने भी स्वीकार किया है कि जिस प्रकार चूल्हे में जलती हुई प्रत्येक लकड़ी का कार्य या उद्देश्य भोजन का पकाना है, उसी प्रकार वाक्य में आये हुये प्रत्येक शब्द का उद्देश्य वाक्यार्थबोध ही होता है।[60] जयन्त भी प्रज्ञा को एक लता के रूपक में बांधते हुये कहते हैं कि व्युत्पत्ति उसका (प्रज्ञा का) मूल है, पद अंकुर हैं, पूर्वश्रुतवर्णों का संस्कार पत्ते हैं, पदों के अभिधेयार्थ इसके कुसुम हैं और वाक्यार्थ इसका फल है।[61]

तात्पर्य शक्ति और नैयायिकों द्वारा स्वीकृत संसर्गमर्यादा में कोई अन्तर नहीं है। यह बात भी ज्ञातव्य है कि वैसे तो आनन्दवर्धन (855-883 ई०) ने तात्पर्यवाद को ध्वनि विरोधी मानकर उसका खण्डन किया था किन्तु अभिनवगुप्त (10वीं ई०) सर्वप्रथम आचार्य थे, जिन्होंने साहित्यशास्त्र में 'तात्पर्य' का पृथक् वृत्ति के रूप में उल्लेख किया। वे कहते हैं कि शब्द अपनी अभिधा शक्ति के द्वारा केवल व्यष्ट्यर्थ का बोध कराते हैं, उनके वाक्यगत संबंध तथा अर्थ का बोध एक अन्य वृत्ति तात्पर्य के द्वारा होता है, भोज (1018-56ई०) अभिहितान्वय तथा अन्विताभिधान दोनों को अस्वीकार करते हुए यह कहते हैं कि शब्द अपनी 'सांहत्यकारिता' नामक शक्ति के आधार पर अपने सामूहिक प्रभाव के रूप में वाक्यार्थ का बोध कराते हैं।[62] इस प्रकार भोज के 'सांहत्यकारितावाद' और

जयन्त के तात्पर्यवाद के कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। अतः तात्पर्य को एक पृथक् वृत्ति के रूप में स्थापित करने का श्रेय जयन्त भट्ट को है।[63]

वैसे तात्पर्यवाद स्वयं अभिहितान्वयवाद का एक परिवर्धित रूप है। और अभिनव गुप्त ने भी इस प्रसंग में कुमारिल की अपेक्षा जयन्त के विचारों का समर्थन कर उस को अधिक मान्यता दी है।

यह उल्लेखनीय है कि गौतम और वात्स्यायन ने वाक्य की समस्या पर विशेष विचार नहीं किया। उन्होंने पद के अर्थों का ही विश्लेषण किया जिससे यह प्रतीत होता है कि उनके मतानुसार वाक्य पदों का समूह मात्र है और वाक्यार्थ भी पदार्थों के समुदाय के अतिरिक्त अधिक कुछ नहीं है। जयन्त भट्ट ने इस दिशा में नये चिन्तन का आरम्भ किया और फलस्वरूप तात्पर्यवाद की उद्भावना की।

4. पद का स्वरूप

शब्द प्रमाण की परिभाषा में 'वाक्य' का विश्लेषण भी किसी न किसी प्रकार सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है और केशवमिश्र आदि ने तो परिभाषा में ही वाक्य का स्पष्ट समावेश भी किया है।[64] वाक्य को भाषा की इकाई मानने वाले दार्शनिकों ने भी वाक्य के गठन के संदर्भ में 'पद' का विश्लेषण किया है। अतः 'पद' किसे कहते हैं, यह भी शब्द प्रमाण के अन्तर्गत एक प्रमुख विचारणीय विषय माना जाता है। पद को जाने बिना न तो पदार्थ का ज्ञान हो सकता और न ही पद और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का। अतः पद-पदार्थ सम्बन्धी निम्नलिखित समस्याओं पर चर्चा करना अनुपयुक्त न होगा।

(क) 'पद' के लक्षण और भेद

पद के विश्लेषण में कुछ आचार्यों ने पद शब्द की व्युत्पत्ति पर अधिक बल दिया है, कुछ ने वाक्य को मुख्य मान कर उसके अंग के रूप में 'पद' का निरूपण किया। और कतिपय आचार्यों ने पद को वाक्य का घटक मानते हुए उसको प्रमुखता दी। यही बात पद के भेदों के बारे में भी कही जा सकती है। विभिन्न शास्त्रों में पद के स्वरूप के सम्बन्ध में जो चर्चा की गई है, उसका सार निम्नलिखित है।

अक्षपाद गौतम के अनुसार जिन वर्णों के अन्त में विभक्तियाँ लगी हों, वे पद कहलाते हैं।[65] वात्स्यायन सूत्रकार के मत की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि विकार को प्राप्त वर्ण विभक्ति से युक्त होने पर पद कहलाते हैं। नाम

(प्रातिपदिक) और आख्यात (धातु) से सम्बन्ध के आधार पर विभक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं। 'प्र' आदि उपसर्गों और 'च' आदि निपातों के साथ यद्यपि विभक्तियाँ दिखाई नहीं देतीं, किन्तु उनमें विभक्ति का अदर्शन होता है अभाव नहीं। अतः उपसर्गों और अव्ययों के पदत्व का खण्डन नहीं होता।[66] यास्क ने तो स्पष्ट ही नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात के रूप में चार प्रकार के पद बताये हैं। कुछ दार्शनिक सुप् और तिङ् को स्वतन्त्र 'प्रत्यय पद' और उनके अव्यवहित पूर्व में श्रूयमाण वर्णसमूह को 'प्रकृति पद' कहते हैं।

विश्वनाथ पंचानन तथा अन्नंभट्ट ने शक्ति से विशिष्ट वर्णसमूह को पद कहा है।[67] केशवमिश्र द्वारा प्रस्तुत पद लक्षण इस से भिन्न है। उसके अनुसार वर्णों के समूह का नाम 'पद' है। समूह का आशय है—एक ज्ञान का विषय बनना। अतः घ्, अ, ट् और ये वर्ण क्रम से उच्चरित हो कर जब तक किसी एक व्यक्ति को एक साथ नहीं ज्ञात होते, तब तक वे 'पद' नहीं कहे जाते, किन्तु जब वे किसी एक व्यक्ति को एक साथ ज्ञात होकर एक ज्ञान के विषय बन जाते हैं, तब उनको पद कहा जा सकता है। पद सदा अनेकवर्णात्मक ही होता हो, ऐसा जरूरी नहीं। कई बार पद एकवर्णात्मक भी होता है, जैसे—विष्णु-वाची 'अ' सुखवाची 'क' आकाशवाची 'ख' आदि। लेकिन फिर यह शंका होती है कि जब एक वर्णाकार पद हो सकता है तो इस प्रकार से 'घट' यह एक पद न होकर कई पदों का समूह क्यों न माना जाये ? इस शंका के समाधान के लिए ही सम्भवतः आचार्य विश्वनाथ पंचानन ने 'शक्तः साभिप्रायो वर्णसमूहो वा पदम्' यह संशोधित परिभाषा दी। जिसका तात्पर्य यह है कि जो वर्ण या वर्ण-समूह किसी अर्थ में शक्त और साभिप्राय होता है, वह पद है। पद के इस लक्षण के अनुसार घ्, अ, ट् और अ इन चार वर्णों का समूह रूप होने पर भी 'घट' पद एकवर्णात्मक पदों का समूह न होगा किन्तु एक ही पद होगा, क्योंकि उस पद के अंगभूत एक-एक वर्ण किसी अर्थ में शक्त और साभिप्राय नहीं हैं, अपितु वे सभी मिलकर ही 'घड़ा' रूप अर्थ में शक्त हैं और उसी को बताने के लिए ही वे उच्चरित होते हैं।

एक आशंका यह भी है कि वर्णों का उच्चारण एक साथ तथा एक समय में हो नहीं सकता। वे क्रमशः ही उच्चरित किए जाते हैं तथा शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाले होते हैं। फिर पद अनेक वर्णात्मक कैसे माने जा सकते हैं ? इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि किसी पद के अंगभूत वर्ण जिस क्रम से उत्पन्न होते हैं, उसी क्रम से श्रोत द्वारा उनका अनुभव होता हैं और उसी क्रम

से अनुभवों द्वारा उनका संस्कार उत्पन्न होता है। इस क्रम से उस पद का अन्तिम वर्ण जब कान में पहुँचता है तब इस अन्तिम वर्ण से सम्बद्ध हुआ श्रोत्र पूर्व वर्णों के अनुभवों से उत्पन्न हुए इन संस्कारों के संयोग से एक साथ ही (विनष्ट और विद्यमान) सभी वर्णों को विषय करने वाले एक पदज्ञान को उत्पन्न करता है। इस प्रकार उत्पन्न विनष्ट और विद्यमान सभी वर्णों को विषय करने वाले पद एक ज्ञान को उत्पन्न करता है। इस प्रकार उत्पन्न और विनष्ट होने वाले वर्णों के पूर्वसंस्कारों द्वारा पदज्ञान होता है। न्यायवैशेषिक में इसे **पदव्युत्पादनसमयग्रह** कहा गया है।[68]

शक्तिविशिष्ट पद दो प्रकार का है—मुख्य और गौण। जो पद जिस शक्ति या वृत्ति द्वारा जिस अर्थ का बाध कराये वह पद उसी अर्थ में मुख्य है। जैसे—गोघटादि का समुपस्थापक गोघटादि पद है। जो पदलक्षणा वृत्ति द्वारा जिस अर्थ का बोध कराये, वह पद उस अर्थ में गौण या लाक्षणिक कहा जाता है।

गंगेश ने तत्त्वचिन्तामणि के शब्दखंड में और गदाधर भट्ट ने व्युत्पत्तिवाद में शक्ति के विषय में विस्तार से विवेचन किया है। शक्ति का आशय है—**अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः** अर्थात् अमुक शब्द से अमुक अर्थ को जानना चाहिए इस प्रकार की इच्छा को, संकेत या वृत्ति भी कहा जाता है। वृत्तिज्ञान को शक्तिज्ञान या शक्तिग्रह भी कहते हैं। 'गदाधर' ने शक्तिवाद में वृत्ति दो प्रकार की मानी है, संकेत और लक्षणा।[69] प्राचीन नैयायिक ईश्वर संकेत को शक्ति कहते हैं। ईश्वर नित्य है अतएव संकेत शक्ति नित्य है और पदशक्ति का कारण ईश्वरेच्छा ही है। इस ईश्वरेच्छा के कारण ही लोकव्यवहार में किसी शब्द विशेष का कोई अर्थ विशेष होता है, जबकि नव्यनैयायिकों ने ईश्वरेच्छा के स्थान पर केवल इच्छा को ही शक्ति का कारण बताया है।[70] इसलिए आधुनिक लौकिक संकेतों में भी शक्ति रहती है। यह स्पष्ट है कि संकेतात्मक पदशक्ति के ज्ञान के अनन्तर ही श्रोता उस पद के वाच्य अर्थ को स्मरण करता है। मीमांसकों का विचार न्यायवैशेषिकों के विचार से भिन्न है, क्योंकि वे शक्ति को अलग पदार्थ मानते हैं। इनके मत में शक्ति एक भिन्न पदार्थ है। वैयाकरण और पातंजल मत में वाच्यवाचकता के मूल पद और पदार्थ को शक्ति कहा जाता है। किन्तु वेदान्त में सर्वत्र स्वकार्य की सामर्थ्य को शक्ति माना गया है। जैसे धागे में वस्त्र और अग्नि में दाह भी सामर्थ्य ही शक्ति होती है।

न्याय में शक्ति तीन प्रकार की मानी गई है—समुदाय शक्ति, अवयव शक्ति और मिलित शक्ति। इनसे व्युत्पन्न पदों को क्रमशः रूढ़, योगिक तथा योगरूढ़

कहते हैं। कुछ लोग मिलित शक्ति को—योगरूढ़ और रूढ़ यौगिक में भी विभक्त करते हैं। जगदीश ने रूढ़, लक्षक, योगरूढ़ तथा यौगिक के रूप में पद के चार भेद बताये हैं।

जगदीश के अनुसार रूढ़ को ही संज्ञा कहा जाता है। जो नाम जिस अर्थ में संकेतिक ही हो, यानी यौगिक न हो, उसे रूढ़ कहते हैं। रूढ़ संज्ञाएँ तीन प्रकार की होती हैं—(1) नैमित्तिकी, (2) पारिभाषिकी और (3) औपाधिकी।[71] इस प्रकार सामान्यतः पद के चार प्रमुख प्रकार माने गए हैं।[72] इनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

(1) यौगिक पद

जो पद अपने अवयवों से स्वार्थ का बोधक हो, वह यौगिक पद है।[73] जैसे–'पाचक' पद है। पचति इति पाचकः। यहाँ धातु पच् है और कर्त्ता में कृत प्रत्यय हुआ है। पाकक्रिया करने वाले का नाम पाचक है। यह अर्थ शब्द के अवयवों से ही समझ में आता है। इसी तरह पाठक शब्द है। जगदीश ने भी इसी प्रकार के शब्दों को 'यौगिक' कहा है।[74]

(2) रूढ़पद

जो पद अवयवशक्ति के बिना समुदाय शक्ति से स्वार्थ का बोधक हो, वह रूढ़पद है।[75] जैसे 'गौ' तथा 'मण्डल' पद रूढ़ हैं। जगदीश ने नैयायिकों के मत का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि जो पद किसी अर्थ विशेष में रूढ़ हो जाता है उदाहरण के लिए 'गो' गमन क्रियायुक्त अर्थ होने पर भी गाय के लिए रूढ़ हो गया है। इस प्रकार समुदायशक्ति को रूढ़ि और अवयव-शक्ति को योग कहते हैं।

(3) योगरूढ़पद

जो पद अवयव तथा समुदाय दोनों शक्तियों द्वारा स्वार्थ का बोधक हो किन्तु समुदाय शक्ति में ही प्रयुक्त होता हो, वह 'योगरूढ़ पद' कहलाता है।[76] जैसे पंकज। 'पंकाज्जायते' इस व्युत्पत्ति से बना पंकज पद अवयव शक्ति द्वारा 'पंक' से उत्पन्न होने वाली वस्तु का तथा समुदाय शक्ति से केवल कमल का बोधक है। यानी यह शब्द यौगिक होते हुये भी एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है।[77]

(4) रूढ़ यौगिक पद

कुछ आचार्यों ने रूढ़ यौगिक को योगरूढ़ से अलग नहीं माना है। क्योंकि उक्त द्विविध शक्तियाँ दोनों जगह समान रूप से मान्य होती हैं। किन्तु विश्वनाथ

के अनुसार जहाँ योगार्थ और रूढ्यार्थ स्वतंत्र रूप से बोधक हों, अर्थात् कोई पद यदि किसी एक वस्तु का अवयवशक्ति से तथा किसी अन्य वस्तु का समुदाय शक्ति से बोध कराता हो, तो वह रूढ़ यौगिक शब्द कहा जाता है।[78] जैसे 'उद्भिद्' शब्द। यहाँ 'उद्ध्वं भिनति' 'इति उद्भिद्' इस व्युत्पत्ति से 'उद्भिद्' शब्द यौगिक शक्ति से वृक्ष और लता आदि का बोधक है, तथा समुदाय शक्ति के द्वारा एक यज्ञ विशेष की संज्ञा के रूप में रूढ़ भी है। अतः उद्भिद् शब्द रूढ़यौगिक कहा जाता है। अतएव स्पष्ट है कि जो शब्द कभी तो अपने अवयवों के अर्थ के आधार पर 'यौगिक' अर्थ का बोध कराते हैं और कभी समुदायशक्ति के कारण 'रूढ़' का बोध कराते हैं, जैसे मण्डप, महारजत शब्द आदि, वे रूढ़ यौगिक कहलाते हैं। 'मण्डप' का योगिक अर्थ मण्ड पीने वाला भी प्रचलित है और रूढ़ अर्थ-विवाहस्थल भी।[79] नैयायिक तथा वैशेषिकों के समान व्याकरण दर्शन में भी शब्द (पद) के चार प्रकार माने गये हैं। यौगिक, रूढ़, योगरूढ़ और यौगिक रूढ़। लेकिन नागेश ने अभिधाशक्ति के तीन भेद बताये हैं।[80] रूढ़ि, यौगिक (योगशक्ति) और योगरूढ़ि। नागेश ने 'रूढ़ि' का लक्षण बताते हुए कहा है कि जहाँ शास्त्रकारों द्वारा कल्पित अवयवों अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय के अर्थ की प्रतीति नहीं होती है अपितु प्रकृति-प्रत्यय के समुदाय मात्र का बोध हो उस शक्ति को 'रूढ़ि' कहते हैं। जैसे मणि, नूपुर आदि शब्दों में धातु व प्रत्यय का अर्थ प्रवृत्ति-निमित्त नहीं है। भोज का भी लगभग यही विचार है। पतंजलि और कैयट का भी यह मत है कि रूढ़ शब्दों में केवल व्युत्पत्ति के लिए क्रिया का आश्रय लिया जाता है। जैसे गौ शब्द का निर्वचन किया जाता है "गच्छतीति गौः"। गौ शब्द गाय के लिए रूढ़ हो जाने के कारण गमनक्रिया से रहित होने के अवसर पर भी गाय को गाय कहते है, और गाय के अतिरिक्त अन्य प्राणियों को गमनक्रिया से युक्त देखने पर भी गाय नहीं कहते हैं और न वह गाय शब्द का वाच्य होता है।[82] इसी प्रकार भतृहरि तथा हेलाराज के कथनों का आशय भी यही है कि रूढ़ शब्दों में प्रवृत्तिनिमित्त रूपिणी अन्तरंग क्रिया तो होती है, किन्तु उसको रोक दिया जाता है।[83] इसके विपरीत, जैसा कि नागेश भी कहते हैं, शास्त्रकारों के द्वारा कल्पित प्रकृति-प्रत्यय के ही अर्थ का जहाँ पर बोध रहता है उसे यौगिक कहा जाता है। जैसे पाचक। 'जहाँ पर साधारणतया शास्त्रकारों के कल्पित अवयवार्थ अर्थात् कल्पित प्रकृति प्रत्यय के अर्थ का भी बोध होता है, परन्तु विशेष रूप से समुदाय का बोध होता है वह पद योगरूढ़ कहलाता है, जैसे 'पंकज'। अन्य शास्त्रों में भी पद के भेदों का निरूपण उपर्युक्त रूप से ही किया गया है।

उपर्युक्त कथनों के सार के रूप में यह कहा जा सकता है कि व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ (पद्यन्ते ज्ञायन्तेऽनेनेति पदं) के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि जिसके द्वारा जाना जाता हैं, वह 'पद' है। पाणिनि ने 'सुप्तिङन्त पदम्' इस सूत्र से सुबन्त (नाम) और तिङन्त (आख्यात) से युक्त को पद कहा है। इस प्रकार तात्त्विक दृष्टि से पद को दो भागों में विभक्त किया गया है—नाम और आख्यात। यास्क ने व्यावहारिक दृष्टि से पद के चार प्रकार बताये हैं। 'साहित्यशास्त्र' में प्रयोग के योग्य, अनन्वित एक अर्थ के बोधक वर्णों को 'पद' कहते हैं। जैसे 'घटः' यह वर्णसमुदाय प्रयोग के योग्य है। दूसरे पदार्थ से अनन्वित (असम्बद्ध) एक अर्थ 'घड़े' का बोधक है, अतः वह 'पद' कहा जा सकता है। इस प्रकार से केवल वर्णों का समूह ही पद या शब्द नहीं हैं अपितु वर्णों का निश्चित क्रम में व्यवस्थित रहना ही पद है। तर्कभाषा में भी वर्णसमुदाय को पद कहा गया है। पद के इस लक्षण में समूह का अभिप्राय एक ज्ञान का विषय होना है। कुछ लोग वाक्य के एक देश को 'पद' कहते हैं। इस तरह से वे शब्द या शब्द समूह जो स्वतंत्र रूप से किसी भी वाक्य के उद्देश्य या विधेय हो सकते हैं या होते हैं, पद कहे जाते हैं। उदाहरण के रूप में 'सभी मनुष्य नश्वर हैं' इस वाक्य में मनुष्य और नश्वर दो पद हैं, क्योंकि ये दोनों शब्द स्वतंत्र रूप से इस वाक्य के क्रमिक रूप में उद्देश्य और विधेय हैं। पद की इस परिभाषा से पता चलता है कि सभी पद शब्द हैं, परन्तु सभी शब्द पद नहीं हो सकते। क्रिया विशेषण, कारकों के चिह्न तथा वाक्य संयोजक अव्यय 'पद' नहीं हो सकते हैं क्योंकि ये शब्द स्वतंत्र रूप से किसी वाक्य के उद्देश्य अथवा विधेय नहीं बन सकते। ये पद तभी बन सकते हैं, जबकि ये किसी समूह में हों।

'अरस्तू तथा उसके उस समय के अन्य दार्शनिक पदों को नाम, आख्यात और संयोजक इन तीन भागों में विभक्त करते थे। परन्तु परवर्ती दार्शनिकों ने मुख्यतः स्टोइक स्कूल के नेताओं ने, संयोजकों को दो भागों (संयोजक तथा आर्टिकल्) में विभक्त करके पदों की संख्या चार प्रकार कर दी।'

आधुनिक तर्कशास्त्र में शब्दों को दो भागों में विभक्त किया गया है।

(क) वे शब्द, जो पद हो सकते हैं तथा

(ख) वे शब्द, जो पद नहीं हो सकते हैं। वे शब्द जिनमें पद होने की क्षमता है 'स्वाधीन' (Categonematic) शब्द कहे जाते हैं तथा वे शब्द जो पद होने के लिए दूसरे पदों की अपेक्षा रखते हैं 'पराधीन' (Syncategonematic) कहलाते हैं। जो शब्द कभी भी पद नहीं कहलाते, जैसे हाय रे! आदि, वे पदायोग्य (Acategonematic) कहलाते हैं।

(ख) पद और पदार्थ (शब्द और अर्थ) का सम्बन्ध

शास्त्रों में भले ही इस बात पर विवाद हो कि भाषा की इकाई वाक्य है या पद, किन्तु लोक व्यवहार में पद की अवस्थिति से इन्कार नहीं किया जा सकता। किसी अर्थ विशेष को ध्यान में रखकर ही वक्ता किसी पदविशेष का प्रयोग करता है। वैसे आम आदमी कभी यह सोचता भी नहीं कि अमुक अर्थ के लिए अमुक शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है, किन्तु जो शास्त्र भाषा के गठन और प्रयोग को अपने विचार का विषय बनाते हैं, वे पद पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के निरूपण के लिए भी यत्नशील रहे हैं। न्यायशास्त्र के विषय क्षेत्र में भी पद पदार्थ का विवेचन इसी दृष्टिकोण के आधार पर आता है।

पद से अर्थ व्यक्त होता है और अर्थ का प्रतिपादन पद से होता है। यानी एक पर दूसरा निर्भर है। या यह भी कहा जा सकता है कि एक के अभाव में दूसरे की अवस्थिति का बोध नहीं हो सकता। या एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। तात्पर्य यह है कि पद और पदार्थ एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, किन्तु ऐसा होते हुए भी विभिन्न शास्त्रकारों में दो प्रश्नों पर मतभेद है—

(क) पद और पदार्थ के बीच जो सम्बन्ध है, उसका स्वरूप क्या है यानी उस सम्बन्ध का नाम क्या होना चाहिये।

(ख) पद और पदार्थ के बीच विद्यमान सम्बन्ध (उसका नाम चाहे जो भी हो) नित्य है या अनित्य ?

इन दोनों प्रश्नों को मिला देने पर समस्या का स्वरूप यह बन जाता है कि पद और पदार्थ के बीच यदि कोई सम्बन्ध विद्यमान है तो वह नित्य है या अनित्य ?

यों तो सभी दर्शनों में शब्द और अर्थ की चर्चा उपलब्ध होती है और व्याकरण तथा काव्यशास्त्र का भी यह एक प्रमुख विचारणीय विषय रहा है, किन्तु इस समस्या पर गहन विचार विमर्श मीमांसा, न्याय, व्याकरण तथा काव्यशास्त्र में ही हुआ है। मीमांसकों और आलंकारिकों का मत कुछ अंशों में वैयाकरणों से मिलता है। यहाँ हम अन्य शास्त्रों में उल्लिखित मतों की यथा-वसर चर्चा के साथ न्यायमत का संक्षेप में निरूपण करेंगे। इस संदर्भ में प्रवर्तित प्रमुख मतों का सार इस प्रकार है—

(1) मीमांसा मत : कुमारिल के अनुसार शब्द और अर्थ के बीच औत्सर्गिक (नैसर्गिक) सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध

नित्य है। प्रभाकर ने इसमें परम्परा का भी समावेश किया है।

(2) व्याकरणमत : शब्द और अर्थ के बीच स्वाभाविक सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध नित्य है।

(3) वैशेषिक मत : शब्द और अर्थ के बीच लिंगलिंगीभाव पर आधारित सामयिक सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध अनित्य है।

(4) सांख्य योग मत : अर्थ और शब्द में वाच्य वाचक भाव पर आधारित सांकेतिक सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध नित्य है।

(5) जैन मत : शब्द और अर्थ के बीच विद्यमान संबन्ध स्वाभाविक तथा सामयिक दोनों है और वह सम्बन्ध अनित्य है।

(6) बौद्धमत : शब्द और अर्थ के बीच कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं है। जब कोई सम्बन्ध ही नहीं तो उसकी नित्यता का प्रश्न ही नहीं उठता। शब्द का अर्थ अपोह विधि से व्यक्त होता है और अपोह कोई सम्बन्ध नहीं है।

(7) न्यायमत : शब्द और अर्थ के बीच सामयिक (सांकेतिक) सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध अनित्य है।

इन मतों की रूपरेखा और अन्य मतों के सम्बन्ध में नैयायिकों के विचार निम्नलिखित हैं—

[1] मीमांसा मत

मीमांसकों के अनुसार शब्द और अर्थ में नैसर्गिक सम्बन्ध हैं,[84] इस प्रकार मीमांसकों के अनुसार शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है तथा वाच्यवाचक भाव पर आधारित है।[85] कुमारिल के अनुसार यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष अनुमान और अर्थापत्ति इन तीनों प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है।[86] अन्य मीमांसकों द्वारा भी अनेक युक्तियों से अपने मत को पुष्ट करते हुए कहा गया है कि शब्द और अर्थ के बीच जो सम्बन्ध है, यदि कोई इसे पहली बार में ही नहीं जान सकता, तो इसका कारण सम्बन्ध का अभाव नहीं माना जा सकता। लौकिक व्यवहार से सिद्ध है कि आँख प्रकाश के अभाव में किसी वस्तु को नहीं देख सकती, किन्तु

इसका अर्थ यह नहीं कि आँख देखने के सर्वथा अयोग्य है। इसी प्रकार शब्द से शक्तिग्रह के अभाव में प्रथम बार अर्थ ज्ञात नहीं होता तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध ही नहीं है। सम्बन्ध न मानने पर 'गाय लाओ' कहने पर गाय का लाना कैसे हो सकता है ?[87] शब्द के अन्दर अभिव्यक्ति का गुण उसके अपने स्वभाव से है। शब्द तथा उनसे निर्दिष्ट पदार्थ दोनों नित्य हैं और अज्ञातकाल से मनुष्य उन्हीं पदार्थों के लिए उन्हीं शब्दों का प्रयोग करते आए हैं।

पद तथा पदार्थ के सम्बन्ध को सामयिक (संकेतात्मक) और अनित्य मानने वाले नैयायिकों तथा नैसर्गिक और नित्य मानने वाले मीमांसकों में परस्पर विवाद है। नैयायिकों ने मीमांसकों के अभिमत का खण्डन किया है।[88] तथा मीमांसकों द्वारा शब्दार्थ सम्बन्ध के अनुमान प्रमाण से सिद्ध होने की बात को भी निरस्त किया है।[89] वैसे मीमांसकों द्वारा भी उनके ऊपर लगाये गये आक्षेपों का समाधान श्लोक वार्तिक में किया गया है।[90]

वेदान्त के शब्दार्थ सम्बन्ध का सिद्धांत भी मीमांसकों के समान ही है।

[2] व्याकरण मत

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर व्याकरण शास्त्र में गहन चिन्तन किया गया है। महाभाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। पतंजलि के अनुसार लोकव्यवहार से भी यह सिद्ध होता है।[91] नित्यता की व्याख्या करते हुए कैयट कहते हैं कि अर्थ का बोध कराने की योग्यता शब्द में स्वाभाविक रूप से रहती है। शब्द का उच्चारण होते ही वह अर्थ की उपस्थिति करा देता है। अभिधेय वस्तु यदि अनित्य भी हो तो भी उससे शब्द का सम्बन्ध नित्य ही होता है, क्योंकि अर्थ को व्यक्त करने की योग्यता शब्द में रहती है और वह नित्य है।[92] व्याडि का यह विचार है कि सम्बन्ध का कोई कर्त्ता नहीं है।[93] भर्तृहरि ने भी शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य बताया है।[94] उनका यह भी कथन है कि शब्दों से तीन तत्त्वों की प्रतीति होती है— यथा गो शब्द के उच्चारण से (1) गो शब्द के स्वरूप का ज्ञान (2) बाह्यार्थ यानी गाय नामक पशु का बोध तथा (3) वक्ता के अभिप्राय का ज्ञान।[95] यदि इन तीनों में वास्तविक सम्बन्ध न माना जाय तो तीनों का साथ-साथ बोध भी नहीं हो सकता। इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए हेलाराज ने कहा है कि शब्द में अर्थबोधक शक्ति अनादि काल से है।

भर्तृहरि 'शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध है'—यह तो स्पष्ट कहते हैं, किन्तु उस सम्बन्ध का अभिधान क्या है, इस विषय में उनका यह कथन है कि 'सम्बन्ध' शब्द और अर्थ से पृथक् कोई सत्ता नहीं रखता। षष्ठी विभक्ति के अतिरिक्त उसका कोई वाचक नहीं है।[96] वैसे सामान्यतः अन्य आचार्यों का यही कहना है कि भर्तृहरि के मत के अनुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक है। अन्य वैयाकरणों ने इस सम्बन्ध के लिए वाच्य-वाचक, उपकार्य-उपकारक, तादात्म्य, योग्यता आदि अभिधानों का प्रयोग किया है किन्तु इनमें से सर्वसम्मत रूप में किसी भी शब्द का प्रचलन नहीं हुआ।

बौद्धों ने वैयाकरणों के मत पर यह आक्षेप किया है कि जब शब्द के सम्बन्ध के योग्य कोई वस्तु बाहर है ही नहीं तो शब्द का सम्बन्ध उससे कैसे हो सकता है?

नैयायिकों द्वारा वैयाकरणों के मत पर यह आक्षेप किया जाता है कि वर्तमान काल में उच्चरित शब्द का सम्बन्ध भूत या भविष्यत् की वस्तुओं से कैसे हो सकता है।

पतंजलि ने इस आक्षेप का समाधान यह कहकर किया कि शब्द त्रैकालिक सत्ता का बोध कराता है। अर्थ बुद्धिगत भी होता है और बाह्य भी। जो वस्तुएँ प्रत्यक्ष नहीं हैं, उनकी सत्ता बौद्ध है। अतः अर्थ बाह्य भी है और बौद्ध भी। पदार्थ जब तक बुद्धि द्वारा ग्रहण नहीं किया जाएगा तब तक पद का प्रयोग नहीं किया जा सकता। कैयट का यह विचार है कि बुद्धि में पदार्थ की सत्ता के अभाव में अर्थबोधन के लिए पद का उच्चारण असम्भव है।

हेलाराज का कथन है कि शब्द के द्वारा अर्थ के सामान्य रूप का बोध कराया जाता है। शब्द के साथ शब्द का स्वरूप समानाधिकरणभाव से रहता है। पतंजलि का विचार है कि शब्द वस्तु की सत्ता सामान्य का बोध कराता है। काल का सम्बन्ध वस्तु के साथ 'अस्ति' आदि क्रियाओं द्वारा जुड़ता है।

नैयायिकों द्वारा एक अन्य आपत्ति यह उठाई जाती है कि यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक या नित्य होता तो एक ही शब्द का विभिन्न भाषाओं में विभिन्न अर्थ क्यों होता?

नैयायिकों का यह विचार है कि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध तो मानना ही पड़ेगा। 'गौ' कहने से गाय नामक प्राणी का बोध होता है अतः शब्द और अर्थ में व्यवस्था है। क्योंकि उपर्युक्त कारणों से यह सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं

माना जा सकता अतः यह सामयिक या सांकेतिक है। उदयनाचार्य ने तो यहाँ तक कहा है कि ईश्वर सृष्टि के आरम्भ में अपनी माया से शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध स्थापित कर देता है।[97] वाच्य-वाचक का विनियोग ही संकेत कहलाता है। जयन्त भट्ट के अनुसार वैयाकरणों के मत का सार यह है कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का व्यवहार अनादि है जब कि नैयायिकों के मत का निष्कर्ष यह है कि यह सम्बन्ध सृष्टि के आरम्भ में सृष्टि के समान ही ईश्वर ने बनाया है। जहाँ तक आजकल के शब्दार्थ—व्यवहार का प्रश्न है, उसके लिए वृद्ध व्यवहार ही शाब्दबोध का कारण है और इस अंश में वैयाकरणों से नैयायिकों का कोई मत-भेद नहीं है।

[3] वैशेषिक मत

वैशेषिक दर्शन में शब्द को पृथक् प्रमाण नहीं माना गया है। उनके मतानुसार शब्द से अर्थ का अनुमान होने के कारण इन दोनों यानी शब्द और अर्थ में अनुमान की तरह लिंग लिंगी जैसा सम्बन्ध है। परन्तु यह ज्ञातव्य है कि न्यायसूत्रकार के कथन की व्याख्या करते हुए वात्स्यायन ने कहा है कि पद तथा पदार्थ में अग्नि और धूम की तरह व्याप्ति सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् पद तथा पदार्थ का सम्बन्ध वास्तविक नहीं है। यदि ऐसा होता है तो अन्न, अग्नि अथवा तलवार शब्द के उच्चारण से मुख अन्न से भर जाना चाहिए, अग्नि से जल जाना अथवा असि से कट जाना चाहिए परन्तु ऐसा होता नहीं है। इसलिए शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है।[98]

व्याप्ति रूप सम्बन्ध की न केवल न्यायसूत्रकार गौतम ने ही अपितु उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, जयन्त भट्ट तथा गंगेशादि ने भी आलोचना की है। इसके अतिरिक्त मीमांसक भाष्यकार शबरस्वामी[99] ने तथा जैन आचार्य प्रभाचन्द्र ने भी शब्द तथा अर्थ में अविनाभाव सम्बन्ध का खंडन किया है।[100] यदि इसे मान भी लिया जाए तो एक शब्द से एक ही अर्थ का बोध होगा, विभिन्न अर्थों का नहीं। एक शब्द के विभिन्न देशों में अथवा भाषाओं में विभिन्न अर्थ वस्तुतः देखे जाते हैं। इसलिए पद और पदार्थ का न केवल स्वाभाविक व नित्य सम्बन्ध ही अपितु अविनाभाव सम्बन्ध मानना भी दोषपूर्ण ही है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पद और पदार्थ में न तो संयोग सम्बन्ध ही है न ही समवाय सम्बन्ध और न व्याप्ति सम्बन्ध ही तो फिर इन दोनों में कैसा सम्बन्ध है? इसके असम्बद्ध होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि

ऐसा मानने पर तो शाब्दबोधात्मक सारा कार्यव्यापार ही समाप्त हो जायेगा। इस प्रश्न का समाधान महर्षि गौतम ने **"शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेध"** इस सूत्र से किया है।[101] इसकी व्याख्या करते हुए वात्स्यायन कहते हैं कि शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है—ऐसा देखा जाता है। इससे यह सिद्ध होता कि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध है। अन्यथा यह व्यवस्था कैसे हो सकती थी? तात्पर्य यह है कि इसी व्यवस्था के कारण घट से कम्बुग्रीवादिविशिष्ट तथा पट से शरीराच्छादन योग्य चतुष्कोणादिविशिष्ट अंचलादि पदार्थ का बोध होता है, अन्य का नहीं। अतः संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे सभी व्यवस्थित दिखाई देते हैं। किसी विशेष पद से ही किसी विशेष पदार्थ का ज्ञान होता है न कि सभी पदों से सब पदार्थों का। यह सब व्यवस्था के कारण ही है। व्यवस्था न होने पर घट शब्द से पट और पट शब्द से घट रूप का भान हो सकता है।[102] अतएव सम्बन्ध का निषेध नहीं किया जा सकता तथा शब्द और अर्थ दोनों में कोई सम्बन्ध मानना आवश्यक है। इसी कारण 'गौतम' द्वारा शब्द और अर्थ का सम्बन्ध 'सामयिक' या 'सांकेतिक' बताया गया है।[103] अर्थात् शब्द से अर्थ की प्रतीति सामयिक सम्बन्ध द्वारा ही होती है। वैसे शब्द को अनुमान में अन्तर्भूत मानते हुए भी और शब्दार्थ को असम्बद्ध मानते हुए भी 'कणाद' ने भी 'पद-पदार्थ के सम्बन्ध को सामयिक ही स्वीकार किया है और यही कारण है कि आंशिक भिन्नता होने पर भी वैशेषिकों का मत नैयायिकों के मत से मिलता है।[104]

[4] सांख्य योग मत

सांख्यसूत्रकार ने शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक सम्बन्ध माना है। शब्द वाचक है और अर्थ वाच्य।[105] योग सूत्रकार ने शब्द, अर्थ और ज्ञान में विभेद को जानने की उपयोगिता का उल्लेख करते हुए लिखा हैं कि 'गौ' शब्द कहने से गौ शब्द का, गौ रूप अर्थ का और गौरूप ज्ञान का एक साथ एक में मिला हुआ सा आभास होता है।[106] यह आभास सम्बन्ध-सापेक्ष है। जब शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर विचार किया जाता है तब अर्थ से अभिप्राय वस्तु में न होकर अर्थ के शब्दमय रूप से होता है। शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध माना गया है।

इसके अतिरिक्त शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है। अपने मत को सिद्ध करते हुए व्यास, वाचस्पति आदि व्याख्याकारों ने नैयायिकों के अनित्यवाद का खण्डन करते हुए कहा है कि—सभी शब्द सभी अर्थों का अभियान करने में समर्थ हैं—ऐसा निश्चित होने से निखिल शब्दों का निखिल अर्थों के साथ स्वाभाविक

सम्बन्ध माना जाता है। ईश्वर संकेत शब्दार्थ सम्बन्ध का प्रकाशन एवं नियामक मात्र होता है।[107] पिता-पुत्र का मध्यवर्ती पितृत्व-पुत्रत्व-सम्बन्ध नित्य है। दोनों व्यक्तियों को अपने सम्बन्ध का बोध रहता है—'ये मेरे पिता हैं, मैं इनका पुत्र हूँ' तथा मैं इसका पिता हूँ, यह मेरा पुत्र है।' लेकिन दूसरे व्यक्ति को इस सम्बन्ध का ज्ञान शब्द अथवा पद प्रयोग द्वारा ही कराया जाता है। इस प्रकार के शब्द प्रयोग से सम्बन्ध की उत्पत्ति नहीं, अपितु अभिव्यक्ति होती है। अतः शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य संकेतद्योत्य है। इसी प्रकार वाचस्पति मिश्र आदि ने शब्दार्थ सम्बन्ध काल नित्य बताते हुए कहा कि पूर्व सर्ग में जो शब्द जिस अर्थ का अभिधायक था, वर्तमान काल में वह उसी अर्थ का वाचक होता है।[108] शब्दार्थ सम्बन्ध में परिवर्तन नहीं आता। वर्षाकाल में आविर्भूत हुए मेंढक वर्षा के व्यतीत हो जाने पर मृद्भाव को प्राप्त हो जाते हैं कि आगामी वर्षा ऋतु में उनका पुनरुद्भव देखा जाता है। इसी प्रकार सांख्ययोग के अनुसार शब्दार्थ सम्बन्ध भी नित्य ही है। नैयायिक सम्बन्ध की नित्यता को स्वीकार नहीं करते।

[5] जैनमत

जैन आचार्यों के अनुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक और समय (संकेत) रूप है।[109] नैयायिक स्वाभाविक शक्ति को नहीं मानते। वे संकेत को ही अर्थ-ज्ञान का हेतु मानते हैं। जैन दर्शन में इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि यदि पद में अर्थ बोधक शक्ति नहीं होती तो इससे संकेत भी नहीं किया जा सकता। संकेत महत्त्वपूर्ण है और संकेत का आधार है शब्द की सहज अर्थ-प्रकाशन की शक्ति।

इस प्रकार आचार्य प्रभाचन्द्र[110] शब्द और अर्थ में स्वाभाविक योग्यता रूपी सम्बन्ध मानते हैं। दोनों में प्रतिपाद्य प्रतिपादक (वाच्य-वाचक) शक्ति है। परीक्षा मुख सूत्र में भी यह कहा गया है कि शब्द और अर्थ में योग्यता सम्बन्ध होने पर ही संकेत होता है। संकेत से ही शब्द वस्तु के ज्ञान के साधन होते हैं।

शब्द और अर्थ के बीच वाच्य-वाचकता सम्बन्ध है। परन्तु वाच्य से वाचक न सर्वथा भिन्न है, और न सर्वथा अभिन्न। सर्वथा भेद होता तो शब्द के द्वारा अर्थ का ज्ञान ही नहीं हो सकता। वाच्य की अपनी सत्ता के ज्ञापन के लिए वाचक चाहिए और वाचक को अपनी सार्थकता के लिए वाच्य चाहिए। इन दानों में परस्पर कुछ तादात्म्य है, किन्तु सर्वथा तादास्त्य (अभेद) इसलिए नहीं

है कि वाच्य की क्रिया वाचक की क्रिया से भिन्न है। वाच्य-वाचक की प्रतीति तर्क द्वारा होती है।[111] तर्क का रूप इस प्रकार बनता है कि "वस्तु के प्रति जो शब्दानुसारी प्रवृत्ति होती है, वह वाच्य-वाचक भाव वाली होती है।" जहाँ-जहाँ वाच्य-वाचक भाव नहीं होता, वहाँ-वहाँ शब्द के अनुसार अर्थ के प्रति प्रवृत्ति भी नहीं होती।

परन्तु जैन आचार्यों के अनुसार शब्दार्थ सम्बन्ध स्वाभाविक होते हुए भी नित्य नहीं हैं।[112] शब्द और अर्थ में जैनाचार्यों ने संयोग समवाय आदि सम्बन्धों को स्वीकार नहीं किया है। इस प्रकार इनका मत व्याकरण और न्याय मत के सम्मिश्रण पर आधारित है।

(6) बौद्धमत

योगाचार बौद्ध बाह्य वस्तु की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। इसलिए उनका कहना है कि जब शब्द के सम्बन्ध के योग्य कोई बाह्य वस्तु है ही नहीं, तो सम्बन्ध किसके साथ होगा ? संभवतः इसी आधार पर बौद्धों ने वाच्य-वाचक सम्बन्ध को भी नहीं माना है। अर्थ की सत्ता मानने वाले सौत्रान्तिक और वैभाषिक सम्प्रदाय में आचार्यों ने 'स्वलक्षण' और 'सामान्य लक्षण' ये दो अर्थ माने हैं। इनमें से स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है और सामान्य लक्षण अनुमान का। इनमें से सामान्य लक्षण, अर्थात् शब्द का वाच्य अर्थ है, वह अपोहात्मक या अन्यापोह है। इस वाद के अनुसार शब्द वक्ता के अभिप्राय का सूचक है। क्योंकि घट शब्द ऐसी कोई स्वाभाविक योग्यता नहीं है जिससे वह जलधारण समर्थ घट रूप अर्थ को बताये। वक्ता की इच्छानुसार अश्व में घट शब्द का संकेत करके अश्व को भी घट कहा जा सकता है। अतः सार रूप में कहा जा सकता है कि बौद्धों के मतानुसार शब्द और अर्थ के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है।

(7) न्यायमत

गौतम ने शब्द और अर्थ के बीच विद्यमान सम्बन्ध को सामयिक कहा है। वात्स्यायन का विचार है कि लोक में शब्दार्थ व्यवस्था किसी अन्य सम्बन्ध के आधार पर नहीं अपितु सामयिक है।[113] भाष्यकार ने यह भी कहा है कि अभिधानाभिधेय (वाच्यवाचक) का जो नियम या निश्चय है उसी का नाम संकेत या समय है।[114] समय का अर्थ है—'इस शब्द से इस अर्थ को समझना' अथवा 'अमुक शब्द अमुक अर्थ का बोधन करे'—इस प्रकार की इच्छा, इस नियम पर आधारित

सम्बन्ध को सामयिक सम्बन्ध कहा जाता है। इसी को शक्ति सम्बन्ध या अभिधा सम्बन्ध भी कहा जाता है जो ईश्वर इच्छा और (नव्यनैयायिकों के अनुसार) पुरुष इच्छा का परिणाम है। भाष्यकार और वार्तिककार ने समय के ईश्वरकृत होने का उल्लेख नहीं किया है। उनके अनुसार समय गुरु शिष्य परम्परा से प्रवाहित होने वाला है जो कि मौखिक शिक्षा द्वारा ही सम्भव है।[115] तात्पर्यकाकार (वाचस्पति मिश्र) समय को ईश्वरकृत मानते हैं। उनके अनुसार सृष्टि के आदि में ऐसे महर्षियों तथा देवताओं ने जिनमें परमेश्वर के अनुग्रह से उत्कृष्ट धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य उत्पन्न हो गया था—ईश्वर के संकेत को सर्वप्रथम समझा और तदनुसार लोगों को संकेतात्मक समय का उपदेश किया।[116] जयन्त भट्ट ने भी इसी प्रकार पद और पदार्थ के समय (संकेत) को वाच्य-वाचक नियम का निर्धारक माना है। इस प्रकार सामयिक सम्बन्ध के ज्ञान से, शब्द श्रवण करने के उपरान्त, अर्थ बोध होना है और जिस व्यक्ति को संकेत का ज्ञान नहीं है, उसे शब्द श्रवण होने पर भी अर्थ का बोध नहीं होता। यह संकेत ज्ञान लौकिक पुरुषों को व्याकरण शास्त्र द्वारा या वृद्धव्यवहार द्वारा होता है। अत: स्पष्ट है कि शब्द अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं अपितु इच्छा-प्रसूत होने के कारण देशकालानुसार सामयिक सम्बन्ध है। 'विश्वनाथ पंचानन' ने पद तथा पदार्थ के सम्बन्ध को वृत्ति रूप कहा है।[117] अर्थात् घटादि पद का घटादिपदार्थ से जो सम्बन्ध है वह वृत्ति रूप है इसे ही शक्तिपद से अभिहित किया जाता है।[118] प्रसिद्ध नैयायिक गंगेश ने तत्त्वचिन्तामणि में कहा कि शक्ति शब्द और अर्थ (वस्तु) का वह सम्बन्ध है जिससे अर्थ का ज्ञान होता है।[119]

इस प्रकार नैयायिकों ने पद तथा पदार्थ में वाच्य वाचक रूप संकेत सम्बन्ध को स्वीकार किया है तथा वैयाकरणों व मीमांसकों के मत (शब्द-अर्थ के नित्य सम्बन्ध) का खण्डन किया है। नैयायिकों के मत में पद-पदार्थ का सम्बन्ध-अनित्य है। यदि नित्य सम्बन्ध मान लिया जाये तो संकेत द्वारा सम्बन्ध का अभिव्यक्त होना युक्त नहीं माना जा सकता।

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि नैयायिकों ने पद तथा पदार्थ का सम्बन्ध सामयिक तथा अनित्य बताया है। जबकि मीमांसकों ने पद-पदार्थ सम्बन्ध को नैसर्गिक तथा नित्य माना है। सांख्य योग में शब्दार्थ सम्बन्ध को संकेतात्मक तो माना गया है परन्तु उसको अनित्य न मानकर नित्य कहा गया है। वैयाकरणों ने शब्दार्थ सम्बन्ध को स्वाभाविक माना है। इसी को वे तादात्म्य सम्बन्ध भी कहते हैं।

वैयाकरणों तथा मीमांसकों का मत विशुद्ध शास्त्रीय है, इसमें लोकानुभव का पूरा ध्यान नहीं रखा गया है। जबकि नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य-योग द्वारा प्रवर्तित मत लोकानुभव और मनोवैज्ञानिक तथ्य पर आधारित प्रतीत होते हैं। अतः वे केवल शास्त्रीय न होने से अधिक हृदयंगम हैं। इसीलिए अन्य मतों की अपेक्षा न्यायमत अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है।

आधुनिक भाषाविदों में से अधिकतर सांकेतिक सम्बन्ध को मानने के पक्ष में हैं। इनमें हर्मन पाउल, सईस, आग्डेन और रिचर्ड्स आदि हैं। आग्डेन और रिचर्ड्स शब्द को अर्थ का प्रतीक मानते हैं। उनके मतानुसार शब्द और वस्तु का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। यह सम्बन्ध असाक्षात् है। क्योंकि कोई किसी अर्थ के बोध के लिये इनका प्रयोग करता है। तात्पर्य यही है कि शब्द और वस्तु का सम्बन्ध सांकेतिक है, स्वाभाविक नहीं। इस प्रकार आधुनिक भाषाविदों ने भी संकेतात्मक सम्बन्ध को ही उपयुक्त माना है।[120]

जहाँ तक 'सम्बन्ध' शब्द के स्वरूप का प्रश्न है इस सम्बन्ध में नैयायिकों द्वारा यह कहा गया था कि संबंध दो ही प्रकार के हो सकते हैं—संयोग और समवाय। इनके अतिरिक्त सम्बन्ध नहीं होते; किन्तु इस कथन को पतंजलि तथा कुमारिल भट्ट ने बिल्कुल निराधार बताया है। पतंजलि का कथन है कि सम्बन्ध एक सौ एक (यानी असंख्य) प्रकार का होता है।[121] संसार में सम्बन्धों की संख्या अपरिमित है—जैसे, स्व-स्वाभिभाव, योनि सम्बन्ध (पितापुत्र, मातापुत्रादि) गुरु शिष्यसम्बन्धादि। कुमारिलभट्ट ने सम्बन्धाक्षेपवाद में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की समानता पिता-पुत्र के बीच विद्यमान सम्बन्ध से की है। भर्तृहरि ने इसी प्रकार शब्दार्थ सम्बन्ध की उपमा माता और पुत्र के मध्य विद्यमान सम्बन्ध से दी है। इस प्रकार संयोग, समवाय सम्बन्ध के न रहने पर भी पिता-पुत्र के मध्य विद्यमान सम्बन्ध का निषेध नहीं किया जा सकता। निष्कर्ष-रूप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि दार्शनिकों में शब्दार्थ सम्बन्ध अथवा पद-पदार्थ सम्बन्ध के बारे में मतभेद है, किन्तु चार्वाक तथा बौद्ध दर्शन को छोड़कर प्रायः सभी ने इनमें किसी-न-किसी सम्बन्ध को स्वीकार किया है और कुल मिलाकर नैयायिकों का यह मत ही सर्वाधिक ग्राह्य प्रतीत होता है कि शब्द और अर्थ में सामयिक सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध अनित्य है।

(ग) पद (शब्द) के संकेतिक अर्थ (शक्ति] का स्वरूप

पद के स्वरूप तवा पद और पदार्थ के बीच विद्यमान सम्बन्ध के साथ ही इस विषय पर भी शास्त्रकारों का मतभेद रहा है कि अर्थ का स्वरूप क्या है।

अर्थात् पद का संकेतितार्थ क्या है ? अथवा पद की शक्ति कहाँ रहती है ? इस संदर्भ में प्रचलित विभिन्न मतों का सार इस प्रकार है :—

[1] व्यक्तिवाद

सांख्याचार्यों का विचार है कि पद का अभिप्रेत अर्थ होता है—विशिष्ट व्यक्ति । उदाहरणतया जब कोई कहता है कि गाय लाओ तो इससे 'गाय' व्यक्ति का ही ज्ञान होता है । 'गाय' शब्द से जाति को अभिप्रेत मानने पर भी जाति के अन्तर्गत व्यक्ति की सत्ता माननी होगी अन्यथा व्यक्ति का बोध ही कैसे हो सकता है ? लिंग, वचन और कारण आदि भी व्यक्ति की ही विशेषता बताते हैं । सूर्य, चन्द्र आदि कई ऐसे पदार्थ भी हैं, जिनकी जाति नहीं होती अतः शब्द का संकेतितार्थ व्यक्ति है ।

व्यक्तिवाद के विरुद्ध मुख्य आक्षेप यह है कि अनन्त व्यक्तियों के लिए अनन्त शब्दों की कल्पना करनी पड़ेगी ।

[2] आकृतिवाद

जैन आचार्यों का यह मत है कि शब्द का संकेतितार्थ आकृति है । उदाहरण के रूप में गौ शब्द को सुनने पर किसी विशेष गाय का नहीं, अपितु गाय की आकृति का ज्ञान होता है ।

ओल्डन और रिचर्ड का भी यह मत है कि शब्द का उच्चारण होने पर तत्काल ही जो बोध होता है, वह वाच्य वस्तु का नहीं, अपितु वाच्यवस्तु की आकृति का होता है ।

आकृतिवाद के विरुद्ध ये आपत्तियाँ की जाती हैं कि वस्तुओं की आकृति देश काल के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं । आकार एक-सा होने पर भी कई बार पदार्थ एक जैसा नहीं होता । कई बार आकार कुछ भिन्न होने पर भी पदार्थ एक जैसा होता है । इसके अतिरिक्त आकृति को एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं ले जाया जा सकता ।

[3] जातिवाद

कुमारिल ने शब्द का संकेतितार्थ जाति माना है । उदाहरणतया जब किसी व्यक्ति को एक बार गाय का बोध करवा दिया जाता है तो दुबारा वह वैसे ही पशु को देख कर समझ जाता है कि वह गाय है । कुमारिल के अनुसार जाति के द्वारा व्यक्ति का ग्रहण भी आक्षेप (अनुमान) की पद्धति से अविनाभाव सम्बन्ध

के कारण हो जाता है। प्रभाकर मतानुयायी मीमांसकों के मतानुसार जाति-बोधक सामग्री से ही व्यक्ति का बोध भी हो जाता है। मण्डन मिश्र का कथन है कि जाति का बोध शक्ति से और व्यक्ति का बोध लक्षणा से होता है।

जातिवाद पर यह आपत्ति की जाती है कि लिंग और वचन की संगति व्यक्ति के साथ बैठती है। क्रियाओं का स्वाभाविक सम्बन्ध भी द्रव्य के साथ रहता है।

मीमांसकों का विचार है कि केवल व्यक्ति में संकेत मानना उचित नहीं है। व्यक्ति को ही शब्दार्थ माना जाए तो इस प्रकार से तो अनन्त व्यक्तियों के लिए अनन्त शब्दों की कल्पना करनी पड़ेगी। अतः जाति में ही शक्ति मानी जानी चाहिये। जाति व्यक्ति के बिना रह नहीं सकती, इसलिए वाक्यार्थ-बोध के लिए व्यक्ति का आक्षेप कर लिया जाता है।[122] जाति एक और नित्य है इसके मानने पर अनेक जातियों की कल्पना भी नहीं करनी पड़ती। अद्वैतवादी वेदान्तियों का भी यही विचार है।[123] जाति में जाति की कल्पना करके जातिवाद को त्रुटिपूर्ण बताना अनुचित है क्योंकि सामान्य अथवा जाति की जाति मानना उचित नहीं है।

[4] अपोहवाद

बौद्ध दार्शनिकों ने मीमांसक सम्मत नित्य जाति नामक पदार्थ को नहीं माना है। सर्वेक्षणिकत्वं के सिद्धांत को मानने वाले बौद्धों ने 'गाय' पद से सारी गौओं के ज्ञान के लिए भावात्मक सामान्य को न मानकर अपोहात्मक एक अनुगत सामान्य माना है। अपोह का तात्पर्य है—'अतद्व्यावृत्ति अर्थात् तद्-भिन्नभेद, इस अपोह से अन्य की व्यावृति करके ही अर्थज्ञान होता है। जैसे गाय शब्द से गाय पशु का ज्ञान अगो (जो गाय नहीं है—अश्वादि) के निषेध से होता है। अतः बौद्धों के मत में शब्दों का अर्थ अपोहात्मक अथवा निषेधात्मक है। बौद्धों द्वारा प्रतिपादित अपोहवाद एक विशिष्ट निजी कल्पना है तथा अन्य दार्शनिकों ने इसका खण्डन किया है।

[5] जात्याकृतिव्यक्तिवाद

नैयायिकों के अनुसार पद से व्यक्ति, आकृति एवं 'जाति' तीनों संकेतित होते है।[124] जैसे गो शब्द का उच्चारण होने पर श्रोता को एक गाय 'गोत्व' विशेष आकार और गवाकृति का बोध होता है। अतः वह जाति, वह आकार तथा वह व्यक्ति जिनका बोध शब्द के श्रवण से संयुक्त रूप से सम्पन्न होता है,

गो शब्द का अर्थ है। उन सभी अर्थों में गो शब्द की शक्ति है। प्राचीन नैयायिकों ने 'आकृति' शब्द के प्रसिद्ध अर्थ आकार—अवयवों के संस्थान को ही सूत्रस्थ आकृति शब्द से ग्रहण किया था, किन्तु अर्वाचीन विद्वान आकृति शब्द से जाति और व्यक्ति के सम्बन्ध को ग्रहण करते हैं। इस प्रकार जाति, आकार और व्यक्ति शब्दार्थ हैं—यह प्राचीन आचार्यों का मत है। तथा जाति, व्यक्ति और उन दोनों का समवाय सम्बन्ध शब्दार्थ है, यह नवीन मत है।

अतएव प्राचीन नैयायिकों के अनुसार केवल व्यक्ति और आकृति के साथ जाति का बोध भी होता है। शब्द का अभिप्राय इन तीनों से ही है, किसी एक से नहीं। ये तीनों ही संयुक्त रूप से शब्द के अर्थ के सहायक हैं। वाचस्पति मिश्र तथा गदाधर भट्ट ने भी तीनों में शक्ति मानी है।

प्रसंग के अनुसार तीनों में से एक प्रधान हो जाता है और शेष दो गौण हो जाते हैं।[125] जहाँ क्रिया अथवा भेद की विवक्षा होती है, वहाँ पद का प्रधान अर्थ 'व्यक्ति' होता है, और आकृति एवं जाति अर्थ गौण होते हैं। 'गाय खड़ी है', इस उदाहरण में 'गाय' पद का अर्थ आकृति या जाति लेना उचित नहीं, क्योंकि आकृति और जाति में उठने-बैठने की क्रिया नहीं हो सकती। अतएव यहाँ 'गाय' पद का अर्थ व्यक्ति ही होगा।[126] किन्तु जहाँ पर भिन्न रूप में विवक्षा न होकर सामान्य की विवक्षा हो, वहाँ पद का अर्थ जाति होगा, जैसे 'गाय' को पैर से नहीं छूना चाहिए। यहाँ गाय पद का प्रयोग किसी विशेष गाय के लिए ही न होकर सामान्य के लिए ही हुआ है। जहाँ आकृति की प्रधानता जान पड़ती हो, वहाँ पद का अर्थ आकृति लिया जायेगा, जैसे 'आटे की गाय बनाओ' यहाँ गाय पद आकृतिपरक होगा। इसी प्रकार अश्वादि शब्दों में कहीं जाति, कहीं व्यक्ति और कहीं आकार ही मुख्य रहता है, अन्य गौण। हाँ, जाति और व्यक्ति में कौन सा मुख्य है और कौनसा गौण इसका निर्णय वक्ता की इच्छा पर निर्भर है।

पश्चात्वर्ती नैयायिकों में मुख्य रूप से जगदीश ने शब्द के अर्थ को जाति-विशिष्ट व्यक्ति कहा है। इस सिद्धान्त के अनुसार पद का संकेत न तो केवल व्यक्ति विशेष में है और न ही केवल सामान्य (जाति) में ही, अपितु पद का अर्थ जाति से विशिष्ट व्यक्ति है। अर्थात् जाति से ही व्यक्ति विशेष का अर्थ ज्ञात हो जाता है। इस प्रकार नव्यन्याय के आचार्यों ने जातिविशिष्ट व्यक्तिवाद को माना है। तथा केवल व्यक्ति को ही शब्दार्थ मानने वालों का खण्डनआनन्त्य

नामक दोष के आधार पर किया है। तात्पर्य यह है कि गौ में निहित गोत्व जाति का ज्ञान होने से सम्बन्धित 'गौ' व्यक्ति का भी ज्ञान हो जाता है।

वस्तुत: वैयाकरणों में शब्द के अर्थ के विषय में विभिन्नता है। कोई आचार्य जाति को पदार्थ मानता है और कोई व्यक्ति को। परन्तु पतंजलि संभवत: नैयायिकों के समान जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा इन सबको पदार्थ मानते हैं। 'यदृच्छा' का तात्पर्य कैयट तथा नागेश के अनुसार यह है कि वक्ता अपनी ही इच्छा से किसी शब्द को जिस अर्थ में प्रयुक्त करता है, वह प्रवृत्तिनिमित्तत्व पर नहीं, अपितु केवल प्रयोक्ता के अभिप्राय पर ही निर्भर रहता है। इस प्रकार के शब्दों को ऐच्छिक शब्द समझना चाहिए। जैसे एक व्यक्ति ने एक वस्तु का नाम 'डित्थ' रख दिया, दूसरे ने श्याम रख दिया। ये शब्द व्यक्ति विशेष के बोधक हैं। भट्टोजिदीक्षित तथा कौण्डभट्ट ने प्राचीन मतों का उल्लेख करते हुए शब्द के पाँच अर्थ बताए हैं—(1) स्वार्थ, (2) द्रव्य, (3) लिंग, (4) संख्या एवं (5) कारक। ये पाँच ही पदार्थ हैं—ऐसा कहा है।[127] व्याकरण दर्शन में इनका बहुत विस्तार से वर्णन मिलता है। यदि दार्शनिक परम्परा के अनुसार प्रत्येक आचार्य के सिद्धान्त का आलोचनात्मक दृष्टि से विश्लेषण किया जाए तो निश्चय ही इसका अपना पृथक् स्थान होगा। इसलिये संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि पतंजलि ने जाति और व्यक्तिवादियों में जो जो विवाद हैं, उसका बहुत ही सुन्दर निरूपण किया। वे कहते हैं कि कि दोनों के मत में दोनों ही पदार्थ हैं। दोनों की मान्यता में केवल अन्तर इतना ही है कि कोई एक को मुख्य समझता है और कोई दूसरे को। 'जाति को पदार्थ मानने वाले जाति को ही मुख्य मानते हैं और द्रव्य (व्यक्ति) को गौण। व्यक्तिवादी व्यक्ति को प्रधान मानते हैं और जाति को गौण।[128]

आचार्य भर्तृहरि ने विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रतिपादित शब्दार्थ विचारों का समाहार करते हुए अन्त में अपना यह मत प्रस्तुत किया कि शब्दार्थ कभी स्थिर नहीं होता है।

साहित्यशास्त्रकारों ने भी यद्यपि जाति आदि चारों में शक्ति मानी है।[129] किन्तु वे 'चार पदार्थों में शक्ति है' यह न कहकर उनकी उपाधियों में शक्ति मानते हैं। अर्थात् जाति आदि, पदार्थों के जो धर्मविशेष हैं, इन्हीं में शब्दों की शक्ति का ज्ञान होता है व्यक्ति में नहीं। क्योंकि उनका तर्क यह है कि व्यक्ति अनन्त हैं और प्रत्येक व्यक्ति में संकेतग्रहण संभव नहीं, कुछ ही व्यक्तियों में यदि संकेत ग्रह माना जाए तो अन्य व्यक्तियों का पद से ज्ञान संभव न हो सकेगा।

और जाति को ले जाना असंभव मानकर कार्य में प्रवृत्ति न होगी, होने पर भी गौ जाति का ले जाना या लाना संभव न होगा। इसलिए वे जाति तथा व्यक्ति दोनों के स्थान पर उपाधि में संकेत स्वीकार करते हैं।[130]

(घ) शब्द नित्य है या अनित्य ?

'शब्द का विश्लेषण अनेक प्रकार से किया गया गया है। शब्द नित्य है या अनित्य ? इस सम्बन्ध में भी आचार्यों का ऐकमत्य नहीं है। अक्षपाद गौतम ने इस विषय पर जैमिनि के मत का विस्तार से उल्लेख और खण्डन किया है। वैसे तो इस विषय पर प्रमुख वाद विवाद मीमांसकों और नैयायिकों के मध्य ही रहा किन्तु वैयाकरणों और अन्य दार्शनिकों ने भी इस विषय पर पर्याप्त विचार-विमर्श किया। संक्षेप में मीमांसकों का यह मत है कि शब्द नित्य है जबकि नैयायिक उसे अनित्य मानते हैं। यहाँ हम पहले नैयायिकों के मत का उल्लेख करके तत्पश्चात् मीमांसकों के मत की समीक्षा करेंगे।

[1] न्याय वैशेषिक मत

न्याय के अनुसार शब्द आकाश का गुण है और यह अनित्य है। गौतम का कथन है कि शब्द का उत्पादन और विनाश होता है, अतः शब्द अनित्य है। आचार्य वात्स्यायन उद्योतकर तथा जयन्त भट्ट ने अनेक युक्तियों के आधार पर शब्द की अनित्यता का समर्थन किया है। नैयायिकों का विचार है कि कंठ, तालु आदि अवयवों के संस्पर्श या आघात से शब्द उत्पन्न होता है। प्रथम क्षण में उत्पन्न शब्द द्वितीय को, द्वितीय तृतीय को उत्पन्न करता रहता है वैसे ही जैसे कि जल की एक लहर दूसरी लहर को उत्पन्न और नष्ट करती हैं। इसके अतिरिक्त यदि शब्द नित्य होता तो पहली बार सुनने पर ही उससे अर्थ का बोध होता। वह विनाशी है अतः उत्पन्न होने से पूर्व व उच्चारण के बाद उसकी उपलब्धि नहीं होती। उच्चारण के लिये प्रयत्न करने पर वह उत्पन्न होता है। लोक का 'शब्द करो' 'शब्द मत करो' आदि व्यवहार भी शब्द की उत्पादकता को सिद्ध करता है। नित्य वस्तु घटती बढ़ती नहीं, परन्तु शब्द तो बहुत से व्यक्तियों द्वारा उच्चारण करने से बढ़ता है और उसको सुनने पर ऐसा प्रतीत होता है कि शब्द में वृद्धि हुई है। यह अवयव सत्ता नित्यत्व के बिल्कुल विरुद्ध है। विश्वनाथ पंचानन ने भी शब्द की अनित्यता का समर्थन किया है।[131] नैयायिकों के समान वैशेषिक भी शब्द को आकाश का गुण तथा अनित्य मानते हैं। इनके अनुसार श्रोत्र से जिसका ग्रहण किया जाये वह शब्द है इसलिये श्रावण ही शब्द है ऐसा कहा

जाता है ।[132] शब्द की उत्पत्ति संयोग, विभाग और शब्दज इन तीन कारणों से बताई गई है ।[133] शंकर मिश्र ने इसकी सुस्पष्ट व्याखया की है ।[134] शब्द की अनित्यता के विषय में आचार्य कणाद ने कहा कि उत्पत्तिवचन होने से यह अनित्य है । जो नित्य है उसकी उत्पत्ति नहीं होती । जैसे आकाशादि विभु द्रव्य । शब्द तो कण्ठ तालु के अभिघात से आविर्भूत होते हैं इसी से उनका अनित्यत्व कहा जाता है ।

[2] सांख्य-योगमत

सांख्यों के अनुसार शब्द, गंध आदि के साथ सन्निविष्ट रहता है । इसकी अभिव्यक्ति भी गंध आदि की भाँति इन्द्रियदेश तक जाकर होती है । इसकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि पहले से ही शब्द विद्यमान रहता हैं। अत: सांख्यों के मतानुसार शब्द को अनित्य नहीं कहा जा सकता । इनके मतानुसार भूतों के परस्पर आघात से शब्द की अभिव्यक्ति होती है उत्पत्ति नहीं। योग का मत भी सांख्य के सदृश है। नैयायिक इनके मत को स्वीकार नहीं करते। मीमांसकों का विचार नैयायिकों से बिल्कुल भिन्न है । मीमांसकों के मतानुसार वर्णात्मक व ध्वन्यात्मक रूप से शब्द दो प्रकार का है । वर्णात्मक शब्द विभु तथा नित्य है। वह किसी का गुण नहीं है। क्योंकि गुण की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। गुण सदा ही किसी (द्रव्य) के आश्रित रहता है, लेकिन ध्वन्यात्मक शब्द निश्चित रूप से गुण व अनित्य हैं। संयोग, विभाग आदि नाद शब्द की अभिव्यक्ति के साधन हैं। शब्द अभिव्यक्त होता है, उत्पन्न नहीं । जिस वस्तु की सत्ता होती है, उसे ही अभिव्यक्त या प्रकट किया जाता है । नैयायिकों का विचार है कि मनुष्य के प्रयत्न से उद्भूत शब्दों की उत्पत्ति से पूर्व कोई सत्ता नहीं है ।

[3] मीमांसा वेदान्त मत

मीमांसक कहते हैं कि शब्द सुनने से पहले या बाद में शब्द की जो अनुपलब्धि है, वह उसकी अनित्यता का कारण नहीं है । वह तो सदा विद्यमान रहता है । वायु कंठ के संयोग विभाग तो उसके व्यंजकमात्र हैं । एक ही समय में अनेक देशों में नित्य की उपलब्धि नहीं होती । नैयायिकों का यह कथन भी मीमांसकों की दृष्टि में भ्रांति है; जैसे कि सूर्य एक होता हुआ भी भिन्न-भिन्न देशों से देखा जाता है । और उससे सूर्य का नानात्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार बहुत से व्यक्तियों द्वारा उच्चारण करने पर शब्द के अवयवों में जो वृद्धि होती है वह वृद्धि अवयवों की नहीं, अपितु नाद की है । शब्द का

उच्चारण दूसरे को अर्थज्ञान कराने के लिये होता है, जो शब्द के नित्यत्व में ही सम्भव है। अत: यह कहा जा सकता है कि एक ही शब्द एक ही समय में विभिन्न स्थानों में उच्चरित किया जा सकता है। इस प्रकार मीमांसक कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर ने नैयायिक सम्मत सिद्धान्त का खण्डन कर शब्द की नित्यता का प्रतिपादन किया। आचार्य धर्मराजध्वरीन्द्र आदि के विचार भी बहुत कुछ मीमांसकों के ही सदृश हैं।

[4] जैनमत

जैन आचार्यों के अनुसार शब्द पौद्गलिक (परमाणु रूप) है। शब्द पुद्गल द्रव्य का विकार है, आकाश का गुण नहीं।[135] अणु वाक्तत्व में बदलता है।[136] शब्द परमाणु श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य होकर शब्द रूप में परिणत हो जाते हैं।[137] इस सिद्धान्त को बौद्धदर्शन भी मानता है। आचार्य भर्तृहरि के अनुसार भी अणु शब्द रूप में परिणत हो जाते हैं। नियत रूप से उत्पाद्य होने के कारण शब्द अनित्य है। मीमांसकों ने जिस तरह नैयायिकों के मत का खण्डन किया है, उसी प्रकार जैनों के मत का भी विरोध किया है।

[5] बौद्धमत

बौद्धों के अनुसार महाभूतों के संक्षोभ से शब्द उत्पन्न होता है। यह किसी भी द्रव्य में आश्रित नहीं होता, अपितु स्वतन्त्र रहता है। शब्द को क्षणिक मानने के कारण इस दर्शन में भी शब्द को उत्पन्न और विनष्ट होने वाला यानी अनित्य माना गया है। वैयाकरणों ने शब्द को कार्य मानकर भी विचार किया है और नित्य मानकर भी। किन्तु सिद्धान्त रूप से वे शब्द को नित्य ही मानते हैं। जहाँ शब्द द्रव्य के रूप में माना जाता है वहाँ भी प्रवाहनित्यता रूप में नित्यत्व निहित रहता है। पाणिनि ने **'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्,'**[138] इस सूत्र में शब्द की नित्यता का संकेत किया है। व्याडि ने इस विषय पर पर्याप्त विचार कर शब्द की नित्यता का प्रतिपादन किया था। भर्तृहरि ने भी 'नित्य: शब्दार्थसम्बन्धव:'[139] आदि वाक्यों द्वारा शब्द के नित्यत्व का ही समर्थन किया है।

शब्द की नित्यता पर संकेतितार्थ, आकृति आदि की दृष्टि से भी विचार किया गया है। यदि शब्द से आकृति की अभिव्यक्ति होती है तो शब्द नित्य है, क्योंकि वृक्षत्व आदि आकृति नित्य है। द्रव्य पक्ष में भी शब्द नाद से अभिव्यक्त होने के कारण नित्य माना जाना चाहिये। आश्रय भेद से भेद की प्रतीति होने पर भी शब्द के स्वरूप में तो भेद नहीं होता। शब्द, संसर्गानित्यता विपरिणामानित्यता और वस्तुविनाशानित्यता इन तीनों प्रकार की अनित्यता से रहित अर्थात् नित्य

है। वह ध्रुव कूटस्थ तथा अचल है, जिसमें अपाय, उपजन, विकार, वृद्धि और व्यय नहीं होते वह नित्य माना जाता है। वैयाकरणों और मीमांसकों द्वारा शब्द के नित्यत्व के विषय में जो तर्क दिये गये हैं नैयायिकों ने उनका प्रबल खण्डन किया है।

नैयायिकों के कथनों का सार इस प्रकार है कि कारण जन्य होने. श्रोत्र रूप बाह्येन्द्रिय से गृहीत होने, कार्य होने तथा व्यवहार्य होने के कारण शब्द अनित्य है,[140] जयन्त का विचार है कि सूत्रकार गौतम ने आदिमत्व शब्द का अपने कथन में उल्लेख करके यह स्पष्ट किया है कि संयोग, विभाग आदि शब्द के कारक हैं न कि व्यंजक। ऐन्द्रियकत्व से प्रत्यभिज्ञा का निरसन किया गया है। इस प्रकार जयन्त ने भी यही सिद्ध किया है कि शब्द अनित्य है।[141]

(ङ) पद की वृत्तियाँ

शब्द शक्ति या व्यापार को, जिससे शब्दों का अर्थ प्रकट होता है, वृत्ति कहा जाता है। वृत्तियों की संख्या के सम्बन्ध में विभिन्न शास्त्रकारों में मतभेद है। व्याकरणशास्त्र और काव्यशास्त्र में अभिधा, लक्षणा, व्यंजना तथा तात्पर्य नामक वृत्तियों का उल्लेख मिलता है, किन्तु नैयायिकों ने अभिधा और लक्षणा इन दो ही वृत्तियों को स्वीकार किया है। वृत्ति को ही शक्ति भी कहा गया है। शक्ति विशिष्ट सार्थक शब्द ही 'पद' कहलाते हैं।

(1) अभिधा

शब्द की मुख्य वृत्ति अभिधा कहलाती है। अभिधेयार्थ व्याकरण, कोष आदि की सहायता से ज्ञात होता है। इन सब में व्यवहार ही सर्वप्रथम व सर्व प्रमुख साधन है। नानार्थक शब्दों का अर्थ विनिश्चय, संयोग, विप्रयोग आदि के आधार पर किया जाता है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, नैयायिकों के मतानुसार शक्ति का ग्रहण जाति विशिष्ट व्यक्ति में होता है। शक्ति को ही कुछ आचार्यों द्वारा अभिधा कहा जाता है। शक्तिविशिष्ट पद चार प्रकार के होते हैं—रूढ़ (डित्थ) यौगिक (पाचक), योगरूढ़ (पंकज) तथा रूढ़यौगिक (उद्भिद्), संक्षेप में शब्द की प्रमुख वृत्ति अभिधा है। जैसे 'गौ' शब्द का अर्थ है गाय और यह अर्थ अभिधा शक्ति से निकला है।

(2) लक्षणा

आलंकारिकों के अनुसार शब्द के मुख्य अर्थ की वाक्य में संगति न बैठने पर उससे सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति कराने वाली वृत्ति का नाम लक्षणा है।

नैयायिकों के अनुसार इस वृत्ति का आश्रय केवल उसी अवसर पर नहीं लिया जाता, जबकि पद के मुख्य अर्थ की संगति न बैठ रही हो, अपितु उस अवसर पर भी लिया जाता है जबकि मुख्यार्थ की संगति होने पर भी तात्पर्यार्थ की संगति न बैठ रही हो। उदाहरणतया भाले खड़े हैं। इस वाक्य में मुख्यार्थ में असंगति नहीं है (क्योंकि भाला भी खड़ा हो सकता है) किन्तु वक्ता के तात्पर्य (भालों से युक्तपुरुष) की संगति के लिये भाले से (भाले वाले पुरुष) यह अर्थ निकालने के लिये लक्षणा का सहारा लेना पड़ता है। इसलिये नैयायिकों में 'शक्य सम्बन्ध को लक्षणा' कहा जाता है। प्रकारान्तर से कहा जाय तो शब्द की गौण वृत्ति का नाम लक्षणा है।

लक्षणा के भेद

लक्षणा शक्य (अभिधेयार्थ) अर्थ को छोड़कर अशक्य (लक्ष्य) अर्थ की प्रतीति कराती है। किन्तु शक्य और अशक्य में भी कोई सम्बन्ध तो होना ही चाहिये। नैयायिकों की दृष्टि में ये सम्बन्ध कई प्रकार के हो सकते हैं—जैसे सादृश्य, कार्यकारण, आधाराधेयभाव, संयोग आदि। सादृश्य सम्बन्ध पर आधारित लक्षणा गौणी और सादृश्य के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों पर आधारित लक्षणा शुद्धा कहलाती है।

प्रकृत (मुख्य) अर्थ का भी ग्रहण लक्ष्य अर्थ के साथ हुआ या नहीं इस आधार पर भी लक्षणा के तीन भेद किये जाते हैं—(1) जहल्लक्षणा और (2) अजहल्लक्षणा (3) जहदहल्लक्षणा।

अजहल्लक्षणा वहाँ मानी जाती है. जहाँ लक्ष्य अर्थ में वाच्य अथ को सर्वथा छोड़ दिया जाता है, जैसे 'गंगा पर घर है'—इस वाक्य में 'गंगा' शब्द का मुख्य अर्थ (नदी) छूट जाता है और तट अर्थ का ग्रहण हो जाता है।

अजहल्लक्षणा वहाँ मानी जाती है, जहाँ वाच्य अर्थ तो संगत रहता है, किन्तु तात्पर्य अर्थ की संगित बैठाने के लिए लक्षणा का सहारा लिया जाता है। जैसे 'कौओं से दही की रक्षा करें'—इस वाक्य में कौआ शब्द अपने अभिधेयार्थ के प्रयोग के साथ ही लक्षणा के द्वारा दही खाने वाले चील, बिल्ली आदि सभी प्राणियों का बोध कराता है।

जहदजहल्लक्षणा वहाँ मानी जाती है, जहाँ वाच्यार्थ के एक अंश की संगति नहीं बैठती, किन्तु दूसरे अंश की बैठ जाती है। अत: मुख्यार्थ का कुछ अंश तो लक्ष्यार्थ के साथ बना रहता है और कुछ छोड़ दिया जाता है। 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य जहदजहल्लक्षणा के उदाहरण हैं।

काव्य शास्त्रकारों ने व्यंजना और तात्पर्य नामक वृत्तियों को भी स्वीकार किया है, किन्तु नैयायिकों का यह कथन है कि तात्पर्य ज्ञानपर्यन्त लक्षणा का ही कार्य माना जाना चाहिये। जैसे कि 'गंगा पर घर है' इस वाक्य में लक्षणा द्वारा गंगा से गंगातट का ही नहीं अपितु उसके शैत्य, पावनत्व आदि का ग्रहण मान लिया जाना चाहिये। विधि से निषेध अथवा निषेध से विधि की प्रतीति में भी नैयायिक व्यंजना का नहीं, अपितु अनुमान का सहारा लेते हैं।

(च) अर्थसम्प्रत्यय के साधन

यह तो सर्वमान्य बात है कि शब्द का उपयोग अर्थबोधन के लिए किया जाता है। अमुक शब्द से अमुक अर्थ का बोध होता है। अतः शब्द में जो अर्थबोधन सामर्थ्य है, उसी को शक्ति कहते हैं। शब्द में विद्यमान इस शक्ति के ग्रहण के लिए विभिन्न आचार्यों ने निम्नलिखित आठ साधनों का उल्लेख किया है।[142]

(1) व्याकरण

प्रकृति प्रत्यय के विश्लेषण से शब्द के अर्थ को समझने में सहायता मिलती है। यद्यपि यह बात भी सही है कि शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ ही सदा प्रमुख नहीं रहता, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर व्युत्पत्ति का सहारा तो लिया ही जाता है।

(2) उपमान

जैसे 'गौ' के सादृश्य के आधार पर 'गवय' नामक प्राणी का ज्ञान।

(3) कोष

जिन शब्दों के अर्थ का साधारणतया ज्ञान नहीं हो पाता, उनको कोष की सहायता से भी समझा जा सकता है। कोष कई प्रकार के होते हैं किन्तु अधिकतर कोष पर्यायवाची हैं।

(4) आप्तवाक्य

विश्वासपात्र व्यक्तियों के कथनों से भी अर्थ का ज्ञान किया जाता है।

(5) व्यवहार

अर्थसम्प्रत्यय का सबसे बड़ा साधन व्यवहार या लोक व्यवहार है। इसका महत्त्व प्रायः अनेक आचार्यों ने प्रतिपादित किया है। पतंजलि ने तो यह भी प्रश्न उठाया कि यदि लोक व्यवहार से ही अर्थज्ञान हो जाता है तो शास्त्र की क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए पतंजलि कहते हैं कि

शब्दों से अर्थों का ज्ञान तो लोक व्यवहार से ही होता है। शास्त्र तो लौकिक प्रयोगों को व्यवस्थित करने के लिए होते हैं।[143]

(6) वाक्य शेष

शब्दों का प्रयोग वाक्य में ही होता है। यदि किसी शब्द का अर्थ स्वतन्त्र रूप से ज्ञात नहीं हो पा रहा है तो प्रकरण के आधार पर उस शब्द का अर्थ समझा जा सकता है।

(7) विवृत्ति

कतिपय शब्दों का अर्थ उनके विवरण के आधार पर भी समझा जा सकता है।

(8) सिद्ध पद सान्निध्य

यदि किसी शब्द का अर्थ स्वयं उसके ही आधार पर स्पष्ट नहीं हो रहा है तो उसका अर्थ सम्बद्ध वाक्य में प्रयुक्त किसी प्रसिद्ध शब्द के आधार पर भी समझा जा सकता है।

कतिपय आचार्यों ने इस सिद्धान्त का भी उल्लेख किया है कि सभी शब्दों से सभी अर्थ निकल सकते हैं अर्थात् शब्द नानार्थक होते हैं। उनका कोई निश्चित अर्थ नहीं होता। अतः शब्दार्थ संप्रत्यय के उपर्युक्त साधनों के साथ ही वाक्यार्थविनिश्चायक साधनों की भी चर्चा शास्त्रों में उपलब्ध होती है। संक्षेप में नानार्थक शब्द का एक अर्थ में निश्चय करने यानी संकेत निश्चय करने के लिए निम्नलिखित साधन बताये गये हैं—

(1) संयोग : शंखचक्र वाला हरि (हरि शब्द के अनेक अर्थ हैं किन्तु यहाँ शंख चक्र के संयोग के कारण उससे विष्णु अर्थ ही बोध होगा)।

(2) विप्रयोग : शंखचक्ररहित हरि (यहाँ भी विष्णु का ग्रहण होगा न कि वानर आदि का)।

(3) साहचर्य : रामलक्ष्मण (यहाँ लक्ष्मण शब्द के साहचर्य के कारण राम का दशरथ पुत्र राम होगा, न कि परशुराम)।

(4) विरोधिता : कर्णार्जुन (अर्जुन का अर्थ यहाँ कुन्ती पुत्र है, न कि कार्तवीर्य, क्योंकि कर्ण का विरोध कुन्ती-पुत्र से ही था)।

(5) अर्थ : स्थाणु को नमस्कार है (यहाँ स्थाणु शब्द से शिव का ग्रहण होगा, न कि स्तम्भ का, क्योंकि वन्दना के प्रकरण के संदर्भ में शिव अर्थ ही उपयुक्त है।

(6) प्रकरण : सैन्धव लाओ (यह प्रसंग यदि भोजन का तो सैन्धव शब्द से नमक अर्थ का ग्रहण होगा न कि घोड़े का)

(7) लिंग : मकरध्वज कुपित है (यहाँ मकरध्वज शब्द से कामदेव का ग्रहण होगा, मकराकार ध्वज का नहीं, क्योंकि यह चिह्न कामदेव की ध्वजा में ही है)।

(8) अन्य शब्द सन्निधि : 'देव: पुरारि:' में देव शब्द से शिव का ग्रहण होगा।

(9) सामर्थ्य : मधु से पिक मत्त है। यहाँ मधु शब्द से वसन्त ऋतु का ग्रहण होगा, न कि सुरा, शहद आदि का; क्योंकि पिक को मत्त करने की क्षमता वसन्त में ही है।

(10) देश : गगन पर चन्द्र शोभित हो रहा है (यहाँ चन्द्र शब्द का ग्रहण चन्द्रमा के अर्थ में होगा न कि कपूर के)

(11) काल : रात में चित्रभानु (यहाँ रात शब्द के कारण चित्र-भानु का अर्थ अग्नि होगा, न कि सूर्य)।

(12) व्यक्ति : 'मित्रं भाति' (यहाँ नपुंसक लिंग का प्रयोग होने के कारण मित्र शब्द का अर्थ सुहृद् होगा न कि सूर्य)

(13) स्वर : 'इन्द्रशत्रुर्वर्द्धस्व' (यदि यहाँ तत्पुरुष समास मानने पर अन्तोदात्त होगा तो अर्थ होगा—इन्द्र का शत्रु अर्थात् वृत्र और बहुब्रीहि समान मानने पर आद्युदात्त होने से अर्थ होगा—इन्द्र जो शत्रु अर्थात् इन्द्र।)

5. न्यायशास्त्रीय अर्थविज्ञान

न्यायशास्त्र में शब्द को एक पृथक् प्रमाण माना गया है। शब्द के स्वरूप तथा शब्दार्थ सम्बन्ध आदि पर ऊपर चर्चा की जा चुकी है, किन्तु दो ऐसे सिद्धान्तों का उल्लेख किये बिना शब्द-प्रमाण सम्बन्धी विवेचन पूर्ण नहीं माना जा सकेगा, जिन पर अर्थविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में न केवल वैयाकरणों और आलंकारिकों ने अपितु नैयायिकों ने भी पर्याप्त ध्यान दिया है। इनमें से एक है अपोहवाद और दूसरा स्फोटवाद।

न्यायशास्त्रीय अर्थमीमांसा को समझने के लिए भी इन दो वादों का कम-से-कम संक्षेप में उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा।

(1) अपोहवाद

अर्थविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में बौद्धों द्वारा प्रवर्तित अपोहवाद का अपना विशिष्ट महत्त्व है। यद्यपि इस समस्या का सम्बन्ध पद के संकेत से है, किन्तु इस पर जो चिन्तन मनन हुआ, उससे यह न केवल पद विज्ञान का, अपितु समग्र अर्थविज्ञान का भी एक महत्त्वपूर्ण पहलू बन गया है।

अपोहवाद बौद्धदर्शन के भाषिक सिद्धान्तों में प्रमुख स्थान रखता है। महात्मा बुद्ध ने अनित्यवाद, दुःखवाद, अनात्मवाद, प्रतीत्यसमुत्पादवाद प्रभृति सिद्धान्तों का सूत्रपात किया था। उनके अनुयायियों ने इन सिद्धान्तों का विकास किया। अनित्यवाद की स्थापना में बौद्धों के समक्ष सबसे बड़ी रुकावट आकृति 'जाति' या सामान्य का सिद्धान्त था। बौद्ध यदि व्यक्ति के अतिरिक्त जाति जैसी किसी सत्ता को स्वीकार करते तो अनित्यवाद का ढाँचा कैसे खड़ा रह सकता था? अतः उन्होंने यह प्रयत्न किया कि जाति का खण्डन कर दिया जाय। किन्तु जनसामान्य अनेक वस्तुओं में एकता का जो दर्शन करता है, उसका समाधान किये बिना जाति का खण्डन भी संभव नहीं हुआ। फलस्वरूप बौद्धों ने एक ऐसे सिद्धान्त का प्रवर्तन कर डाला, जिससे उनके मतानुसार 'जाति' का निरसन हो जाता है और अनेक वस्तुओं में एकता का भी विश्लेषण हो जाता है। इसी को उन्होंने अपोह कहा।

बौद्धों के मतानुसार जाति की सत्ता नहीं है। एक गाय और दूसरी गाय में 'गाय' नाम के अतिरिक्त और कोई चीज ऐसी नहीं है जिसको जाति या सामान्य कहा जा सके। अतः वे वस्तुओं का ज्ञान अपोह के आधार पर करते हैं।

(क) अपोह का इतिहास

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, अनित्यवाद के बीज तो अंगुतर निकाय, महानिदान सुत्त आदि ग्रन्थों में उपलब्ध हो जाते हैं, किन्तु अनित्यवाद पर आधारित अपोहवाद का सर्वप्रथम विधिवत् प्रतिपादन दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय में किया गया। दिङ्नाग के कथनों का उद्योतकर तथा कुमारिल भट्ट ने खण्डन किया। धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में अपोहवाद का विश्लेषण किया। शान्तरक्षित ने भी उसमें कुछ संशोधन करने का प्रयत्न किया। वाचस्पति मिश्र और जयन्त भट्ट ने धर्मकीर्ति के मत का प्रबल खण्डन किया। रत्नकीर्ति ने अपोह-

सिद्धि में नैयायिकों के आक्षेपों का निराकरण करते हुए अपोह सिद्धान्त को पर्याप्त संशोधित रूप में प्रस्तुत किया। इस प्रकार बौद्ध आचार्यों की परम्परा में अपोह का लक्ष्य तो एक (जाति का खण्डन) ही रहा, किन्तु कालक्रम के अनुसार उसकी परिभाषाओं में संशोधन होते रहे।

दिङ्नाग के अनुसार अपोह का अर्थ है—अन्य सर्व प्राणियों की व्यावृत्ति के बाद सम्बद्ध वस्तु का अनुमान से ज्ञान। शान्तरक्षित के विचार में शब्द वस्तु का निर्देश करते हैं और अन्य वस्तुओं से उनकी व्यावृत्ति अनुमान से होती है। रत्नकीर्ति का यह मत है कि शब्दों में संकेतित पदार्थ का निर्देश और अन्य वस्तुओं से उनकी व्यावृत्ति अर्थात् निषेध और विधि दोनों साथ-साथ ही होते हैं। रत्नकीर्ति के इस मत को विशिष्टापोह कहा जाता हैं।[144]

संक्षेप में बौद्धों का यह मत है कि शब्द जैसे 'गौ' से अन्य प्राणियों जैसे घोड़ा, गधा, आदि की व्यावृत्ति होती है। अर्थात् शब्द गाय-भिन्न से भिन्न का बोध कराता है। तात्पर्य यह है कि बौद्धों के मतानुसार शब्द वस्तु की सत्ता का नहीं, अपितु तद्भिन्न से उसकी व्यावृत्ति का ज्ञान करवाते हैं।

शान्तरक्षित ने अपोह के प्रमुख भेद तो दो माने हैं—पर्युदास तथा प्रसज्य-प्रतिषेध। पर्युदास के दो उपभेद माने गये हैं—बुद्धयात्मक और अर्थात्मक।

(ख) अपोहवाद का खण्डन

बौद्धेतर शास्त्रकारों में से प्रायः सभी ने अपोहवाद का खण्डन किया है। मीमांसकों और नैयायिकों ने अपोहवाद के खण्डन के लिए एक तो जाति के अस्तित्व का प्रतिपादन किया और दूसरे अपोह के समर्थन में बौद्धों द्वारा प्रस्तुत तर्कों का खण्डन किया। यद्यपि न्यायसूत्र और भाष्य में जाति का प्रतिपादन तो उपलब्ध होता है, किन्तु नैयायिकों में से अपोह के सन्दर्भ में जाति का समर्थन उद्योतकर द्वारा आरम्भ किया गया। उद्योतकर के बाद प्रायः सभी नैयायिकों ने अपोहवाद का प्रबल तर्कों के साथ खण्डन किया। मीमांसकों और नैयायिकों के प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं :

(क) जाति के अस्तित्व के समर्थन में

(i) विभिन्न पिण्डों में अनुवृत्ति का प्रत्यय होता है और उसका हेतु जाति है।

(ii) यदि जाति की सत्ता को न माना जाय, तो अनुमान और शब्द प्रमाण का भी कोई आधार नहीं रह जायगा।

(iii) विभिन्न व्यक्तियों में सामान्य गुण देखे जाते हैं। उसका आधार जाति के बिना और क्या हो सकता है ?

(iv) आकृतिमात्र को जाति नहीं माना जा सकता, क्योंकि वायुत्व या अग्नित्व का कोई आकार नहीं होता।

[ख] अपोह के खण्डन में

(i) सिंह का अर्थ 'सिंह' न लेने पर माणवक को भी सिंह कहा जाने लगेगा।

(ii) मुख्य को समझे बिना तदितर का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता अर्थात् 'तत्' को जाने बिना 'तदन्य प्रतिषेध' नहीं हो सकता। गौ को समझे विना 'अगौ' का ज्ञान नहीं हो सकता।

(iii) अपोह का विषय 'गौ' में या 'अगौ'? यकि 'गौ' है तो 'गौ' का अर्थ 'गोभिन्न' नहीं समझा जा सकता और यदि 'अगौ' है तो उसका अर्थ 'गाय' कैसे माना जा सकता है ? एक बार जब गौ शब्द अन्य की व्यावृत्ति में चरितार्थ हो गया तो फिर उससे गाय का ग्रहण कैसे हो सकता है ?

(iv) यदि अनेक गौओं के ज्ञान के लिये एक ही अपोह माना जाये तो यह तो जाति जैसी ही मान्यता हो गई। यदि अनेक अपोह माने जाएँ तो अनन्त पिण्डों में अनन्त अपोह मानने से आनन्त्य दोष हो जायेगा।

(v) प्रत्येक निषेध का एक विध्यात्मक आधार होता है। जब तक विध्यात्मक संकेत का ग्रहण न हो, तब तक निषेधात्मक संकेत का विचार भी मन में कैसे उठ सकता है ?

(vi) 'सर्व', प्रभृति कुछ ऐसे भी तो शब्द हैं, जिनका अर्थ अपोह द्वारा व्यक्त नहीं हो सकता। उपर्युक्त तर्कों के आधार पर नैयायिकों और मीमांसकों का यह मत है कि अनुगत प्रतीति के लिये निषेधात्मक सामान्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार अनेक आपत्तियों के कारण अपोहवाद को बौद्धेत्तर दार्शनिकों तथा वैयाकरणों एवं आलंकारियों ने भी स्वीकार नहीं किया, किन्तु सामान्य या जाति को न मानने के कारण बौद्धों के समक्ष जो एक बड़ी भारी समस्या आ गई थी, उसका समाधान तो उन्होंने जैसा भी हो, अपोहवाद से ही किया। अतः बौद्धों की दृष्टि से इसका महत्त्व कम नहीं है।

[2] स्फोटवाद

अर्थविज्ञान के संदर्भ में प्राचीन भारतीय आचार्यों ने जिन अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रवर्तन या विश्लेषण या खण्डन किया, उनमें से स्फोटवाद सर्वप्रमुख है। पद या वाक्य से अर्थ की अभिव्यक्ति कैसे होती है, यह प्राय: सभी शास्त्रों का विचारणीय विषय रहा है, पर इस सम्बन्ध में वैयाकरणों ने स्फोट के सिद्धान्त का प्रवर्तन कर एक प्रकार से अर्थविज्ञान के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी कदम उठाया। स्फोट को माननेवालों की अपेक्षा उसका खण्डन करने वालों की संख्या अधिक है, फिर भी स्फोट सिद्धान्त का जो वैचारिक महत्त्व है उसको नकारा नहीं जा सकता। स्फोट सिद्धान्त का विधिवत् प्रतिपादन तो भर्तृहरि ने किया किन्तु उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी इसकी चर्चा की है। इस सन्दर्भ में प्रवर्तित प्रमुख मतों का सार निम्नलिखित है।

[1] वैयाकरणों का मत

[i] स्फोट का लक्षण

'स्फुटति प्रकाशते अर्थो ऽस्मादिति स्फोट:'[145] 'स्फुटत्यर्थो ऽस्मादिति स्फोट:'[146] तथा 'स्फुट्वते अभिव्यज्यते वर्णैरिति स्फोट:' इन व्युत्पत्तियों के आधार पर स्फोट का लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है कि "जो वर्णों से अभिव्यंग्य होकर अर्थ-प्रतीति का जनक होता है वह स्फोट कहलाता है, (**वर्णाभिव्यंग्यत्वे सति अर्थप्रतीतिजनकत्वं स्फोटत्वम्**)" इस लक्षण के अनुसार वागिन्द्रिय द्वारा विशेषक्रम से श्रोत्र ग्राह्य 'घ, अ, ट्, अ'—रूप वर्णों की उत्पत्ति-दशा में तत्-तत्वर्णग्राही एक-एक श्रावण प्रत्यक्ष होता है। तत्-तत् श्रावण प्रत्यक्ष से तत्-तत् वर्ण विषयक एक-एक संस्कार उत्पन्न होता है। तत्-तत् संस्कार-सहकृत अन्तिम-वर्णात्मक आकार का प्रत्यक्ष अखण्ड घटात्मक पद-स्फोट का व्यंजक होता है; एवं अभिव्यक्त पद-स्फोट से घट पदार्थ की स्मृति होती है। इस प्रकार से शब्द के अवयवभूत वर्ण स्फोट शब्द को अभिव्यक्त करते हैं, और उसी से अर्थ की प्रतीति होती है। इसी प्रकार वाक्यार्थ-बोध के लिए वाक्य स्फोट माना गया है। स्फोट का विश्लेषण प्राय: सभी प्रमुख वैयाकरणों ने किया है किन्तु सबके मत में एकरूपता नहीं है।[147] स्फोट के निम्नलिखित भेद बताये गये हैं :

[ii] स्फोट के भेद

(1) स्फोट ध्वनि रूप में (2) स्फोट शब्द रूप में
(3) स्फोट नित्य शब्द रूप में (4) स्फोट जाति रूप में
(5) स्फोट वाक् रूप में (6) स्फोट शब्द ब्रह्म के रूप में

ये भेद एक दूसरे से बिल्कुल विभक्त नहीं, केवल विकासक्रम की दृष्टि से इस रूप में इनका उल्लेख किया गया है। इनमें से स्फोट के ध्वनि स्वरूप का उल्लेख महाभाष्य में है। पतंजलि ने स्फोट और ध्वनि में केवल यह भेद दिखाया है कि स्फोट ज्यों का त्यों रहता है, जबकि वृद्धि, या विस्तार ध्वनि में होता है।[148] पतंजलि का कथन है कि स्फोट शब्द है और ध्वनि शब्द का गुण/शब्द में स्फोट और ध्वनि दोनों रहते हैं।[149] भर्तृहरि ने शब्द में रहने वाले दो तत्त्वों स्फोट और ध्वनि की व्याख्या पतंजलि के अनुसार की है। अर्थात् उसके अनुसार उपादान शब्द में दो तत्त्व रहते हैं एक को शब्दों का निमित्त (कारण) माना गया है और दूसरे का अर्थ में प्रयोग किया जाता है।[150] इस प्रकार ध्वनि और स्फोट इन दोनों का व्यंग्य व्यंजक सम्बन्ध है। ध्वनि स्फोट का व्यंजक है और स्फोट व्यंग्य है। श्रोता जब शब्द सुनता है तो पहले वह ध्वनि को सुनता है अर्थात् श्रवणेन्द्रिय द्वारा ध्वनि का ग्रहण करता है, ध्वनि ही कान से सुनी जाती है, स्फोट नहीं, स्फोट का ग्रहण बुद्धि से किया जाता है। इसलिये अर्थ ज्ञान के लिये दोनों की आवश्यकता है। भोज ने वाचक ध्वनिसमूह को ही स्फोट नाम दिया है।[151] वैयाकरणों ने उच्चरित ध्वनि समूह को ही शब्द माना है।[152] अथवा जिसके उच्चारण से सास्नादि पशुविशेष का साक्षात् ज्ञान होता है वह शब्द है।[153] यद्यपि यह शब्द की परिभाषा है लेकिन यह केवल उसी शब्द की है जो स्फोट रूप में प्राप्त होता है। यह स्फोट नित्य तथा परमानन्द स्वरूप ब्रह्मतत्त्व का पर्याय है।[154]

वैयाकरणों ने वाक्यशक्ति रूप शब्द को चार प्रकार का बताया है।[155] परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी। इन चारों में 'परा' नाम की वाक् को आत्मस्वरूप घोषित किया है। यह परावाक् रूप स्फोट अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण सर्वजन-संवेद्य नहीं है। योगी लोग ही निर्विकल्पक समाधि की अवस्था में इसका साक्षात्कार कर पाते हैं। 'पश्यन्ती' का भी साधारण मनुष्य को प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता। भर्तृहरि के अनुसार पश्यन्ती बुद्धिस्थ शब्द की वह स्थिति है, जिसमें शब्द अखण्ड रूप में मन या बुद्धि में स्थित रहता है। जब 'मध्यमा' अवस्था को वाणी प्राप्त होती है तब शब्द और अर्थ का तादात्म्य रहने पर भी वक्ता को उनका पृथक् रूप से बोध होने लगता है। लेकिन दूसरों के सुनने योग्य न होने के कारण वह सूक्ष्म कही गई है। भर्तृहरि ने इसे 'अन्तः सन्निवेशिनी' कहा है। वाणी या शब्द की उपर्युक्त सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्म—ये तीन अवस्थाएँ प्रणव रूप हैं। इसके बाद चौथी 'वैखरी' वर्ण या वाणी ही वक्ता के मुख से उच्चरित होकर

श्रोता की श्रोत्रेन्द्रिय का विषय बनती है। बैखरी शब्द का निर्वचन विखर (शरीर) शब्द से किया जाता है। जिसके अनेक तरह से अर्थ किये गये हैं। जब बैखरी द्वारा हृदय देश में स्थित वाणी में संक्षोभ उत्पन्न होता है, तब मध्यमा में स्थित अर्थवाचक स्फोट की अभिव्यक्ति होती है। फलस्वरूप अर्थबोध होता है। यह बैखरी वाणी ही हृदयस्थ स्फोट की अभिव्यंजक होती है। महाभाष्य के अनुसार भी बैखरी और मध्यमा इन दोनों में स्फोट अभिव्यक्त होता है। अन्य आचार्यों द्वारा भी यही माना गया है। इसके अतिरिक्त शब्दों के संकेत का ज्ञान भी मध्यमा में ही होता है। इससे मध्यमा में ही अर्थबोधकता का होना स्वाभाविक है। शब्द अथवा वाक् के इन चार प्रकारों का वर्णन न केवल व्याकरण दर्शन में वरन् ऋग्वेद जैसे प्राचीन ग्रन्थ में भी मिलता है।[156]

स्फोट के आठ प्रकार बताये गये हैं: (1) वर्णस्फोट, (2) पदस्फोट, (3) वाक्यस्फोट, (4) अखण्डपद स्फोट, (5) अखण्डवाक्य स्फोट, (6) वर्णजाति स्फोट, (7) पदजाति स्फोट, (8) वाक्य जाति स्फोट। इनमें वर्णस्फोट से लेकर अखण्डवाक्य स्फोट तक पाँच व्यक्तिस्फोट हैं। अवशिष्ट तीन जाति स्फोट हैं।

इस तरह वैयाकरणों द्वारा स्फोट को अर्थबोधन में उपयोगी बताया गया है, वर्ण को नहीं। अर्थात् वे वर्णों में वाचकत्व शक्ति न मानकर स्फोटात्मक पद में वाचकत्व के निर्वाहार्थ स्फोट का सिद्धान्त मानते हैं।[157]

(2) स्फोटवाद का खण्डन

(i) न्यायवैशेषिक मत

इस सिद्धान्त के सबसे बड़े आलोचक नैयायिक तथा वैशेषिक हैं। जयन्त भट्ट ने स्फोटवाद का विस्तार से खण्डन किया है।[158] नैयायिकों द्वारा इस विषय में यह कहा गया है कि क्रमोत्पन्न, क्षणिक, अनेक वर्णों के एक ज्ञान (पद) की उपपत्ति स्फोटवादी को भी माननी ही पड़ेगी, क्योंकि यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो नदी शब्द का उच्चारण होने पर नदी रूप अर्थ के बोधक स्फोट की अभिव्यक्ति कैसे संभव हो सकेगी? इसलिए स्फोटवाद में भी यह कल्पना करनी होगी कि पूर्व पूर्व वर्णों के अनुभवों से उत्पन्न संस्कारों के द्वारा विनष्ट वर्णों को तथा श्रोत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष द्वारा विद्यमान अन्तिम वर्ण को ग्रहण करने वाला उन सभी वर्णों का एक ज्ञान उत्पन्न होता है और वही स्फोट का पूर्ण अभिव्यंजक है। जब अनेक वर्णों का एकपद ज्ञान हो सकता है तो उसी से अर्थ बोध भी हो ही सकता है। इस दृष्टि से स्फोट की कल्पना निरर्थक ही है। जयन्त भट्ट के विचार में स्फोट न तो प्रत्यक्षगम्य है और न अनुमानगम्य। फिर भी

यदि वैयाकरणों का यह आशय हो कि ध्वनि से संसृष्ट होकर स्फोट की उपलब्धि होती है, तो स्फोट को ध्वनि की तरह श्रोतृग्राह्य रूप में प्रत्यक्षगम्य मानना पड़ेगा।[159]

नैयायिक वर्णों में अर्थाभिधायक शक्ति मानते हैं अर्थात् वर्ण ही वाचक हैं यह उनका मत है।[160] उनके मत में वर्ण समुदाय की वाचकता के दो प्रमुख सिद्धान्त हैं—(1) संस्कार पक्ष (2) शब्दजशब्दन्याय पक्ष।

नैयायिकों द्वारा शब्द को 'अनित्य' माना गया है। इसकी अनित्यता की सिद्धि नैयायिकों ने अनेक तर्कों के आधार पर की हैं। उनके मतानुसार शब्द उत्पन्न और विनष्ट होता है। अर्थात् प्रथम क्षण में शब्द उत्पन्न होता है, द्वितीय क्षणपर्यन्त रहता है तथा तृतीय क्षण में स्वोत्तरवर्ती शब्द से अथवा स्वतः नष्ट हो जाता है। लेकिन उस नष्ट शब्द का संस्कार रह जाता है। इसलिए उत्तरवर्ण के प्रत्यक्ष काल में संस्कारवश अव्यवहितोत्तरत्व-सम्बन्ध से पूर्व-पूर्व वर्णवत्ता का ज्ञान हुआ करता है।[161] तात्पर्य यह है कि संस्कारवश ही पूर्व-पूर्व वर्णों की विशिष्टता उत्तरोत्तर वर्णों में ज्ञात होती जाती है। इसलिए वर्णों में ही अर्थबोधन शक्ति है यह मानना ठीक ही है।

इसके अतिरिक्त दूसरा पक्ष वीचितरंगन्याय के नाम से प्रसिद्ध है। जिस प्रकार एक लहर दूसरी लहर को उत्पन्न करती है उसी प्रकार कंठ, तालव्य आदि के आघात से उत्पन्न शब्द द्वितीय शब्द को उत्पन्न कर नष्ट होता रहता है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार भी संयोग, विभाग आदि से शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है। इसमें भी अन्तिम वर्ण के उच्चारणकाल पर्यन्त पूर्व उच्चरित सभी वर्ण अपने-अपने सदृश वर्णों को उत्पन्न करते रहते हैं। इस प्रकार वर्णों का सहावस्थान होने से पद बन जाता है। उसी में शक्तिग्रह मानकर अर्थबोध भी हो जाता है। और जिस प्रकार 'वन'—इस प्रतीति का विषय वृक्ष-समुदाय से भिन्न वन नाम की कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं होती, इसी तरह वर्णसमुदाय से अतिरिक्त पद भी नहीं होता वह वर्णसमुदाय रूप ही है। अतएव वर्णों में अर्थजनन शक्ति होने से स्फोटात्मक शब्दतत्त्व की कल्पना करना व्यर्थ है।

(ii) सांख्यमत

सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक महर्षि कपिल ने स्फोटवाद का खण्डन किया है। उनका सूत्र है—"**प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः**।[162] अपने सिद्धान्त के समर्थन में सांख्य शास्त्रियों का यह मत है कि स्फोटवादियों का यह कहना युक्ति

संगत नहीं है कि "जिस प्रकार कम्बुग्रीवादि अवयवों के अतिरिक्त घट आदि अवयवी स्वीकार किये जाते हैं, उसी प्रकार वर्णों से अतिरिक्त अवयविस्वरूप एक अखण्ड पद माना जाता है, जिससे अर्थ की प्रतीति होती है। वही पदविशेष स्फोट है।" क्योंकि अखण्डपदात्मक शब्द का तो (सांख्यों के अनुसार) किसी को भी अनुभव नहीं होता। अनुभव में न आने वाले स्फोट रूप शब्द की कल्पना करना उचित नहीं। यदि आनुपूर्वीविशिष्ट वर्णसमुदाय से ही अखण्ड स्फोट की अभिव्यक्ति होती है, तो फिर वर्णसमुदाय से ही अर्थबोध हो जाना चाहिए, व्यर्थ में ही स्फोट की कल्पना क्यों की जाए? यदि पूर्वपक्षी के मतानुसार वर्णसमूह से अनभिव्यक्त रहकर भी पदस्फोट से अर्थप्रतीति हो सकती है, तो यह उनकी कोरी कल्पनामात्र है। क्योंकि अज्ञात स्फोट में अर्थप्रत्यायन शक्ति नहीं रहती है। यदि पूर्वपक्षी (स्फोटवादी) कहे कि गृहीतसंकेत वाले वर्ण ही स्फोट के व्यंजक होते हैं, तो इस पर यह कहा जा सकता है कि व्यंजक वर्णों को ही साक्षात् वाचक मानने में लाघव होगा। यदि पूर्वपक्षी अगृहीतसंकेत वाले वर्णों को ही स्फोट का अभिव्यंजक मानने की बात करते हैं तो इससे सबको अर्थबोध होने लगेगा। अत: सांख्यों के अनुसार वर्णों में ही अर्थप्रत्यायन शक्ति विद्यमान रहने से स्फोट की कल्पना निरर्थक है।[163]

(iii) योगमत

योग-दर्शन के आचार्यों ने स्फोटवाद का समर्थन किया है। यद्यपि सांख्य अभिमत अन्य सिद्धान्तों और योग अभिमत अन्य सिद्धान्तों में पर्याप्त साम्य है, फिर भी जिन कुछ तत्त्वों के सम्बन्ध में विभिन्नता है, उनमें से स्फोट भी है। योगदर्शन के व्याख्याकार व्यासदेव, वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु आदि ने अपनी अपनी दृष्टि से स्फोटवाद का विश्लेषण कर व्याकरणेतर दर्शनों की स्फोट सम्बन्धी विचारधारा का खण्डन किया।

विज्ञान भिक्षु ने तीन प्रकार के शब्दों का उल्लेख किया है।

1. वर्णभिन्न 2. वर्णात्मक, 3. स्फोटात्मक। इनमें वर्ण भिन्न शब्द ही नहीं अपितु वर्णात्मक शब्द भी वाचक नहीं है, क्योंकि वाचक होने के लिए वर्ण का साहित्य नितान्त अपेक्षित है। और वह सह-अस्तित्व अथवा वर्णों का एकत्रीभाव आशुविनाशशील होने से असम्भव है। इसीलिए वर्णभिन्न शब्द की भाँति वर्णात्मक शब्द भी का वाचक नहीं है।

अत: अर्थ को वाचक है—शब्द का तृतीय प्रकार, यानी पद-स्फोट। आचार्य विज्ञान भिक्षु के अनुसार स्फोट ज्ञान की प्रक्रिया इस प्रकार बताई गई है—

(1) वागिन्द्रिय के अष्ट स्थानों में से किसी स्थान विशेष के साथ उदानवायु के अभिघाताख्य संयोग से तत्-तत् वर्णों की उत्पत्ति होगी। प्रत्येक वर्णग्राही एक-एक श्रावण प्रत्यक्ष होगा। तत्-तत् श्रावण प्रत्यक्ष से तत्-तत् वर्ण विषयक एक-एक संस्कार होगा। तत्-तत् संस्कार से पदविशेष घटक समस्त वर्णविषयक स्मृति उत्पन्न होगी। तादृश स्मृतिसहकृत अंतःकरण से गकारोत्तर-ओकारोत्तर-विसर्जनीय रूप आनुपूर्वी से युक्त गोपदात्मक पदस्फोट का मानस प्रत्यक्ष अर्थात् 'गो' यह एक पद है—इत्याकारक ज्ञान होगा।

उसी पदस्फोट-विषयक ज्ञान से ही अर्थ स्मृति होगी। अतः स्पष्ट है कि क्षणिक, क्रमिक, नाना प्रयत्नसाध्य तथा सखण्ड वर्णों के माध्यम से नित्य, अक्रम, एक प्रयत्नसाध्य तथा अखण्ड पद-स्फोट का ज्ञान होता है।

परन्तु वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञान भिक्षु के मध्य पदस्फोट के सन्दर्भ में मौलिक मतभेद है। वाचस्पति के अनुसार तो तत्-तत् वर्ण संस्कार सहकृत श्रोत्रेन्द्रिय से पदस्फोट का प्रत्यक्ष होता है। जबकि विज्ञान भिक्षु के अनुसार उक्त संस्कार जन्य स्मृति सहकृत अन्तःकरण से पदस्फोट का प्रत्यक्ष होता है। तात्पर्य यह हुआ कि पदस्फोटज्ञान, (जिससे अर्थ स्मृति होती है) वाचस्पति के अनुसार श्रावण प्रत्यक्षात्मक है, किन्तु विज्ञानभिक्षु के अनुसार वह मानस प्रत्यक्षात्मक है।

(iv) मीमांसा मत

मीमांसकों ने भी स्फोट सिद्धान्त का खण्डन किया है। शबरस्वामी, कुमारिल भट्ट तथा पार्थसारथि मिश्र वर्णों में वाचकता मानते हैं।[164] उनके अनुसार जैसे एकत्रित पदों में वाक्यार्थ रहता है, उसी प्रकार एकत्रित वर्णों में पदार्थ रहता है। अतएव पदों में वर्णों को और वाक्य में पदों को सार्थक मानना चाहिये। उदाहरण के लिए जैसे सूक्ष्म वस्तु ग्राह्य होते हुए भी किसी के संसर्ग से दीखती है, इसी प्रकार वर्ण सार्थक होते हुए भी अन्य वर्ण के संसर्ग से वाचक होता है। मीमांसकों का अभिप्राय यह है कि वर्ण ही सार्थक है, परन्तु अज्ञान के कारण उनको सार्थक नहीं माना जाता।

इसलिए कुमारिल द्वारा कहा गया है कि जितने जैसे जो वर्ण जिस अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ देखे जाते हैं, उनको वैसे ही वाचक मानना चाहिए।[165]

यद्यपि कुमारिल भट्ट, शबरस्वामी आदि आचार्यों ने वर्णों में अर्थप्रत्यायन शक्ति को स्वीकार किया परन्तु आचार्य 'मण्डनमिश्र' ने स्फोट सिद्धि में कुमारिल

के इस सिद्धान्त का खण्डन किया। इस प्रकार कुमारिल और मण्डनमिश्र में कुछ विरोध दिखाई देता है।[166]

मीमांसकों में तथा योगाचार्यों में इस विषय में काफी विवाद है। योगाचार्यों ने मीमांसकों के वर्णविषयक विचार का खण्डन कर स्फोट तत्त्व को स्वीकार किया। उनका कथन है कि यदि मीमांसक सम्मत प्रत्येक वर्ण में स्वातन्त्र्येण अर्थप्रत्यायन शक्ति मान लें तो पद के अन्य वर्णों का उच्चारण व्यर्थ ही जायेगा। इसलिए यह विचार ठीक नहीं है। और न ही आशुविनाशी वर्णों का एक काल में स्वरूपतः सहावस्थान (साहित्य) ही सम्भव है, जिससे प्रत्येक वर्ण के तत्-तत् ज्ञान से जायमान संस्कारों के माध्यम से वर्णों का साहित्य हो सके। अतः वाचस्पतिमिश्र ने मीमांसकों के वर्णवाचकता सिद्धान्त का विस्तृत रूप से खण्डन करते हुये कहा कि यह अत्यन्त दोषपूर्ण है। क्योंकि जैसे धागे के बिना केवल फूलों से ही माला की प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार एक दूसरे से विलक्षण वर्णों को एकत्र अवस्थान होने पर भी उन अनेक वर्णों में अनुस्यूत होने वाले किसी एक अभिन्न निमित्त के बिना 'यह एक पद है'—ऐसी प्रतीत नहीं हो सकती।

उच्चारण के बाद नष्ट होने वाले वर्णों का समूह संभव नहीं। अतः वैयाकरणों एवं योगाचार्यों के मत में एकार्थबोधत्व तथा पदत्व वर्ण-समूह में नहीं अपितु स्फोट में ही है। योगदर्शन के आचार्यों के अनुसार अभिव्यंजक होने पर भी प्रथम वर्ण स्फोट की अभिव्यक्ति अस्पष्ट रूप में ही करता है। जैसे-जैसे वर्ण आते हैं वैसे-वैसे वे उत्तरोत्तर अभिव्यंजक क्रम से स्फोट को स्तष्टतर और अंत में स्पष्टतम अर्थात् सबसे अधिक स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त कर देते हैं। इस तरह वर्ण से स्फोट की अभिव्यक्ति पहले अस्फुट होती है बाद में वह स्फोट द्वितीय आदि वर्णों से स्फुट, स्फुटतर व स्फुटतम होता चला जाता है। अतः वर्ण चाहे स्फोट की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से करे या अस्पष्ट रूप से, वह अभिव्यंजक है।

जिस प्रकार वेद एक बार पढ़ने से समझ में नहीं आता, किन्तु अभ्यास से स्फुट होने लगता है। उसी प्रकार अन्तिम वर्ण का उच्चारण होते ही सारे के सारे संस्कार उद्बुद्ध हो जाते हैं तथा यह शब्द है यह ज्ञान होता है। इसलिए इस शब्द से हम अर्थ की प्रतीति करते हैं। ऐसा व्यवहार करने के कारण यह सिद्ध नहीं होता कि वर्ण अर्थ के वाचक हैं, प्रत्युत यह प्रतीति होती है कि शब्द अर्थ के वाचक हैं। अतः भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है कि अवयवों से रहित, अर्थबोधक तत्त्व स्फोट को ही हमें स्वीकार करना चाहिये।

(v) वेदान्त मत

स्फोट सिद्धान्त के विषय में वेदान्त दर्शन का मत मीमांसा के समान ही है। आचार्य शंकर ने भी स्फोट को अनावश्यक ही बताया है। शब्द के अवयवभूत वर्ण ही निश्चित अर्थ के साथ सम्बद्ध होते हैं, और वर्णों की संहति का उस निश्चित अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य होता है। वर्ण ही निश्चित अर्थ के साथ हमारे ज्ञान के विषय होते हैं। पृथक्-पृथक् वर्णों की प्रतीति के फलस्वरूप बुद्धि वर्णों की संहति को शब्द के रूप में उसके निश्चित अर्थ के साथ ग्रहण कर लेती है। इनके मत में वर्णविषयक अनुभवजन्य संस्कार से ही अर्थ विषयक बुद्धि सम्पन्न होती है। अतः जब स्फोटवादी दृष्ट वर्णों का ही अर्थ बोधकत्व नहीं मानते अर्थात् उन वर्णों में अर्थबोधक शक्ति नहीं मानते तो अदृष्ट स्फोट की कल्पना करना उचित नहीं है।

(vi) जैनमत

जैन दार्शनिक भी स्फोटवाद को स्वीकार नहीं करते। जैनों का कहना है कि पूर्व वर्णों के नाश से विशिष्ट अन्तिम वर्ण से ही अर्थ का बोध हो जाता है। अथवा पूर्व वर्णों के ज्ञान के संस्कार से सहित अन्तिम वर्ण अर्थ की प्रतीति कराता है। उस संस्कार से उत्पन्न स्मृति की सहायता से अन्तिम वर्ण पदार्थ का ज्ञान कराता है। वाक्य से अर्थ का ज्ञान भी इसी नियम से होता है। अतः जैनों का यह कथन है कि जब सहकारी कारणों की सहायता से अन्तिम वर्ण अर्थ का ज्ञान कर देता है तो स्फोट की कल्पना व्यर्थ है। जब दृष्ट कारणों से कार्य उत्पन्न हो सकता है तो अदृष्ट कारणान्तर की कल्पना करना अनावश्यक है। वादिदेवसूरि ने तो यह भी कहा है कि यदि अर्थप्रत्यायकत्व के आधार पर स्फोट को शब्द माना जायगा तो प्रत्यायक धूम में भी शब्दत्व माना जायेगा। दूसरा यह कि नारिकेल द्वीपवासी, जिसे गो शब्द का संकेत ज्ञान नहीं है, कभी भी गो शब्द से अर्थ का बोध नहीं कर सकेगा।[167] इस प्रकार पदवाक्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिये जैनाचार्य स्फोटवाद को स्वीकार नहीं करते।

जहाँ तक बौद्धों तथा चार्वाकों का सम्बन्ध है उन्होंने इस सिद्धान्त की चर्चा भी नहीं की। शैव दर्शन के आचार्य शिवज्ञान योगी ने भी स्फोट शब्द का प्रयोग तो नहीं किया, परन्तु वे शब्दों के अवयव भूत वर्णों में एक ज्ञापक शक्ति (Informative potency) मानते हैं जिसे कि स्फोट के समान बताया गया है।[168]

स्फोट के उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि निश्चय ही यह विवाद का विषय है। जो दार्शनिक वर्णों के वाचकत्व के समर्थक हैं, वे तो कहते हैं कि वर्णों

के अनुभय से उत्पन्न संस्कार स्मृति का उत्पादक होता है । इसलिए संस्कारों का समुदाय अन्त्यवर्णानुभव का सहकारी होकर अर्थ ज्ञान का जनक हो सकता है इसलिये स्फोट की कल्पना व्यर्थ तथा गौरवयुक्त है । जबकि स्फोटवादी वैयाकरण पतंजलि, भर्तृहरि, नागेश भट्ट तथा योगाचार्य व्यास, वाचस्पतिमिश्र आदि ने मीमांसकों के मत का खण्डन करते हुये कहा कि ऐसा मानने में अतिप्रसंगादि अनेक दोष होंगे, इसलिये वर्ण पद और वाक्य अर्थ के बोधक नहीं अपितु नित्य स्फोट ही अर्थ का प्रतिपादक है ।

इतना स्पष्ट है कि कोई भी मनुष्य जब शब्द के माध्यम से किसी वस्तु को बताता या जानता है तो वह सम्बद्ध वर्णों का प्रयोग या उपयोग करता है, न कि स्फोट का ।

वैसे स्फोट का स्वरूप प्राचीन काल से ही अस्पष्ट रहा है । जैसे-जैसे उसके स्वरूप भिन्न-भिन्न रूप में सामने लाये गये, वैसे-वैसे उसकी आलोचना भी विभिन्न दृष्टिकोणों से की जा रही है । स्फोट सम्बन्धी विभिन्न विश्लेषणों से भी स्फोट का स्वरूप सुलझने की अपेक्षा जटिलतर होता गया है । स्फोट सिद्धान्त ने प्राचीन आलोचकों में भामह आदि आलंकारिक भी उल्लेखनीय है । भामह ने स्फोट के स्वरूप का निर्देश नहीं किया है । क्योंकि वे स्फोटवाद को आकाश कुसुम सदृश बताते हैं । अनादिकाल से व्यवहार द्वारा अर्थबोध का एक समय (परिपाटी) निश्चित हो चुका है । अर्थ केवल सांकेतिक होते हैं, परमार्थिक नहीं । शब्द और अर्थ का सम्बन्ध एक कल्पित समझौते पर आधारित है । वर्ण अथवा नाद से सूक्ष्म किसी ध्वनितत्त्व की सत्ता को सर्वात्मना अंगीकार करना अवैज्ञानिक है ।

न्यायमत का सार जयन्त भट्ट के इस कथन में स्पष्ट हो जाता है कि वर्ण ही पद और वाक्यत्व को प्राप्त होकर अर्थ के वाचक होते हैं । इस कार्य के लिये स्फोट को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ।[169] विश्वनाथ का भी यही मत है ।[170]

6. शब्दप्रमाण की उपयोगिता

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, प्रमाणों की संख्या के सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद रहा है । चार्वाक, बौद्ध और वैशेषिक शब्द का पृथक् प्रमाणत्व स्वीकार नहीं करते । जबकि नैयायिक, मीमांसक आदि अन्य दार्शनिकों ने शब्द को पृथक् प्रमाण माना है । किसी भी प्रमाण की उपयोगिता प्रमुख रूप से इस बात पर निर्भर है कि शास्त्रकारों द्वारा उसका पृथक् अस्तित्व

सामान्यत: स्वीकार किया जाता है या नहीं, और लोकव्यवहार में उसका प्रयोग किया जाता है या नहीं। इस दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि अधिकतर शास्त्रकार शब्द को प्रमाण स्वीकार करते हैं और सामान्य व्यवहार में आम लोग भी इसका प्रयोग करते हैं। अत: इसकी उपयोगिता वैसे तो स्वत: स्पष्ट है। फिर भी इसके अस्तित्व के पक्ष और विपक्ष में प्रस्तुत तर्कों का संक्षेप में उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा।

बौद्धों और वैशेषिकों का इस सम्बन्ध में तो मतैक्य है कि शब्द पृथक् प्रमाण नहीं है, किन्तु जहाँ बौद्ध शब्द का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों में मानते हैं वहाँ वैशेषिकों के मतानुसार उसका अन्तर्भाव केवल अनुमान में ही होता है। चार्वाकों के बारे में तो यह स्पष्ट ही है कि वे प्रत्यक्ष के अतिरिक्त कोई अन्य प्रमाण नहीं मानते। बौद्धों और वैशेपिकों ने शब्द के प्रमाणत्व का निषेध निम्नलिखित आधार पर किया है।

बौद्ध प्रमाण व्यवस्था के पक्षपाती हैं। उन्होंने दो प्रकार के प्रमेय माने हैं—स्वलक्षण और सामान्य लक्षण। और उनके ज्ञान के लिये क्रमश: दो ही प्रमाण माने हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। उनके मतानुसार जैसे अनुमान परोक्ष अर्थ के लिये प्रवृत्त होता है जैसे शब्द नहीं होता। अत: शब्द को प्रमाण नहीं माना जा सकता।[171]

शब्द का बाह्यार्थ के साथ अविसंवाद होता तो शब्द को प्रमाण माना जा सकता था, किन्तु शब्द का बाह्यार्थ से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। शब्द और अर्थ के बीच तादात्म्य या तदुत्पति सम्बन्ध भी नहीं है। तादात्म्य इसलिये नहीं कि दोनों भिन्न रूप में प्रतिभाषित होते हैं और उत्पत्ति इसलिये नहीं कि दोनों में अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है। अत: शब्द से केवल वक्ता की विवक्षा का पता चलता है और विवक्षा अज्ञान से भी हो सकती है।[172] धर्मकीर्ति के इन कथनों का शान्तरक्षित और मोक्षाकर गुप्त आदि ने भी समर्थन किया है। आचार्य शान्तरक्षित ने भी पहले तो विसंवादी होने के कारण शब्द को अप्रमाण ही बताया किन्तु बाद में शब्दार्थ सम्बन्ध की समीक्षा करते हुये यही कहा कि शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में किया जाना चाहिये क्योंकि सम्पूर्ण वचनों द्वारा वक्ता की विवक्षा का अनुमान किया जाता है। इनमें कार्यकारण भाव का निश्चय प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से किया जाता है। अत: शब्द प्रमाण प्रमिति का पृथक् साधन नहीं है।

आचार्य दिङ्नाग के अनुसार शब्द के द्वारा अर्थ का निश्चय अनुमान प्रमाण से होता है और शब्द सुनने के बाद होने वाला यथार्थज्ञान अर्थ से प्रत्यक्ष होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण है। अतः दिङ्नाग भी शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान एवं प्रत्यक्ष में करते हुये प्रतीत होते हैं।

वैशेषिकों ने शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में माना है। उनके प्रमुख तर्क निम्नलिखित हैं।[173]

(1) अनुमानस्थल में लिंग एवं लिंगी के सम्बन्ध बोध (अविनाभाव) के स्मरण की अपेक्षा होती है, और यही स्थिति शाब्दज्ञान के स्थल में भी रहती है। शब्द एवं उसके वाच्य के सम्बन्ध का स्मरण किये बिना केवल शब्द के सुनने से शाब्दज्ञान उत्पन्न नहीं होता। अतः शब्द व अनुमान अभिन्न हैं।

(2) अनुमान प्रमाण से भूत, भविष्यत्, व वर्तमान इन तीनों कालों से सम्बद्धपदार्थों का ज्ञान होता है और वही स्थिति शब्द प्रमाण में भी होती है।

(3) जैसे अनुमान का विषय अप्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार शब्द प्रमाण का विषय भी अप्रत्यक्ष होता है। अतएव शब्द प्रमाण अनुमान प्रमाण से अभिन्न है।

(4) भिन्न-भिन्न प्रमाणों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान भिन्न-भिन्न प्रकार का हुआ करता है। उदाहरण के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण से उत्पन्न हुआ ज्ञान अन्य प्रकार का होता है और अनुमान प्रमाण से उत्पन्न हुआ ज्ञान अन्य प्रकार का। किन्तु अनुमान तथा शब्द इन दोनों प्रमाणों से उत्पन्न दो समान विषयक ज्ञान एक ही प्रकार के प्रतीत होते हैं, अतएव शाब्द प्रमाण अनुमान के अतिरिक्त कुछ नहीं।

(5) अनुमान में किसी विषय का ज्ञान उससे सम्बद्ध पदार्थ के ज्ञान से होता है। जैसे अग्नि का ज्ञान धूम-दर्शन से होता है। शब्द प्रमाण में भी शब्द के सुनने के बाद उससे सम्बद्ध अर्थ का ज्ञान होता है। तात्पर्य यह है कि जैसे ज्ञात लिंग के पश्चात् अज्ञात लिंगी का अनुमान होता है, उसी तरह ज्ञान शब्द के द्वारा अज्ञात अर्थ का बोध होता है। इसलिये दोनों में वस्तुतः कोई भिन्नता नहीं दिखाई देती।

(6) प्रशस्तपाद कहते हैं कि पदों के श्रवण के बाद 'ये पदार्थ' आकांक्षा, योग्यता तथा आसत्ति युक्त पदों से स्मारित होने के कारण परस्पर संसर्ग वाले हैं। जैसे "डंडे से गाय को हटाओ" इन पदों से स्मारित पदार्थ परस्पर संसर्गयुक्त हैं। अतः अनुमान से संसर्ग की सिद्धि होने से शब्द को अलग प्रमाण मानने की

कोई आवश्यकता नहीं है। पद अपने द्वारा निर्दिष्ट पदार्थों के संसर्ग के ज्ञान के साथ उच्चरित किये जाते हैं। आकांक्षा आदि युक्त होने और अनुमान से ही संसर्ग के सिद्ध हो जाने से शब्द को अलग प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार इन दोनों प्रकारों से संसर्ग की अनुमिति हो सकती है। अतः प्रशस्त-पाद का मत है कि शब्द को पृथक् प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

न्याय, सांख्य योग, मीमांसा, वेदान्त तथा जैन दर्शन के आचार्यों ने शब्द प्रमाण के पृथकत्व का प्रतिपादन करते हुये अनुमान में उसके अन्तर्भाव का खण्डन किया है। उनके तर्क निम्नलिखित हैं।—

(1) अनुमान और शब्द को एक नहीं माना जा सकता, क्योंकि अनुमाता को अनुमेय विषय का भूतकाल में कभी न कभी प्रत्यक्ष हुआ रहता है जबकि शब्द प्रमाण में बहुत से विषय कम-से-कम श्रोता के लिये कभी प्रत्यक्ष नहीं रहा करते।

(2) तीनों कालों से सम्बद्ध होने के कारण भी शब्द अनुमान प्रमाण में अन्तर्भूत नहीं हो सकता। तात्पर्य टीकाकार के अनुसार संशयादि भी त्रिकाल सम्बद्ध हुआ करते हैं, किन्तु संशय को प्रमाण नहीं माना जाता।

शब्द के प्रमाण के स्वरूप का विवेचन करते हुए प्रशस्त पाद ने 'समानविधि' के कारण शब्द प्रमाण को अनुमान में अन्तर्भूत माना। प्रशस्त का कथन है कि शब्द प्रमाण को मानने वाले लोग पदार्थों के संसर्ग को ही वाक्यार्थ मानते हैं। 'संसर्ग-बोध' अनुमान से ही हो सकता है। किन्तु अनुमान में शब्द के अन्तर्भाव को स्वीकार न करने वाले आचार्यों का यह कथन है कि स्वर्ग, अपूर्व व देवता आदि ऐसे विषय हैं, जिनका ज्ञान लौकिक व्यक्ति को न तो प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही हो सकता है और न अनुमान प्रमाण द्वारा ही। ऐसे विषयों का ज्ञान केवल आप्त पुरुष के उपदेश से होता है। इस प्रकार विश्वसनीय पुरुषों के उपदेशों के आधार पर शब्द और अर्थ का बोध होता है। व्याप्ति ज्ञान की सुदृढ़ नींव पर अवस्थित होने से अनुमान इस प्रकार के विश्वास के सहारे नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें लिंग-लिंगी के अव्यभिचरित सम्बन्ध का ज्ञान होना अत्यावश्यक है, इस प्रकार अनुमान और शब्द दोनों में अर्थतः और प्रवृत्तितः पर्याप्त वैलक्षण्य है।

(3) 'गाय लाओ' इत्याकारक वाक्य श्रवण के अनन्तर श्रोता को 'शब्दा-दर्थम् अनुमिनोमि'—(शब्द से अर्थ का अनुमान करता हूँ) ऐसा भान नहीं होता,

अपितु शब्दादर्थं प्रत्येमि' (शब्द से अर्थ का ज्ञान करता हूँ) यह अनुव्यवसाय होता है। अतः इस अनुव्यवसाय के आधार पर भी शब्द को पृथक् प्रमाण मानना उचित है।

(4) यह कहना उचित नहीं कि लिंग-लिंगी का जैसा सम्बन्ध अनुमान में पाया जाता है, वैसा ही शब्द और अर्थ में भी उपलब्ध होता है, जैसा कि वात्स्यायन ने कहा—शब्द और अर्थ में सम्बन्ध तो विद्यमान है, क्योंकि वह षष्ठी विभक्ति द्वारा ज्ञापित होता है; किन्तु यह अनुमान में पाया जाने वाला लिंग-लिंगी का व्याप्ति (स्वाभाविक) जैसा सम्बन्ध नहीं है। यानी जैसे धूम को पर्वत पर प्रत्यक्ष देखकर वहाँ जाकर उससे सिद्ध होने वाली अग्नि को भी देखा जा सकता है, वैसे श्रवणेन्द्रिय से आप्तोपदिष्ट शब्द सुनकर उनको देखा नहीं जा सकता, जैसा कि अनुमान में सम्भव है। और फिर शब्द की प्रवृत्ति इन्द्रियातीत विषयों में भी पाई जाती है।

(5) उदयन ने प्रशस्तपाद के कथनों का खण्डन करते हुये कहा कि अनुमान से संसर्ग की सिद्धि का निश्चय करना अनैकान्तिक हेत्वाभास होगा। संसर्ग की संभावना मात्र को अनुमान द्वारा सिद्ध करने पर कोई निर्णय नहीं हो पाता। अनुमान में आकांक्षा स्वरूपसत् होकर ही वाक्यार्थ-बोध में हेतु बनती है, अतः शब्द प्रमाण स्थल में अनुमान नहीं हो सकता और आकांक्षा को छोड़कर यदि केवल योग्यता और आसत्ति को ही अनुमान में हेतु बनाया जाये, तो व्याप्ति शून्य होने पर उनमें अनुमापकता नहीं आ सकती।[174]

इसका विश्लेषण 'हरिदास' ने अधिक स्पष्ट रूप में किया है। वे कहते हैं कि वक्ता की बुद्धि में 'पय' शब्द के 'जल' और 'दूध' दोनों अर्थों में से किसी एक ही अर्थ (उदाहरणतया-जल) के साथ सिंचित का सम्बन्ध होगा, जबकि योग्यता, आकांक्षा आदि हेतु के अनुसार दूसरे अर्थ यानी दूध के साथ भी उसका संसर्ग अवश्य होना चाहिये, पर वह वक्ता का अभिप्रेत नहीं है। इसलिए अनुमान से पदार्थ संसर्ग रूप वाक्यार्थ बोध का निश्चय न होने से शब्द को अलग प्रमाण मानना होगा।

(6) अनुमान में लिंग ज्ञान की अपेक्षा होती है, परन्तु शब्दबोध में आकांक्षा के ज्ञान की नहीं, केवल उसकी सत्ता की आवश्यकता है अर्थात् अनुमान में **'ज्ञानसती'** और शाब्दबोध में **'स्वरूपसती' आकांक्षा** उपयोगिनी होती है। 'ज्ञानसती' का भाव है कि आकांक्षा के उस समय विद्यमान न रहने पर भी केवल उसके ज्ञानमात्र से अनुमान का काम चल जाता है, परन्तु शब्दबोध में अविद्यमान

आकांक्षा से काम नहीं चल सकता। वहाँ आकांक्षा सत्तया यानी स्पष्टरूप से विद्यमान होती है, जबकि अनुमान में उसके ज्ञान से ही काम चल जाता है। जैसे 'घट' कहने पर 'लाओ' आदि क्रिया की जिज्ञासा होती है। तथा 'लाओ' कहने पर 'घट' आदि की आवश्यकता होती है। शाब्दबोध में इस आकांक्षा की सत्ता अपेक्षित है। उसका ज्ञान हो या न हो। अनुमान में इसका ज्ञान हेतु है अतएव शब्द और अनुमान में पर्याप्त भेद होने से शब्द को अनुमान में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। यदि योग्यता तथा आसत्ति का प्रयोग आकांक्षा के स्थान पर करें तो भी संसर्ग की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि योग्यता और आसत्ति की संसर्ग के साथ व्याप्ति नहीं है। 'जहाँ-जहाँ योग्यता तथा आसत्ति हो, वहाँ-वहाँ संसर्ग भी हो यह आवश्यक नहीं। जैसे '**पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्**' इस वाक्य में राज्ञः 'पद का अन्वय पुत्र और पुरुष दोनों के साथ हो सकता है। इस प्रकार उसकी योग्यता और आसत्ति दोनों के साथ है। किन्तु वक्ता ने उसका सम्बन्ध किसी एक के साथ रखकर वाक्य का उच्चारण किया है। अतः दूसरे अर्थ के साथ उसका संसर्ग नहीं होगा। इस प्रकार निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में किसी प्रकार से नहीं किया जा सकता।

(7) 'विश्वनाथ पंचानन' द्वारा भी शब्द प्रमाण को अनुमान से पृथक् बताया गया। वे कहते हैं कि यदि शाब्दबोध स्थल में व्याप्तिज्ञान की कल्पना करें तो फिर अनुमानस्थल में भी पदज्ञान की कल्पना करके क्यों न शब्दबोध को ही स्वीकार कर लिया जाए।[175]

(8) 'जगदीश' तर्कालंकार ने भी शब्द प्रमाण को अनुमान से भिन्न बताते हुए कहा है कि अनुमिति और शाब्दज्ञान इन दोनों की रचना में अन्तर है।[176]

(9) जयन्त भट्ट ने भी बौद्ध तथा वैशेषिक मतों का विश्लेषण करने के उपरान्त अन्त में यही कहा है कि शब्द को ज्ञान का स्वतन्त्र साधन मानना ही अधिक उपयुक्त है। उनका अपना विचार इस प्रकार हैं कि पद और वाक्य भेद से शब्द दो प्रकार का है। इनमें से वाक्य अपने वाक्यार्थ बोध के उत्पादन में वाक्य और वाक्यार्थ के सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि अभिनव श्लोक सुनने के पश्चात् वाक्य व अर्थ के साथ वाक्य के सम्बन्ध का ज्ञान न रहने पर भी केवल तद्घटक पदों के ज्ञान से ही वाक्यार्थ-ज्ञान निष्पन्न हो जाता है। अतः वाक्यार्थ बोध के प्रति सम्बन्ध ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती, किन्तु सभी अनुमानों में हेतु और साध्य के नियत साहचर्य के सम्बन्ध की अपेक्षा रहती है। दूसरी बात यह है कि अनुमान की तरह, पद द्वारा अर्थविषयक बोध में सम्बन्ध की अपेक्षा

रहती है, किन्तु अनुमिति की सामग्री से पद ज्ञान जन्य शाब्दबोध की सामग्री भिन्न है। शाब्दबोध व अनुमिति के विषय भी भिन्न-भिन्न हैं।[177] धूम आदि हेतुओं से जो वह्नि विशेषक पर्वत विशेष्यक प्रतिपत्ति रूप अनुमिति होती है, उसमें पहले पर्वतादि विशेष्यों की प्रतिपत्ति की आवश्यकता रहती है, किन्तु पद से जो अर्थविषयक प्रतिपत्ति होती है उसमें पहले विशेषण की अवगति होती है और बाद में विशेष्य की।

(10) 'ईश्वर कृष्ण' ने शब्द प्रमाण का लक्षण करते हुए उसको अनुमान से भिन्न बताया।[178] वाचस्पति के अनुसार जैसे पर्वत पर वह्नि का ज्ञान कराने वाला धूम, महानस में वह्नि के साथ अपने पूर्वकालिक सम्बन्ध के ज्ञान की अपेक्षा रखता है, वैसे अपने अर्थ को बताने वाला वाक्य, पूर्वकालिक संबन्ध-ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता, अर्थात् सम्बन्ध नियम के बिना ही वाक्य अपने अर्थ को बता देता है।[179] क्योंकि अभिनव कवि के जिस वाक्य का उसके अर्थ के साथ पहले कभी किसी को सम्बन्ध ग्रहण नहीं हुआ है, ऐसे अश्रुतपूर्व तथा अननुभूतपूर्व वाक्य से भी अर्थज्ञान होना अनुभवसिद्ध है। अतः आगम या शब्द प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता।

'धर्मराजाध्वरीन्द्र' ने भी वैशेषिकों द्वारा अनुमान में शब्द प्रमाण के अन्तर्भाव की मान्यता का खण्डन किया है।[180]

(11) 'जैन दार्शनिक भी शब्द-प्रमाण को अनुमान में अन्तर्भूत नहीं मानते। पूर्व अभ्यास की स्थिति में शाब्दज्ञान व्याप्तिनिरपेक्ष होता है। व्याप्ति निरपेक्ष होने के कारण इसे अनुमान के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। जैन आचार्य 'यशोविजय' ने शब्द-प्रमाण की पृथक्ता को सिद्ध किया है।[181]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि शब्द को एक पृथक् प्रमाण के रूप में चार्वाक, बौद्ध तथा वैशेषिक दर्शनों के आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया, किन्तु पूर्वोक्त आधारों पर न्याय, सांख्य, वेदान्त तथा जैन दर्शन में शब्द का पृथक् प्रमाणत्व प्रतिपादित किया गया है। पक्ष और विपक्ष के तर्कों की समीक्षा करने पर यही कहना समुचित प्रतीत होता है कि शब्द प्रमाण का अपना निजी क्षेत्र व वैशिष्ट्य है। अतः उसका पृथक् प्रमाणत्व स्वीकार किया जाना उपयुक्त है।

—o—

छठें अध्याय के संदर्भ

1. शपत्यर्थम् आह्वयति, प्रत्याययति, शप्यते येन शपनमात्रं वा शब्दः।
2. आप्तवाक्यं शब्दः, आप्तस्तु यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा पुरुषः। वाक्यं त्वाकांक्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः, तर्कभाषा, सं० बदरीनाथ शुक्ल, सं० 1968, पृ० 149.
3. तत्र न तावत्तादात्म्यं शब्दार्थयोः अत्यन्तभेदेन प्रतिभासनात्।
   ...नापि तदुत्पत्तिः अन्वयव्यतिरेकाभावात्, बौ०त०भा०, पृ० 10.
4. "When a speaker utters a word, the hearer infers his intention as he infers the presence of fire from its effect, viz ; smoke In this inferential process the speaker is the minor term, his intention is the major term and the word is the middle term" Tattvasangraha, 1512-22 Epistemology of the Bhatta school of Purva Mimansa, p. 283.
5. यथार्थाभिधानं शब्दः, तत्वार्थाधिगम सूत्र, 1.35
6. (क) आत्प्तवचनाज्जातमर्थज्ञानमागमः, प० भु० सू० 3.99
   (ख) आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानभागमः,
   (ग) प्रमाणनयतत्वालोकालंकार, 4/9
   (घ) आप्तवचनादाविर्भूत-अर्थसंवेदनमागमः, जैनतर्कभाषा, पृ० 19 (सिंधी जैन ग्रन्थमाला, 1938)
7. (क) यथास्थितार्थपरिज्ञानपूर्वकहितोपदेशप्रवणआप्तः।
   (ख) आप्तः शंकरहितः, शंकाहि सकलमोहरागद्वेषादयः, नि० सा० ता० वृ० 5/11
   (ग) आप्तः प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थत्वे सति परमहितोपदेशकः, न्यादी० 113
8. मुनि नथमल, जैन दर्शन में प्रमाणमीमांसा, (कलकत्ता सं०) पृ० 96

9. नच व्याप्तिग्रहणबलेनार्थप्रतिपादकत्वात् धूमवदस्य अनुमानेऽन्तर्भावः, जै० त० भा०, पृ० 19 (सिंधी ग्रन्थमाला, 1938 सं०)
10. शब्दोपमानयोर्नैव पृथक् प्रामाण्यमिष्यते।
अनुमानगतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतम्॥
11. एतेन शाब्दं व्याख्यातम्, वै० सू० 1–2–3
12. शब्दादीनाम् अप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात् तथा प्रसिद्ध-समयस्यासंदिग्धलिंगदर्शन—प्रसिद्धयनुस्मरणाभ्यामतीन्द्रियेऽर्थे भवत्यनु-मानमेवं शब्दादिभ्योऽपीति, वै० भा०, पृ० 173.
13. शब्दानुमानं व्याप्तिबलेनार्थप्रतिपादकत्वात् धूमवत्।
14. आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु: सां० का० 5
15. आप्ता प्राप्ता युक्तेति यावत्। आप्ता चासौ श्रुतिश्चेति आप्तश्रुतिः, श्रुतिः वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानम्। आप्तग्रहणणेनायुक्ताः शाक्यभिक्षु निर्ग्रन्थकसंसारभोचकादीनाम् आगमाभासाः परिहृता भवन्ति।...'तु' शब्देनानुमानाद् व्यवच्छिन्नत्ति। सां० त० कौ० (मिश्र, आद्याप्रसाद), पृ० 30-31.
16. आगमो हि आप्तवचनम् आप्तं दोषक्षयाद् विदुः। क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयात् हेत्वसम्भवात्, माठरवृत्ति।
17. स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते शब्दात्तदर्थविषयावृत्तिः श्रोतुरागमः, व्या० भा० 1.1.7
18. शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्; श० भा० पृ० 105.
19. विज्ञाताच्छब्दात् पदार्थाभिधानद्वारेण यत् वाक्यार्थविज्ञानं तच्छब्दं नाम प्रमाणम्, असन्निकृष्टंग्रहणं च पूर्ववत्ताद्रूप्यतद्विपर्यय परिच्छेदनिरा-सार्थम्, शा० दी०
20. प्रकरणपंचिका, पृ० 88
21. यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते, तत् वाक्यं प्रमाणम्। वे० प० आगम परिच्छेदः पृ० 148.
22. धर्म इत्युपदेष्टव्यः कश्चिदर्थो विवक्षितः।
साक्षात्करणमेतस्य यथार्थ उपलम्भनम्॥
चिख्यापयिषया युक्त इत्युक्ता वीतरागता।
उपदेष्टेत्यनेनोक्तं प्रतिपादनकौशलम्॥

वीतरागोऽपि मूकादिरुपदेष्टुमशक्तः किं कुर्यात् ।
वक्तुं शक्तोऽपि साक्षात्कृतधर्माप्यवीतरागो न वक्ति तूष्णीमास्ते ।
तस्य च प्रतिपाद्येऽर्थे वीतरागत्वमिष्यत ।
सर्वथा वीतरागस्तु पुरुषः कुत्र लभ्यते ।।
ऋष्यार्यम्लेच्छसामान्यं वक्तव्यं चाप्त लक्षणम् ।
एवं हि लोकेऽप्याक्तोक्त्या व्यवहारो न नङ्क्ष्यति ।।
न्या० मं० 1–138

23. श्रोत्रग्राह्यवस्तुकरणिका तदर्थप्रतीतिरभिधानक्रिया, न्यां० मं० 1–138.

24. समयबलेनसम्यक्परीक्षानुभवसाधनमागमः, न्या० सा०; सम्यक् संशयादिविलक्षणज्ञानस्य साधनं करणं शब्दात्मकं वा चेष्टालिप्यक्षरादि यत् तत् सर्वमागमः । न्याय सार टीका ।

25. प्रयोगहेतुभूतार्थत्त्वज्ञानजन्यः शब्दः, त० चि०, शब्द खण्ड

26. (क) आप्तवाक्यं शब्दः, त० सं० पृ० 182 (सं० आनन्द झा)

(ख) आप्तवाक्यं शब्दः । आप्तस्तु यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा पुरुषः । वाक्यंत्वाकांक्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः. त० भा० पृ० 122.

27. वाक्यंत्वाकांक्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः, त० भा०, पृ० 122

28. 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेदु विभागे स्यात्'—'मीमांसा सू० 2/1/46 'एकार्थः पदसमूहो वाक्यम्'—शा० भा० पूर्ववत्

29. वाक्यं आकांक्षा, योग्यता, सन्निधिवशात् स्वार्थं प्रतिपादयति—जैमिनीयन्याय मा ला वि० 1/1/7, पदं परिपूर्ण पदान्तरमाकांक्षति, ततो वाक्यं भवति । श० भा० 10/2/14/44.

30. वाक्यं कर्तृकर्मक्रियापदसमूह :—न्याय सू० पृ० 695

31. अन्योऽन्यापेक्षाणां पदानां समुदायो वाक्यम्—जैनतर्क भा० पृ० 19.

32. महा भा० 2/1/1.

33. सुप्तिङन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता । अमर कोशः

34. सुप्तिङन्तचयो नैवमतिव्याप्त्यादि दोषतः, —शब्दशक्ति० श्लो० 13

35. वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः,—साहित्य द० 2/1, पृ० 24

36. साकांक्षावयवं भेदे परानाकांक्षशब्दकम् ।
क्रियाप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते ।। व्यक्ति वि० पृ० 46.

37. 'आख्यातशब्दः संघातो जातिः संघातवर्तिनी ।
एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्धयनुसंहृति ।।
पदमाद्यं पृथक्सर्वपदं साकांक्षमित्यपि ।
वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम् ।—वाक्य प० 2/1-2

38. पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकङ्क्षा, कि० पृ० 160

39. 'यत्पदेन विना यस्याननुभावकता भवेत्'—कारिका० व० पृ० 114.

40. 'स्वरूपयोग्यत्वे अजनितान्वयबोधकत्वमाकांक्षा, तेन घट कर्मत्वं, आनयनंकृति, इत्यत्र नान्वयबोधः, स्वरूपायोग्यत्वात् तर्कामृत— पृ० 39.

41. यत्पदाभावप्रयुक्तमन्वयबोधाजनकत्वं तत्पदसमभिव्याहृततत्पदत्व-मांकाक्षा—तर्ककिरणावली पृ० 135

42. तत्र पदार्थानां परस्परजिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वमाकांक्षा । वे० परि० पृ० 149.

43. आकांक्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः । स च श्रोतृजिज्ञासारूपः ।—साहित्य द० पृ० 2

44. अर्थाबाधो योग्यता—तर्क सं०, पृ० 160; 'पदार्थे तत्र तद्वता योग्यता परिकीर्तिता ।'—कारिका व० का० 83, पृ० 113.

45. बाधकप्रमाविरहो योग्यता'—तर्कामृत पृ० 40

46. 'योग्यता ज्ञानं न शाब्द हेतुः अपितु अयोग्यतातिक्षयस्य प्रतिबन्धक-तामात्रम् ।'—भाट्टमीमांसक 3/1/6

47. 'योग्यता च तात्पर्यविषयसंसर्गाबाधः ।'—वे० परि० पृ० 156.

48. 'योग्यता पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः'—साहित्य द० 2/1, पृ० 24.

49. वृद्धायुवान: शिशव: कपोता: खले यथमी युगपत्पतन्ति तथैव सर्वे युगपत् पदार्था: परस्परेणान्वयिनो भवन्ति—कारिका व० पृ० 72.
50. 'अव्यवधानेनान्वयप्रतियोग्युपस्थितिरासत्ति:'—तर्कामृ० पृ० 40.
51. 'आसत्तिश्चाव्यवधानेन पदजन्यपदार्थोपस्थिति:'—वे० परि० पृ० 156.
52. विलक्षणो बोध:, वाक्यार्थस्यापूर्वत्वेन। वाक्यार्थानामपूर्वत्वात् शब्द शक्ति प्रकाशिका।
53. न्या० मं०
54. तस्मात् व्यतिषक्ताभिधानम्, व्यक्तिषक्तेनावगते व्यतिषंगस्य, बृहती।
55. पदे न वर्णाभिद्यन्ते वाक्येष्ववयवा न च।
प्रविवेको न कश्चन ।।, वा० प०
56. (क) भूयांसो यद्यपि स्वार्था: पदानां ते पृथक् पृथक् प्रयोजनतयात्वेक-वाक्यार्थं संप्रचक्षते, प्रकरणपंचिका (वाराणसी, 1904), पृ० 2
(ख) Prabhakara and his followers contend that it is the position which has real significance. A singal word in isolation is never found in use. The proposition is the real unit which carries a useful meaning. Individual words are possessed of significance only in so far as they are elements of proposition.—Philosophy of words and meaning—S. N. Gauri p. 173.
57. संस्कृत व्याकरणदर्शन, त्रिपाठी, रामसुरेश, पृ० 412
58. (क) उभयोरपि वादिनोरनेकसाधारणान्वितप्रतिपादकत्वशक्तिरेकवाक्यतया मिथो नियम्यते इति एतावद् अवश्यं कल्प्यम्··· पदस्य तु भवान् विशिष्टे शक्तिं कल्पयति वयं तु स्वरूपमात्र इति महान् विशेष:, न्या० र० पृ० 103;
(ख) In the theory of Kumarila the meaning of a word, though capable phrase of combination with any other fact, brings itself into relation with the meaning actually expressed by another word actually occurring in the same sentence. This much is common between the

two positions. But where as the Prabhakara makes a related meaning the denotation of the word, this theory posts the meaning to be a simple unrelated fact.—Philosophy of word and meaning, p. 188.

59. अभिधात्री मता शक्तिः पदानां स्वार्थनिष्ठता।
तेषा तात्पर्यशक्तिस्तु संसर्गावगमावधिः ॥ (न्या० मं० 1–372)

60. वाक्यार्थप्रत्यये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्
पाके ज्वालेव काष्टानां पदार्थप्रतिपानम्। श्ले०

61. सेयं व्युत्पत्तिमूला पदविसरसमुद्भिद्यमानांकुरश्रीः
संस्कारोदारपत्रा कुसुमचयवती प्रोल्लसद्भिः पदार्थैः।
प्रज्ञावल्ली विशाला फलति फलमिद स्वादुवाक्यार्थतत्त्वैः
नैराकांक्ष्यं लसदभिहृदयमुपगते यान्ति यस्मिन् पुमांसः ॥ न्या० म०

62. Bhoja's Sri Pra. Prof. v. Raghavan Chapt. I pp. 161-8.

63. Indian Theories of Meaning K. Kunjihani Raja p. 221.

64. अर्थप्रतिपादनद्वारा श्रोतुः पदान्तरविषयामर्थान्तरविषयां वाकाङ्क्षां जनयतां प्रतीयमानपरस्परान्ययोग्यार्थप्रतिपादकानां सन्निहितानां पदानां समूहो वाक्यम्। त० भा० (श्री नि० शास्त्री), पृ० 128.

65. विभक्त्यन्ताः पदम्, न्या० सू० 2.2.57.

66. यथादर्शनं विकृता वर्णा विभक्त्यन्ताः पदसंज्ञा भवन्ति, न्या० भा०, 2.2.5.

67. (क) शक्तं पदम्। तच्चतुर्विधम्। क्वचिद्यौगिकं क्वचिद्रूढं, क्वचिद्योगरूढम् क्वचिद्यौगिकम्। न्या०सि०मु० (शब्द खण्डः)
(ख) शक्तं पदम्। त० सं० (शब्द खण्डः)

68. पदं च वर्णसमूहः। समूहश्चात्र एकज्ञानविषयीभावः···पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृतेन अन्त्यवर्णसम्बन्धेन पदव्युत्पादनसमयग्रहानुगृहीतेन श्रोत्रेणैकदैव सदसदनेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीतिर्जन्यते सहकारिदाढ्यात् प्रत्यभिज्ञानवत्। त० भा० (श्रीनि०) पृ० 129.

69. 'संकेता लक्षणाचार्थे पदवृत्तिः'—शक्तिवाद

70. 'नव्यास्तु ईश्वरेच्छा न शक्तिः किन्तु इच्छामात्रमेव शक्तिः'

71. रूढं संकेतवन्नाम सैव संज्ञेति कीर्त्यते ।
नैमित्तिकी पारिभाषिक्योपाधिक्यपि तद्‌भिदा ।। श० श० प्र०, 17
जात्यवच्छिन्नसंकेतवती नैमित्तिकी मता ।
जातिमात्रे हि संकेताद्‌व्यक्तेर्भानं सुदुष्करम्,
उभयावृत्तिधर्मेण संज्ञा स्यात् पारिभाषिकी,
औपाधिकी त्वनुगतोपाधिनाया प्रवर्त्तते ।। श०श०प्र०, 22.

72. रूढ़ च लक्षकञ्चैव योगरूढ़श्च यौगिकम् ।
तच्चतुर्द्धा परै रूढयौगिकं मन्यतेऽधिकम् । श०श०प्र०, 16

73. यत्रावयवार्थ एव बुध्यते तद्यौगिकम्—न्या० सि० मु० 483

74. योगलभ्यार्थमात्रस्य बोधकं नाम यौगिकम् ।
समासतद्धितान्तं च कृदन्त चेतितत्त्रिधा, 30.

75. 'यत्रावयवशक्तिनैरपेक्ष्येण समुदायशक्तिमात्रेण बुध्यते तद्रूढ़म् ।
न्या० सि० मु० 583,

76. न्वान्तनिर्विष्ट शब्दार्थ स्वार्थयोर्बोधकृन्मिथः ।
योगरूढ़ं न यत्रैकं बिना त्न्यस्यास्ति शाब्दधीः ।। वही 26 ।।

77. 'यत्र तु यौगिकार्थरूढ्यर्थयोः स्वातन्त्र्येय बोधस्तद्योगिकरूढ़म् ।
न्या० सि० मु०, पृ० 587

78. रूढ़यौगिकमप्यधिकं नाम । यथा मण्डप महारजतादि तद्धि कदाचिद-वयववृत्त्या योगार्थभेदं कदाचिच्च समुदायशक्या रूढ्यर्थमेवाभिधते इत्यपरेषां मतम्, पृ० 75.

79. 'शक्तिस्त्रिधा, रूढ़िर्योगो योगरूढिश्च ।' मंजूषा, पृ० 106.

80. "रूढ़ाना हि धर्मनियमाय यथाकथंचिद् व्युत्पत्तिः क्रियते । न तु व्युत्पत्तिवशेन रूढ़योऽवतिष्ठन्ते ।" शृंगार प्रकाश, पृ० 67.

81. अष्टा० 5, 1, 19, अष्टा 3, 2, 56 । मंजूषा पृ० 187 । प्रदीप, महा० 3, 2, 56.

82. वाक्य० 3, पृ० 691, वाक्य० 2, 37; 1, 129; 1, 139; 2, 127 से 128; 2, 179.

83. (क) निरुक्त, डा० लक्ष्मण स्वरूप संपादित पृ० 28.

84. औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः—शावरमा० 1/1/5.

85. वाच्यवाचकसम्बन्धनित्यता या प्रसाधिता।
शब्दनित्यता सा स्यात् तेन सन्नित्यतोच्यते ॥ 1/1/6-23

86. 'सम्बन्धावगमश्च प्रमाणत्रयसम्पाद्यः'—प्रमेयकमल मा० पृ० 1/6

87. श्लो० वा० सम्बन्धाक्षेपपरिहारः, श्लो० 140, 141।

88. शब्दार्थयोः समयापरनामा च वाच्य-वाचकभावः सम्बन्धः, न्या० म० पृ० 142।

89. श्लोक वा० 1 से 46 तथा सम्बन्धाक्षेपपरिहार, श्लो० 1 से 14

90. वे० परि० पृ० 161।

91. सिद्धेशब्दार्थसम्बन्धे। नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः, महाभाष्य, अ० 1; अभिधानं पुनः स्वाभाविकम्, महा० 2. 1. 1।

92. अनित्येऽर्थेकथं सम्बन्धस्य नित्यतेति
चेद्-योग्यतालक्षणत्वात् सम्बन्धस्य। तस्याश्च शब्दाश्रयत्वात् शब्दस्य च नित्यत्वात्, प्रदीप, महा० 1.

93. सम्बन्धस्य न कर्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः।
शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्धः स्यात् कृतः कथम्।
वाक्य पदी० 1.26 की व्याख्या में हरिवृषभ द्वारा उल्लिखित।

94. नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः समाम्नाता महर्षिभिः
सूत्राणां चानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः ॥ वाक्य 1.23.

95. ज्ञानं प्रयोक्तुर्बाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते।
शब्दैरुच्चरितैस्तेषां सम्बन्धः समवस्थितः ॥ वाक्य० 3

96. नाभिधानं स्वधर्मेण सम्बन्धस्यास्ति वाचकम्। अत्यन्तपरतन्त्रत्वात् रूपं नास्यापदिश्यते, वाक्य 3

97. (क) शब्दार्थव्यवस्थापनादप्रतिषेधः। सामयिकाच्छदार्थ प्रत्ययस्य, न्या० सू० 2. 1. 54-55.

(ख) वर्षादिवद्भवोपाधिः वृत्तिरोधः सुषुप्तिवत्।
उद्भि द्वृश्चिकवख्र्णाः भायावत् समयादयः, न्या० कु० 2, 2

98. (क) न्या० सू० न्याभा० 2/1/53, 54, न्या० वा० 2/1/54
(ख) पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभाव: । न्या० भू० 2/1/54
99. मीमांसा सू०, शा० भा० पृ० 12.
100. अन्यथैवाग्निसंबंधाद्दाहं दग्धोऽभिमन्यते ।
अन्यथा दाहशब्देन दाहाद्यर्थ: प्रतीयते ।। प्रमेयकमलमा, 2/425,
101. न्या० सू० 2/1/55
102. "शब्दादर्थप्रत्ययस्य व्यवस्थादर्शनादनुमीयते अस्ति शब्दार्थसम्बन्धो व्यवस्थाकारणम् । असम्बन्धे हि शब्दमात्रादर्थमात्रे प्रत्ययप्रसंगास्तस्माद-प्रतिषेध: सम्बन्धस्येति ।"—न्या० मा० 2/1/55 पृ० 125.
103. 'सामयिकत्वाच्छब्दार्थसंप्रत्ययस्य'—न्या० सू० 2/1/56.
104. शब्दार्थवसम्बद्धौ, वै० सू० 7/2/18; 'सामयिक: शब्दार्थप्रत्यय:' वै० सू० 7/2/20.
105. तत: संकेतकृतमेव वाचकत्वम्—त० वै०, पृ० 81
'वाच्यवाचकभाव: सम्बन्ध: शब्दार्थयो:—सां० सू० 37
106. 'शब्दार्थ' प्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्पर्वभूतरुत ज्ञानम् । यो० सू० 3/17; ? गौरिति शब्दो, गौरित्यर्थौ, गौरिति ज्ञानम्', योग भा० 3/17
107. सर्व एव शब्दा सर्वाकारार्थाभिधानसमर्था इति स्थित एवैषां सर्वाकारै-रर्थैं; स्वाभाविक: सम्बन्ध: । ईश्वरसंकेतस्तु प्रकाशको नियामकश्च—त० वै० पृ० 81/82
108. तेन पूर्वसम्बन्धानुसारेण संकेत: क्रियते भगवतेति, त० वै० पृ० 82; यद्यपि सह शक्त्या प्रधानसाम्यमुपगत: शब्दस्तथापि पुनराविर्भवैस्तच्छ-क्तियुक्त एवाविर्भवति । त० वै० पृ० 82
109. स्वाभाविकसामर्थ्य समयाभ्यामर्थ निबन्धनं शब्द:
110. प्रमेयकमलमा, पृ० 123.; "सहजयोग्यतासंकेतवशाद्धि शब्दादयो वस्तु प्रतिपत्तिहेतव: ।। यथामेर्वादय: सन्ति"—परीक्षामु, 3/100, 110
111. वाच्यवाचकभावोऽपि तर्केणैवगम्यते । अयं च तर्क: सम्बन्धप्रती-त्यन्तरनिरपेक्ष एव स्वयोग्यतासामर्थ्यात् सम्बन्धप्रतीतिं जनयतीति नानवस्था, जैन तर्क भाषा, पृ० 11

112. 'सम्बन्धस्यानित्यत्वं भित्तिव्यवाये चित्रवत्'—प्रमेय कमल मार्तण्डसार, पृ० 124

113. सामयिकत्वाच्छब्दार्थ सम्प्रत्ययस्य, न्या० सू० 1,1.56.

114. 'न सम्बन्धकारितं शब्दार्थव्यवस्थानम् समयकारितम्'—न्या० मा० 2/1/56, पृ० 125.
'अभिधानाभिधेयानियोग:'—न्या० मा०' पृ० 125.

115. न्याय० वा० 2/1/56;

116. तात्पर्य टीका 2/1/55

117. 'तत्रापि वृत्या पदजन्यत्वं बोध्यम्' इत्युक्तम्, कारिका व० पृ०

118. 'शक्ति धी: सहकारिणी'। पदजन्यपदार्थोपस्थितिघटकं पदजन्यत्वं वृत्तिज्ञानसहकारेण बोध्यम् इति प्रघट्टाकाश: (न्या सि० मु० विलासिनी टी०)

119. तत्वचिन्ता म० भाग 4, पृ० 627

120. Meaning of Meaning, P. 9–10

121. 'एकशतं षष्ठ्यर्था: यावन्तो वा सन्ति। लोके बहवोऽभिसम्बन्धा आर्थयौना मौखा: स्त्रैणाश्चेति।' महा० भा० 1/1/49

122. जातिमेवाकृतिं प्राहुर्व्यक्तिसक्रियते यथा।
सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनमिति॥ 'श्लोकवार्त्तिक (आकृति) 3, 'आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्'—श० भा० 1/3/11/33

123. 'जातेर्व्यवितसमानसम्वित्संवेद्यत्वात् वे० परि० पृ० 164.

124. न्या० सू० 2/2/63

125. न्या० भा० 2/2/68

126. न्या० वा० 2/2/67, पृ० 3/9

127. एकं द्विकं त्रिकं चाऽथ चतुष्कं पंचकं तथा।
नामार्थ इति सर्वेऽमी पक्षा: शास्त्रे निरूपिता:॥
वैयाकरणभूषण सा० का० 25

128. 'न ह्याकृतिपदार्थिकस्य द्रव्यं न पदार्थो, द्रव्यपदार्थिकस्य वा आकृतिर्न पदार्थ:। उभयोरुभयं पदार्थ:। कस्यचित्तु किंचित् प्रधानभूतं किंचिद् गुण

भूतम् । आकृतिपदार्थिकस्याकृतिः प्रधानभूता, द्रव्यं गुणभूतम् । द्रव्य-पदार्थिकस्य द्रव्यं प्रधानभूतमाकृतिर्गुणभूता ।' महा० 1, 2, 64.

129. 'संकेतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च ।' साहित्य द०, प्र० का ४

130. 'यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव, तथाप्या-नन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र संकेतः कर्तुं न युज्यते इति गौः शुक्लः चलो डित्थः इत्यादीनां विषयविभागो न प्राप्नोति इति तदुपाधावेव संकेतः, काव्य प्र० पृ० 26

131. उत्पन्नः को विनष्टः क इति बुद्धेरनित्यता ।
सोऽयं क इति बुद्धिस्तु साजात्यमवलम्बते ।।
तदेवौषधमित्यादौ सजातीयेऽपि दर्शनात् ।
तस्मादनित्या एवेति वर्णाः सर्वे मतं हिनः ।।

132. श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः'—2/2/2.

133. वै० सू०—2/2/3

134. यत्र च दूरे वीणादावुपन्नः शब्दः, तत्र सन्तानक्रमेणोत्पद्यमानः शब्दः कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नमाकाशदेशमासादयन् गृह्यते, तेन शब्दादपि शब्दनिष्पत्तिः — उपस्कार : 2/2/2

135. पुदगलद्रव्यविकारो हि शब्दः नाकाशगुणः । तस्योपरिष्टात युक्तिर्वक्ष्यते ।'—रा० वा० 5/18/12/468/4, वर्णोऽकारादि, पौद्गलिकः, तर्क भा० पृ० 10 । न्या० मंज०, पृ० 198. । शब्दपरमाणव एव संहताः श्रोतेन्द्रियग्राह्याः शब्दाकाराः—प्रमा० समु० टीका (जिनेन्द्र बुद्धि) पृ० 77

136. यथा गगने विकीर्णान्येवाभ्राणि वायुना प्रचीयन्ते, तथा वायुना विकीर्णा एवं परमाणवः संधीभवन्तः शब्दत्वं प्रतिपद्यन्ते यथोक्तम् शब्द पुद्गल पर्यायः स्कन्धः छाया तपादिवत्' (सि० वि० टि० 1/२)

137. 'आर्हतास्त्वाहुः सूक्ष्मैः शब्दपुद्गलैः आरब्धशरीरः शब्दः स्वप्रभवभूमेः निष्क्रम्य प्रतिपुरुषं कर्णमूलमुपसर्पतीति ।'

138. पा० सू० 1/2/53

139. वाक्० प० 1/23

140. आदिमत्वादैन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च, न्या० सू० 1.2.13.

141. (क) अलमतिविततोक्त्या त्यज्यतां नित्यवादः,
कृतक इति नयज्ञैर्गृह्यतामेष शब्दः।
सति च कृतकभावे तस्य कर्त्ता पुराणः
कविरविरत्नशक्तिर्युक्त एवेन्दुमौलिः ।। न्या० म० 213
(ख) Indian theory of knowledge, Based upon Jayanta's Nyayamanjari p. 220.

142. शक्ति ग्रहं व्याकरणोपमान—
कोषाप्तव्याक्यद्व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति,
सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ।।

143. लोकतोऽर्थप्रयुक्तेशास्त्रेण धर्मनियमः, महा० भा० अ०।

144. नास्माभिरपोहशब्देन विधिरेव केवलोऽभिप्रेतः। नाप्यन्यव्यावृत्तिमात्रं, किन्त्वन्यापोहविशिष्टो विधिः शब्दानामर्थः, अपोहसिद्धिः।

145. स्फोटवाद, पृ० 6

146. स्फोटवाद, पृ० 6

147. संदर्भ तथा विस्तार के लिए दृष्टव्य-संस्कृत व्याकरण दर्शन (रामसुरेश त्रिपाठी), पृ० 461.

148. स्फोटश्च तावान् एक भवति ध्वनिकृता वृद्धिः।
ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।
अल्पो महांश्च केषांचिदुभयं तत् स्वभावतः ।। महाभाष्य, 1.1.70

149. स्फोटः शब्दः ध्वनिश्च शब्दगुणः महाभाष्य, 1.1.70

150. द्वावुपादनशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एकों निमत्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते ।। वाक्य प० 1/44

151. प्रकृतिप्रत्ययादिवर्णजनितध्वनिसमूहोऽभिव्यङ्ग्यस्फोट लक्षणः अर्थात्मा अर्थावसायप्रसवनिमित्तं शब्दः। तद्विशेषाश्च प्रकृत्यादि स्फोटः पदस्फोटो वाक्यस्फोट इति। "शृंगार प्रकाश, पृ० 125

152. प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। महा० भा० 1/1/1

153. 'येनोच्चारितेन सास्नालांगूलखरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः, महाभा० 1/1/1

154. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।।

155. (क) मूलाधारात् प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः ।
पश्चात्पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ् मध्यमाख्यः ।। स्फोटदर्शन

(ख) 'हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी स्यात्तु कण्ठगा ।' स्फोटदर्शन पृ० 22

156. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि सहसंहिता 1/64/45

157. वस्तुतस्तु वाचकता स्फोटैकनिष्ठा । भट्टोजिदीक्षित, कौस्तुभ, पृ० 8.

158. न्या० म०—1–340

159. परमार्थतस्तु श्रोत्रे प्रत्यये प्रतिभासमानः प्रत्यक्ष एव स्फोटः, न्या० मं० 1-340

160. एतेन तावद्वर्णाभिव्यङ्ग्य पदस्फोटोऽपि निरस्तः, तत्तद्वर्णसंस्कार-सहितचरमवर्णोपलम्भेन तद्व्यञ्जकेनैवोपपत्तेः ।" मुक्ता०, पृ० 69-71

161. 'अन्त्यवर्णप्रयत्यात् पूर्ववर्ण—प्रतिसंधान—प्रत्ययापेक्षादर्थप्रत्यय इति'- न्या० वा० 2/2/60.

162. सां० सू० 5/57.

163. 'स शब्दः किं प्रतीयते न वा ? आद्ये येन वर्णसमुदायेनानुपूर्वी विशेष विशिष्टेन सोऽभिव्यज्यते तस्यैवार्थप्रत्यायकत्वमस्तु किमन्तर्गडुना तेन ? अन्त्ये त्वज्ञातस्फोटस्य नास्त्यर्थप्रत्यायनशक्तिरिति व्यर्था स्फोट-कल्पना—सां० प्र० भा०, पृ० 209.

164. नार्थस्य वाचकः स्फोटो वर्णेभ्यो व्यतिरेकतः ।
घटादिवन्न दृष्टेन विरोधो धर्म्यसिद्धितः ।। श्लो० वा०

165. यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने ।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः ।। श्लो० स्फोटवाद

166. Philosophy of word and meaning—G. N. Shastri p. 103-109.

167. संस्कृतव्याकरण दर्शन, पृ० 474; स्याद्वादरत्नाकर, पृ० 660

168. Theory of knowledge of Saiva Siddhant- Dr. V. Ponniah.

169. इति विततया वर्णा एते धियाविषयीकृतां, दधति पदतां वाक्यत्वं वा त एव च वाचकाः। न च तदपरः स्फोटः श्रोत्रे विभात्यवबोधने, न च विधिहतो वाच्ये बुद्धिं विधातुमसौक्षमः ।। न्या० मं० 1-340

170. पदज्ञानंतुकरणं द्वारं तत्र पदार्थधीः ।
शाब्दबोधफलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी । भा० प० 81

171. मानंहि द्विविधं विषयद्वैविध्याच्छत्यशक्तितः ।
अर्थक्रियायां केशादिनर्थोऽनर्थाधिमोक्षतः ।। प्र० वा० 2.1

172. (क) वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते ।
प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्वनिबन्धनम् ।। प्रवा० 1/4

(ख) नान्तरीकताभावाच्छब्दानां वस्तुभिः सह ।
नार्थसिद्धिस्तत स्तेहि वक्त्रभिप्रायसूचकाः ।। प्र० वा० 3.2.14

173. शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात् । तथा प्रसिद्धसमय-स्यासन्दिग्धदर्शनप्रसिद्ध्यनुस्मरणाभ्यामतीन्द्रियेऽर्थे भवत्यनुमानमेवं शब्दादिभ्योऽपि, प्र० पा० भा० (अनुमान प्रकरण)

174. अनेकान्तः परिच्छेदे सम्भवे च न निर्णयः ।
आकांक्षा सत्तया हेतुर्योग्यासत्तिरबन्धना ।।-न्या कु० का० 13

175. "नहि सर्वत्र शब्दश्रवणानन्तरं व्याप्तिज्ञाने प्रमाणमस्तीति, किंच सर्वत्र शब्दस्थले यदि व्याप्तिज्ञानं कल्प्यते, तदा सर्वत्रानुमितिस्थले पदज्ञानं कलपयित्वा शब्दबोध एवं किं न स्वीक्रियतामिति ध्येयम्—

176. 'योग्यतार्थ गताकांक्षा शब्दनिष्ठानुभाविका:
प्रत्येकवामिलित्वा वा नैते लिंगमसिद्धितः ।—शब्दशक्ति 4 वस्तुतो...अस्तित्वेन गामनुमिनोमीत्यादेरनुव्यवसायस्यतत्रासत्वात् प्रत्युत गौरस्तीतिवाक्यादस्तितत्वेन गौः श्रुतो न त्यनुमित इत्यनु-भवाच्च—शब्दशक्ति प्र० पृ० 17

177. पर्वतादिविशेष्यप्रतिपत्तिपूर्विका पावकादिविशेषणावगति लिङ्गा-दुदेति पदात्तु विशेषणावगतिपूर्विका विशेष्यावगतिरिति विषयभेदः। न्या० म० 1-140

178. "आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु"—सां० का०—5
'न च वाक्यं वाक्यार्थं बोधयत् सम्बन्ध ग्रहणमपेक्षते।'—सां० तत्त्व० कौ०—पृ० 65

179. प्रसिद्धार्थककाव्यादौ शब्दश्रवणानन्तरं व्याप्तिज्ञानकल्पनसंभवेऽपि अपूर्वार्थककाव्यादौ तत्कल्पनाया असंभवः।—सां० तत्व० कौ० पृ० 66

180. वे० परि० पृ० 79 (शब्द)

181. 'न च व्याप्तिग्रहणबलेनार्थप्रतिपादकत्वात् धूमवदस्य अनुमानेऽन्तर्भावः, कूटाकूटाकर्षापणनिरूपणप्रवणप्रत्यक्षवदभ्यासदशायां व्याप्तिग्रहनैरपेक्ष्येणैवास्य अर्थबोधकत्वात्', जैन तर्क भा० पृ० 26.

अध्याय 7

अर्थापत्ति

1. अर्थापत्ति का स्वरूप

नैयायिकों ने अर्थापत्ति का पृथक् प्रमाणत्व स्वीकार नहीं किया, किन्तु मीमांसकों के मत का खण्डन करते हुए उन्होंने जो विचार व्यक्त किये हैं, वे भी अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

नैयायिकों के मतानुसार अनुमान में अर्थापत्ति के अन्तर्भाव की चर्चा करने से पहले यह उचित होगा कि मीमांसकों और अद्वैत वेदान्तियों के मतानुसार इसके स्वरूप का संक्षिप्त निरूपण कर लिया जाये।

'अर्थापत्ति' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है—(क) **'अर्थस्य आपत्तिः यस्मात्'** तथा (ख) **'अर्थस्य आपत्तिः'**। पहली व्युत्पत्ति के अनुसार यह प्रमाण का वाचक है और दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार एक विशिष्ट प्रमा का।[1]

धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार 'उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक का ज्ञान अर्थापत्ति कहलाता है।[2] उपपाद्य का ज्ञान करण है और उपपादक का ज्ञान फल। जिसके बिना जो अनुपपन्न हो, वह उपपाद्य कहलाता है, और जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति हो, वह उपपादक कहलाता है। उदाहरणतया **'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'** यहाँ पर पीनत्व उपपाद्य है और रात्रिभोजन उपपादक। अर्थापत्ति दो प्रकार की होती है—(1) दृष्टार्थापत्ति तथा (2) श्रुतार्थापत्ति। दूर से किसी वस्तु को रजत समझ कर यदि हम कहें कि यह रजत है, किन्तु समीप जाकर यह कहें कि यह रजत नहीं है तो दोनों कथनों में से एक असत्य होगा। दोनों एक ही समय पर सत्य नहीं हो सकते। अतः दोनों प्रकार के कथनों में अनुपपत्ति का समाधान इस कल्पना के द्वारा होगा कि दूर से जो देखा गया था, वह वास्तविक रजत नहीं था। क्योंकि यदि वह वास्तविक होता तो वह समक्ष होने पर भी दिखाई देता। किन्तु भाट्ट मीमांसकों के मतानुसार जब दो परस्पर विरोधी ज्ञानों में से एक सामान्य हो और दूसरा विशिष्ट और उनमें विरोध हो तो तब विरोध के समाधान के लिये दृष्टार्थापत्ति का सहारा लिया जाता है।

शबर के अनुसार अर्थापत्ति उस अर्थ की कल्पना को कहा जाता है, जिस अर्थ की कल्पना के बिना दृष्ट या श्रुत अर्थ (विषय) की उपपत्ति न होती हो। उदाहरण के रूप में यदि देवदत्त जीवित है और वह घर पर नहीं है तो यह कल्पना की जा सकती है कि वह घर से बाहर नहीं होगा।[3] इस कल्पना को किये बिना देवदत्त के जीवित होने और घर पर न रहने के तथ्यों का पारस्परिक सामंजस्य नहीं हो सकता। कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र द्वारा प्रस्तुत व्याख्याओं में कुछ अन्तर है। कुमारिल ने भाष्य के क्रम में परिवर्तन नहीं किया किन्तु प्रभाकर ने भाष्य के शब्दों का क्रम बदल दिया। और भाष्य का यह आशय बताया कि यदि कोई दृष्ट या श्रुत अर्थ ऐसे किसी दूसरे अर्थ के बोध का साधन बन जाता है जिसकी संगति प्रथम अर्थ की कल्पना किये बिना ठीक नहीं बैठती तो, यह अर्थापति प्रमाण कहलाएगा।[4]

2. अर्थापत्ति के भेद

कुमारिल के अनुसार भाष्य में प्रयुक्त श्रुत और दृष्ट शब्द अर्थापत्ति के दो भेदों के वाचक हैं।[5] किन्तु प्रभाकर का यह कथन है कि श्रुत और दृष्ट एक ही प्रमाण के दो नामान्तर हैं। अत: श्रुतार्थापत्ति एक पृथक् भेद नहीं है।[6] धर्मराजाध्वरीन्द्र ने श्रुतार्थापत्ति (शाब्दबोध में अनुपपत्ति) को अर्थापत्ति का एक पृथक् भेद तो माना ही है। इसके साथ ही **अभिधानानुपपत्ति** और **अभिहितानुपपत्ति** के रूप में उसके दो उपभेदों का भी उल्लेख किया है।[7] कोई वक्ता द्वारकर्मक पिधानक्रिया के बोध को ध्यान में रखते हुये भी यदि केवल 'द्वारम्' इतना कहे और श्रोता को 'पिधेहि' पद का अध्याहार करके शाब्दबोध करना पड़े तो यह अभिधानानुपपत्ति (शब्दानुपपत्ति) रूपा श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण होगा। इसी प्रकार 'स्वर्ग की कामना करने वाले व्यक्ति को ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिये'—इस वाक्य को कोई वक्ता कहे और ज्योतिष्टोम यज्ञ के स्वर्ग साधनत्व में अनुपपन्न होने के कारण श्रोता को मध्यवर्ती 'अपूर्व' की कल्पना करनी पड़े तो यह अभिहितानुपपत्ति का उदाहरण होगा। यह ज्ञातव्य है कि धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार यहाँ अन्वय व्याप्ति सम्भव नहीं है और व्यतिरेकि अनुमान को वेदान्त में स्वीकार नहीं किया जाता। अत: अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं हो सकता।[8]

यद्यपि कुमारिल और धर्मराजाध्वरीन्द्र अर्थापत्ति को प्रमाण मानते हैं, किन्तु दोनों के मतों में कुछ अन्तर भी है। धर्मराजाध्वरीन्द्र दृष्टार्थापत्ति में अनुपपन्नता का कारण नहीं बताते, जबकि कुमारिल के अनुसार दो तथ्यों में पारस्परिक विरोध ही अनुपपत्ति का कारण है। श्रुतार्थापत्ति के सन्दर्भ में कुमारिल का यह मत है

कि इसमें शब्द या वाक्य की कल्पना करनी पड़ती है जबकि धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार इसमें कभी शब्द की और कभी तथ्य की कल्पना करनी होती है।

नैयायिकों ने अर्थापत्ति को प्रमाण नहीं माना। उनके अनुसार श्रुतार्थापत्ति भी अनुमान से भिन्न नहीं है। अतः इसके पृथक् प्रमाणत्व को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु कुमारिल इसको अन्य सभी प्रमाणों से भिन्न मानते हुये यह कहते हैं कि हमारे श्रोत्र अनुच्चरित वाक्यांश को सुनने की क्षमता नहीं रखते, अतः श्रुतार्थापत्ति का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में नहीं हो सकता। लिंग का निर्धारण न होने के कारण इसको अनुमान भी नहीं कहा जा सकता। वाक्य के उच्चरित अंश के साथ अवशिष्ट अनुच्चरित अंश की कल्पना वैयाकरणिक आवश्यकता के कारण करनी होती है, अतः यहाँ वाक्य के एक अंश का अध्याहार करना होता है, न कि उससे निर्दिष्ट अर्थ का। उच्चरित और अनुच्चरित वाक्यांशों में सादृश्य न होने के कारण इसका उपमान में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता। शब्द प्रमाण के संदर्भ में जो वाक्य प्रस्तुत किया जाता है, वह अपने-आप में पूर्ण होता है किन्तु श्रुतार्थापत्ति के संदर्भ में प्रस्तुत वाक्य का कुछ अंश श्रुत होता है और कुछ कल्पित करना पड़ता है। इसके साथ ही **'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'** यह केवल नकारात्मक अर्थ का बोध कराता है। सकारात्मक (रात्रि में खाता है) अर्थ के लिए तो वाक्यांश की कल्पना करनी होती है। भाट्ट मीमांसकों के अनुसार श्रुतार्थापत्ति में शब्द या वाक्य की कल्पना करनी पड़ती है, जबकि अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार इसमें कभी तो शब्द की कल्पना करनी होती है और कभी तथ्य की। जैसे कि 'द्वार' इतना सुनकर श्रोता को पिधेहि (बन्द करो) इस शब्द की कल्पना करनी पड़ती है और 'पीन देवदत्त दिन में नहीं खाता' इस वाक्य को सुनकर श्रोता को देवदत्त के रात्रिभोजन-परक तथ्य की कल्पना करनी पड़ती है।

इस संदर्भ में प्रभाकर का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है कि श्रुतार्थापत्ति के द्वारा भाट्ट मीमांसक जो कार्य करना चाहते हैं, वह तो शब्द की अभिधा शक्ति के व्यापार से ही सम्पन्न हो जाता है। कई उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं, जिनमें कतिपय शब्द अनावश्यक होते हैं जैसे 'उभयं हविः अर्तिम् ऋच्छेत्' इस वाक्य में उभय शब्द को छोड़ देने से हवि के विकल्पों का क्षेत्र व्यापक हो जाता है। अतः अभिधा को जितने क्षेत्र में व्यापक बनने की आवश्यकता होगी उतने पर अभिधा से ही कार्य हो जाएगा उसके लिये श्रुतार्थापत्ति को पृथक् प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता है?

प्रभाकर के मतानुसार अन्यथानुपपत्ति का अर्थ है—एक वस्तु के अभाव में दूसरी वस्तु का न रह सकना। अनुमान से अर्थापत्ति का अन्तर करने के लिए प्रभाकर यह कहते हैं कि अनुमान व्याप्ति पर आधारित होता है, अर्थापत्ति नहीं। इसके अतिरिक्त कार्य से कारण के अनुमान में कार्य अनुपपन्न रहता है और कारण का निर्देश उसका समाधान करता है जबकि अर्थापत्ति में कारण अनुपपन्न होता है और कार्य की कल्पना से उसका समाधान किया जाता है। अनुमान में विचार-प्रक्रिया अनुपपन्न से उपपादक की ओर बढ़ती है, किन्तु अर्थापत्ति में विचार-प्रक्रिया 'उपपादक' से 'अनुपपन्न' की ओर बढ़ती है। जीवित चैत्र के गृहाभाव से उसके बहिर्भाव का ज्ञान होता है। यह ज्ञातव्य है कि कुमारिल का मत प्रभाकर के मत से उल्टा है। उनके अनुसार जीवित चैत्र के बहिर्भाव की कल्पना करने से उसके गृहाभाव का समाधान होता है। जैसे कि पहले भी कहा गया है, प्रभाकर ने शबर भाष्य के शब्दों के क्रम में परिवर्तन करके उसकी ऐसी व्याख्या की है, अतः प्रभाकर का मत मूल भाष्य के अनुरूप नहीं कहा जा सकता।

3. अर्थापत्ति और अनुमान

(क) अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव

अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण न मानते हुये नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य और योग दर्शनों के आचार्यों ने उसका अन्तर्भाव अनुमान में किया है, किन्तु मीमांसा और वेदान्त में अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण माना गया है। अतः इस सन्दर्भ में जो तर्क प्रस्तुत किये गये हैं, उनका उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा।

नैयायिकों के अनुसार अनुमान में अर्थापत्ति के अन्तर्भाव की प्रक्रिया इस प्रकार हो सकती है :—

(क) जीवित चैत्र घर से बाहर है।

(ख) क्योंकि वह जीवित है और घर पर नहीं है।

(घ) मेरी तरह।

यहाँ चैत्र जीवित है—यह पक्ष है, चैत्र का बहिर्भाव साध्य है और गृहाभाव हेतु है।

किन्तु कुमारिल के मतानुसार उपर्युक्त अन्तर्भाव उचित नहीं है। क्योंकि चैत्र का गृहाभाव हेतु की कोटि में नहीं रखा जा सकता। इसका कारण यह है कि हेतु (गृहाभाव) की विद्यमानता पक्ष (चैत्र) में सिद्ध नहीं की जा सकती।

यहाँ तो केवल घर दिखाई दे रहा है, चैत्र नहीं। चैत्र जीवित है और घर पर नहीं है, यह बात तब तक सही नहीं मानी जा सकती, जब तक कि चैत्र का बाहर कहीं देख न लिया जाये।[10] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि यहाँ जिस को सिद्ध करना है (चैत्र घर पर नहीं है) वह वस्तु पहले दिखाई दे रही है और जिससे सिद्ध करना है, वह बाद में, जबकि अनुमान में हेतु पहले दिखाई देती है और साध्य बाद में।

अर्थापत्ति का प्रयोग अनुपपत्ति का समाधान करके मस्तिष्क को हल्का करने के लिये किया जाता है, जबकि अनुमान में अनुपपत्ति की समस्या खड़ी ही नहीं होती।

प्रभाकर का यह कथन है कि अनुमान और अर्थापत्ति की प्रक्रियाएँ भिन्न-भिन्न हैं। पर्वत पर धूम (गमक) तब तक नहीं रह सकता, जब तक वहाँ आग (गम्य) विद्यमान न हो। किन्तु अर्थापत्ति में यह क्रम उल्टा हो जाता है। यानी गम्य (रात्रिभोजन, बहिर्भाव आदि) की तब तक कल्पना नहीं की जा सकती जब तक कि गमक (पीनत्व, जीवितत्व आदि) का बोध न हो जाये।[11]

उपर्युक्त तर्कों के सन्दर्भ में जयन्त भट्ट का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि यदि मीमांसक यह मानते हैं कि चैत्र का बहिर्भाव उसके घर पर अनुपस्थिति के बिना असम्भव है तो उनको सीधी तरह से यह भी मानना चाहिये कि यदि जीवित चैत्र घर में नहीं है तो वह अवश्य ही बाहर कहीं होगा। और ऐसा मानना तो अनुमान ही है।

(ख) अर्थापत्ति में अनुमान का अन्तर्भाव

नैयायिक अर्थापत्ति को प्रमाण नहीं मानते अतः उनकी दृष्टि से अर्थापत्ति में अनुमान के अन्तर्भाव का तो प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु पार्थसारथि मिश्र प्रभृति कुछ मीमांसकों ने इसका उल्लेख करते हुये यह कहा है कि अनुमान का आधार व्याप्ति है और अर्थापत्ति का आधार है अनुपपत्ति। धर्मराजध्वरीन्द्र का यह विचार है कि व्यतिरेकि अनुमान का अन्तर्भाव अर्थापत्ति में हो जाता है। किन्तु नैयायिक उपर्युक्त तर्कों के आधार पर अर्थापत्ति में व्यतिरेकि अनुमान के अन्तर्भाव को भी स्वीकार नहीं करते।

4. अर्थापत्ति और प्राक्कल्पना

पाश्चात्य तर्कशास्त्र में प्राक्कल्पना का प्रावधान है। वैसे तो दोनों विधियों में भिन्नता होने के कारण यह आवश्यक नहीं कि अर्थापत्ति और प्राक्कल्पना (हाइपोथीसिस) में साम्य-वैषम्य के प्रश्न पर चर्चा की जाये, किन्तु एक सरसरी

दृष्टि से इतना कहना अप्रासंगिक न होगा कि अर्थापत्ति का उपयोग दो तथ्यों की पारस्परिक अनुपपन्नता या विरोध के समाधान के लिए किया जाता है, जबकि जिन तथ्यों के समाधान के लिए प्राक्कल्पना की जाती है, उनमें अनुपपन्नता या विरोध का होना अनिवार्य नहीं है। हाँ, कान्ट द्वारा 'क्रिटिक' में ट्रान्सेन्डेन्टल प्रूफ के रूप में जिस विधि का उल्लेख किया गया है उससे अर्थापत्ति कुछ मिलती जुलती है क्योंकि कान्ट इस प्रूफ का प्रयोग ऐसे अवसर पर करते हैं जहाँ कि प्रदत्त तथ्य (कान्सिक्वेन्ट) की सिद्धि इस (ट्रान्सेन्डेन्टल प्रूफ) की कल्पना किये बिना हो ही नहीं सकती।

5. अर्थापत्ति की उपयोगिता

मीमांसकों और अद्वैत वेदान्तियों के मतानुसार अर्थापत्ति में हमें ऐसे तथ्य का ज्ञान होता है, जिसका ज्ञान किसी दूसरे प्रमाण से नहीं हो सकता। मीमांसक लोग इसका उपयोग वैदिक मन्त्रों की व्याख्या करने तथा अनुच्चरित शब्द या अर्थों की कल्पना करके उनका अर्थ समझने के लिए भी करते हैं। मीमांसक मृत्यु के अनन्तर आत्मा की अमरता में विश्वास भी अर्थापत्ति के आधार पर ही करते हैं। अद्वैत वेदान्तियों का माया का सिद्धान्त भी बहुत कुछ अर्थापत्ति पर ही आधारित है। किन्तु नैयायिकों का यह कहना है कि मीमांसक और अद्वैत वेदान्ती अर्थापत्ति की जो उपयोगिता बताते हैं, वह अनुमान द्वारा सम्पन्न हो जाती है, अतः उपयोगिता की दृष्टि से नैयायिकों के मतानुसार अर्थापत्ति का पृथक् अस्तित्व मानना उचित नहीं है। जब अनुमान में भी उसके केवल व्यतिरेकि नामक भेद को मानकर काम चलाया जा सकता है तो इसी कार्य के लिए एक अलग प्रमाण मानना नैयायिकों की दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं है। किन्तु नैयायिकों के इन सब तर्कों के होते हुए भी मीमांसकों का यह कहना है कि अनुमान की प्रक्रिया अनुपपन्नता पर आधारित नहीं है, जबकि अर्थापत्ति का मुख्य आधार ही अनुपपन्नता है। एक अन्तर यह भी है कि अपने पूर्वानुभव के साथ किसी तथ्य का विरोध दिखाई या सुनाई देने पर उसके समाधान के लिए हम अर्थापत्ति का सहारा लेते हैं, जबकि हेतु का हमारे पूर्वानुभव के साथ पूर्ण सामंजस्य होने पर हम उसके सहारे किसी अज्ञात वस्तु का अनुमान करते हैं। अनुमान में एक ज्ञात वस्तु के सहारे किसी अन्य अज्ञात वस्तु का ज्ञान किया जाता है, जबकि अर्थापत्ति में तथ्य (गृहाभाव) तो एक ही रहता है, पहले वह अनुपपन्न रहता है और बाद में कल्पना से उत्पन्न हो जाता है। अतः मीमांसक एक पृथक् प्रमाण के रूप में अर्थापत्ति को उपयोगी मानते हैं।

—o—

सातवें अध्याय के सन्दर्भ

1. तर्कभाषा व्याख्या, शुक्ल, आचार्य बदरीनाथ, पृ० 157-8; अर्थस्य वस्तुन: आपत्ति: आपादनं सम्पादन प्रमाज्ञान अर्थापत्ति: प्रमा। अर्थस्यापत्ति: प्रमाज्ञानं यत:, तत् अर्थापत्ति प्रमाणम्; वेदान्तपरिभाषा व्याख्या, आनन्द झा, पृ० 203.

2. तत्रोपपाद्यज्ञानेनोपपादकं कल्पनमर्थापत्ति:,
तत्रोपपाद्यज्ञानं करणम्, उपपादकज्ञानं फलम्।

   येना बिना यद्दुपनन्नं तत्तत्रोपपाद्यम्, यस्याभावे यस्यानुपपत्ति: तत्तत्रोपपादकम् रात्रिभोजनकल्पना रूपामां प्रमितौ अर्थस्य आपत्ति: कल्पना इति षष्ठीसमासेन अर्थापत्तिशब्दो वर्त्तते। कल्पनाकरणे-पीनत्वादि ज्ञाने तु अर्थस्य आपत्ति: कल्पना यस्मात् इति बहुब्रीहि-समासो वर्त्तते, पृ० 204.

   दृष्टार्थापत्तिर्यथा–इदं रजतमितिपुरोवर्त्तिनि प्रनिपन्नस्य रजतस्य नेदं रजतमिति तत्रैव निषिध्यमानत्वं सत्यत्वेऽनुपपन्नमिति, रजतस्य सद्भिन्नत्वं सत्वात्यन्ताभाववत्वं वा मिथ्यात्वं कल्पयति, वे० प० पृ० 205.

3. अर्थापत्तिरपि दृष्ट: श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यर्थकल्पना यथा जीवति देवदत्ते गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य कल्पना, श० भा० 1/1/5

4. दृष्ट: श्रुतो वार्थोऽर्थकल्पनाऽन्यथा नोपपद्यते, बृहती, पृ० 85.

5. पीनो दिवा न भुक्ते चेत्येवमादिवच: श्रुतौ,
रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापतिरिष्यते।। श्लो० वा० अर्था 51

6. श्रुतग्रहणमिदानी किमर्थम् ? दृष्ट इत्येव वक्तव्यम्।
उच्यते अभिधानान्तरमेव (दृष्टश्श्रुतो वेति) उपलब्धे वचिकम—अर्थापत्ति, बृहती, पृ० 85

7. वे० य० (अर्था)

8. न चेयमर्थापत्तिरनुमानेऽन्तर्भवति । अन्वयव्याप्तिज्ञानेन अन्वयिन्यनन्तर्भावात् व्यतिरेकिणश्च अनुमानत्वं प्रागेव निरस्तम् वे० प०, पृ० 210.

9. इह तु यन्नोपपद्यते तदेवावगम्यते; बृ० पृ० 112;
Epistemology of the Bhatt Schoor of purva Mimansa, p. 319

10. जीवतश्चगृहाभावः पक्षधर्मोऽत्र कल्प्यते । तत्संवितिर्वहिर्भावं न चाबुद्धवोपजायते, श्लो० वा० (अर्था) 19.

11. अनुमाने गमकविशेषणमन्यथानुपपन्नत्वमनलं बिना धूमों हि नोपपद्यते, इहतु विपर्ययः गम्यो गमकेन बिना नोपपद्यते, बृहती, पृ० 86.

अध्याय ४

अनुपलब्धि

1. अनुपलब्धि का स्वरूप

वैसे तो न्यायदर्शन में प्रमाणों की संख्या पूर्वोक्त प्रकार से चार ही मानी गई है, किन्तु न्यायशास्त्रीय ग्रन्थों में इस समस्या पर भी पर्याप्त विचार-विमर्श किया गया है कि मीमांसकों व वेदान्तियों द्वारा प्रवर्तित अनुपलब्धि प्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष प्रमाण में कैसे हो जाता है। किन्तु इससे पहले कि इस अन्तर्भाव पर चर्चा की जाए, यह जानना उपयुक्त होगा कि अनुपलब्धि के स्वरूप और पृथक् प्रमाणत्व के सम्बन्ध में मीमांसकों आदि के कथन क्या हैं।

भाट्ट मीमांसकों और अद्वैत वेदान्तियों का यह कथन है कि किसी स्थान विशेष पर कोई वस्तु विद्यमान न हो तो उस स्थान पर उस वस्तु का अभाव माना जाएगा और उस अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि नामक एक पृथक् प्रमाण से होगा। उदाहरणतया किसी ऐसे स्थान पर जहाँ हमने पहले घट देखा हो, यदि अन्य समस्त साधनों के विद्यमान होने पर भी घट न दिखाई दे रहा हो तो यह कहा जा सकता है कि इस समय उक्त स्थल पर घट का अभाव है और उस अभाव का बोध अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। कुमारिल का यह कथन है कि अभाव के संदर्भ में अन्य पाँच प्रमाण चरितार्थ नहीं हो सकते। अतः उसके ज्ञान के लिए अनुपलब्धि को प्रमाण मानना आवश्यक है।[1] धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार ज्ञान रूपी करण से उत्पन्न न होने वाले अभावानुभव के असाधारण कारण को अनुपलब्धि प्रमाण कहा जाता है। अनुमान आदि से जन्य अतीन्द्रिय अभाव (यथा --**अहं पुण्याभाववान् सुखाभाववत्वात्** : जो इस व्याप्ति-ज्ञान पर निर्भर है कि '**यत्र यत्र सुखाभावः तत्र तत्र पुण्याभावः**) में अतिव्याप्ति के निवारण के लिए लक्षण में '**ज्ञानकरणाजन्यत्व**' इस विशेषण का प्रयोग किया गया है। अनुमान व्याप्तिज्ञान-जन्य होता है, जबकि अनुपलब्धि में ऐसा नहीं होता।[2]

धर्मराजाध्वरीन्द्र का यह कथन है कि ईश्वर, काल, अदृष्ट आदि की कारणता तो सभी कार्यों के साथ रहती है, अतः उनका परिहार करने के लिए

अनुपलब्धि के लक्षण में 'असाधारण' शब्द का समावेश किया गया है। इसी अभाव की 'स्मृति' में अतिव्याप्ति के निवारण के लिए 'अनुभव' शब्द का प्रयोग किया गया है। धर्म अधर्म जैसी वस्तुओं में प्रत्यक्षयोग्यता नहीं है, अतः उनकी अनुपलब्धि योग्यानुपलब्धि नहीं कहला सकती। प्रत्यक्ष योग्य वस्तु के ही अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है, न कि प्रत्यक्षायोग्य वस्तु के अभाव का भी।[3] ज्ञान के कारणों के रहते हुए भी ज्ञानयोग्य पदार्थ का ज्ञान न होना उस पदार्थ के अभाव के ज्ञान का कारण होता है। अत्यन्त दूरवर्ती पदार्थ का भी ज्ञान नहीं हुआ करता, किन्तु उसका अभाव नहीं माना जा सकता क्योंकि वह ज्ञान के योग्य ही नहीं है। अतः यह सिद्ध होता है कि ज्ञानयोग्य पदाथ की अनुपलब्धि ही उस पदार्थ के अभाव को सिद्ध कर सकती है न कि ज्ञान के अयोग्य पदार्थ की अनुपलब्धि।

कुमारिल भट्ट का यह विचार है कि प्रमाण और ज्ञेय वस्तु के स्वभाव में समानता होनी चाहिए। भावात्मक पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष आदि भावात्मक प्रमाणों से और अभावात्मक पदार्थों का ज्ञान अभावात्मक प्रमाण के द्वारा होता है। कुमारिल के अनुसार वस्तुएँ सद् असद् रूप से दो प्रकार की होती हैं।

जयन्त भट्ट कुमारिल के उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि अभाव से कहीं भाव पदार्थों का ज्ञान हो जाता है जैसे कि वृष्टि का अभाव वायु द्वारा बादल के उड़ाये जाने का अनुमापक होता है। प्रमाण सामग्री में अभाव का भी समावेश रहता है। अतः प्रमाण और प्रमेय में सत्तापरक एकरूपता का सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया जा सकता।[4]

अभाव के स्वरूप के सम्बन्ध में भी भारतीय दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद रहा है। भट्ट मीमांसक और अद्वैत वेदान्ती यह मानते हैं कि अभाव एक पदार्थ है और उसका ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। उभाकर मीमांसकों और सांख्यों के विचार में सत्ता और असत्ता ये एक ही वस्तु के दो रूप हैं। अभाव कोई पदार्थ नहीं है किन्तु उसका ज्ञान प्रत्यक्ष से हो जाता है। नैयायिकों के अनुसार अभाव एक पदार्थ है और उसका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। वैशेषिकों के मतानुसार भी अभाव एक पदार्थ है किन्तु उसका ज्ञान अनुमान से होता है। बौद्धों के अनुसार अभाव कल्पनामात्र है और उसका ज्ञान अनुमान से हो जाता है। [अभाव के पदार्थत्व का विस्तार से विवेचन अध्याय चौदह में किया गया है।]

2. अनुपलब्धि का प्रमाणत्व

नैयायिक अनुपलब्धि का प्रमाणत्व स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार अनुपलब्धि का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में हो जाता है। उनका यह कथन है कि 'यदि यह घड़ा होता तो भूतल के समान वह दिखाई देता'—इस प्रकार के तर्क के सहकारी अनुपलम्भ से युक्त प्रत्यक्ष प्रमाण से ही भूतल में घटाभाव का ज्ञान हो जाता है। अतः अनुपलब्धि प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।[5]

इस संदर्भ में यह शंका की जा सकती है कि चक्षु से अभाव का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियाँ स्वसम्बद्ध अर्थ का ही ग्रहण करती हैं और अभाव के साथ चक्षु का कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध दो ही होते हैं—संयोग और समवाय। संयोग सम्बन्ध दो द्रव्यों के बीच होता है जबकि अभाव द्रव्य नहीं है। समवाय सम्बन्ध भी दो अयुतसिद्ध पदार्थों के मध्य रहता है, जबकि चक्षु और अभाव एक दूसरे की अनुपस्थिति में भी विद्यमान रहते हैं।

नैयायिकों ने उपर्युक्त आपत्ति के समाधान के लिए **'विशेषण-विशेष्यभाव'** नामक एक नये सम्बन्ध की कल्पना की और इसी सम्बन्ध के आधार पर अभाव को प्रत्यक्षगम्य माना। जैसे 'भूतल घटाभाव से विशिष्ट है' **(भूतलं घटाभाववत्)** इस कथन में घटाभाव विशेषण और भूतल विशेष्य है तथा घटाभाव भूतल से विशिष्ट है **(भूतले घटाभावः)** इस कथन में भूतल विशेषण तथा घटाभाव विशेष्य है। इस प्रकार नैयायिकों के मतानुसार चक्षु का सम्बन्ध घटाभाव के साथ भूतल के माध्यम से मानने में कोई बाधा नहीं है। परिणामस्वरूप इस नियम के होते हुये भी कि 'इन्द्रियाँ स्वसम्बद्ध अर्थ का ग्रहण करती हैं,' इन्द्रियों से अभाव का ग्रहण किया जा सकता है।

नैयायिकों द्वारा उपर्युक्त रूप से प्रस्तुत 'विशेषणविशेष्यभाव' पर वेदान्तियों आदि द्वारा यह आपत्ति की जाती है कि यह कोई सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि इस पर सम्बन्ध के लक्षण घटित नहीं होते। सम्बन्ध वह कहलाता है, जो दो व्यक्तियों पर आश्रित हो, आश्रयभूत दोनों व्यक्तियों से भिन्न हो और स्वयं एक हो। ये तीनों बातें विशेषण विशेष्यभाव पर नहीं घटतीं। विशेषणता केवल विशेषण में रहती है और विशेष्यता केवल विशेष्य में। अतः विशेषण विशेष्यभाव उभयाश्रित नहीं। विशेषणता विशेषण से और विशेष्यता विशेष्य से भिन्न नहीं है। अभाव में 'भूतल घटाभावविशिष्ट है' इस बुद्धि की जनकता है, वही अभावगत विशेषणता है। वह अभाव से भिन्न नहीं अपितु अभावरूप ही है। अतः विशेषण विशेष्यभाव

भी अपने आश्रय से भिन्न नहीं माना जा सकता। द्वन्द्व समास (विशेषणं च विशेष्यं च) के बाद श्रूयमाण भाव शब्द का सम्बन्ध विशेषण और विशेष्य दोनों से है, अतः विशेषण विशेष्यभाव एक व्यक्तिरूप भी नहीं है।

उपर्युक्त आपत्ति के समाधान के रूप में नैयायिकों का यह कथन है कि 'विशेषण-विशेष्य भाव' में सम्बन्धत्व न होने पर भी उसमें सम्बन्धत्व का अभिनिरूपणीयत्व (विशेषण-विशेष्य युगल बोध्य) रूप साधर्म्य है। अतः यह उपचारवश सम्बन्ध कहला सकता है।

नैयायिकों का यह भी कथन है कि 'इन्द्रिय स्वसम्बद्ध अर्थ का ही ग्रहण करती है'—यह नियम केवल भावात्मक पदार्थों के लिए है। अभाव का ग्रहण तो उसके साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध हुये बिना ही विशेषण विशेष्यभाव के आधार पर हो जाता है।[6] इस सन्दर्भ में यह आशंका भी की जाती है कि इन्द्रिय से यदि असम्बद्ध अभाव का ग्रहण माना जायगा तो किसी एक सन्निहित स्थान पर किसी एक अभाव के ग्रहण के समय असन्निहित स्थानों में विद्यमान अन्य सभी अभावों के ग्रहण का अतिप्रसंग उपस्थित हो जाएगा। नैयायिक इसका निराकरण करते हुए यह कहते हैं कि उसी अभाव का ग्रहण होता है, जिसमें विशेषणता रहती है।

विशेषणता सन्निहित स्थान से सम्बद्ध अभाव में रहती है, असन्निहित स्थान के अभाव में नहीं। जब असन्निहित स्थान के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध ही नहीं होता तो उससे सम्बन्ध अभाव सन्निहित स्थान का विशेषण कैसे बन सकता है? इसके साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि अतिप्रसंग नामक दोष तो अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण मानने पर भी उपस्थित हो जायगा। इन्द्रिय से असम्बद्ध अभाव का ग्रहण मानने पर जैसे एक अभाव के ग्रहण के समय अन्य सभी अभावों के ग्रहण की आपत्ति हो सकती है, उसी प्रकार अनुपलब्धि प्रमाण से भी असम्बद्ध अभाव का ग्रहण मानने पर एक अभाव के ग्रहण के समय अन्य सभी अभावों के ग्रहण की आपत्ति हो सकती है। इस प्रकार यदि यह दोष भी है तो दोनों पक्षों में समान रूप से है अतः उसका उद्भावन करना ही निरर्थक है।[7]

बौद्धों के अनुसार विशेषण विशेष्य भाव को सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनकी दृष्टि से यह काल्पनिक है। अभाव का उस वस्तु के साथ कोई सहअस्तित्व या समन्वय नहीं हो सकता जिसका कि अभाव बताया जाता है। यदि घट किसी समय किसी स्थान पर है तो उस समय उस स्थान पर उसके अस्तित्व का निषेध नहीं किया जा सकता और यदि वह नहीं है तो उस समय उस स्थान पर घट के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

जयन्त भट्ट बौद्धों के उपर्युक्त कथन की समीक्षा करते हुए यह कहते हैं कि किसी एक स्थान पर किसी एक घट के विनाश या अभाव का यह आशय नहीं कि सभी स्थानों से सभी घटों का विनाश या अभाव हो गया है। अभाव भी अपने अस्तित्व या विनाश के लिए कारण का अनुवर्तन करता है। यदि अभाव एकदम काल्पनिक होता तो 'नञ्' का अर्थ ही क्या रह जाता? अत: जयन्त के विचार में अभाव की वस्तुसत्ता है, और विशेषण विशेष्य भाव के माध्यम से उसका प्रत्यक्ष होता है।

प्रशस्तपाद के अनुसार अनुपलब्धि का अन्तर्भाव अनुमान में हो जाता है। जैसे उत्पन्न कार्य को देखकर कारण सामग्री का अनुमान होता है, उसी प्रकार घटादि कार्य के प्रागभाव से उसकी कारण सामग्री के अभाव की भी अनुमान से सिद्धि हो जाती है।[8]

3. अनुपलब्धि प्रमाण की उपयोगिता

अनुपलब्धि का पृथक् प्रमाणतत्व नैयायिकों, वैशेषिकों आदि ने स्वीकार ही नहीं किया। अत: उसकी उपयोगिता का आकलन करने का तो न्याय वैशेषिक की दृष्टि से कोई औचित्य नहीं है। किन्तु अनुपलब्धि को पृथक् रूप से प्रमाण न मानने पर भी अभाव का जो विश्लेषण न्यायशास्त्र में किया गया, उसके आधार पर यह तो कहा ही जा सकता है कि जिन दर्शनों में इसका प्रमाणत्व स्वीकार नहीं किया गया, उनमें भी इसका महत्त्व तो माना ही गया है।

सामान्य व्यक्ति को ध्यान में रख कर भी यदि विचार किया जाए तो भाव के साथ अभाव की समस्या सदैव जुड़ी रहती है। अभाव यदि कोई सत्ता न होती तो लोगों पर अभाव का प्रभाव क्यों पड़ता? हाँ जहाँ तक उसके बोध की बात है उसमें भी आचार्यों का मतभेद रहता चला आया है। भाट्ट मीमांसकों और वेदान्तियों ने विभिन्न तर्कों के आधार पर अभाव के ज्ञान के लिए अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण प्रतिपादित किया, किन्तु लोकव्यसहार में नैयायिकों का मत अधिक सुसंगत प्रतीत होता है। यों प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान और शब्द से भी अभाव का ज्ञान हो सकता है पर अधिकतर मामलों में प्रत्यक्ष से कार्य चल सकता है।

जहाँ तक विशेषण-विशेष्यभाव के सम्बन्धत्व का प्रश्न है, उसके पक्ष और विपक्ष में अनेक तर्क प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। 'सम्बन्ध' की पूर्वोक्त परिभाषा स्वीकार करने पर तो विशेषण विशेष्यभाव को सम्बन्ध मान सकना कठिन है,

किन्तु नैयायिकों ने जिस प्रकार उसकी व्याख्या की, उसके अनुसार विश्लेषण विशेष्य भाव भी एक सम्बन्ध माना जा सकता है जिससे कि अनुपलब्धि का प्रत्यक्ष प्रमाण में अन्तर्भाव बोधगम्य हो सकता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अनुपलब्धि का प्रमाणत्व विवादास्पद होने पर भी अभाव के विश्लेषण और अनुपलब्धि के प्रमाणत्व के पक्ष-विपक्ष में जो तथ्य विभिन्न दर्शनों में प्रस्तुत किये गये हैं, उनकी उपयोगिता स्वतः सिद्ध है।

आठवें अध्याय के सन्दर्भ

1. प्रमाणपंचकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभाव प्रमाणता, श्लो॰ वा॰

2. ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवसाधारणकारणम् अनुपलब्धिरूपं प्रमाणम्; अनुमानादिजन्यातीन्द्रियाभावानुभवहेतावनुमानादावतिव्याप्तिनिवारणायाजन्यत्वम् (वे॰ प॰ पृ॰ 214-15 सं॰ लखनऊ 2021)

3. न चाभावानुमितिस्थलेऽप्यनुपलब्ध्यैवाभावो गृह्यतामविशेषात् इति वाच्यम्; धर्माधर्माद्यनुपलब्धिसत्वेऽपि योग्यानुपलब्धेरभावात् तस्या एवाभावग्राहकत्वात्, वे॰ प॰, पृ॰ 216.

4. अभावश्च क्वचिल्लिंगमिष्यते भावसंविदः।
वृष्टयभावोऽपि वाय्वभ्रसंयोगस्यानुमापकः॥
तस्माद्युक्तमभावस्य नाभावेनैव वेदनम्। न्या॰ मं॰ 1-51.

5. यद्यत्र घटोऽभविष्यत् तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यत् इत्यादि तर्कसहकारिणा अनुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेणैवाभावग्रहणात् त॰ भा॰ तृ॰ 159 (सं॰ शुक्ल, बदरीनाथ)

6. भावं प्रकाशयदिन्द्रियं प्राप्तमेव प्रकाशयति न त्वभावमपि। अभावं प्रकाशयदिन्द्रियं विशेषणविशेष्यभावमुखेनैवेति सिद्धान्तः (त॰ भा॰ अभा॰)

7. असम्बद्धाभावग्रहेऽतिप्रसंगदोषस्तु विश्लेषणतयैव निरुक्तः, समश्च परभते, त॰ आ॰ (अभाव)

8. अफाओऽप्यनुमानमेव। यथोत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिंगम्। एवमनुत्पन्नं कार्यं कारणासद्भावे लिंगम्। प्र॰ पा॰ भा॰ (अनु॰ प्र॰)

अध्याय–9

नव्यन्याय

1. न्याय और नव्यन्याय में वैषम्य

प्रमाणों के माध्यम से अर्थ का परीक्षण करने वाला शास्त्र न्याय कहलाता है। न्याय और नव्यन्याय दोनों में प्रमुख रूप से प्रमाणों पर ही चर्चा की गई है, फिर भी जहाँ प्राचीन न्याय में प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और शब्द इन चारों प्रमाणों का समान रूप से विश्लेषण किया गया है और प्रमेयों का भी निरूपण किया गया है, वहाँ नव्यन्याय में प्रमेयों की चर्चा ही नहीं की गई और अन्य प्रमाणों की तुलना में अनुमान का अधिक गहराई से विश्लेषण किया गया है। यद्यपि न्याय के समान नव्यन्याय भी अक्षपाद-प्रवर्तित न्यायसूत्र पर ही आधारित है, किन्तु कार्यक्रम से न्यायशास्त्र की विचारसरिणी और भाषा में अन्तर आया। फलस्वरूप न्याय की परम्परा में एक नवीन शैली और नवीन शिल्प का प्रवर्तन हो गया। इसी नवीनता को लेकर नव्यन्याय का प्रचलन हुआ। किसी भी शास्त्रीय धारा का उद्भव प्रायः एकाएक नहीं होता और नव्यन्याय भी इसका अपवाद नहीं है। उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र आदि के ग्रन्थों में भी अवच्छेदक जैसे शब्दों का प्रयोग है और उदयनाचार्य के ग्रन्थों में तो नव्यन्याय की शैली के तत्त्व स्पष्टतः ही उपलब्ध हो जाते हैं, फिर भी यह एक सर्वसम्मत तथ्य है कि नव्यन्याय का एक शास्त्र के रूप में सांगोपांग प्रवर्तन आचार्य गंगेशोपाध्याय के महान् ग्रन्थ तत्त्वचिन्तामणि द्वारा हुआ। प्राचीन न्याय के प्रवर्तक गौतम माने जाते हैं, किन्तु वस्तुतः न्यायविद्या अपने मूलरूप में गौतम से पहले भी प्रचलित थी। जयन्तभट्ट ने ठीक ही कहा है कि गौतम आदि को तो संक्षेप, विस्तार आदि के कारण शास्त्रकर्त्ता माना जाता है।[1]

प्राचीन न्याय में सोलह पदार्थों ता विवेचन किया गया है, जबकि नव्य न्यायशास्त्र का प्रमुख विषय प्रमाण विवेचन है। विषय संख्यापरक अन्तर के अतिरिक्त प्राचीन और नव्यन्याय में कई बातों में संकलपनात्मक वैषम्य भी

है। यहाँ कुछ ऐसे पहलुओं का उल्लेख किया जा रहा है, जिनमें प्राचीन न्याय से नव्यन्याय का वैशिष्ट्य स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। प्रमाणों और उनसे सम्बद्ध सभी विवेचनीय विषयों का विश्लेषण पहले किया जा चुका है। यहाँ हम केवल उन्हीं पहलुओं पर चर्चा करेंगे, जिनमें नव्यन्याय का प्राचीन न्याय से पार्थव्य या वैशिष्ट्य है।

[क] मंगलाचरण का उद्देश्य

विश्वनाथ पंचानन के अनुसार प्राचीन नैयायिक मंगलाचरण का उद्देश्य ग्रन्थसमाप्ति मानते हैं और विघ्नध्वंस को ग्रन्थसमाप्ति का द्वार, जबकि नव्यनैयायिक विघ्नध्वंस को ही मंगलाचरण का फल मानते हैं। ग्रन्थ की अभीष्ट समाप्ति तो (उनके मतानुसार) बुद्धि प्रतिभा आदि कारणकलाप से होती है।

[ख] प्रमाण के लक्षण और भेदों के निरूपण से सम्बन्धित उद्भावनाएँ

न्यायशास्त्र में "प्रमाण" का महत्त्व सर्वोपरि है। नैयायिकों ने सामान्यतः प्रमा के करण को प्रमाण कहा है किन्तु करण का स्वरूप क्या है—इस सम्बन्ध में उनका मतभेद रहा है। प्राचीन नैयायिकों में से कुछ ने—**"फला (प्रमा)-योगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्"**—इस सिद्धान्त का उद्भावन किया और इस सिद्धान्त के अनुरूप अनेक कारणों में से किसी एक को करण माना। इसके विपरीत जयन्त भट्ट ने न्यायमंजरी में सामग्री को प्रमाण मानते हुए सामग्री में अन्तर्भूत किसी एक करण (घटक) का पृथक् रूप में करणत्व स्वीकार नहीं किया।

नव्यन्याय में उपर्युक्त दोनों (व्यक्ति और सामग्री) मतों को स्वीकार नहीं किया गया। नव्य नैयायिकों ने **व्यापारवद् कारण** को **करण** कहा है, जिससे कि प्रत्यक्ष के सन्दर्भ में चक्षु को, अनुमान के सन्दर्भ में व्याप्तिज्ञान को, उपमान के सन्दर्भ में अतिदेश वाक्य स्मरण को और शब्द प्रमाण के सन्दर्भ में पदज्ञान को करण माना गया हैं।[2] विश्वनाथ ने भी असाधारण कारण को करण कहा और यह भी स्पष्ट कर दिया कि **असाधारण** का अर्थ है—**व्यापारवत्व**।[3] जयन्त के सामग्रीकरणतावाद पर नव्य नैयायिकों ने यह आक्षेप लगाया है कि सामग्री में व्यापार नहीं हो सकता।

[ग] प्रत्यक्ष प्रमाण और प्रत्यक्ष ज्ञान के भेद

प्राचीन नैयायिकों ने लौकिक और अलौकिक रूप में प्रत्यक्ष के भेदों का वर्गीकरण नहीं किया, जबकि नव्य नैयायिकों ने इस प्रकार के वर्गीकरण को मान्यता देकर अलौकिक प्रत्यक्ष के **सामान्य लक्षण**, **ज्ञानलक्षण** और **योगज** रूप से तीन भेदों की चर्चा की। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार सामान्य (जाति) का प्रत्यक्ष संयुक्त समवेत समवाय नामक सन्निकर्ष से होता है। उनका यह कथन है कि जाति व्यक्ति में समवेत है, अतः व्यक्ति के प्रत्यक्ष के साथ ही जाति का प्रत्यक्ष भी संयुक्तसमवेत समवाय सन्निकर्ष से हो जाता है, जबकि नव्य नैयायिकों के अनुसार सामान्य का प्रत्यक्ष सामान्यलक्षण (अलौकिक) सन्निकर्ष से होता है। उनका यह विचार है कि लौकिक प्रत्यक्ष द्वारा केवल व्यक्ति का ही ज्ञान हो सकता है, उससे जाति का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। सभी मनुष्यों के मरने का प्रत्यक्ष साधारणतया नहीं हो सकता। अतः नव्यनैयायिक इसके लिए अलौकिक सम्बन्ध की कल्पना करते हैं, जिसके लिए उन्होंने **सामान्यलक्षण सन्निकर्ष** नामक शब्द का प्रयोग किया है।

[ख] प्रत्यक्ष ज्ञान की अवगाहकता

प्राचीन नैयायिकों ने प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक और सविकल्पक इन दो भेदों का उल्लेख तो किया, किन्तु इन दोनों का जो विस्तृत विश्लेषण नव्यन्याय में हुआ वह अधिक युक्तिसंगत लगता है नव्यनैयायिकों के अनुसार सविकल्पक प्रत्यक्ष का अर्थ है—**विशिष्ट विषयक ज्ञान** और निर्विकल्पक का अर्थ है, **विशिष्टाविषयक ज्ञान**। सविकल्पक प्रत्यक्ष में जिन तीन पहलुओं का ग्रहण होता है, वे हैं—(1) **विशेष्य** (2) **विशेषण** और (3) दोनों के बीच विद्यमान **सम्बन्ध**। सविकल्पक, जैसे घट के प्रत्यक्ष के समय घट में घटत्व समवाय सम्बन्ध से भासित होता है, अतः 'घट' विशेष्य बन जाता है और 'घटत्व' विशेषण या प्रकार कहलाता है। घट में इस प्रत्यक्ष की जो विषयता होती है उसको विशेष्यता कहा जाता है, और घटत्व में जो विषयता होती है, उसको विशेषणता या प्रकारता कहा जाता है, तथा समवाय में जो विषयता होती है, उसको संसर्गता कहा जाता है। इस बात को इस तरह भी कहा जा सकता है कि "घटः" इस प्रतीति में घटनिष्ठविशेष्यता से निरूपित **विशेष्यता**, घटत्वनिष्ठ प्रकारता से निरूपित **प्रकारिता** और समवायनिष्ठ संसर्गता से निरूपित **संसर्गिता** रहती है जबकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में **स्वरूपमात्रावगाहिता** होती है। उसमें वस्तुओं की विशिष्टता और परस्पर सम्बन्ध का भान नहीं

होता, अतः उसकी विषयता अन्य तीन विषयताओं से भिन्न होने के कारण **तुरीय विषयता** कहलाती है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य सभी ज्ञान सविषयक होते हैं, अतः उनकी विषयता में भी उपर्युक्त तीन श्रेणियाँ रहती हैं। ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और भावना—ये पाँच आत्मगुण सविषयक होते हैं। अतः **आत्मा** को **विषयी** कहा जाता है।

नव्यन्याय में प्रत्यक्ष के उपयुक्त विश्लेषण के अतिरिक्त प्रत्यक्षज्ञान के अनेक अन्य पहलुओं का भी ऐसा आख्यान किया गया है, जो प्राचीन न्याय में उपलब्ध नहीं होता। उदाहरणतया ज्ञान की गाहकता का विश्लेषण करते हुए नव्यनैयायिकों ने यह भी बताया कि ज्ञान को एकत्रएकावगाही, उभय व एकावगाही, एकत्रद्वयावगाही, समूहावलम्बी, विशिष्टवैशिष्टयावगाही आदि भेद से भी अनेक विद्याओं में वर्गीकृत किया जा सकता है। नव्यन्याय में इन ज्ञानों का निम्नलिखित रूप से निरूपण किया गया है—

[1] एकत्र एकावगाही ज्ञान

किसी एक धर्मी में केवल किसी एक धर्म को विषय बनाने वाला ज्ञान एकत्र एकावगाही ज्ञान कहलाता है, जैसे "भूतल घटवत्" उस ज्ञान का विषय है—भूतल का केवल एक धर्म—यानी घट। यहाँ पर उल्लिखित भूतल में घटनिष्ठ प्रकारता निरूपित विशेष्यता है और "घट" में भूतलनिष्ठ विशेष्यता निरूपित प्रकारता है।

[2] उभयत्र एकावगाही ज्ञान

किन्हीं दो स्वतन्त्र धर्मियों में समान भाव से विद्यमान किसी एक धर्म को विषय बनाने वाला ज्ञान उभयत्र एकावगाही ज्ञान कहलाता है, जैसे, '**घटःपटश्च द्रव्यम्**' इस ज्ञान में घट और पट ये दो स्वतन्त्र पदार्थ हैं, उनमें द्रव्यत्व धर्म समान रूप से विद्यमान है। ज्ञान का विषय यहाँ पर द्रव्यत्व धर्म है। यहाँ द्रव्यत्व में घट पटनिष्ठ दो विभिन्न विशेषताओं में निरूपित एक ही प्रकारता है। यहाँ द्रव्यत्व में घटनिष्ठ विशेष्यता और पटनिष्ठ विशेष्यता इन दोनों विशेष्यताओं से निरूपित एक ही प्रकारता है। अतः यह अभयत्र एकावगाही ज्ञान कहलाता है।

[3] एकत्र द्वयावगाही ज्ञान

एक ही धर्मी में एक साथ ही दो धर्मों को स्वतन्त्र रूप से विषय बनाने वाला ज्ञान द्वयावगाही कहलाता है। उदाहरणतया "**भूतलं घटपटवत्**" इस

ज्ञान में धर्मी एक है, वह है—भूतल और धर्म दो हैं–घट और पट, भूतल में घटनिष्ठ प्रकारता और पटनिष्ठ प्रकारता दोनों से निरूपित विशेष्यता है। अतः यह ज्ञान एकत्र द्वयावगाही कहलाता है।

[4] समूहालम्बन ज्ञान

किसी एक धर्मी में अथवा विभिन्न धर्मों से विशिष्ट धर्मियों में अनेक धर्मों को विषय बनाने वाला ज्ञान समूहालम्बन ज्ञान कहलाता है जैसे—"**भूतलं घटवत् पटवच्च**" यहाँ भूतल "भूतलत्व" धर्म से विशिष्ट धर्मी है। उसमें घट और पट ये एकाधिकधर्म विद्यमान हैं। इस प्रकार यह एक धर्मी में अनेक धर्मों को विषय करने वाला समूहावलम्बन ज्ञान है।

"**भूतलं घटवत् महानसं च बह्निमत्**" यहाँ भूतल और महानस भूतलत्व और महानसत्व इन दो धर्मों से विशिष्ट है। यानी यहाँ भूतल और महानस ये दो धर्मी हैं। अतः इन दो धर्मियों में घटत्व और बह्नित्वरूप से अनेक धर्मों को विषय बनाने वाला यह ज्ञान समूहावलम्बन कहलाता है। आचार्य शुक्ल के अनुसार ऐसा भी कहा जा सकता है कि जिस ज्ञान में एक से अधिक मुख्य विशेषताएँ हों, वह समूहालम्बन है। जो विशेष्यता प्रकारता से अवच्छिन्न नहीं होती, वह मुख्य विशेषता है।

उक्त दो ज्ञानों में मुख्य विशेषताएँ एक से अधिक हैं, क्योंकि विशेष्यता प्रकारता भेद से भिन्न है, तथा विशेष्य यानी भूतल और महानस के प्रकार नहीं हैं, अतः उनमें रहनेवाली विशेष्यताएँ प्रकारता से अनवच्छिन्न हैं।

[5] विशिष्ट वैशिष्टयावगाही ज्ञान

किसी धर्म से विशिष्ट के वैशिष्टय संबंध को किसी धर्मी में विषय करने वाला ज्ञान विशिष्ट वैशिष्टियावगाही कहलाता है। उदाहरणतया—

"रक्तदण्डवान् पुरुषः" यह ज्ञान "रक्तो दण्डः" इस ज्ञान से गृहीत रक्तत्व से विशिष्ट दण्ड के संयोग को विषय बनाता है। अतः यह रक्तत्व विशिष्ट दण्ड वैंशिष्ट्यावगाही है।

इस ज्ञान से पुरुष के साथ 'रक्त दण्ड' के संयोग का भान सामान्य संयोग सम्बन्ध से नहीं होता, अपितु रक्तदण्डप्रतियोगिक संयोगत्व सम्बन्ध से होता है।

इस ज्ञान की संयोगनिष्ठ संसर्गता रक्तदण्डप्रतियोगित्व से अवच्छिन्न होती है, अतः इस ज्ञान का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है कि

"रक्तदण्ड-प्रतियोगितावच्छिन्न-संयोगनिष्ठ-संसर्गता-निरूपित-रक्तदण्डनिष्ठ-प्रकारता-निरूपित-पुरुषनिष्ठ-विशेष्यताशालि-ज्ञानम्।" अथवा "संयोगनिष्ठ-संसर्गता-निरूपित-रक्तदण्डनिष्ठ-प्रकारतानिरूपित-पुरुषनिष्ठ-विशेष्यताशालि-ज्ञानम् ।" इस बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जो ज्ञान किसी विशेष्य में किसी विशेषण को, और उस विशेषण में फिर किसी अन्य विश्लेषण को विषय बनाता है, वह द्वितीय विशेषण से उपलक्षित प्रथम विशेषण के वैशिष्ट्य का ग्राहक ज्ञान कहा जाता है। उदाहरणतया—पुरुष, दण्ड और दण्डगत रक्तत्व (रक्तरूप) के साथ चक्षु का एक साथ सन्निकर्ष होने पर जब तीनों के परस्पर सम्बन्ध को विषय करने वाला **"रक्तदण्डवान् पुरुष:"**—ऐसा ज्ञान होता है तो वह पुरुष में रक्तत्व विशिष्ट दण्ड के सम्बन्ध को विषय न बना कर पुरुष में दण्ड सम्बन्ध को और दण्ड में रक्तत्व सम्बन्ध को विषय बनाने के कारण रक्तत्व से उपलक्षित दण्ड के विशिष्टय का ग्राहक होता है। इसका उल्लेख इस प्रकार होता है—

"रक्तदण्डनिष्ठप्रकारतानिरूपित-संयोगत्वमात्राच्छिन्न-संसर्गता - निरूपित-पुरुषनिष्ठ-विशष्टयाशालि-ज्ञानम् ।"[4]

[घ] अनुमान का तार्किक और मनोवैज्ञानिक आधार

न्याय को कई आचार्य अनुमान का पर्यायवादी—जैसा मानते हैं। अनुमान के दो प्रमुख आधार हैं—व्याप्ति और पक्षधर्मता। इतनी बात समान होने पर भी व्याप्ति के बारे में प्राचीन और नव्यनैयायिकों का मत एक जैसा नहीं है।

नव्यनैयायिक **व्याप्यपेक्षोभयवैशिष्ट्यावगाही परामर्श** को अनुमिति का कारण मानते हैं।[5] जबकि प्राचीन नैयायिकों का यह मत है कि **साध्य में हेतु की व्यापकता का ज्ञान** अथवा साध्यतावच्छेदक में हेतु का व्यापकता के अवच्छेद का ज्ञान अनुमिति का हेतु है।

प्राचीन नैयायिकों ने पक्षता का विश्लेषण करते हुये उसको प्रकृतसाध्यवत्ता-निश्चयनिवर्त्यसंशयरूपा बताया है, जबकि नव्यनैयायिकों के अनुसार पक्षता सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावरूपा होती है।

अनुमान के विवेचन में भी नव्यन्याय में कतिपय नवीन उद्भावनाएँ की गई हैं, अनुमान के संदर्भ में जो प्रमुख दो जटिल समस्याएँ हैं, उनमें से एक है—व्याप्ति और दूसरी है—पक्षता, व्याप्ति अनुमान का तार्किक कारण या आधार है और रक्षता अनुमान का मनोवैज्ञानिक कारण या आधार है। कतिपय

स्थलों में दो वस्तुओं का सहचर देखकर उनमें अव्यभिचरित सम्बन्ध की अवधारणा करना अपने आपमें एक विवादास्पद प्रश्न बन जाता है। अत: नव्य-नैयायिकों ने व्याप्ति के लक्षण को एक नया रूप दिया। इसी प्रकार साध्य-संदेह, संशययोग्यता, अनुमित्सा सिद्ध्यभाव, सिषायिषाविरहविशिष्ट सिद्ध्यभाव में किसको पक्षता कहा जाए, यह भी एक विवादास्पद पहलू रहा है। नव्य-न्याय में इस मूलभूत समस्या का समाधन भी विभिन्न रूप से किया गया है।

[ङ] शब्द प्रमाण से सम्बन्धित कतिपय नवीन उद्भावनाएँ

(1) नव्यन्याय के अनुसार धात्वर्थ

प्राचीन नैयायिक सभी धातुओं का (सामान्य रूप से) अर्थ "व्यापार" मानते हैं, न कि यह कि सकर्मक धातु का अर्थ फलावच्छिन्न व्यापार है और अकर्मक धातु का अर्थ केवल व्यापार। **'ग्रामं गच्छति'** इस वाक्य में धातु (गम्) से व्यापार मात्रात्मिका क्रिया का ग्रहण होता है, संयोगादि फल का ज्ञान कर्म प्रत्यय से होता है।

यह ज्ञातव्य है कि वैयाकरणों के अनुसार प्रत्येक धातु में फल और व्यापार रहता है। जैसे कि गम् धातु में व्यापार है—गमन, और फल है—स्थानान्तर की प्राप्ति। व्यापार का आश्रय कर्त्ता होता है और फल का आश्रय कर्म। दोनों की पृथक् स्थिति होने से धातु सकर्मक है। किन्तु स्था, भुआदि धातुओं के व्यापार और फल का आश्रय एक ही होता है अत: वे अकर्मक कहलाती हैं।[6]

भट्टोजिदीक्षित और कौण्डभट्ट के अनुसार धातु के दो अर्थों (फल और व्यापार) में से फल विशेषण है और व्यापार विशेष्य। **'ओदनं पचति'** (चावल पकाता है)—इस वाक्य में फल का आश्रय कर्म है और व्यापार का आश्रय है कर्त्ता। नागेश ने मंजूषा में यह लिखा है कि फल उसको कहते हैं, जो व्यापार से उत्पन्न होने वाला हो और कर्तृवाच्य में व्यापार का विशेषण बन कर रहता हो (कर्म वाच्य में फल विशेष्य होता है)। व्यापार का आशय है—धातु के अर्थ रूप फल का जनक होना। फल के अनुकूल कथन का आशय है—फल में जो जन्यता है, उसका जनक होना। नागेश के अनुसार फल और व्यापार को पृथक्-पृथक् रूप से धातु का अर्थ मानना उचित नहीं है, क्योंकि इस तरह तो दोनों का उद्देश्य और विधेय के रूप में अन्वय होने लगेगा। अत: नागेश का यह मत है कि फलयुक्त व्यापार (कर्तृवाच्य में) अथवा व्यापारयुक्त फल (कर्मवाच्य में) धातु का अर्थ है।

मीमांसा के अनुसार धातु का अर्थ है—फल (जैसे पचति में पच का अर्थ है—गीला होना) और प्रत्यय का अर्थ है—व्यापार।[7] यानी फल का जनक जो व्यापार (आग जलाना आदि) होता है, वह मीमांसकों की दृष्टि से धातु का अर्थ नहीं, अपितु प्रत्यय (तिङ्) का अर्थ है।

नागेश ने मीमांसकों के मत का खण्डन करते हुए कहा कि व्यापार को तिङ् का अर्थ मानने पर विभिन्न व्यापारों जैसे फू-फू करना, आग जलाना आदि के ज्ञान के लिए अनेक प्रत्ययों में शक्ति माननी पड़ेगी। कौण्ड भट्ट का भी यह कथन है कि व्यापार को धातु का अर्थ मानने पर कोई धातु सकर्मक नहीं हो सकेगी। क्योंकि सकर्मक धातु वह मानी गई है, जिसका फल और व्यापार विभिन्न अधिकरणों में रहते हैं। जैसे कि पहले भी कहा जा चुका है, प्राचीन नैयायिकों के अनुसार सकर्मक और अकर्मक सभी धातुओं का अर्थ है–व्यापार। गंगेश ने रत्नकोशकार के मत का उल्लेख करते हुये कहा कि वह धातु का अर्थ व्यापार मानते हैं और तिङ् का अर्थ—उत्पादन। उदाहरणतया **पचति** का अर्थ है—**पाकं करोति।**

(2) पद स्वरूप

प्राचीन नैयायिकों ने विभक्त्यन्त (नाम और पचति) को पद कहा है यानी 'सुप्संयुक्त नाम' और 'तिङ्संयुक्त धातु' को ही पद कहा जाता है।[8] विभक्तियाँ दो प्रकार की बताई गई हैं—नाम और आख्यात। वैयाकरणों का भी यही मत है। किन्तु नव्यनैयायिकों ने वृत्तिमान् को ही पद माना है। उनके अनुसार 'पचति' में एक नहीं, अपितु दो पद हैं। विक्लित्ति—जनकव्यापाररूपार्थ में वृत्तिमान् पच् धातु एक पद है, और कृतिरूपार्थ में वृत्तिमान् तिङ् प्रत्यय दूसरा पद है। ये दोनों मिलकर विशिष्टार्थ के प्रतिपादक होने के कारण वाक्य कहलाते हैं।

विश्वनाथ ने प्राचीन और नव्य मत में विरोध के परिहार के लिए प्राचीन नैयायिकों द्वारा प्रयुक्त "विभक्त्यन्त" शब्द का नया अर्थ करते हुए कहा कि–विभक्ति का आशय है—वृत्ति और अन्त: शब्द का आशय है—सम्बन्ध। अत: विश्वनाथ के अनुसार विभक्त्यन्त का अर्थ भी वृत्तिमत्व है। किन्तु इस सन्दर्भ में सूत्रकार और भाष्यकार के मत को ही ग्राह्य मानना अधिक उपयुक्त है।

(3) शाब्द बोध

सामान्यत: यह माना जाता है कि विरूपोपस्थित दो पदार्थों में ही अभेद

से पारस्परिक शाब्दबोध होता है। जैसे कि "नीलो घट:" में नील और घट विरूपोपस्थित है। अत: घट पदार्थ में नील पदार्थ का अभेद से शाब्दबोध होता है। इसके विपरीत "घटो घट:" में शाब्दबोध नहीं होता, क्योंकि यहाँ दोनों पदार्थ विरूपोपस्थित नहीं है।

प्राचीन नैयायिकों का यह मत है कि जैसे "घटो घट:" में घटत्वमात्रावच्छिन्न धर्मी और घटत्वमात्रावच्छिन्न विधेयता परक शाब्दबोध को स्वीकार नहीं किया जा सकता, वैसे ही "घटो नीलघट:" जैसे उदाहरण में भी घटत्वमात्रावच्छिन्न धर्मी में नीलघटत्वावच्छिन्न विधेयता परक शाब्दबोध को स्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु नव्यनैयायिक **"घटो घट:"** में शाब्दबोध न मानते हुये भी **"घटो नीलघट:"** में शाब्दबोध मानते हैं, क्योंकि यहाँ उनके मतानुसार विधेयांश (नीलघट:) अधिकधर्मावगाही है। अत: दोनों में अभेद से शाब्दबोध होता है। नव्यनैयायिकों के इस मत का आधार यह है कि घटत्वरूप से अवगत घट नीलघट है या नहीं। इस सन्देह का निवारण हुए बिना नीलघटार्थी व्यक्ति की प्रवृत्ति नहीं हो सकती अत: संशय के अपनयन तथा प्रवृत्ति की सिद्धि के लिये "घटो नीलघट:" ऐसा कहना उपयुक्त है, जिससे कि नीलघटत्वावच्छिन्न विधेयक तथा घटत्वावच्छिन्न उद्देश्यक ज्ञान होता है।[9]

(4) विशेष का व्यावृत्तत्व

वात्स्यायन ने यह कहा है कि सूत्रकार गौतम द्वारा परिगणित बारह प्रमेयों के अतिरिक्त द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय भी प्रमेय हैं। इस प्रकार वात्स्यायन ने विशेष के अस्तित्व को स्वीकार किया है।[10] किन्तु नव्य नैयायिकों के अनुसार विशेष अतिरिक्त पदार्थ नहीं है।[11] क्योंकि जैसे विशेष में स्ववृत्तिधर्म के बिना भी व्यावृत्तत्व माना गया है, वैसे ही नित्य द्रव्यों में भी व्यावृत्तत्व स्वत: रहता है।

(2) नव्यन्याय और प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र

नव्यन्याय में प्रकथनों को विशिष्ट शब्दबन्धों और वाक्यबन्धों के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयत्न तो किया गया है, किन्तु पाश्चात्य तर्कशास्त्र में जिन चिन्हात्मक या वर्णात्मक प्रतीकों का प्रयोग हो रहा है, वैसा नव्यन्याय में नहीं मिलता। प्रकथन का आशय है—वस्तु या वस्तु—स्थिति का भाषिक चित्र। न्याय में वस्तु का आशय है—मुख्यत: द्रव्य, क्योंकि अत्यन्ताभाव के अतिरिक्त

सभी संकल्पनाएँ द्रव्य पर ही आधारित हैं; गुण आदि भी उसी पर आधारित होते हैं।

पाश्चात्य तर्कशास्त्र के अनुसार यदि दो पद आपस में विशिष्ट सम्बन्ध से सम्बन्धित हों तो उनका ऐसा सम्बन्ध विधेय के एक भाग के रूप में ही गिना जाता है, किन्तु नव्यन्याय में इस तीसरे घटक को स्वतन्त्र स्थान दिया गया। ज्ञानबन्ध यानी ज्ञानाकृति को इन तीन घटकों की विशेष्यता (आधार) संसर्गता (सम्बन्ध) और प्रकारता (धर्म) इन तीन नामों से निर्दिष्ट किया गया। उदाहरणतया "नीलो घटः" यहाँ घट में विशेष्यता नीलत्व में प्रकारता तथा सम्बन्ध (समवाय) में संसर्गता है।

संसर्गता के आधार पर ही अस्तित्व और निर्धारण में अन्तर किया जा सकता है।

तन्निष्ठ, तद्वत् और तदवच्छिन्न इन तीन शब्दों का प्रयोग नव्यन्याय में बहुत अधिक किया गया है। **अनुयोगी** और **प्रतियोगी** ये दोनों संकल्पनाएँ नव्य न्याय में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

जैसा कि पहले भी कहा गया है, नव्यन्याय में शब्दबन्धों और वाक्यबन्धों का पर्याप्त प्रयोग होते हुए भी प्रतीकों का उसमें प्रयोग नहीं हुआ। हाँ, अब कुछ हद तक उन शब्दबन्धों और वाक्यबन्धों को प्रतीकों में ढाला जा रहा है, जिसके लिए कतिपय आधुनिक विद्वान् प्रयत्नशील हैं।

(3) नव्यन्याय में सम्बन्धों की संकल्पना

नव्यन्याय के आचार्यों में पदार्थों के विश्लेषण के सन्दर्भ में इस सिद्धान्त पर अत्यधिक बल दिया कि संसार में विद्यमान सभी भावात्मक और अभावात्मक पदार्थ तत्त्व और तथ्य एक दूसरे से जुड़े हुए हैं और उनकी पारस्परिक सम्बद्धता किसी-न-किसी "सम्बन्ध" पर निर्भर है। प्रत्येक विशिष्ट ज्ञान में जिन तीन बातों का होना आवश्यक है, वे हैं––(1) विशेष्य (2) विशेषण तथा (3) इन दोनों को सम्बद्ध करने वाला सम्बन्ध। साधारणतया विशिष्ट ज्ञान की उस विषयता को सम्बन्ध कहा गया है, जो विशेष्यता और विशेषणता से भिन्न हो।

सम्बन्ध का लक्षण––"सम्बन्ध" किसको कहते हैं? यानी सम्बन्ध का लक्षण क्या है? इस प्रश्न के प्रमुख रूप से तीन वैकल्पिक समाधान प्रस्तुत किये गये हैं––

(1) किन्हीं दो वस्तुओं में आधार-आधेय भाव, कार्यकरणभाव साध्य-साधक भाव व्याप्य-व्यापकभाव, विशेष्य-विशेषण भाव विरोध-विरोधिभाव आदि का जो साधक है, वह "सम्बन्ध" कहलाता है, उदाहरणतया घट और भूतल के संयोग से भूतल और घट में आधार-आधेयभाव होता है, अतः "संयोग" एक सम्बन्ध है। इसी प्रकार घट और रूप में विद्यमान विशेष्य विशेषण भाव का जनक समवाय सम्बन्ध है।

(2) एक अन्य लक्षण के अनुसार "सम्बन्ध वह होता है, जिसमें संसर्गता-रव्य विषयता हो", उदाहरणतया "दण्डी पुरुषः" इस प्रतीति में संसर्गता का आश्रय होने के कारण संयोग एक सम्बन्ध है। इसी प्रकार "रूपी घटः" इस प्रतीति में संसर्गता का आश्रय होने के कारण समवाय एक सम्बन्ध है।

(3) सम्बन्ध का एक लक्षण ऐसा भी किया जाता है कि "जिसमें दो वस्तुओं में विशिष्ट प्रत्यय होता है, वह सम्बन्ध कहलाता है" उदाहरणतया "घटवद् भूतलम्" इस प्रकार का विशिष्ट प्रत्यय घट और भूतल के संयोग से होता है। अतः संयोग एक सम्बन्ध है।

सम्बन्धों के प्रमुख वर्ग—संयोग समवाय आदि सम्बन्धों को नव्यन्याय में प्रमुख रूप से छः वर्गों वर्गीकृत किया गया है। तथा—(1) साक्षात् सम्बन्ध, (2) परम्परा सम्बन्ध (3) वृत्ति नियामक सम्बन्ध (4) वृत्यनियामक सम्बन्ध (5) सामान्य सम्बन्ध और (6) विशेष सम्बन्ध। इनका विवरण यहाँ संक्षिप्त रूप से दिया जा रहा है।

(1) साक्षात् सम्बन्ध

जिस सम्बन्ध में एक ही संसर्गता हो वह साक्षात् सम्बन्ध (Direct relation) कहलाता है। उदाहरणतया "घटवद्–भूतलम्" इस प्रतीति में घट और भूतल के बीच केवल एक ही सम्बन्ध है, जिसको संयोग सम्बन्ध कहा जाता है, अतः यहाँ पर एक ही संयोगत्वावच्छिन्न संसर्गता है। संयोग और समवाय साक्षात् सम्बन्ध हैं।

(2) परम्परा सम्बन्ध

परम्परा सम्बन्ध (Indirect relation) वह माना जाता है, जिसमें दो संसर्गताएँ होती हैं। उदाहरणतया घटगत रूप के साथ चक्षु का संयुक्त समवाय तथा घटगतरूपत्व के साथ संयुक्त समवाय सम्बन्ध है। अतः यहाँ दो

संसर्गताएँ है । मूलतः सम्बन्धों की दो श्रेणियाँ हैं—(1) भेदमूलक और (2) अभेदमूलक । अभेद सम्बन्ध तादात्म्य का ही दूसरा नाम है । भेदमूलक सम्बन्ध तीन प्रकार के होते हैं—(1) संयोग (2) समवाय और (3) स्वरूप सम्बन्ध। स्वरूप के कई भेद होते हैं । दो संसर्गताओं के आधार पर घटित होने के कारण ऐसे संसर्ग को परम्परा सम्बन्ध कहा जाता है ।

(3) वृत्ति नियामक सम्बन्ध

नव्यन्याय में सम्वन्धों का वर्गीकरण वृत्ति की नियामकता और अनियामकता की दृष्टि से भी दो वर्गों में किया गया है। इस प्रकार कतिपय सम्बन्धों को वृत्तिनियामक (Occurrence-exacting relation) और कतिपय को वृत्य-नियामक (Non-occurrence-exacting relation) माना गया है ।

वृत्तिनियामक वर्ग में जिन तीन सम्बन्धों को समाविष्ट किया गया है, वे हैं—(1) संयोग सम्बन्ध, (2) समवाय सम्बन्ध और (3) विशेषणतर सम्बन्ध । विशेषणता के दो उपवर्ग हैं—(क) दैशिक या अभावीव विशेषणता सम्बन्ध (Absential qualificational relation) और (ख) कालिक विशेष-णता सम्बन्ध (Temporal qualificational relation)

तादात्म्य या अभेद सम्वन्ध के अतिरिक्त अन्य सभी सम्बन्ध प्रायः दो पदों या दो पदार्थों के बीच ही माने जाते हैं । वैसे तादात्म्य या अभेद में पदार्थ की एकलता और तद्वता के वावजूद उसी में अनुयोगिता और प्रतियोगिता की कल्पना की जाती है, जिससे कि सम्बन्ध की उभयाश्रयता सम्पन्न हो जाती है। वैसे तादात्म्म एक असाधारण धर्म (Uncommon property) है, जो एक ही वस्तु में उसके सार रूप में रहता है । तात्त्विक एकता को ही तादात्म्य कहा जाता है । इस प्रकार मुख्यतया तो विशेषणता, संयोग, समवाय और तादा-त्म्य ये चार ही सम्बन्ध हैं, किन्तु गौण रूप में सम्बन्धों की संख्या अनन्त है । संक्षेपतः वृत्ति नियामक सम्बन्ध वे सम्बन्ध हैं, जो एक पद या पदार्थ में किसी दूसरे पद या पदार्थ की वृत्ति यानी अवस्थिति (occurrence) का ज्ञापन या निश्चय करवाते हैं । वृत्ति शब्द का प्रयोग विभिन्न शास्त्रों के अनुसार भक्ति, पदवृत्ति, शाब्दबुद्धि, शाब्दबोध, अर्थाभिधान आदि अर्थों में उपलब्ध होता है, नव्यन्याय में नियामक नियन्त्रक और अवच्छेदक भी प्रायः पर्यायवाची शब्द माने गये हैं । और वृत्ति शब्द का प्रयोग घटित होना या विद्यमान होना इन अर्थों में किया गया है। आचार्य वदरीनाथ शुक्ल के अनुसार "वृत्ति नियामक

सम्बन्ध वह होता है, जिससे कोई पदार्थ वृत्ति-आश्रित होता है, जैसे संयोग, समवाय और विशेषणता घट, भूतल में आदि में संयोग सम्बन्ध से और कपाल आदि में समवाय सम्बन्ध से, काल में विशेषणता (कालिक) दिशा में विशेषणता (दिक्वृत्ति) सम्बन्ध से आश्रित होती है, एवं घटाभाव आदि अभाव पर्वत आदि में अभावीव विशेषणतापरक स्वरूप सम्बन्ध से आश्रित होते हैं, अतः संयोग आदि उक्त चार सम्बन्ध वृत्ति-नियामक हैं।"

(4) वृत्यनियामक सम्बन्ध

वृत्यनियामक सम्बन्ध वे हैं जो एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ की वृत्ति यानी अवस्थिति (occurrence) का निश्चय या नियमन नहीं करते। उदाहरणतया व्याप्यत्व सम्बन्ध में व्यापक (अग्नि) व्याप्य (धूम) का नहीं, अपितु व्याप्य के पक्ष को नियन्त्रित करता है। वृत्ति में नियामक पूर्वोक्त सम्बन्धों के अतिरिक्त अन्य सभी संबंध वृत्यनियामक माने जाते हैं। गंगेभ के अनुसार ऐसे सम्बन्ध अनेक हैं, जिनमें अङ्गुलिद्वय संयोग, कुण्ड-बदर संयोग, विषयत्व, विषयित्व, अनुयोगित्व, प्रतियोगित्व निरूपकत्व निरूप्यत्व, व्याप्यत्व अव्याप्यत्व, तादात्म्य आदि का भी समावेश है। इस प्रकार के अन्य सम्बन्धों में निम्नलिखित का भी परिगणन किया जा सकता है—

प्रकारता, प्रकारिता, विशेष्यता, विशेष्यिता, अवच्छेयकत्व, अवच्छिन्नत्व, स्वामित्व आदि। वृत्तिनियामक और वृत्यनियामक सम्बन्ध में यह भेद है कि वृत्तिनियामक सम्बन्धों में आधेय (अभाव को छोड़कर) को प्रतियोगी (adjunct) और आधार को अनुयोगी (subjunct) कहा जाता है, जबकि वृत्यनियामक सम्बन्धों में विशेष्य (qualificand) को प्रतियोगी और विशेषण को अनुयोगी माना जाता है। यद्यपि कई मामलों में आधेय और प्रतियोगी एक ही पदार्थ के बोधक हो सकते हैं, फिर भी दोनों स्वरूपतः भिन्न हैं। प्रतियोगी किसी सम्बन्ध का ही प्रतियोगी हो सकता है, जबकि आधार किसी आधेय का ही आधेय हो सकता है। वृत्यनियामक सम्बन्ध केवल के सम्बन्धिना या सम्बद्धता के सूचक होते हैं। जैसे दो मल्लों का संयोग वृत्यनियामक है। क्योंकि इन दो मल्लों में आधाराधेय भाव नहीं है। वे दोनों सम्बन्धी मात्र हैं।

तादात्म्य के अतिरिक्त कोई भी वृत्यनियामकसम्बन्ध अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक नहीं होता।

(5, 6) सामान्य सम्बन्ध और विशेष सम्बन्ध

संयोग समवाय आदि सामान्य सम्बन्ध के वर्ग में आते हैं किन्तु यही सम्बन्ध किसी प्रतियोगित्व अथवा किसी अनुयोगित्व से विशिष्ट हो जाते हैं तो ये विशेष सम्बन्ध कहलाते हैं।

(7) संयोग सम्बन्ध

संयोग एक सामान्य सम्बन्ध है। संयोग प्राय: दो द्रव्यों के बीच होता है, किन्तु यथावसर दो के अधिक द्रव्यों के बीच भी हो सकता है, जैसे रस्सी में कई रेशे एक साथ संयुक्त हो जाते हैं। विभु द्रव्यों का संयोग नित्य होता है और अन्य द्रव्यों का अनित्य। संयोग तीन प्रकार का होता है (1) अन्यतर कर्मज संयोग, जैसे पर्वत पक्षी में, (2) उभयकर्मज संयोग, जैसे दो मल्लों में और (3) संयोगजसंयोग, जैसे मनुष्य शाखा और वृक्ष में, यहाँ मनुष्य का संयोग शाखा से है किन्तु शाखा का भी संयोग वृक्ष से है अत: मनुष्य और वृक्ष का संयोग संयोगजसंयोग कहलाता है।

पर्वत में पक्षी का संयोग आधार आधेय भाव का सम्पादक है। पर्वत में पक्षी की वृत्ति है अत: यह वृत्ति नियामक संयोग है। दो मल्लों के संयोग में आधाराधेयभाव नहीं, अपितु दोनों सम्बन्धीमात्र हैं अत: यह संयोग वृत्य-नियामक है।

(8) समवाय सम्बन्ध

समवाय (Inherence) भी एक वृत्तिनियामक सम्बन्ध है। यह अंश और अंशी (घट और कपाल) जाति और व्यक्ति, गुण और द्रव्य, कर्म और द्रव्य के बीच विद्यमान रहता है। नित्य द्रव्य जैसे आत्मा और आकाश के कोई भाग नहीं होते अत: वे समवाय सम्बन्ध से किसी भाग में समवेत नहीं होते। जिन द्रव्यों के भाग होते हैं, वे केवल अन्य भागों में ही समवेत होते हैं। कुछ आचार्य समवाय को एक और नित्य सम्बन्ध मानते हैं (**समवायत्वं नित्य-सम्बन्धत्वम्**)। किन्तु अन्य आचार्यों के मत में समवाय अनेक होते हैं, समवाय का ज्ञान न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण के और वैशेषिक के अनुसार अनुमान प्रमाण से होता है।

गुण और कर्म का द्रव्य के साथ जाति द्रव्य, गुण और कर्म के साथ, जन्य द्रव्य का उसके अवयवों के साथ यानी गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, क्रिया-

क्रियावान, जाति-व्यक्ति एवं विशेष-नित्य पदार्थों में जो सम्बन्ध माना जाता है, वह समवाय कहलाता है, घट और भूतल का संयोग सम्बन्ध जैसे प्रत्यक्ष से सिद्ध होता है वैसे ही तन्तु और पट के समवाय का भी प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञान होता है। पट तन्तु से सम्बद्ध होने के पूर्व विद्यमान नहीं होता अतः दोनों में संयोग सम्बन्ध नहीं है, अपितु समवाय सम्बन्ध माना जाता है। यहाँ पट-निष्ठ-तन्तु निरूपित आधेयता और तन्तुनिष्ठ पटाधारता के अवच्छेदक रूप में समवाय की सिद्धि होती है। वैशेषिकों के अनुसार समवाय का प्रत्यक्ष नहीं होता, वह अनुमान गम्य है। आचार्य बदरीनाथ शुक्ल जी का मत है कि समवाय भूतल: साक्षात् सम्बन्ध है, किन्तु आवश्यकतानुसार वह परम्परा सम्बन्ध का अङ्ग बन जाता है, जैसे घट के रूप आदि के साथ चक्षु का साक्षात् सम्बन्ध होने की दशा में वह वृत्ति नियामक तथा प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध होता है और परम्परा सम्बन्ध होने की दशा में वृत्ति का अनियामक तथा प्रतियोगिता का अनवच्छेदक होता है।

(9) स्वरूपसम्बन्ध

जैसा कि पहले भी कहा गया है मूलतः सम्बन्धों के भेदात्मक और अभेदात्मक रूप से दो वर्ग हैं। भेदात्मक वर्ग में संयोग और समवाय सम्बन्ध के अतिरिक्त स्वरूपसम्बन्ध का भी परिगणन किया जाता है। संयोग और समवाय की भाँति स्वरूप सम्बन्ध भी वह सम्बन्ध है, जो एक ओर तो संयोग समवाय आदि के समान पदार्थ के रूप में परिगणित होता है और दूसरी ओर धर्म विशेष से युक्त होने के कारण सम्बन्ध भी कहलाता है।

स्वरूपसम्बन्ध अखण्ड और सखण्ड भेद से दो वर्गों में परिगणित किये जा सकते हैं। अखण्ड स्वरूपसम्बन्ध के दो उपवर्ग हैं—(1) भावीय अखण्डस्वरूप सम्बन्ध और (2) अभावीय अखण्ड स्वरूप सम्बन्ध। भावीय अखण्ड स्वरूप सम्बन्ध भी कालिक और दैशिक भेद से दो प्रकार का होता है। सखण्ड स्वरूप सम्बन्ध वह है, जिसका गठन अनेक खण्डों या पदार्थों को जोड़कर होता है, जैसे, कार्य-कारणभाव: प्रतियोगि-अनुयोगिभाव, व्याप्य-व्यापकभाव, निरूप्य-निरूपकभाव, विषय-विशयिभाव आदि। पदार्थों के बहुविध व्यवहार के आधार पर सखण्ड स्वरूप सम्बन्धों की संख्या अनन्त है। सखण्ड स्वरूप सम्बन्ध को विशेषणता सम्बन्ध भी कहा जा सकता है। साधारणतया संयोग तथा अखण्ड स्वरूप सम्बन्ध वृत्ति नियामक होते हैं और मल्ल संयोग तथा सभी सखण्ड स्वरूप सम्बन्ध वृत्यनियामक होते हैं। इन सम्बन्धों में समवाय

सदा ही आधाराधेय भाव का नियामक होने के कारण वृत्ति नियामक तथा तादात्म्य आधाराधेय भाव का नियन्त्रक न होने के कारण सदा ही वृत्यनियामक सम्बन्ध माना जाता है।

4. नव्यन्याय के कतिपय प्रतिपाद्य

नव्यन्याय के आचार्यों ने न्यायशास्त्र के विवेचनीय प्रमुख विषय (अर्थात् प्रमाण मीमांसा) का निरूपण करते हुए विधि की दृष्टि से कई ऐसे नवीन पारिभाषिक शब्दों का प्रवर्तन किया, जो अपने-आप में स्वयं ही प्रतिपाद्य बन गये। ऐसे कुछ पारिभाषिक शब्दों का सरसरा सा परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। (नव्यन्याय के पारिभाषिक शब्दों का विश्लेषण एक पृथक ग्रन्थ में ही सम्भव है। यहाँ प्रस्तुत पारिभाषिक शब्दों की पूरी मीमांसा नहीं हो पायी है। नव्यन्याय का एक सरसरा सा परिचय देने के लिये ही यह संक्षिप्त अध्याय लिखा गया है।

नव्यन्याय के जिन कतिपय पारिभाषिक शब्दों पर यहाँ सरसरी चर्चा की जा रही है, वे हैं—

(क) अवच्छेदकत्व, (ख) पक्षता, (ग) विषयता, (घ) विषयिता, (ङ) प्रकारता, (च) कोटिता, (छ) विशेष्यता, (ज) विशेष्यिता, (झ) प्रतियोगिता, (ञ) अनुयोगिता, (ट) निरूप्यता, तथा (ठ) पर्याप्ति।

(क) अवच्छेदकता (अवच्छेदकत्व)

अवच्छेदक (Limitor) शब्द का एक विशेष पादिभाषिक अर्थ में प्रयोग नव्यनैयायिकों ने किया है। यह नव्यन्याय की शब्दावली में मुख्य स्थान रखता है। उदाहरणतया वह्नि के संदर्भ में "वह्नित्व" अवच्छेदक है। वह्नित्व एक धर्म है जो वह्नि का बोध कराने की शक्ति रखने के साथ-साथ उसको अन्य वस्तुओं से पृथक् करता है।[12] नैयायिकों ने जाति (घटत्व), आकृति (घटाकार) और व्यक्ति (घट) में शक्ति मानी है, अतः घटत्व शक्यतावच्छेदक कहलाता है और एक विशेषण की तरह प्रयुक्त होता है।[13]

अवच्छेदकत्व या अवच्छेदकता (Limitorness) एक सम्बन्ध है। प्रतियोगित्व अनुयोगित्व आदि के समान इसको भी स्वरूप सम्बन्ध कहा जाता है। उदाहरणतया घटाभाव का प्रतियोगी है—घट। घट में जो प्रतियोगिता है, उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक है—घटत्व। घटत्व और घटाभाव के बीच जो

सम्बन्ध है, उसको अवच्छेकत्व या अवच्छेदकता कहा जा सकता है। जैसे यह भी कहा जा सकता है कि "अवच्छेदक" वह आश्रय देश काल विशेषण आदि होता है, जिसमें अवच्छेकत्व रहता है। अवच्छेदकत्व स्वरूप सम्बन्ध विशेष है। उदाहरणतया **"घटोनास्ति"** इस उदाहरण में "घटत्व" प्रतियोगिता का अवच्छेदक है। अवच्छेकत्व और घटत्व में तादात्म्य है और साथ ही वह अभाव और उसके प्रतियोगी के बीच विद्यमान स्वरूप सम्बन्ध भी है।

1. अवच्छेदक के प्रमुख भेद

अवच्छेदकता के आश्रय को अवच्छेदक कहा जाता है। इसके मुख्य भेद छः हैं—(1) देशमूलक अवच्छेदक, (2) कालमूलक अवच्छेदक, (3) धर्म-मूलक अवच्छेदक, (4) सम्बन्धमूलक अवच्छेदक, (5) विषयतामूलक अव-च्छेदक और (6) विजयितामूलक अवच्छेदक। इन अवच्छेदकों का स्वरूप संक्षेपतः इस प्रकार है—

[1] देशमूलक अवच्छेदक (Space-based-limitor)

पर्वत के मध्य भाग में अग्नि है और शिखरभाग में अग्न्यभाव है। इस प्रतीति में पर्वत का मध्य भाग अग्नि का और शिखर भाग अग्न्य भाव का दैशिक अवच्छेदक है। अतः ये देशमूलक अवच्छेदक (Space-based-limitor) हैं और इनमें रहने वाली अवच्छेकता दैशिक अवच्छेदकता कहलाती है, जो देशस्वरूप ही है।

[2] कालमूलक अवच्छदेक (Time-based-limitor)

घट के जन्मकाल में घट में गुण नहीं है। इस प्रकार की प्रतीति में घट का जन्मकाल घट में गुण के अभाव का कालिक अवच्छदेक (Time-based-limitor) है। काल में रहने वाली अवच्छेदकता कालस्वरूप ही होती है।

[3] विषयता मूलकअवच्छेदकता (Object-based-limitor)

सविकल्पक ज्ञान के विषयों में विशेष्यता, प्रकारता और संसर्गता से अति-रिक्त एक अन्य विलक्षण विषयता भी रहती है, जिसको विषयतामूलक अव-च्छेदकता कहा जाता है। यथा **"घटवत् भूतलम्"**—इस वाक्य में "भूतल" सविकल्पक ज्ञान का विषय है, वह भूतलत्व का विशेष्य है। अतः यह कहा जा सकता है कि भूतलत्व भूतलनिष्ठ विशेष्यता का अवच्छेदक है। यहाँ पर घट

शब्द विशेषण या प्रकार के रूप में प्रयुक्त हो रहा है, अतः "घटत्व" यहाँ पर विशेषणता यानी प्रकारता का अवच्छदेक है। भूतल के साथ घट के संयोग में संयोगत्व रूप संसर्गता है, अतः संयोगत्व संयोगनिष्ठ संसर्गता का अवच्छेदक है।

अवच्छेदकता के सम्बन्ध में दो मत हैं, कुछ विद्वान् अवच्छेदकता को एक अतिरिक्त पदार्थ मानते हैं, जबकि अन्य आचार्य अवच्छेदकता को प्रकारता से अभिन्न मानते हैं। उनका यह विचार है कि विशेष्य, प्रकार और संसर्ग में विशेषण बनकर भासित होने वाले—धर्म ही विशेष्यता प्रकारता और संसर्गता के अवच्छेदक होते हैं, अतः उनके अनुसार विशेषणता भी प्रकारता रूप ही है।

गदाधर भट्टाचार्य के अनुसार एक ज्ञान की समानाधिकरण विषयताओं में अवच्छेद्यावच्छेदकभाव होता है। जैसे **'नीलघटवद् भूतलम्'** इस ज्ञान में दो विषयताएँ हैं एक—**नीलनिष्ठप्रकारतानिरूपित विशेष्यता** और दूसरी **भूतलनिष्ठ विशेष्यता निरूपित प्रकारता**, और ये दोनों एक दूसरे की अवच्छेदक हैं। विषयता और विषयिता में विद्यमान अवच्छेदकता भी स्वरूप सम्बन्ध विशेष है।

जगदीश के अनुसार एक ज्ञान की समानाधिकरण विषयताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक भाव नहीं, अपितु अभेद है।

[4] विषयितापरक अवच्छेदक (Subject-based-limitor)

जिन विषयताओं में निरूप्य-निरूपक भाव होता है, उनके निरूपित विषयिताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक भाव होता है। जैसे **'नीलो घटः'** इस ज्ञान की नीलनिष्ठ प्रकारता और घटनिष्ठ विशेष्यता में निरूप्य-निरूपक भाव होने से नीलनिष्ठ प्रकारता निरूपित प्रकारिता रूप विषयिता और घटनिष्ठ विशेष्यता निरूपित विशेष्यिता रूप विषयिता एक दूसरी की अवच्छेदक हैं।

[5] धर्म मूलक अवच्छेदक (Property-based-limitor)

"घटत्व" घटाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म है। जिस रूप से प्रतियोगी अभाव का विरोधी होता है, वह प्रतियोगितावच्छेदक धर्म होता है।

[6] सम्बन्ध मूलक अवच्छेदक (Relation-based-limitor)

संयोग घटाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध है। अर्थात् घटाभाव की प्रतियोगिता सम्बन्धविधया अवच्छेदक संयोग से अवच्छिन्न होती है।

संयोग सम्बन्ध से घटाभाव का अर्थ होता है—संयोग सम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न घटनिष्ठ प्रतियोगिता का निरूपक अभाव।

अवच्छेदकत्व का प्रवर्तन—यह एक स्वरूपसम्बन्ध विशेष है, जो निम्नलिखित रूपों में प्रदर्शित होता है—

(1) **प्रतियोग्यंशप्रकारीभूतधर्मत्व**, जैसे—प्रमेयभूत धूमाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदकत्व है—धूमत्व।

(2) **अनतिरिक्तवृत्तित्व**, जैसे—घटाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदकत्व है—घटत्व, द्रव्यत्व नहीं।

(3) **स्वाश्रयसम्बन्धित्व**, जैसे—इस पर्वत पर मध्य भाग में आग है, शिखर में नहीं है। यहाँ "मध्य भाग में" आग का अवच्छेदकत्व है और शिखर में आग के अभाव का अवच्छेदकत्व है।

अवच्छेदकत्व के विभिन्न अर्थ किये गये हैं, जैसे अन्यूनवृत्तित्व, अनतिरिक्त वृत्तित्व, अन्यूनानतिरिक्तवृत्तित्व आदि।[14]

अवच्छेदकीभूत सम्बन्ध दो प्रकार का होता है—(1) वृत्तिनियामक और (2) वृत्यनियामक। संयोग, समवाय, दैशिक विशेषणता, कालिक विशेषणता, आदि वृत्ति नियामक सम्बन्ध हैं। इस सम्बन्ध में पदार्थों का आधाराधेयभाव होता है। इनमें भिन्न सम्बन्ध वृत्यनियामक कहलाते हैं। जैसे स्वस्वाभिभाव, तादात्म्य आदि। कुछ आचार्यों के मतानुसार वृत्यनियामक सम्बन्ध प्रतियोगिता के अवच्छेदक नहीं होते।

(ख) पक्षता (Sideness)

पक्षता के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्यों का काफी मतभेद रहा है। प्राचीन नैयायिकों ने पक्षता का विश्लेषण करते हुये उसको "प्रकृतसाध्यवत्ता**निश्चयनिवर्त्य संशय रूपा**" बताया है, जबकि नव्यनैयायिकों के अनुसार पक्षता—"**सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावरूपा**" होती है।

वात्स्यायन ने कहा था कि सर्वथा अज्ञात तथा निश्चित अर्थ में न्याय (अनुमान) की प्रवृत्ति नहीं होती। संभवतः इसी बात को ध्यान में रखते हुये गंगेश ने "**संदिग्धसाध्यधर्मत्वम् पक्षत्वम्**" इस लक्षण का पूर्वपक्ष के रूप में उल्लेख किया तथा इसका खण्डन करते हुये कहा कि अनुमान प्रक्रिया में प्रथम

क्षण में धूम-दर्शन द्वितीयलक्षण में "पर्वतोऽग्निमान् न वा"—ऐसा संशय, तृतीयक्षण में व्याप्तिस्मरण, चतुर्थ क्षण में परामर्श तथा पंचम क्षण में अनुमिति होती है। द्वितीय क्षण में जो संशय उत्पन्न होता है, वह पंचम क्षण तक स्थायी नहीं रहता। परामर्श से पहले होने वाले लिंगदर्शन तथा व्याप्तिस्मरण आदि से उसका नाश हो जाता है। इस संदर्भ में कुछ अन्य मतों का संक्षेप में उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। संशय योग्यता को भी कतिपय आचार्यों ने पक्षता कहा है। संशय योग्यता का अर्थ है—साध्य निश्चय और बाधनिश्चय का अभाव। किन्तु यह मत भी उपर्युक्त नहीं है, क्योंकि साध्यवत्ता निश्चय तथा बाध निश्चय इन दोनों के अभाव को यदि पक्षता कहा जाये तो एक के रहने पर भी उभय का अभाव माना जायेगा। इसके अतिरिक्त एक हेतु के द्वारा किसी साध्य की अनुमिति हो जाने के बावजूद किसी अन्य हेतु से भी उसी साध्य की पुनः अनुमिति हो सकती है। जैसे "पर्वतो वह्निमान्"—इन अनुमिति का निश्चय "धूमत्वात्"—इस हेतु से होने के बावजूद अन्य हेतु जैसे—"आलोकत्वात्"—इस हेतु से भी हो सकता है।

सिषाधयिषा तथा सिषाधयिषा योग्यता को भी कुछ लोगों ने पक्षता माना है, किन्तु यह भी उचित नहीं, क्योंकि सिषाधयिषा विशेषण का उपलक्षण होने योग्य वस्तु है। अनुमित्सा (ईश्वरनिष्ठ तथा पुरुषनिष्ठ) को भी पक्षधर मिश्र प्रभृति आचार्यों ने पक्षता कहा है, किन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वरनिष्ठ इच्छा तो नित्य होती है। अतः वह सदा रहेगी।

उपर्युक्त लक्षणा का खण्डन करने के साथ ही गंगेश ने जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया वह इस प्रकार है कि—"सिषाधिषाविरहविशिष्टसिध्यभावः पक्षता"। विरह का अर्थ है—अभाव। अतः सिषाधयिषा विरह का अर्थ हुआ—सिषाधयिषा का अभाव। यानी सिषाधयिषा है प्रतियोगी जिस अभाव की। विश्वनाथ का यह कथन है कि अनुमिति का कारण-परामर्श प्रतिबन्धिका सिद्धि और उसकी उत्तेजिका सिषाधयिषा ये तीनों ही सिषाधयिषा विरह विशिष्टत्व विशेषण के रूप में सिध्यभाव रूपी विशेष्य के साथ सहयोजित किये जाते हैं।[16]

आचार्य बदरीनाथ शुक्ल का यह कथन है कि पक्षता भी एक विषयता है। यह अनुमिति से निरूपित होती है। इसे ही अनुमिति की उद्देश्यता कहा जाता है। यह विषयता साध्य संशय के धर्मी में अथवा जिसमें सिधायिषा विरह विशिष्ट अभाव होता है, उसमें रहती है।[17]

(ग) विषयता (Contentness)

विषयता एक ऐसा विशिष्ट स्वरूप सम्बन्ध है, जो ज्ञेय वस्तु (जैसे घट) और उसके ज्ञान के बीच विद्यमान रहता है ।[18] विषयता का आशय है—विषयाकार की अनुगत प्रतीति (जैसे घट ज्ञान का विषय है) का साक्षी स्वरूपसम्बन्ध विशेष । सम्बन्धित वस्तु या भाव से अभिन्न होते हुए, जो सम्बन्ध का कार्य सम्पादन करे, वह स्वरूप सम्बन्ध विशेष कहलाता है, ज्ञानों का परस्पर भेद विषय के वैलक्षण्य से नहीं, अपितु विषयता के वैलक्षण्य से मान्य होता है । नव्यन्याय के कतिपय आचार्यों के अनुसार विषयता सम्बन्ध विशेष नहीं, अपितु सप्तपदार्थों से भिन्न एक अतिरिक्त पदार्थ है ।[19] गदाधर रचित विषयतावाद में भी ऐसा कहा गया है । गदाधर प्रभृति आचार्य विषयता को एक पृथक पदार्थ मानते हैं,[20] किन्तु कतिपय अन्य आचार्यों का यह कथन है कि विषयता सम्बन्ध वस्तु के स्वरूप के साथ तादात्म्य या एकात्मकता या अभिन्नता के अतिरिक्त कुछ नहीं है । विषयता की यह अभिन्नता कुछ विचारकों के मत में विषय के साथ है, कुछ के मत में विषय ज्ञान के साथ, और कुछ के मत में वस्तु और ज्ञान दोनों के साथ है । किन्तु गदाधर भट्टाचार्य इन तीनों मतों का खण्डन करते हुए यह कहते हैं कि—विषय (वस्तु) के साथ विषयता की अभिन्नता मानने पर तो "द्रव्यत्वावाच्छिन्न घट विषयक ज्ञान" और "घटत्वावाच्छिन्न घटविषयक ज्ञान" में कोई अन्तर ही नहीं रह जाएगा। विषयता को विषय स्वरूप मानने पर विषय के साथ उसका आधाराधेय भाव (Substratum-superstratum-ness) भी नहीं बनेगा । यदि विषयता को ज्ञान स्वरूप माना जाएगा तो घट-घट आदि वस्तुओं के एक साथ होने वाले ज्ञान में घटत्वावच्छिन्न विषयता में पटत्वावच्छिन्न विषयता का भाव होने लगेगा, और इससे ज्ञान अप्रमाणिक हो जाएगा । वस्तु और उसके ज्ञान, इन दोनों में संयुक्त रूप से भी विषयता को मानना उचित नहीं है । क्योंकि ऐसा मानने पर तो "जातिमान् घट:" ऐसी प्रतीतियों में एक ही विषयता के दिखाई देने के कारण जाति और "घटत्व" में रहने वाली दो विषयताओं की सिद्धि नहीं हो पायेगी । अत: गदाधर का यह विचार है कि विषयता एक पृथक् पदार्थ है । इस संदर्भ में मीमांसकों का यह कथन भी उल्लेखनीय है कि "ज्ञानो घट:" ऐसी प्रतीतियों में "प्रतीतिसिद्धा ज्ञानजन्या प्राकट्यापर नाम्नी ज्ञातता" ही विषयता है । अत: ज्ञान और विषय के बीच जो सम्बन्ध है, वही विषयता कहलाता है । विषयता जिन तीन रूपों में अभिव्यक्त होती है, वे हैं—(1) विशेष्यता (qualificandness) (2) प्रकारता (Chief qualifier-ness)

और संसर्गता (Crelationness) उदाहरणतया 'अयं घटः' इस प्रत्यक्ष के इदम् अंश में विशेष्यता है, घट में विद्यमान घटत्व में प्रकारता है, तथा घट और घटत्व के बीच जो समवाय सम्बन्ध है, उसमें संसर्गता है। विषयता के ये तीनों रूप सविकल्पक प्रत्यक्ष से सम्बद्ध है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से सम्बद्ध विषयता तुरीयविषयता कहलाती है, और वह परस्पर निरूप्य-निरूपक भाव से भी सम्बद्ध नहीं होती। आचार्य बदरीनाथ शुक्ल का यह कथन है कि "विषयता को सम्बन्ध मानने पर उसका आश्रया उसका प्रतियोगी होता है और उसका निरूपक अनुयोगी होता है, एवं विषयिता को सम्बन्ध मानने पर उसका निरूपक प्रतियोगी तथा उसका आश्रय अनुयोगी होता है। प्राचीन नैयायिकों ने विषयता को और नवीन नैयायिकों ने विषयिता को सम्बन्ध माना है। आचार्य शुक्ल जी का यह विचार है कि सविकल्पक ज्ञान में उपर्युक्त तीन विशेषताओं के अतिरिक्त एक चौथी विषयता भी मानी जाती है, जिसे अवच्छेदकता कहा जाता है, जैसे "घटवत् भूतलम्" इस ज्ञान में भूतल, भूतलत्व-रूप से विशेष्य है, अतः भूतलत्व भूतलनिष्ठ विशेष्यता का अवच्छेदक है।[21]

(घ) विषयिता (Content possessorness)

विषयी में रहने वाला धर्म विषयिता कहलाता है, आत्मा के ज्ञान इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और भावना ये पाँच गुण सविषयक होते हैं। इन पाँचों गुणों में से अन्य चार गुण ज्ञान पर निर्भर होते हैं अतः मुख्य रूप से ज्ञान को ही विषयी कहा जाता है। उमानाथ उपाध्याय का यह कथन है कि ज्ञान के साथ विषय जिस सम्बन्ध से रहता है वह विषयिता है।[22] यादवाचार्य के अनुसार विषयिता और प्रकारिता में अभिन्नता है। किन्तु इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि विषयिता का ऐसा तादात्म्य तो विशेष्यिता और संसर्गिता के साथ भी है। अतः ये भी विषयिता के ही विभिन्न रूप हैं। विषयिता ज्ञान समकालीन ही होती है। उसके भी तीन भेद होते हैं—प्रकारिता, संसर्गिता और विशेष्यिता।[23]

(ङ) प्रकारता (Chief qualifierness)

प्रकारता विषयता का एक उपभेद है।[24] "प्रकार" विशेषण की ही अपर संज्ञा है।[25] यद्यपि प्रकारता विशेषणत्व का पर्यायवाची है, फिर भी प्रकारता शब्द ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न और द्वेष—इन चार विषयों की प्रमुख विशेषणता के रूप में केवल इनके ही साथ प्रयुक्त होता है, सभी तरह के अन्य विशेष्यों

के साथ नहीं। इस तरह यह सर्व सामान्य विशेषणता की तरह प्रयुक्त नहीं होता। प्रकारता एक तरह से विषयता का उपभेद है। यही कारण है कि न्याय सिद्धान्त मंजरी के रचयिता जानकीनाथ ने इसको एक विशेप प्रकार की विषयता कहा है। तथा नीलकण्ठ ने इसको विलक्षण विषयता कहा है। प्रकारता का आश्रय "विशेषण" और उपलक्षण (Indicator) भेद से दो प्रकार का होता है। प्रकारता को कुछ आचार्य एक अतिरिक्त पदार्थ मानते हैं।[26] ज्ञान आदि प्रकारी है। उनमें विद्यमान धर्म को प्रकारिता कहा जाता है।

प्रकारतात्व विषयतात्व से व्याप्त है। उदाहरणतया "अयं घटः" इस प्रतीति में घटत्व संज्ञक जो विषयता है, वह ज्ञान का प्रमुख विशेषण है। अतः इस विषयता को प्रकारता कहा जा सकता है। विषयता का क्षेत्र प्रकारता से अधिक व्यापक होता है।

कुछ आचार्यों के अनुसार प्रकारता के दो अन्य भेद भी होते हैं[27]—(1) निरवच्छिन्ना और (2) विशेषणावच्छिन्ना उदाहरणतया "अयं घटः" में "घटत्व" निरवच्छिन्न है क्योंकि यहाँ पर "घटत्व" में "घटत्वत्व" जैसे अतिरिक्त धर्म को कल्पित करने की आवश्यकता नहीं हैं। किन्तु **"घटवद् भूतलम्"** जैसी प्रणीतियों में घट स्वयं एक प्रकार विशेषण है, और वह घटत्व से अवच्छिन्न है।

[च] प्रकारिता (Chief qualifier possessorness)

ज्ञान आदि प्रकारियों में विद्यमान धर्म को प्रकारिता कहा जाता है। प्रकारिता भी विषयिता का एक भेद है। घटत्व निष्ठा प्रकारता ही ज्ञानादि निष्ठा प्रकारिता कहलाती है।[28] यद्यपि प्रकारिता और विषयिता में साम्य है; किन्तु विषयिता का क्षेत्र प्रकारिता की अपेक्षा अधिक व्यापक होता है।

[छ] कोटिता (Sideness)

कोटिता भी विषयता का एक उपभेद है। ज्ञान के प्रत्यक्ष आदि रूपों से संशय को पृथक् दिखाने के लिए नव्यन्याय में कोटिता की संकल्पना की गई है। संशय के विषय में रहने वाली एक विशेष प्रकार की विषयता को कोटिता और संशय के दो परस्पर विरोधी पहलुओं को "कोटि" कहा जाता है। जैसे "पर्वतो वह्निमान् न वा" इस संशय के दो परस्पर विरोधी पहलू हैं—(1) अग्नि और (2) अग्न्यभाव। यहाँ कोटिता के अवच्छेदक भी दो हैं—वह्नित्व

और (2) वह्न्यभावत्व । संशय में जो प्रकार होता है, उसमें कोटिता नामक विषयता रहती है और संशय का जो विशेष्य होता है, उसमें धर्मिता नामक विषयता रहती है । जिस संशय में एक कोटि उत्कट और कोटि अनुत्कट होती है, उसको सम्भावना कहा जाता है । गदाधर ने कोटिता को प्रकारता का प्रभेद माना है ।[29]

(ज) विशेष्यता (Qualificandness)

विशेष्यता भी विषयता का ही एक उपभेद है । विशेष्य में रहनेवाला धर्म विशेष्यता कहलाता है, अत: प्राय: विषयता के सभी लक्षण विशेष्यता पर भी घटते हैं । वाक्य में विषय का उल्लेख विशेषण के बाद होता है **(शाब्द बोधे पश्चात् प्रतीयमानत्वं विशेष्यत्वम्)** ।

शाब्दबोध की प्रक्रिया में सम्बद्ध वस्तु की जो विशेषता विशिष्ट ज्ञान का विषय बनकर उल्लिखित होती है, वह विशेष्यता कहलाती है । "नीलो घट:" इत्याकारक शाब्दबोध में "घट" विशेष्य है और "घटत्व" विशेष्यता है, जिसका उल्लेख इस प्रकार किया जाता है—

"नीलत्वावच्छिन्न अभेदसम्बन्धावाच्छिन्न प्रकारतानिरूपित घटत्वावच्छिन्न-विशेष्यताशाली घट:" ।[30]

गदाधर भट्टाचार्य का यह कथन है कि विशेष्यता भी एक प्रकार की अनुयोगिता (subjunetness) ही है । उदाहरणतया **"नीलोघट:"** इस ज्ञान के विषय हैं—नील, घट और समवायसम्बन्ध । इनमें से घट वैशिष्ट्य सम्बन्ध का अनुयोगी है और विशेष्य कहलाता है । **'भूतले घटो नास्ति'** इस प्रत्यक्ष में घटाभाव विशेष्य है । अत: यहाँ पर विशेष्यता का आशय है—स्वरूप सम्बन्ध से अवच्छिन्न विशेषण विशेष्य भाव परक सन्निकर्ष विशेष्यता भी अवच्छिन्न और निरवच्छिन्न रूप से दो प्रकार की होती है । निरवच्छिन्ना जैसे—"घट:" और अवच्छिन्ना जैसे "अयं" घट: । मुख्य और गौण रूप से भी विशेष्यता के दो भेद माने गये हैं—उदाहरणतया "दण्डिमान् देश:" यहाँ पर दण्डी इस प्रतीति में पृथक् रूप से तो दण्ड विशेषण है और "दण्डी" विशेष्य है, किन्तु देश के सन्दर्भ में दण्डी विशेषण है । इस प्रकार दण्डी शब्द में प्रकारता भी है और विशेष्यता भी अत: यहाँ पर दण्डी में गौण विशेष्यता है, मुख्य विशेष्यता नहीं ।

[झ] विशेष्यिता (Qulificand possessorness)

विशेष्यिता भी विषयता का एक प्रभेद है। ज्ञान का विषय सामान्यतया कोई वस्तु या भाव होता है, किन्तु जब कभी कोई विशेष्य ज्ञान का विषय बन जाता है, तो उस अवस्था में उस ज्ञान को विशेष्यि तथा उसमें रहनेवाले धर्म को विशेष्यिता कहा जाता है। विशेष्यिता एक ऐसा स्वरूप सम्बन्ध (self-linking relation) है जो ज्ञान और विशेष्य के बीच विद्यमान रहता है।[31] विशेष्यिता ज्ञान के अतिरिक्त इच्छा प्रयत्न तथा द्वेष में भी रहती है। यह तब तक विद्यमान रहती है, जब तक कि विशेष्य रहता है।

[ञ] विशेषणता] (Qualifierness)

विशेषणता कई प्रकार की होती है। उसके प्रमुख प्रभेद इस प्रकार हैं—

[1] ज्ञान-विषयता परक विशेषणता

विशेषणता शब्द का प्रयोग जिन दो अर्थों में होता है वे हैं—(1) ज्ञान की एक विषयता तथा (2) स्वरूपसम्बन्ध। आचार्य बदरीनाथ शुक्ल विषयता रूप विशेषणता का विश्लेषण करते हुये कहते हैं कि "घटवद् भूतलम्" इस ज्ञान में "घट" "भूतल" का विशेषण होकर भासित होता है। अत: उसमें ज्ञान की विशेषणता रूप विषयता है। इसी प्रकार घट-भूतल के सम्बन्ध रूप में भासित होने वाले संयोग में संयोगत्व विशेषण होकर भासित होता है, अत: संयोगत्व में भी उक्त ज्ञान की विशेषणतारूप विषयता है।

घटनिष्ठ विशेषणता सम्बन्धावच्छिन्न है और उसको प्रकारता भी कहा जाता है, किन्तु संयोगत्वनिष्ठ विशेषणता प्रकारता रूप से नहीं अपितु केवल विशेषणता रूप से ही व्यवहृत होती है। वह सम्बन्धावच्छिन्न नहीं होती।

[2] स्वरूप सम्बन्ध परक विशेषणता (self-linking-relation)

स्वरूप सम्बन्ध के रूप में विशेषणता तीन प्रकार की होती है–(1) अभावीय विशेषणता, (2) कालिक विशेषणता और (3) दैशिक विशेषणता।

अभावीय विशेषणता, अभाव के अधिकरण स्वरूप होती है, जैसे जिस काल में जिस भूतल आदि अधिकरण में घटाभाव की बुद्धि होती है, तत्कालविशिष्ट भूतलादिस्वरूपत्व रूप से भूतल आदि के साथ घटाभाव का

सम्बन्ध होता है। कालिक विशेषणता कालस्वरूप ही होती है। दिङ्निष्ठ विशेषणता दिशारूप और देशनिष्ठ विशेषणता देशस्वरूप होती है।

[ट] निरूप्यता-निरूपकता सम्बन्ध
(Determinance-determinant relation)

निरूप्य का अर्थ है बोध्ययाा ज्ञाप्य, और निरूपक का अर्थ है–बोधक या ज्ञापक। जिन दो वस्तुओं में एक के पूर्ण ज्ञान के लिये दूसरी की अपेक्षा हो उनमें निरूप्यनिरूपक भाव होता है। विषय "घट", घट-ज्ञान का बोधक या निरूपक होता है और ज्ञान को 'विषयनिरूप्य' कहा जाता है। अतः ज्ञान में निरूप्यता तथा विषय में निरूपकता रहती है।

निरूप्यता और निरूपकता के बीच जो सम्बन्ध है, वह दोनों से अभिन्न होते हुए तथा कार्यकारी होने से स्वरूपसम्बन्ध कहलाता है। कार्य-कारण, आधार-आधेय, क्रिया-कर्म आदि में भी निरूप्यता निरूपकता सम्बन्ध होता हैं। प्रतियोगी और अभाव के बीच भी निरूप्य निरूपक भाव है, प्रतियोगी (जैसे घट) का ज्ञान हुए बिना अभाव का बोध अधूरा रहता है, प्रतियोगी से ही अभाव का निरूपण यानी पूर्णबोध होता है। अतः घट में निरूपकता और अभाव में निरूप्यता है।

[ठ] पर्याप्ति सम्बन्ध

पर्याप्ति भी एक विशेष प्रकार का स्वरूप सम्बन्ध है। उदाहरणतया– अयमेकः, इस प्रतीति में एकत्व की पर्याप्ति सिद्ध होती है–– जिससे एकमात्र में रहने वाली अवच्छेदकता आदि की पर्याप्ति का होना संकेतित होता है। "इमौ द्वौ" इस प्रतीति से द्वित्व की पर्याप्ति सिद्ध होती है, जिससे दो में रहने वाली अवच्छेदकता आदि पदार्थों की पर्याप्ति होने का संकेत मिलता है। यह अपने प्रतियोगी एकत्व, द्वित्व आदि से अभिन्न होने के कारण स्वरूप सम्बन्ध विशेष के रूप में अभिहित होती है।

जगदीश का यह मत है कि "महानसीय वह्नभाव की प्रतियोगितावच्छेदकता महानसत्व और वह्नित्व इन दो धर्मों में पर्याप्ति सम्बन्ध से रहती है। संख्याओं, और उनके द्वारा निर्दिष्ट वस्तुओं में विद्यमान सम्बन्ध को पर्याप्ति कहा जाता है। यह सम्बन्ध संख्या दो और द्वित्व आदि से सम्बद्ध वस्तुओं में संयुक्त रूप से रहता है, अलग-अलग रूप में नहीं। उदाहरणतया जब हम घट

और आकाश इन वस्तुओं को एक साथ मिलाकर देखते हैं और इनमें दो या द्वित्व का उल्लेख करते हैं तो इनमें 'दो' या द्वित्व दोनों वस्तुओं में संयुक्त रूप से रहता है, पृथक्-पृथक् रूप से नहीं। इस प्रकार इन दो वस्तुओं में पृथक्-पृथक् रूप से द्वित्व के न रहने पर भी जिस सम्बन्ध से हम उनमें दो या द्वित्व का उल्लेख करते है, वह पर्याप्ति कहलाता है। पर्याप्ति को साकल्य भी कहा जाता है।

(ड) अनुयोगिता (Subjunctness)

अनुयोगिता शब्द का प्रयोग नव्य नैयायिकों ने सांसर्गिक सम्बन्ध के तथा अभाव के आश्रय में रहने वाले धर्म के संदर्भ में किया है। **"घटस्य अभावः"** इस प्रतीति में "घट" और अभाव के बीच जो सम्बन्ध है, वह संयोग, समवाय, तादात्म्य, दैशिक या कालिक नहीं हैं, सम्बद्ध प्रतीति में दो अंश हैं—"घट" और "अभाव"। घट अंश को प्रमुखतया प्रायोजित करने पर यह सम्बन्ध प्रतियोगिता कहलाता है और अभाव अंश को प्रमुखतया ध्यान में रखने पर यह सम्बन्ध अनुयोगिता कहलाता है, अनुयोगिता को अभावत्व भी कहा जाता है, अभावत्व या अनुयोगिता का आश्रय अभाव है। अनुयोगिता अपने आश्रय अभाव से अभिन्न होते हुए सम्बन्ध का कार्य सम्पादन करती है अतः यह एक स्वरूप सम्बन्ध विशेष है, इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि "अनुयोगिता" घटादि प्रतियोगिक अभावानुयोगिक सम्बन्ध है।

(ढ) प्रतियोगिता (Counter positiveness)

नव्य नैयायिकों का यह मत है कि जैसे ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत विद्यमान सभी भाव पदार्थ (positive realities) किसी न किसी सम्बन्ध से एक दूसरे के साथ जुड़े हुए है, वैसे ही भाव पदार्थों (positive realities) और उनके अभाव के बीच भी कोई-न-कोई सम्बन्ध रहता है। न्याय और नव्यन्याय में अभिधेय को पदार्थ माना गया है। पदार्थ के भाव और अभाव रूप से प्रमुखतया दो भेद माने गये हैं। 'घट' के समान "घटाभाव" भी अभिधेय (nameable) पदार्थ है। अतः अभाव भी एक (negative reality) पदार्थ है। यह तो स्पष्ट है कि भाव पदार्थ जैसे 'घट' और उसके अभाव के बीच संयोग, समवाय जैसे सम्बन्ध नहीं माने जा सकते, अतः नव्य नैयायिकों ने भाव और अभाव के बीच प्रतियोगिता और अनुयोगिता के रूप में दो सम्बन्धों को माना है। यद्यपि दो भाव

पदार्थों के बीच भी प्रतियोगिता और अनुयोगिता संज्ञक सांसर्गिक सम्बन्ध भी माने जाते हैं, जैसे कि "भूतले घटः" में घट प्रतियोगी और भूतल अनुयोगी है, तथापि नव्यनैयायिकों ने प्रतियोगिता और अनुयोगिता का अधिकतर प्रयोग भाव और अभाव के बीच विद्यमान सम्बन्ध के रूप में किया है। अभावीय प्रतियोगिता के संदर्भ में प्रतियोगी वह वस्तु मानी जाती है, जो अपने अभाव के साथ प्रतिकूल या विपरीत सम्बन्ध से जुड़ी हुई हो। प्रतियोगी में विद्यमान सूक्ष्म धर्म ही प्रतियोगिता कहलाता है। जैसे **"घटस्य अभावः"** इस प्रतीति में घट प्रतियोगी है और घट तथा अभाव के बीच जो सम्बन्ध है, वह प्रतियोगिता सम्बन्ध माना जाता है।

प्रतियोगिता एक स्वरूपसम्बन्ध है। पर इस संदर्भ में यह विचारणीय हो जाता है कि प्रतियोगिता की स्वरूपता यानी अभिन्नता किससे है? एक मत यह है कि प्रतियोगिता प्रतियोगी (जैसे घट) से अभिन्न है, और दूसरा मत यह है कि प्रतियोगिता प्रतियोगी के अवच्छेदक (जैसे घटत्व) से अभिन्न है। किन्तु "**घटो नास्ति**" जैसे उदाहरण में नास्ति का आश्रय "घट" है, जो कि एक द्रव्य है, अतः यदि प्रतियोगिता और प्रतियोगी को अभिन्न माना जाएगा तो प्रतियोगिता को भी एक द्रव्य ही मानना पड़ेगा। यदि प्रतियोगिता और प्रतियोगितावच्छेदक को अभिन्न माना जाएगा तो प्रतियोगिता को भी "जाति" मानना पड़ेगा। इस प्रकार यद्यपि ये दोनों मत निर्दोष नहीं हैं, तथापि नव्य-न्याय में प्रायः प्रतियोगी और प्रतियोगिता में अभेद मानकर प्रतियोगिता को एक स्वरूप सम्बन्ध कहा जाता है। प्रतियोगिता सम्बन्ध की स्वरूपता के आश्रय के बारे में मतभेद होने पर भी इस बात में नव्यनैयायिकों का ऐकमत्य है कि '**घटो नास्ति**' या '**घटस्य अभावः**' जैसी प्रतीतियों में प्रतियोगिता प्रति-योगी (जैसे घटः) को उसके अभाव (जैसे नास्ति) के साथ जोड़ती है। प्रति-योगिता एक स्वरूप सम्बन्ध ही है इस बात की पुष्टि करते हुए आचार्य बदरी-नाथ शुक्ल यह कहते हैं कि '**घटस्य अभावः**' इस वाक्य में घट में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। "स्य" का अर्थ है–"सम्बन्ध" अतः पूरे वाक्य का अर्थ है–घटसम्बन्धी अभाव। यहाँ पर यह भी ज्ञातव्य है कि घट और अभाव के बीच संयोग या समवाय सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि ये दोनों सम्बन्ध अभाव में नहीं रहते। यहाँ पर तादात्म्य सम्बन्ध भी नहीं है, क्योंकि घट और अभाव परस्पर विरोधी हैं और विरोधियों में तादात्म्य नहीं होता, दोनों में कालिक सम्बन्ध भी नहीं है, क्योंकि अत्यन्ताभाव नित्य होता है और नित्य में कालिक सम्बन्ध

नहीं रहता। इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह है कि कालिक सम्बन्ध मानने पर तो "पटाभाव" भी कालिक सम्बन्ध से घट का सम्बन्धी होने के कारण "घटाभाव" शब्द से व्यवहृत होने लगेगा। अतः घट और अभाव के बीच कोई अन्य ही सम्बन्ध मानना होगा और उसी का नाम है—प्रतियोगिता। घटाभाव के दो अंश हैं—(1) घट और (2) अभाव। इन दोनों के मध्य जो सम्बन्ध है, उसका प्रतियोगी है—घट और उस सम्बन्ध का नाम है—प्रतियोगिता (या विरोधिता)। प्रतियोगिता का आश्रय है—घट, और उसका निरूपक है—अभाव। अतः अभाव की दृष्टि से यह सम्बन्ध अनुयोगिता कहलाता है। प्रतियोगिता प्रतियोगी (घट) से अभिन्न होते हुए सम्बन्ध कार्य का सम्पादन करती है, अतः यह स्वरूप सम्बन्ध है।

प्रतियोगिता के दो भेद माने गये हैं—(1) अभावीय प्रतियोगिता और (2) सांसर्गिक प्रतियोगिता।

(1) अभावीय प्रतियोगिता (Absential counter positiveness)

अभावीय प्रतियोगिता वहाँ पर मानी जाती है, जहाँ अभिधेय वस्तु का अपने अभाव के साथ प्रतिकूल रूप से सम्बन्ध हो।[32] यहाँ प्रतियोगिता का अर्थ है—विरोधिता। जैसे 'घट' घटाभाव का विरोधी है। घटाभाव के अधिकरण में घट नहीं रह सकता। इन दोनों में असामान्याधिकरण है, अर्थात् एकाधिकरण अवृत्तित्वसंज्ञक विरोध है। अभावीय प्रतियोगिता एक सम्बन्ध है, क्योंकि यह प्रतियोगी को उसके अभाव से जोड़ती है। उदयनाचार्य का भी लगभग यही मत है। उदाहरणतया **"घटो नास्ति"** इस अभावीय स्थल में घट का अभाव है। अतः घट अभाव का प्रतियोगि है। उसमें रहने वाली प्रतियोगिता अभावीय प्रतियोगिता है।

नवें अध्याय की पादटिप्पणियाँ

1. आदिसर्गात् प्रभृति विद्याः प्रवृत्ताः संक्षेपविस्तारविवक्षया तु तांस्तान् तत्र तत्र कर्तृनाचक्षते। न्या० मं०

2. महत्त्वं षड्विधे हेतुरिन्द्रियं करणं मतम्।
विषयेन्द्रियसम्बन्धो व्यापारः सोऽपि षड्विधः॥
व्यापारस्तु परामर्शः करणं व्याप्तिधीर्भवेत्।
सादृश्यधीर्गवादीनां या स्यात् सा करणं मतम्।
वौयार्थस्यातिदेशस्य स्मृतिर्व्यापार उच्यते॥

3. असाधारणं कारणं करणम्। असाधारणत्वं व्यापारवत्वम्। न्या०सि०मु०

4. माथुरी पंचलक्षणी। व० शु० पृ० 166

5. पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविषयतानिरूपितसाध्याव्याप्तत्वावच्छिन्नविषयताशालिनिश्चयत्वमेवानुमितिकारणतावच्छेदकमिति भावः, मथुरानाथ

6. फलव्यापारयोरेकनिष्ठतायामकर्मकः।
धातुस्तयोर्धर्मिभेदे सकर्मक उदाहृतः॥ भू० का० 13

7. मीमांसकाः फलं धात्वर्थो व्यापारः प्रत्ययार्थ इति वदन्ति, नागेश मंजूषा; धात्वर्थः फलमिति मण्डनाचार्याः, त०चि०श०पृ० 847

8. विभक्त्यन्तं पदम्

9. अभेदान्वयबोधश्च विरूपोपस्थितयोरेवेति व्युत्पत्तिः, घटो घटः, दण्डवान्-दण्डवान्, पाकं पचतीत्यादौ घटत्वदण्डवत्व-पाकत्वाद्यवच्छिन्ने तद्रूपतावच्छिन्नस्य तथाविधान्वयबोधानुदयात्. अथ घटो नीलघटः दण्डवान् रक्तदण्डवान् इत्यादौ तादृशशाब्दबोधस्य प्रसिद्धिः विशेष्यकोटावधिकावगाहिनः शाब्दबोधस्य नवीनैः स्वीकारात्‌तु; व्युत्पत्तिवादः, न्यायदर्शनबिन्दु, कालीपाद तर्काचार्य (विशेष भाषण स, सं० वि० वि० वाराणसी)

10. "अस्त्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेष समवायाः "प्रमेयम्"। न्या० भा०, 1.1.12

11. नवीनास्तु विशेषातिरिक्ते मानाभाव:, न्या० सि० मु०

12. शक्यत्वे सति शक्यवयावर्त्तकत्वम् अवच्छेकत्वम् ।

13. वाच्यत्वे सति वाच्यवृत्तित्वे सति वाच्योपस्थितिपकारत्वम्, शक्तिवाद, गादाधारी, पृ० 41 चौ० सं०

14. अवच्छेदकत्वं च अन्यूनवृत्तित्व मेव, नहि अतिप्रसक्तमवच्छेदकम् अवच्छेदकत्वंचेह् अनतिरिक्तवृत्तित्वम् अन्यूनानतिप्रसक्तमवच्छेकत्वं वा

15. (a) See for detail-Navya-Nyaya; Some Logical Problems in Historical perspective by Gopikamohan Bhattacharya.

    (b) तथा माथुरी पंचलक्षणी । आचार्य बदरीनाथ शुक्ल

16. (क) साध्यत्वेन संदिह्यमानत्वम्, (ख) संदिग्ध साध्यत्वेनोपात्तत्वम्, (ग) संदिग्धसाध्यधर्मत्वम्, (घ) सिषाधयिषा-विरह-विशिष्ट-सिद्धय-भाव: (चि०) न्या० को० पृ० 452, शर्मा ब्रजनारायण, भारतीय दर्शन में अनुमान । पृ०

17. माथुरी पंचलक्षणी, पृ० 160

18. विषयता च विषयाकार प्रतीतिसाक्षिक: स्वरूपसम्बन्धविशेष:, न्याय-सिद्धान्त मंजरी, प्र० ख० पृ० 19

19. प्राचीनैकदेशिभिर्विषयताया अतिरिक्तपदार्थत्वोपगमात्, सिद्धान्त लक्षण गादाधारी, पृ० 477

20. नव्यास्तु विषयत्वं पदार्थान्तरमेव न तु स्वरूपसम्बन्धविशेष:, विषयता-वाद:, पृ० 1

21. माथुरी पंचलक्षणी, पृ० 142

22. (क) ज्ञाने विषयस्य सम्बन्धी विषयिता,
    (व्याप्ति पंचक माथुरी पर पण्डित उमानाथ उपाध्याय की पाद टिप्पणी, पृ० 2)

    (ख) विषयि यस्य तस्यैव व्यापारो ज्ञानलक्षण:, सिद्धान्तमुक्तावली, प्र० ख० 65

    (ग) ज्ञाननिष्ठा या प्रकारिता सैव विषयितेत्युच्यते, न्या० सि० मंजरी, पृ० 20

23. सापित्रिविधा प्रकारिता-संसर्गिता-विशेष्यिताभेदात्, (व्याप्ति पंचक माथुरी पर उमानाथोपाध्याय की टिप्पणी)

24. यः प्रकारः स एव विशेषणमित्युच्यते, सि० मु०

25. विशेषणत्वापरनामा विलक्षणविषयता विशेषः (नील० 1.1.7)

26. पदार्थान्तरमित्येकदेशिनः, न्या० सि० मं०, पृ० 19

27. प्रकारता च द्विविधा, निरवच्छिन्ना विशेषणान्तरावच्छिन्ना च तत्र निरवच्छिन्ना घट इत्याकारकज्ञानीय घटत्वादिप्रकारता तत्र स्वरूपन एव घटत्वादिर्भानात्, तादृशी च प्रकारता जान्यखण्डोवाधिभिन्ने न स्वीक्रियते, साबच्छिन्ना च घटवदित्यादि ज्ञानीय घटादिप्रकारता तत्र घटत्वादेखच्छेदकत्वात्विषयतावादः, पृ० 6

28. या घटत्वादिनिष्ठा प्रकारता सा ज्ञानादिनिष्ठा प्रकारिता, न्य० सि० मं० टीका, पृ० 20, ज्ञानादिनिष्ठा या प्रकारिता सैव विषयितेयुच्यते, वही

29. सा च प्रकारताप्रभेदः, सत्प्रतिपक्ष गदाधारी, पृ० 1810 (चौ०)

30. तत्र निर्धर्मितावच्छेदके घट इत्याकारकज्ञाने घटत्वादि तत्प्रकारता-निरूपिता विशेष्यता निरवच्छिन्ना, अयं घट इत्याद्याकारकसधर्मिता-वच्छेदकघटतावादिविशिष्टबुद्धौ च घटत्वादिप्रकारतानिरूपितविशेष्यता इदन्त्वाद्यवच्छिन्ना—

31. ज्ञाने विषयस्य सम्बन्धो विषयिता सापि त्रिविधा प्रकारितासंसर्गिता विशष्यिताभेदात्, विशेष्यरूपविषयस्य ज्ञाने सम्बन्धो विशेष्यिता, व्याप्तिसंचकमाथुरी टीका, उमानाथ उपाध्याय, पृ० 2

32. अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता, कु० स्त० 3, प्रतिकूलसम्बन्ध-वत्वं प्रतियोगित्वम् ।

अध्याय 10

न्याय शास्त्र में परिगणित प्रमेय

प्रमाणों के द्वारा पदार्थों का ज्ञान करना ही न्याय का उद्देश्य है। अतः जहाँ यह बात आवश्यक थी कि प्रमाणों के स्वरूप और भेदों पर विचार किया जाय वहाँ यह भी अपेक्षित है कि ज्ञातव्य पदार्थों के स्वरूप और भेदों का भी यत्-किंचित् विश्लेषण कर लिया जाए।

जिस प्रकार प्रमाणों के स्वरूप और संख्या के बारे में विभिन्न दार्शनिकों में मतभेद है, उसी प्रकार प्रमेयों के सम्बन्ध में भी है। अक्षपाद ने 16 पदार्थों का उल्लेख किया है। वैसे विद्वानों का प्रायः यह कथन है कि ये 16 पदार्थ न होकर 16 विषय हैं, जो कि शास्त्रार्थ में प्रतिवादियों से वाद करते समय प्रयोग में लाने के लिए निरूपित किये गये हैं। वेदान्त में चित् और अचित् दो पदार्थ माने गये हैं। रामानुज ने इसमें 'ईश्वर' को और जोड़ा है। सांख्य दर्शन में 25 तत्त्व बताये गये हैं। अरस्तू ने अपने तर्कशास्त्र में 10 पदार्थ (कैटेगरी)—(1) वस्तु (2) परिमाण, (3) गुण, (4) सम्बन्ध, (5) स्थान, (6) काल, (7) स्थिति (8) विशिष्टता, (9) गति, (10) निष्क्रियता माने हैं। कणाद ने वैशेषिक सूत्र में 6 पदार्थों का उल्लेख किया था। बाद में अभाव को जोड़कर शिवादित्य आदि के ग्रन्थों में उनकी संख्या 7 हो गई। कतिपय आचार्य 'शक्ति' 'स्वत्व' और सादृश्य को भी पदार्थान्तर मानते हैं, किन्तु अन्नंभट्ट ने दीपिका में इसके मत का निराकरण किया है। शक्ति स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है; जैसे कि अग्नि में रहने वाली शक्ति अग्नि ही है। स्वत्व तो क्षमतामात्र है। सादृश्य भी दो या अधिक पदार्थों में एक ही धर्म के अस्तित्व का नाम है। अतः ये स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं।

यों तो यह प्रश्न उठाना ही अनावश्यक सा है कि न्याय में परिगणित 16 पदार्थों का वैशेषिक में परिगणित 7 पदार्थों में कैसे अन्तर्भाव होता है, क्योंकि जैसा पहले भी कहा गया, न्याय सूत्र में पदार्थों की नहीं अपितु शास्त्रार्थ में उपयोगी विषयों की गणना की गई है। फिर भी, जो लोग इस प्रश्न पर विशेष बल देते हैं, उनके समाधान के लिये कहा जा सकता है कि वैशेषिक के पदार्थों में न्याय के पदार्थों का अन्तर्भाव निम्नलिखित रूप से हो जाता है—

(1) द्रव्य (आत्मा) में—प्रत्यक्ष प्रमाण, आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, मन, प्रयोजन; दृष्टान्त, हेत्वाभास, [संदर्भानुसार गुण में भी,] निग्रहस्थान, [संदर्भानुसार] तथा सिद्धान्त का (2) गुण में अर्थ (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द) अनुमान (व्याप्तिज्ञानात्मक मिथ्याज्ञान, बुद्धि, फल, प्रवृत्ति, दोष, इच्छा, द्वेष, प्रत्यभाव, दुःख, संशय, अवयव, तर्क, निर्णय वाद, जल्प वितण्डा, छल, जाति का (कुछ आचार्यों के मत में प्रमाण का अन्तर्भाव भी गुण [बुद्धि] में होता है)। (3) कर्म (4) सामान्य, (5) विशेष, (6) समवाय वात्स्यायन के मतानुसार न्याय के प्रमेयों में इनको भी जोड़ा जा सकता है। (7) अभाव में अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप (निग्रहस्थान) तथा अपवर्ग का (क्योंकि दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही तो अपवर्ग है।)

यह ज्ञातव्य है कि वैशेषिक के सात पदार्थों में न्याय के सोलह पदार्थों के अन्तर्भाव की चर्चा तो उपलब्ध होती है, किन्तु वैशेषिक में परिगणित कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय का न्याय में गिनाये गये विषयों में कैसे अन्तर्भाव या सामंजस्य होता है—यह प्रश्न भी विचारणीय है। वैसे इसका थोड़ा समाधान वात्स्यायन के इस कथन में उपलब्ध होता है कि न्यायसूत्र में उल्लिखित बारह प्रमेयों के अतिरिक्त द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय भी प्रमेय हैं। केशवमिश्र ने भी 'अर्थ' शब्द के अन्तर्गत षट्पदार्थों की चर्चा की है और उनमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय का उल्लेख किया है। अतः यह कहा जा सकता है कि ये न्यायवैशेषिक में समान हैं।

यहाँ न्यायसूत्र में उल्लिखित प्रमेयों की केशवमिश्र द्वारा निर्धारित निम्नलिखित क्रम से संक्षिप्त चर्चा की जायेगी :—

(1) आत्मा, (2) शरीर, (3) इन्द्रिय, (4) अर्थ [(क) द्रव्य (पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्); (ख) गुण (रूप से संस्कार तक 24); (ग) कर्म उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण, गमन); (घ) सामान्य, (ङ) विशेष, (च) समवाय (छ) अभाव;] (5) बुद्धि, (6) मन, (7) प्रवृति, (8) दोष, (9) प्रेत्यभाव, (10) फल, (11) दुःख और (12) अपवर्ग।

1. आत्मा

'आत्मा' दार्शनिक चिन्तन का मेरुमणि है। जिन दर्शनों में आत्मा की सत्ता प्रत्यक्षतः स्वीकार नहीं की गई है, उनमें भी प्रकारान्तर से (या खण्डन के लिए ही सही) 'आत्मा की संकल्पना पर कुछ-न-कुछ विचार किया गया है। न्याय-

सूत्रकार गौतम द्वारा परिगणित बारह प्रमेयों में 'आत्मा' का स्थान सर्वप्रमुख है। अतः न्यायशास्त्र के आचार्यों ने भी इसके स्वरूप आदि पर गहन चिन्तन किया है।

केशव मिश्र के अनुसार आत्मत्व जाति जिसमें रहती है, वह आत्मा है। वह देह, इन्द्रिय आदि से भिन्न है। प्रत्येक शरीर में भिन्न होने के साथ ही विभु तथा नित्य है। इसका आशय यह है कि आत्मा वह है जो (1) अहम् प्रतीति का आलम्बन हो, (2) देह, इन्द्रिय आदि से भिन्न हो (3) प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न हो, (4) विभु और (5) नित्य हो।[2] गौतम ने इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख और ज्ञान को आत्मा का लिंग कहा है। कणाद ने इच्छा, द्वेष, आदि के अतिरिक्त प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष तथा जीवन को भी आत्मा का लिंग बताया है।[3] विश्वनाथ ने इन्द्रिय एवं शरीर आदि के अधिष्ठान को तथा अन्नंभट्ट ने ज्ञान के अधिष्ठान को आत्मा कहा है।

यद्यपि दैशिक और कालिक सम्बन्ध से दिशा और काल भी ज्ञान के आश्रय हैं, किन्तु समवाय सम्बन्ध ने ज्ञान का आश्रय केवल आत्मा है। आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हो सकता, अतः आत्मा की सिद्धि के लिए नैयायिक अनुमान का आश्रय लेते हैं।

आचार्य विश्वनाथ पंचानन का कथन है कि यद्यपि ज्ञान आदि गुणों के रूप में तथा 'मैं जानता हूँ', मैं 'सुखी हूँ'—इत्यादि प्रतीत के आधार पर आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है, तथापि जो विप्रतिपन्न या भ्रम युक्त हैं, उनकी सन्तुष्टि के लिए अनुमान प्रमाण के आधार पर 'आत्मा' के ज्ञान की चर्चा की गई है। जिस प्रकार कुठार आदि अपना कार्य अर्थात् लकड़ी का चीरना बिना चीरने वाले कर्त्ता के नहीं करते, इसी प्रकार चक्षु आदि जो ज्ञान के करण हैं, वे भी अपने फल यानी ज्ञान के लिए किसी कर्त्ता की अपेक्षा रखते हैं, वह कर्त्ता ही आत्मा है।[4]

आत्मा का स्वरूप

स्पर्श आदि गुणों से रहित होने के कारण आत्मा इन्द्रियों का विषय नहीं है। देश के बन्धन से रहित होने के कारण विभु और काल के बन्धन से रहित होने के कारण आत्मा नित्य है। दिक, काल, आकाश और आत्मा के विभु पदार्थ हैं। आत्मा का कोई परिमाण नहीं होता। आत्मा अणुपरिमाण नहीं हैं, क्योंकि अणु के गुण प्रत्यक्ष नहीं देखे जा सकते जबकि आत्मा का गुण बुद्धि, इच्छा आदि प्रत्यक्षगम्य होते हैं। आत्मा निरवयव है, उसमें उपचय अपचय नहीं होता,

उसमें घटपटादि की तरह मध्यमपरिणाम भी नहीं होता। अतः स्पष्ट होता है कि आत्मा का कोई आकार तहीं है।

आत्मा का विभुत्व

ससीम शरीर के साथ आत्मा का संयोग कर्मों के फल के भोग के लिये होता है इसलिए शरीर को आत्मा का भोगायतन कहा जाता है। शरीर से संयुक्त होने पर भी आत्मा की व्यापकता वैसी ही बनी रहती है, जैसी कि घट से संयोग होने पर भी आकाश की व्यापकता बनी रहती है।

आत्मा और शरीर (शारीरात्मवाद)

चार्वाक दर्शन की मान्यता है कि पृथ्वी, जल, तेज व वायु के चार तत्त्व हैं। आत्मा (चेतनतत्त्व) भी इन चारों तत्त्वों की संस्थिति का परिणत रूप है। यह एक स्वतन्त्र इकाई नहीं है। शरीर चारों तत्त्वों से निर्मित है, उससे भिन्न किसी पृथक् आत्मा के अस्तित्व को मानने की आवश्यकता नहीं। शरीर का बुद्धिगुण से युक्त होना ही पर्याप्त है। इसके साथ ही चार्वाकों का यह भी कथन है कि आत्मा एवं शरीर के पृथक्-पृथक् अस्तित्व का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। शरीर से पृथक् यदि विद्यमान होता तो आत्मा दिखाई देता।

शरीर में इच्छा के उत्पन्न होने पर ही क्रिया की जाती है। शरीर में सक्रियता व निष्क्रियता दोनों ही चेतनतत्त्व से युक्त हैं। यद्यपि चार्वाक दर्शन वेदादि में आस्था नहीं रखता है, परन्तु फिर भी अपने मत की पुष्टि में उन्होंने तैत्तिरीय उपनिषद (2.1.1.) की एक सूक्ति उद्धृत की जिसमें कहा गया है कि पुरुष भोजन व जल का सम्मिश्रण है।

जयन्त भट्ट ने अपने ग्रंथ में दो प्रकार के चार्वाकों का उल्लेख किया है,—धूर्त्त व सुशिक्षित। धूर्त चार्वाकों का तो आत्मा के विषय में उपर्युक्त मत मिलता है, परन्तु सुशिक्षित चार्वाकों का मत कुछ परिष्कृत अवस्था में प्राप्त होता है। उनका मत है कि जब तक शरीर कार्यरत है, आत्मा शरीर में उपस्थित रहता है। शरीर के नाश हो जाने पर आत्मा अन्तर्हित हो जाता है। इसलिए इसके स्थानान्तरण अथवा पुनर्जन्म का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि ऐसा हो तो पूर्वजन्म की स्मृति मनुष्य को वैसे ही हो जैसे कि अतीत जीवन की।

सदानन्द ने वेदान्तसार में भौतिकवादियों के चार भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। भिन्नता का मुख्य आधार जीवात्मा सम्बन्धी विचार है। एक

सम्प्रदाय के अनुसार जीवात्मा एवं मूर्त शरीर में तादात्म्य है। दूसरा सम्प्रदाय इन्द्रियों को ही आत्मा मानता है। तीसरा प्राण के साथ उसके तादात्म्य का उल्लेख करता है और चौथा विचार की इन्द्रिय (अर्थात् मस्तिष्क) के साथ उसके तादात्म्य को बताता है।

चार्वाक प्रभृति अनात्मवादी लोगों के कथन का सार यह है कि कर्म का कर्त्ता, ज्ञाता, भोक्ता आदि सब कुछ शरीर ही है। शरीर के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई सत्ता नहीं है। चैतन्य शरीर का ही गुण है। जिस प्रकार गुड़, मांड़ आदि के मिलने से मादक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार विभिन्न भौतिक द्रव्यों के मिलने से चैतन्य की उत्पत्ति होती है।[5] शरीर के नष्ट होने से चैतन्य भी नष्ट हो जाता है।

नैयायिक शरीरात्मवाद के खण्डन में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं :

(1) मद के उपादान जो गुड़ आदि द्रव्य हैं, उनमें भी मादकता रहती है और सम्मिश्रण में वह प्रचुर मात्रा में प्रकट हो जाती है। शरीर के उपादान पृथ्वी आदि जड़ हैं। यदि चैतन्य शरीर का धर्म होता तो वह शरीर के उपादानों में भी पाया जाता। क्योंकि वह नहीं पाया जाता, अतः सिद्ध होता है कि आत्मा (चैतन्य का आश्रय) शरीर से भिन्न है।

(2) यदि भौतिक शरीर में चैतन्य माना जाय तो भौतिक घट में भी चैतन्य मानना होगा, किन्तु घट में तो वह उपलब्ध होता नहीं। अतः भौतिक शरीर भी अचेतन है।[6]

(3) केश, नख आदि में चैतन्य नहीं पाया जाता। यदि शरीर स्वभावतः चेतन होता तो चैतन्य नखादि में भी पाया जाता।[7]

(4) चैतन्य अवयवगत धर्म नहीं है। यदि अवयवों में चेतनता मानी जायेगी तो चैतन्य भी अनेक मानने पड़ेंगे और एक अवयव एक प्रकार की इच्छा करेगा और दूसरा अवयव दूसरे प्रकार की। किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता अतः चैतन्य शरीर के अवयवों में नहीं रहता।

(5) चैतन्य यदि शरीर का गुण होता तो अवस्थानुसार शरीर भेद से उसमें भी परिवर्तन होता रहता। किन्तु देखा यह जाता है कि आयु आदि का चैतन्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(6) मृत्यु के उपरान्त मृतक शरीर में रूप आदि बने रहते हैं परन्तु चैतन्य नहीं रहता, अतः चैतन्य का आश्रय शरीर नहीं माना जा सकता। मृत्यु

के बाद रूप आदि में भी कुछ विकार आ जाता है, पर रूप का आत्यन्तिक अभाव नहीं होता, जबकि चैतन्य का सर्वथा अभाव हो जाता है।[8]

(7) हम दूसरे मनुष्यों के हाथ, पैर आदि देख पाते हैं, पर दूसरे की आत्मा तो नहीं देख सकते। अतएव आत्मा शरीर की वस्तु न होकर एक अलग सत्ता है। यद्यपि सम्पत्ति व पुत्र के वृद्धि क्षय, पर हर्ष, शोक होता है, पर उनको आत्मा का अंश मानना कथमपि उचित नहीं। चार भौतिक तत्त्वों के सम्मिश्रण से युक्त शरीर के संचालन के लिए भी चेतन तत्त्व आत्मा को मानना ही चाहिये।

(8) शरीर चैतन्य का विषय है अत: वह विषयी नहीं हो सकता। चैतन्य विषयी है अत: विषय यानी शरीर उससे भिन्न ही होना चाहिये।

(9) यदि शरीर को ही आत्मा माना जायगा तो पाप-पुण्य का भोग कौन करेगा ? यदि दूसरे शरीर को भोक्ता माना जाये तो कृतहान और अकृताभ्यागम नामक दोष उपस्थित हो जाएँगे।

आत्मा और इन्द्रियाँ (इन्द्रियात्मवाद)

कतिपय लोगों का यह कथन है कि इन्द्रियाँ ही ज्ञान का आधार हैं, अत: इन्द्रियों को ही चेतन मान लिया जाए, उनसे भिन्न आत्मा मानने की क्या आवश्यकता है ? इस मत को इन्द्रियात्मवाद कहा जाता है।

इस मत का खण्डन नैयायिक निम्नलिखित तर्कों के आधार पर करते हैं—

(1) नेत्र के नष्ट होने पर भी रूप का संस्कार बना रहता है। अत: इन्द्रियों से पृथक् कोई ऐसी सत्ता स्वीकार करनी होगी, जो प्रत्यक्ष अनुभव और स्मृति दोनों का आधार मानी जा सके : वह आत्मा है। (2) आँखें स्वत: द्रष्टा नहीं हैं, वे दृष्टि के कारण या साधन हैं। बाईं आँख से देखी हुई वस्तु को दायीं आँख पहचान लेती है। यह प्रत्यभिज्ञा तभी हो सकती है, जबकि द्रष्टा इन्द्रियों के अतिरिक्त कोई और हो। यदि यह कहा जाये कि नेत्र वस्तुत: एक ही हैं तो यह भी ठीक-ठीक नहीं क्योंकि एक आँख यदि फूट भी जाए तो दूसरी काम करती रह सकती है।[9] (3) इमली आदि को देखने पर मुँह में पानी आ जाता है। दर्शन नेत्र से होता है और पानी जीभ में भरता है। इससे सिद्ध होता है कि दर्शन और आस्वादन इन दोनों क्रियाओं का कर्ता एक ही है, जो नेत्र और रसना से पृथक् है और पूर्वानुभव के स्मरण से रूप को देखकर रस का भी अनुभव कर लेता है। वही आत्मा है।[10]

आत्मा और मन (मनसात्मवाद)

कुछ लोगों का यह कथन है कि मन सर्वग्राही है, अत: मन से भिन्न आत्मा की सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं है। इस मत को मानसात्मवाद कहा जाता है।

नैयायिक इस मत के विरुद्ध यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि मन का अर्थ यदि अन्त:करण लिया जाये तो उससे पृथक् कोई कर्त्ता होना चाहिये, जो कि आत्मा है। और मन की यदि ज्ञाता के अर्थ में ग्रहण किया जाए तो फिर उसके द्वारा सुख दु:ख आदि के ग्रहण के लिए कोई आन्तरिक इन्द्रिय (मतिसाधन) माननी पड़ेगी। यदि यह बात स्वीकार कर ली जाए तो 'आत्मा' और मन में केवल शब्द का ही अन्तर रह जाता है।[11]

आत्मा और बुद्धि (बुद्धात्मवाद)

कतिपय लोगों का यह मत है कि बुद्धि स्वत: विषय का प्रकाश कर उसका अनुभव प्राप्त करती है। अत: बुद्धि और आत्मा में कोई भेद नहीं है। इस मत को बुद्ध्यात्मवाद कहा जाता है।

नैयायिकों के अनुसार बुद्धि ज्ञान का आश्रय नहीं, अपितु ज्ञान का पर्याय है। बुद्धि गुण है, जो कि द्रव्य पर आश्रित है। वही द्रव्य आत्मा है जो कि स्वभावत: गुण से पृथक् है।

आत्मा और पुरुष

सांख्यमतानुसार प्रकृति व पुरुष के संसर्ग होने पर सृष्टि का निर्माण होता है। सांख्याचार्यों के अनुसार प्रकृति जड़, सूक्ष्म, क्रियाशील, नित्य व सत्वरजतमोगुण की साम्यावस्था है।

सांख्य के अनुसार पुरुष है।[12] उसका अस्तित्व है, किन्तु वह चेतन, सूक्ष्म, निष्क्रिय है और प्रात्यक्षिक विषय से परे है यह व्यापक है और मन व इन्द्रिय से भी भिन्न है। यह परिमित आकार का नहीं है, क्योंकि उस अवस्था में यह हिस्सों से मिलकर बना हुआ तथा विनश्वर भी हो जायेगा। सांख्यकारिका में पुरुष को तीन गुणों से परे बताया गया है। वास्तव में पुरुष कर्त्ता नहीं है, पर प्रकृति व पुरुष का संसर्ग होने के कारण पुरुष कर्त्ता रूप में समझ लिया जाता है।[13] सांख्य के अनुसार पुरुष का स्वरूप परमानन्द नहीं बताया गया है।

सांख्याचार्यों ने पुरुष के अनेकत्व का भी इस आधार पर प्रतिपादन किया है कि सभी मनुष्यों को शारीरिक, नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न शक्तियाँ

प्राप्त हैं। दृष्टिकोणों में भेद प्रकृति के व्यापारों के कारण नहीं हो सकते, इसलिए यह युक्ति दी जाती है कि चैतन्य रूप द्रष्टा भिन्न-भिन्न है। इनकी विभिन्न इन्द्रियाँ तथा कर्म हैं और ये पृथक्-पृथक् जन्म तथा मरण को प्राप्त होते हैं। यदि पुरुष एक होता तो किसी एक के मुक्तिलाभ करने से सब मुक्त हो जाते। पुरुष को प्रकृति के विपरीत कहा गया है। जब प्रकृति एक है तो स्वभावत: पुरुष तो अनेक होंगे ही। जन्म, मृत्यु और इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न होने से, सब की एक साथ प्रवृत्ति न होने से त्रैगुण्य के विपर्यय से भी पुरुष का बाहुल्य सिद्ध होता है।[14] ईश्वरकृष्ण ने गुणों के आधार पर भी पुरुषानेकत्व सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। योगियों में सत्व गुण की, मनुष्यों में रजोगुण की, पशु-पक्षियों में तमोगुण की विभिन्नता पुरुष की अनेकता को सिद्ध करती है।

यहाँ पर यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि उत्तरवर्ती सांख्यों ने जीव व पुरुषों में भेद किया है। पुरुष न कर्त्ता है, न भोक्ता, वह उदासीन है, जबकि जीव प्रकृति व पुरुष के संयोग से उत्पन्न होता है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार अहंकार से युक्त पुरुष ही जीव है। यह कर्मफलों का भोक्ता है, और अनित्य है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक तीनों प्रकार के दुखों की निवृत्ति को ही मोक्ष कहा गया है। प्रकृति का पुरुष के साथ संयोग कैवल्य के लिए होता है, प्रकृति व पुरुष दोनों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही मुक्ति कहा गया है, जिसे विवेक द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार सांख्य में पुरुष के रूप में जिस तत्त्व का विवेचन किया गया है, वह प्रकारान्तर से आत्मा ही है। फिर भी सांख्य की तत्वश्रृंखला न्याय-वैशेषिक की तत्त्वश्रृंखला से भिन्न है, अत: यह भी नहीं कहा जा सकता कि न्याय में जिसको आत्मा कहा गया है, वही तत्त्व सांख्य में पुरुष नाम से विहित है।

आत्मा और संवित्ति

मीमांसा शास्त्र की मान्यता है कि वैदिक विध्यात्मक अनुष्ठान से मानव को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। और जो स्वर्ग को जाता है वह हाड़-मांस वाला शरीर नहीं, बल्कि अशरीरी आत्मा है।[15] जैमिनि ने आत्मा की यथार्थसत्ता का जैसा कि राधाकृष्णन् भी कहते हैं, कोई स्पष्ट विवेचन नहीं किया, किन्तु इस प्रश्न पर जो युक्तियाँ वेदान्त ने दी हैं, उन्हें ही वे स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं।[16]

मीमांसकों के अनुसार आत्मा कर्त्ता तथा भोक्ता है। वह अनेक तथा प्रति शरीर में भिन्न है।[17] यद्यपि जैमिनि के सूत्रों में आत्मा के अनेकत्व का स्पष्ट

संकेत तो प्राप्त नहीं होता, फिर भी एक सामान्य आत्मा द्वारा समस्त प्राणियों के व्यवहार आदि का नियंत्रण नहीं हो सकता है, ऐसा उनका मत प्रतीत होता है। उन्होंने आत्मा में क्रिया तथा परिणाम का अस्तित्व भी स्वीकार किया है। बोध एक क्रिया है। वह आत्मा रूपों द्रव्य से सम्बन्ध रखती है। सुबुद्धि के अनुपस्थित रहने पर भी आत्मा का अस्तित्व रहता है, जैसे कि निद्रा में। इंद्रियों के क्षत हो जाने पर भी आत्मा रहता है। शरीर भौतिक है। हर एक बोध में हमें ज्ञाता की शरीर से भिन्नता की अभिज्ञता रहती है। इसलिये मीमांसक आत्मा को शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि से पृथक् मानते हैं।

आत्मा के स्वरूप के विषय में भी कुमारिल व प्रभाकर के सम्प्रदायों में मतभेद दृष्टिगोचर होता है। आत्मा का ज्ञान किस प्रकार होता है, इस प्रश्न पर दोनों सम्प्रदायों में मतभेद स्पष्ट दीखता है। भाट्ट मीमांसकों के अनुसार आत्मसंवित्ति में ही आत्मा का ज्ञान होता है, जबकि प्रभाकर के मतानुसार आत्मसंवित्ति की धारणा ही ठीक नहीं है।

प्रभाकर का आत्मा से तात्पर्य एक ऐसी वस्तु से है, जो बुद्धि भिन्न है और ज्ञान, क्रियाशीलता, अनुभव अथवा सुखोपभोग तथा दुःख आदि जैसे गुणों का अधिष्ठान है। यह सर्वव्यापक तथा अपरिवर्तनशील है, परन्तु स्वतः प्रकाश नहीं है, क्योंकि ऐसा होता तो प्रगाढ़ निद्रा में भी ज्ञान होता। बोध के आश्रय के रूप में आत्मा जाना जाता है, जैसे कि घड़ा बोध के विषय के रूप में जाना जाता है। जो 'मैं' इस रूप में प्रतीत होता है, वह आत्मा है। 'विषयचैतन्य' से अलग 'आत्म चैतन्य' नाम की कोई वस्तु नहीं है। आत्मा चैतन्य का विषयी और विषय दोनों नहीं हो सकता।[18] यह कर्त्ता है, सुखोपभोक्ता है यद्यपि अचेतन है फिर भी सर्वत्र उपस्थित है। आत्मा और संवित् अथवा चैतन्य एक समान नहीं है।

कुमारिल के अनुसार प्रत्येक बोधात्मक कार्य में आत्मा अभिव्यक्त नहीं होता। विषय चैतन्य सर्वदा आत्मा द्वारा आत्मसात् नहीं किया जाता। आत्मा विषय-चैतन्य (विषयवित्ति) के विषयी या विषय के रूप में अभिव्यक्त नहीं होता, किन्तु कभी-कभी विषयवित्ति के साथ एक अन्य भिन्न चैतन्य होता है अर्थात् आत्मप्रत्यय जिसका आत्मा विषय है। कुमारिल की इसे प्रकल्पना का कि आत्मा मानसिक प्रत्यक्ष का विषय है, खण्डन करते हुए शालिकनाथ कहते हैं कि आत्मा स्वतः प्रकाश है और बाह्य पदार्थों के बोध में भी संलग्न रहता है। इस प्रकार यह चैतन्य का अचेतन आश्रय नहीं है। प्रभाकर के मतानुसार 'मैं' और 'मेरा' ये उक्तियाँ आत्मा के सम्बन्ध में एक मिथ्या विचार की ओर संकेत करती हैं।[19]

कुमारिल के अनुसार आत्मा शरीर से भिन्न है, नित्य है और सर्वत्र व्याप्त है। आत्मा अपने में चैतन्य है, यद्यपि आत्माएँ अनेक हैं।[20] 'अहं' भाव के द्वारा आत्मा के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। आत्मा अपने आप से अभिव्यक्त होता है यद्यपि दूसरे इसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। आत्मा ज्ञान का विषय और विषयी दोनो हैं। क्योंकि हम आत्मा के अन्दर एक तो द्रव्यात्मक अंश पाते हैं जो बोध का विषय है और एक चैतन्य का अंश पाते हैं जो बोध का विषयी (प्रमाता) है।[21] कुमारिल प्रभाकर का खण्डन करते हुए कहते हैं कि आत्मा ज्ञान का कर्त्ता तथा ज्ञान का विषय दोनों ही होता है। अतएव आत्मसंवित्ति के द्वारा ही आत्मा का ज्ञान सम्भव है। कुमारिल के मत में विषय, चैतन्य के साथ वृत्ति द्वारा सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। आत्मा का अचिदंश सम्भवतः अन्तःकरण है, जिसके द्वारा आत्मा वित्ति के रूप में विकसित हुआ है। वस्तुतः हम देखते हैं कि कुमारिल और प्रभाकर दोनों आत्मा के विषय में अपनी धारणाओं को प्रस्तुत करने के लिए संघर्ष तो करते हैं, किन्तु दोनों शाखाओं का मतभेद अन्त तक ही बना ही रहता है। वैसे प्रस्तुत प्रसंग में संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि मीमांसकों ने आत्मा को शरीर, इन्द्रिय आदि से भिन्न माना है और इस अंश में नैयायिकों से उनका मत मिलता है।

आत्मा और ब्रह्म

जगत अनुभूति पर अवलम्बित है। अनुभव के आधार पर जगत के समस्त व्यवहार प्रचलित होते हैं। इस अनुभूति के स्तर पर आत्मा की सत्ता स्वयंसिद्ध है, क्योंकि आत्मा की ज्ञातारूपेण उपलब्धि के अभाव में विषय का ज्ञान सम्भव नहीं है। अनुभव की प्रक्रिया में अनुभवकर्त्ता को अपनी सत्ता का अनुभव अवश्यमेव होता है। डेकार्ट की भाँति शंकर ने भी आत्मा की साक्षात निश्चितता के अन्दर सत्य का आधार पाया। प्रमाणों के व्यवहार से पहले ही वह सिद्ध हो जाता है।[22] प्रत्येक व्यक्ति आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में अभिज्ञता रखता है यह कोई नहीं सोचता कि मैं नहीं हूँ।[23] प्रत्येक व्यापार और क्षमता, स्थूल शरीर तथा जीवन युक्त प्राण, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण, आनुभविक अहं केवल आत्मा के ही आधार पर तथा उसके सम्बन्ध में प्रकट होते हैं।

शंकर का कथन है कि हमारे लिए तर्क के द्वारा आत्मा को जानना असम्भव है, क्योंकि तर्क स्वयं अनात्म के क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले प्रवाह का एक भाग है।[24] आत्मा प्रमाणों से व्यवहार का भी आश्रय है, अतः आत्मा का अस्तित्व प्रमाणों के अस्तित्व से पहले ही सिद्ध हो जाता है।[25] तार्किक दृष्टिकोण से

यह एक स्वतः सिद्ध आधार तत्त्व है।[26] शंकर यथार्थ आत्मा को विषय से भिन्न सिद्ध करते हुये बलपूर्वक कहते हैं कि जो वास्तव में ज्ञाता है वह कभी भी ज्ञेय नहीं बन सकता। आध्यात्मिक दृष्टि से आत्म अस्तित्व के भाव के अन्दर नित्यता, निर्विकारिता और पूर्णता के भाव समाविष्ट हैं। आत्मा की यथार्थसत्ता को स्वीकार करना एक नित्य ब्रह्म की यथार्थसत्ता को स्वीकार करना है। 'आत्मा च ब्रह्म'। ब्रह्म की यथार्थता का प्रमाण यह है कि यह आत्मा का आधार है।[27]

शून्यवाद (जो यह घोषणा करता है कि 'नित्य आत्मा है ही नहीं') का, शंकर के इस मौलिक सिद्धान्त के साथ विरोध उपस्थित होता है कि 'आत्मा के अस्तित्व में सन्देह नहीं किया जा सकता।' सुषुप्ति अवस्था में भी आत्मा उपस्थित रहता है; क्योंकि जब मनुष्य उस अवस्था से जाग जाता है तो उसे इस विषय का ज्ञान रहता है कि वह प्रगाढ़ निद्रा में था जिसमें स्वप्नों ने विघ्न नहीं किया। सुषुप्ति अवस्था में हमें ज्ञान तथा क्षोभ के अभाव की प्रत्यक्ष चेतना होती है। उस अवस्था में आनुभविक मन निष्क्रिय होता है और केवल विशुद्ध चेतना ही उपस्थित रहती है। आत्मा प्राकृतिक जगत का प्राणी नहीं है और शंकराचार्य का मत है कि यदि हम समस्त चतुर्दिक् वर्तमान पदार्थों से इसे विच्छिन्न कर दें, तथा शरीर रूपी ढाँचे (जिसके अन्दर यह घिरा हुआ है) एवं अनुभव के समस्त मूलतत्त्वों से भी इसे पृथक् करके देखें तो हमें आत्मा के भाव का ज्ञान होगा अन्यथा नहीं।[28] यह निर्विशेष चिन्मात्र है जिसके ऊपर शरीर के भस्मीभूत हो जाने तथा चित्त के नष्ट हो जाने पर भी कोई असर नहीं होता।

आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के उपरान्त ऐसी जिज्ञासाएँ भी उठती हैं कि यह आत्मा है क्या, सान्त है या अनन्त है, ज्ञान है अथवा परमानन्द है, एकाकी है अथवा अनेक हैं, साक्षीमात्र है अथवा उपभोक्ता भी है अथवा इन दोनों में से कुछ नहीं ? आचार्य शंकर का मत है कि आत्मा ज्ञात भी है ओर अज्ञात भी। आत्मा शरीर, इन्द्रिय व बुद्धि आदि सभी से पृथक् है। अन्य पदार्थों के समान ही शरीर भी प्रमेय है जिसका प्रत्यक्षादि से ज्ञान होता है। आत्मा प्रमेय नहीं कहा जा सकता। आत्मा को इन्द्रियों के समरूप भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जितनी इन्द्रियां हैं उतने ही हो जायेंगे जिससे व्यक्तिगत पहचान समस्या बन जायेगी। इसके अतिरिक्त इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर आत्मा का भी नाश हो जाता। यदि एक रूप हो तो, पर ऐसा नहीं होता। और भिन्न-भिन्न इन्द्रियाँ मिलकर आत्मा बनती हैं तो दृष्टि तथा श्रवण और रस आदि का एकसाथ उपभोग सम्भव हो, पर ऐसा नहीं। अतएव आत्मा इन्द्रियों से पृथक् है। मन

व बुद्धि की निरन्तर परिवर्तित गतिविधियों का साक्षी आत्मा है। आत्मा उनके समरूप कैसे हो सकता है। अतएव इन सबसे भिन्नता होने पर आत्मा का स्वरूप स्वतः स्पष्ट हो जाता है। प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत पदार्थ स्वप्रकाशित नहीं हैं और उनका ज्ञान केवल आत्मा के प्रकाश द्वारा होता है जिसका अनिवार्य स्वरूप है आत्मप्रकाशत्व। यह विशुद्ध चैतन्य अथवा केवल अभिज्ञता ही है जो सर्वोपरि तत्त्व है, जिसके अन्दर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञात विषय का कोई भेद नहीं है, जो अनन्त है, अतीन्द्रिय है तथा निरपेक्ष ज्ञान का सारतत्त्व है। आत्मा सर्वांगरूप में प्रज्ञा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, प्रज्ञा ही उसका अनन्यस्वरूप है। उसी प्रकार जैसे कि नमक की राशि का स्वरूप उसके नमकीन स्वाद में है। शंकर आत्मा के अन्दर क्रियाशीलता का अभाव मानते हैं। आत्मा में स्वयं कोई कर्तृत्व नहीं है। सत्य, सर्वव्यापकता आदि आत्मा के गुण कहे गये हैं।[29] शंकर आत्मा को एकाकी, सार्वभौम और अनन्त मानते हैं। शंकर द्वारा प्रतिपादित आत्मा न तो शरीरधारी जीवात्मा है न ही ऐसी आत्माओं का संगृहीत पुंज है। डा० राधाकृष्णन के मतानुसार काण्ट के आनुभविक अहंभाव का विवरण शंकर द्वारा प्रतिपादित आत्मा पर भी लागू होता है।[30]

जीव, साक्षी व आत्मा— तात्त्विक रूप में जीव को आत्मा कहा गया है। किन्तु अहम्प्रत्यय का विषय वस्तुतः विशुद्ध आत्मा नहीं है, वरन् वह है जो क्रियाशील कर्त्ता तथा फलोपभोग करने वाला जीवात्मा है, जिसमें विषयनिष्ठ गुणों का समावेश है और जो सब क्रियाओं का कर्त्ता है। उपनिषदों में ऐसे अनेक वाक्य पाये जाते हैं, जिसमें आत्मा को कर्त्ता कहा गया है। जीव कारणशरीर, सूक्ष्म शरीर व ऐन्द्रिक शरीर से युक्त होता है। अतएव उपाधियों के द्वारा आवृत आत्मा जीव है, जो कर्त्ता भी है व फलोपभोक्ता भी है किन्तु सर्वोच्च आत्मा उक्त दोनों अवस्थाओं से मुक्त है।

प्रत्येक जीवात्मा के अन्दर बोधग्राहक, भावुकतापूर्ण तथा इच्छाशक्ति सम्बन्धी अनुभूति के अतिरिक्त भी एक साक्षी रूप आत्मा विद्यमान है। शाश्वत चैतन्य को साक्षी कहा जाता है, जबकि अन्तःकरण इसके नियामक रूप में सहायक का कार्य करता है और उक्त सहायक के द्वारा यह प्रमेय विषयों को प्रकाशित करता है। इस सहायक की उपस्थिति परम चैतन्य का साक्षी रूप आत्मा में परिगणन करने के लिए पर्याप्त है। इस प्रकार जीव ही अन्तःकरण की उपाधि समेत साक्षीरूप आत्मा है और यह भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न है।

वेदान्त की विभिन्न शाखाओं में आत्मपरक विचारों में भिन्नता लक्षित होती है। विशिष्टाद्वैतवाद के आचार्य रामानुज, शंकर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त 'आत्मा ब्रह्म ही है'—से सहमत नहीं होते। उनका मत है कि आत्मा यथार्थसत्ता है पर ब्रह्म के साथ उसका तादात्म्य कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता। आत्मा अणु है जबकि ब्रह्म असीमित है, आत्मा सीमित ज्ञान वाला है जबकि ब्रह्म सर्वज्ञ है। नित्य, मुक्त, बद्ध, तीन वर्गों में आत्मा को विभक्त किया गया है। रामानुज ने जीव को कर्त्ता व फलोपभोक्ता बताया है। इस प्रकार रामानुज द्वारा प्रतिपादित आत्मस्वरूप में आत्मा व ब्रह्म के तादात्म्य संबंधी विचार पर ही मुख्यतया विरोध दृष्टिगोचर होता है। इसके विपरीत वेदान्त के अन्य आचार्य निम्बार्क का मत है कि आत्मा व ब्रह्म में भेद भी है, अभेद भी, तादात्म्य भी है और अतादात्म्य भी। ये दोनों ही यथार्थ हैं। शुद्धाद्वैतवाद के प्रतिपादक आचार्य वल्लभ का मत है कि आत्मा ब्रह्म से उसी प्रकार सम्बद्ध है जिस प्रकार अग्नि से चिनगारी।[31] आत्मा व ब्रह्म में मूल रूप में कोई भेद नहीं। दोनों ही कर्त्ता व भोक्ता हैं यही सिद्धान्त शुद्धाद्वैतावाद का मूल है।

इस प्रकार वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों के मतों का विवेचन करने पर यह स्पष्ट होता है कि वेदान्त में आत्मा की सत्ता को सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। अन्तर मुख्यतः ब्रह्म और आत्मा के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में है। हाँ न्यायशास्त्र की दृष्टि से आत्मा प्रमेय है और उसका ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है, जबकि शंकर के अनुसार उसकी सत्ता स्वयंसिद्ध है।

आत्मा और जीव (जैन मतानुसार)

जैन मतानुयायियों के अनुसार समस्त सत्तात्मक विश्व दो वर्गों अर्थात् जीव एवं अजीव में विभक्त है[32] और ये दोनों वर्ग सह अस्तित्व वाले हैं किन्तु एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। जीव भोक्ता है व अजीव भोग्य है। अजीव जगत में पाँच वास्तविक वस्तुएँ हैं जिनमें से चार अभौतिक अथवा अमूर्त हैं—देश, काल, धर्म और अधर्म। पाँचवीं वस्तु पुद्गल भौतिक अर्थात् मूर्त है।

जीवादि अस्तिकाय द्रव्यों को अवकाश देने वाला पदार्थ देश अथवा आकाश है। जगत के समस्त पदार्थ परिणामशील होते हैं। इस परिणाम के साधारण कारण के रूप में काल की सत्ता मानी जाती है। गतिशील जीव तथा पुद्गल के सहकारी कारण द्रव्य विशेष् को धर्म की संज्ञा दी गई है। स्थितिशील जीव तथा पुद्गल के सहकारी कारण द्रव्यविशेष को अधर्म की संज्ञा जैन दर्शन में दी

गई है। पुद्गलास्तिकाय यह संज्ञा जैनशास्त्र में ही प्रसिद्ध है, अन्य दर्शनों में पुद्गल स्थानीय तत्त्व को प्रधान, प्रकृति, परमाणु आदि शब्दों से पुकारते हैं। सर्वदर्शनसंग्रह में पुद्गल शब्द की निरुक्ति इस प्रकार बतलाई गई है—पूरयन्ति गलन्ति च (जो पूर्ण हो जाय तथा गल जाय) अर्थात् पुद्गल उन द्रव्यों की संज्ञा है जो प्रचय रूप शरीरों के निष्पादन करने वाले होते हैं तथा प्रचय के विनाश होने पर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

जैनों का मत है कि अहम्प्रत्ययविषयक ज्ञान से आत्मा की सत्ता का अनुभव किया गया जाता है। इसका प्रत्यक्ष बाह्य पदार्थों की भाँति संभव है।[33] स्मृति प्रत्यभिज्ञा, संशय, निर्णय आदि नित्य तत्त्व आत्मा में केन्द्रित हैं, इसके अभाव में उनका ज्ञान असंभव है। ज्ञान का आधार अचेतन शरीर नहीं हो सकता, ज्ञान के निष्पादन में मन, इन्द्रियाँ साधन हैं, पर उनका नियन्त्रक संचालन एक चेतन तत्त्व ही है, वह है आत्मा। इस प्रकार के अन्य अनेक तर्कों द्वारा जैन दर्शन में आत्मा की सिद्धि स्वीकृत की गई है। जैन ग्रन्थों में 'जीव' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है। यह जीवन, प्राणशक्ति, आत्मा एवं चेतनता का द्योतक है। चैतन्य जीव का सामान्य लक्षण है।[34] प्रत्येक जीव नैसर्गिक रूप से अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सामर्थ्य आदि गुणों से सम्पन्न माना गया है। परन्तु जीवों में आवरणीय कर्मों के कारण इन स्वाभाविक धर्मों का उदय नहीं हुआ करता। जीव संख्या में अनन्त हैं और भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं (1) नित्यसिद्ध अर्थात् सदापूर्णरूप, (2) मुक्त अथवा जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है (3) बद्ध अर्थात् जो कर्म के बन्धन में जकड़े हुए हैं। आत्मा इन्द्रियों व शरीर से सर्वथा भिन्न-एक चेतनस्वरूप सत्ता है। भिन्न-भिन्न तत्त्वों में तात्त्विक जीवात्माओं का निवास है; यथा पार्थिक जीवात्मा, आग्नेय जीवात्मा। ये आत्माएँ जन्मती व मरती हैं व भिन्न-भिन्न तात्त्विक शरीरों में जन्म लेती हैं। जैनाचार्य धातुओं और पत्थरों तक में भी आत्मा के अस्तित्व को मानते हैं।[35]

आत्मा और पंचस्कन्ध (बौद्ध मतानुसार)

आत्मा नाम की असम्बद्ध शक्ति की स्थापना, बौद्धों के मत में कर्म के विरुद्ध अर्थात् कर्म के नियम के विरुद्ध है। क्योंकि साधारण लोग आत्मा को डिब्बे के अन्दर बन्द एक जीवित जन्तु के समान मानते हैं, जो सब प्रकार की चेष्टाओं का मुख्य रूप से आधार है।[36] बुद्ध ने उपनिषदों में प्रतिपादित आत्मा से सम्बन्धित विचारों का खन्डन किया। सकल दुष्कर्मों तथा दुष्प्रवृत्तियों के मूल में इसी आत्मवाद को कारण मानकर बुद्ध ने आत्मा जैसे एक पृथक् पदार्थ की

सत्ता को ही स्वीकार नहीं किया है। वे मानसिक अनुभव तथा विभिन्न प्रवृत्तियों को स्वीकार करते हैं, परन्तु आत्मा को उसके संघात (समूह) से भिन्न पदार्थ नहीं मानते। आत्मा प्रत्यक्षगोचर मानसप्रवृत्तियों का पुंजमात्र है, इन प्रवृत्तियों के समूह के अतिरिक्त अन्यत्र उसकी सत्ता प्रत्यक्ष रूप से नहीं दीख पड़ती। आत्मा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान इन पाँच स्कन्धों का पुंजमात्र है। बुद्ध का कथन है कि दो क्षणों में भी हम एक साथ एकसमान नहीं रहते, तब फिर किस जीवात्मा की निरन्तर सत्ता की हम अभिलाषा करते हैं। वैसे डा० राधाकृष्णन के मतानुसार बुद्ध ने यह तो कहा कि आत्मा क्या नहीं है, किन्तु आत्मा क्या है इस विषय में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा।[37] कीथ प्रभृति कुछ विद्वानों का मत है कि बुद्ध आत्मा की नित्यता में विश्वास रखते थे। कुछ का मत है कि वे आत्मा की अनित्यता में विश्वास रखते थे। इस संदर्भ में पाश्चात्य विद्वान ह्यूम का आत्मपरक मत बौद्धों के सदृश प्रतीत होता है।[38]

मिलिन्द प्रश्न में भदन्त नागसेन ने यवनाधिपति मिलिन्द के समक्ष बौद्ध सम्मत आत्म स्वरूप का बड़ा सूक्ष्म, तार्किक व मनोरम वर्णन किया है। नागसेन ने राजा से प्रश्न किया क्या इस रथ का आप इदमित्थं वर्णन कर सकते हैं ? क्या दंड रथ है, चक्के रथ हैं। ऐसे प्रश्नों के पूछे जाने पर सबका निषेध करने पर मिलिन्द को अन्ततोगत्वा यह स्वीकार करना पड़ा कि दंड आदि अवयवों के आधार पर ही व्यवहार के लिये रथ नाम दिया गया, इन अवयवों के अतिरिक्त अवयवी की सत्ता नहीं दीख पड़ती। तब नागसेन ने कहा—आत्मा की भी ठीक यही दशा है। पंचस्कन्धादि अवयवों के अतिरिक्त अवयवी नितरां अगोचर है। अतएव इन अवयवों के आधार पर ही व्यवहार के लिये आत्मा नाम दिया गया है। इसके अतिरिक्त आत्मा की सत्ता कुछ नहीं है।

बौद्धों का यह नैरात्म्यवाद अर्थात् अनात्म सम्बन्धी विचार दार्शनिक वर्ग में आलोचना का विषय बन कर रह गया। काण्ट आदि पाश्चात्य तार्किकों ने भी ऐसे सिद्धान्तों की भरपूर आलोचना की। आधुनिक विचार-धारा को काण्ट की सबसे बड़ी देन यह सिद्धान्त है कि आनुभविक चेतना के भिन्न-भिन्न प्रकारों को एक केन्द्रीय आत्मचेतना से सम्बद्ध होना चाहिये। शंकराचार्य ने भी अनात्मवाद की नींव को हिला रखने में कोई कसर नहीं छोड़ी। ऐसा प्रतीत होता है कि नागसेन ने ज्ञान विषयक प्रश्न पर विचार नहीं किया, अन्यथा वह अनुभव कर सकता था कि प्रमाता और प्रमेय भिन्न-भिन्न होते हैं।

आत्मा और चेतनता (वैशेषिक मतानुसार)

वह पदार्थ जिसके द्वारा वैशेषिक अपने को निश्चित रूप से अन्य सब आदर्शवादी दर्शन पद्धतियों के मुकाबले में खड़ा करता है, द्रव्य है। कणाद के मतानुसार क्रिया और गुण का समवाय सम्बन्ध से जो आश्रय हो और कार्यद्रव्य एवं गुण आदि का जो समवायि कारण ही वह द्रव्य कहलाता है। आत्मा के विषय में वैशेषिक की संकलपना वस्तुतः न्याय की संकलपना के ही समान है। भेद केवल यही है कि आत्मा के प्रत्यक्ष ज्ञान को (जिसमें आत्मा ज्ञान का कर्त्ता भी है, और विषय भी है) वैशेषिक ने स्वीकार नहीं किया।[39] उनका यह मत है कि आगम (अथवा ईश्वरीय ज्ञान) और अनुमान ही इस विषय में हमारे सहायक बनते हैं।[40] आत्मा के अस्तित्व का अनुमान वैशेषिक में इस तथ्य के आधार पर किया जाता है कि चेतनता शरीर, इन्द्रियों तथा मन का गुण नहीं हो सकती।[41]

वैशेषिकों के अनुसार आत्मा के अस्तित्व के लिंग यानी प्रमाण हैं—प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर-विकार, सुख-दुख, इच्छा-द्वेष व प्रयत्न आदि।[42] अपनी प्राकृत अवस्था में आत्मा ज्ञान रहित होता है जैसे कि प्रलय में। उसे वस्तुओं का बोध तभी होता है, जबकि यह शरीर से सम्बद्ध होता है।[43] चेतनता का धारण आत्मा के द्वारा होता है, यद्यपि यह इसका अनिवार्य तथा अविच्छेद्य लक्षण नहीं है। मन के द्वारा जीवात्मा न केवल बाह्य वस्तुओं, अपितु अपने गुणों का भी ज्ञान प्राप्त करता है। आत्मा यद्यपि सर्वव्यापक है, तो भी इसके अस्तित्व का अनुभव शरीर के माध्यम से ही हो सकता है।

आत्मा अनेक, नित्य, अमूर्त, तथा विभु द्रव्य है।[44] आत्मा की अनेकता का अनुमान, स्थिति में भेदों के कारण तथा अवस्थाओं की नानाविधता के कारण किया जाता है।[45] धर्मशास्त्रों के आदेश इस धारणा को मानकर दिये गये हैं कि आत्माएँ भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्येक आत्मा अपने-अपने कर्मों का फलोपभोग करता है। शास्त्रों के अनुसार भी आत्मा का अनेकत्व सिद्ध होता है।[46] श्रीधर ने भी आत्मा के एकत्व का खण्डन किया है।[47] कुछेक आत्माओं के मोक्ष प्राप्त कर लेने से संपूर्ण जगत् के लय हो जाने की कोई आर्शका नहीं। वैशेषिक की अनेकत्व सम्बन्धी पूर्वधारणा के कारण इसके अनुयायी अनेकत्व को ही परम सत्य मानते हैं। विरुद्ध धर्मों की सत्ता एक काल में ही बनी रहती है इससे भी आत्मा का अनेकत्व सूचित होता है। आत्माओं में परस्पर भेद उनके भिन्न-भिन्न शरीरों के साथ सम्बन्ध के कारण हैं। पुनर्जन्म में भी मन आत्मा के साथ जाता है

और उसे व्यक्तित्व प्रदान करता है। वैशेषिकों के अनुसार भी आत्मा इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न है। जिस पदार्थ को हम आँखों से देखते हैं उसे ही हम हाथ से छू लेते हैं। इन्दियद्वय साध्य इस अनुभव में यदि आत्मा इन्द्रिय रूप ही होता तो वस्तु की प्रत्यभिज्ञा कैसे सिद्ध की जाती? कर्त्ता तथा कारण की भिन्नता अनुभव सिद्ध है। अनुभव के कर्त्ता (आत्मा) तथा अनुभव के साधन (इन्द्रियों) की भिन्नता ही सिद्ध है, अभिन्नता नहीं। नित्य मन को आत्मा मानने में विप्रतिपत्ति है। अणु रूप होने के कारण मन का प्रत्यक्ष नहीं होता। ऐसी दशा में मन को ही आत्मा मान लिया जायेगा तो उसमें विद्यमान सुख-दुख इच्छा आदि भी अप्रत्यक्ष होने लगेंगे। पर यह अनुभव विरुद्ध होने से अनुचित है। चार्वाक दर्शन की मान्यता है कि 'मैं जा रहा हूँ' यहाँ मैं शरीर के लिये प्रयुक्त हुआ है पर कणाद ने इसका विरोध किया है। उनका मत है कि यदि मैं शरीर के लिये प्रयुक्त है तो शरीर तो जड़ है, जड़ में चेतनता कैसे समाविष्ट होगी? वेदान्त दर्शन में आत्मा को एक कहा गया है पर लोक व्यवहार के अनुरूप न्याय-वैशेषिक में आत्मा का अनेकत्व स्वीकार किया गया है। अतएव स्पष्ट है कि वैशेषिक दर्शन में वर्णित आत्मा का स्वरूप न्याय दर्शन में प्रतिपादित आत्मस्वरूप से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

न्यायमत का सार

गौतम के अनुसार आत्मा एक यथार्थसत्ता है और इसके गुण हैं—इच्छा, द्वेष, संकल्प, सुख-दुख तथा ज्ञान। साधारणत: नैयायिक आत्मा के अस्तित्व को अनुमान प्रमाण के द्वारा सिद्ध करते हैं, किन्तु उद्योतकार का मत है कि आत्माकी यथार्थसत्ता का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है। उनके मतानुसार अहंत्व (मैं इस भाव) का प्रमेय, पदार्थ, आत्मा है। **भिन्न-भिन्न** बोधों की प्रत्यभिज्ञा का 'मम' के रूप में होना यह सिद्ध करता है कि आत्मा की सत्ता निरन्तर विद्यमान रहती है। हम उन पदार्थों का स्मरण करते हैं, जिनका बोध हमें पहले हुआ है। जब कोई किसी पदार्थ को देखता है, उससे आकृष्ट होता है तथा उसे प्राप्त करने की चेष्टा करता है, तो इन सब भिन्न-भिन्न क्रियाओं का आधार वही एक सामान्य सत्ता है, जिसे हम आत्मा के नाम से जानते हैं।[48] उद्योतकार अनात्मवादियों पर आक्षेप करते हुए कहते हैं कि ऐसे व्यक्तियों के लिये जो जीवात्मा को नहीं मानते, प्रत्येक बोध अपने आप में भिन्न-भिन्न होना चाहिये और उसका अपना अलग एक प्रमेय होना चाहिये,[49] हमारी सब मानसिक क्रियाएँ जैसे स्मृति, अभिज्ञान, जीवात्मा का सापेक्ष निरन्तरता की अभिज्ञता,

आत्मा का संकल्प या आग्रह, अन्य आत्माओं के साथ सहानुभूति अथवा सम्बन्ध की चेतना, ये सब यह सूचित करते हैं कि आत्मा का यथार्थ अस्तित्व है।

आत्मा की समानता न तो शरीर के साथ की जा सकती है, न इन्द्रियों के साथ और न बुद्धि आदि के साथ। नैयायिकों की मान्यता है कि यदि शरीर से व्यतिरिक्त आत्मा न हो तो नैतिकता का कुछ महत्त्व नहीं रह जाता। क्योंकि देह क्षण-क्षण में बदलती रहती है इसलिये कोई भी पाप आगामी जीवन में हमारा पीछा कैसे करेगा ? और यदि शरीर ही आत्मा हो तो शरीर के नष्ट हो जाने पर गुण-दोष, पाप-पुण्य, सुख-दुःख का पृथकीकरण न किया जा सकेगा। गौतम का मत है कि शरीर भौतिक पदार्थ है और अचेतन है अतएव चेतनता अचेतन शरीर का गुण नहीं हो सकता। अधिक से अधिक यह स्वीकार किया जा सकता है कि शरीर चेतना की अभिव्यक्ति में साधन व सहायक मात्र है। देह चेष्टाओं तथा इन्द्रियों का आश्रय है।

आत्मा इन्द्रियाँ नहीं, बल्कि इन्द्रियों का नियन्त्रक है तथा इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान का संश्लेषण करने वाला है। यह जीवात्मा ही है जो भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभवों में एकत्व स्थापित करता है। यह चेतना कि 'मैं जिस पदार्थ को अब देख रहा हूँ उसके विषय में मैंने सुना भी था', सम्भव नहीं हो सकती थी, यदि आत्मा इन्द्रिय से भिन्न न होता। आत्मा एक साथ कई बोधों का ग्रहण करता है, जबकि एक इन्द्रिय एक ही ज्ञान का ग्रहण करती है। आत्मा और मन को भी एक नहीं माना जा सकता, क्योंकि मन एक साधन मात्र है, जिसके द्वारा आत्मा मनन अथवा विचार करता है। मन परिणाम में अणु है साथ ही इसका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। नैयायिकों के मत में सुख-दुःख का अनुभव आत्मा द्वारा होता है, जो कि मन से भिन्न है। आत्मा का ऐक्य देह, इन्द्रियों या मन के साथ नहीं हो सकता, क्योंकि देह के नष्ट होने पर भी आत्मा बना रहता है। उक्त सब प्रमेय पक्ष के पदार्थ हैं और प्रमाता नहीं बन सकते, जबकि आत्मा ही प्रमाता है। बुद्धि, उपलब्धि अथवा ज्ञान भी आत्मा नहीं हैं। बुद्धि अस्थायी है, जबकि आत्मा को स्थायी ही होना चाहिये। प्रत्यभिज्ञा (पहचान) की योग्यता बुद्धि का गुण नहीं हो सकती। बुद्धि नैयायिकों के अनुसार न तो द्रव्य है और न ही प्रमाता है, बल्कि जीवात्मा एक गुण है।

नैयायिकों का मत है कि प्रत्येक जीवन में पृथक्-पृथक् आत्मा रहता है। यद्यपि यह कथन वेदान्त के इस सिद्धान्त के प्रतिकूल लगता है कि 'आत्मा सभी जीवों में एक ही है परन्तु वह उपाधि भेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है।' किन्तु

न्याय और वेदान्त के सिद्धान्तों का सामंजस्य इस रूप में हो जाता है कि नैया-यिक आत्मा के दो भेद मानते हैं (1) जीवात्मा और (2) परमात्मा। जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न होता है, जबकि परमात्मा सभी शरीरों में एक ही है। जीवात्मा जन्य ज्ञान का अधिकरण होता है जबकि परमात्मा शाश्वत ज्ञान का आश्रय है। परमात्मा को ही न्याय में ईश्वर कहा जाता है।

2. शरीर

ज्ञान के संदर्भ में भी शरीर का अपना निजी स्थान है और प्राणी के भौतिक अस्तित्व के लिए तो उसकी अनिवार्यता स्पष्ट ही है। न्यायशास्त्र में परिगणित बारह प्रमेयों में से शरीर भी एक है।

अक्षपाद के अनुसार शरीर चेष्टा, इन्द्रिय तथा अर्थ का आश्रय है।[50] चेष्टा का आशय है—इच्छित वस्तु की ईप्सा और अनिच्छित वस्तु की जिहासा में प्रवृत्त व्यक्ति द्वारा अभीष्ट सिद्धि के लिए किया गया स्पन्दन। वैसे केशव मिश्र ने चेष्टा का अर्थ क्रिया माना है, न कि स्पन्दन (गतिमात्र)।[51] शरीर के स्वस्थ रहने पर ही इन्द्रियों की स्वस्थता निर्भर है, अतः उसको इन्द्रियाश्रय भी कहा गया है। इसी प्रकार जिस अधिष्ठान में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न सुख-दुःख का प्रतिसंवेदन प्रवृत्त होता है, वह शरीर ही है।[52]

यद्यपि शरीर में गन्ध, आर्द्रता, अन्नपाक (भुक्तान्नपाक), व्यूह (रससंचरण) तथा आकाश (अवकाशदान) के अस्तित्व की दृष्टि के शरीर को पाँचभौतिक भी कहा जा सकता है, फिर भी पार्थिव गुणों की विशेष उपलब्धि के कारण शरीर को पार्थिव माना गया है : शरीर का उपादान कारण (समवायिकारण) केवल पृथ्वी है, अन्य भूत निमित्त मात्र है, यद्यपि वे भी शरीर के जीवनकाल तक उसमें अनुविद्ध रहते हैं। नैयायिक पाँचभौतिकत्व को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि शरीर को यदि पृथ्वी, जल, आदि कई विजातीय द्रव्यों का उपादेय माना जायेगा तो उसमें पृथिवीत्व जलत्व आदि का सांकर्य होगा और उस स्थिति में द्रव्य का नौ श्रेणियों में वर्गीकरण असंगत हो जायेगा। शरीर को पाँचभौतिक या त्रैभौतिक (पृथ्वी, जल, तेज) मानने पर तो शरीर का एक भाग सगन्ध अन्यभाग, निर्गन्ध एक भाग, शीत अन्य भाग, अशीत माने जाने लगेंगे, जबकि ऐसा मानना अनुभव के विरुद्ध होगा। चेतन आत्मा के संयोग से ही चेष्टा हो सकती है। हित या अहित का विवेक करना भी चेतन का ही कार्य है। इस प्रकार प्रयत्नयुक्त आत्मा का संयोग जिसमें असमवायी कारण हो, ऐसी क्रिया को चेष्टा कहा गया

है। मृत शरीर में चेष्टा नहीं रहती, फिर भी वह शरीर कहलाता है, इसका कारण कुछ लोग तो यह कहते हैं कि 'जो कभी भी चेष्टा का आश्रय रहा हो, वह भी शरीर होता है। एक अन्य मत यह भी है कि चेष्टा के आश्रयभूत अन्त्यावयवी में जो जाति रहती है, वह मृत शरीर में भी रहती है।

केशव मिश्र के अनुसार जो आत्मा के भोग का आश्रय और अन्त्य अवयवी होता है, वह शरीर कहलाता है।[53] भोग का आशय है—सुख अथवा दुःख का साक्षात्कार यानी प्रत्यक्ष अनुभव। यद्यपि आत्मा व्यापक है, उसका संयोग सभी मूर्तद्रव्यों के साथ होता है अतः वही सभी मूर्त द्रव्यों से अवच्छिन्न है, किन्तु हर तरह के मूर्तद्रव्य से अवछिन्न आत्मा में सुख दुःख का अनुभव नहीं होता। शरीर ही भोगायतान है, क्योंकि आत्मा शरीर में ही सुख दुःख का अनुभव कर सकता है अंगुलियों आदि अवयवों के सन्दर्भ में हाथ को भी अवयवी कहा जा सकता है, पर हाथ स्वयं शरीर का अवयव है, अतः शरीर ही अवयवी माना जाता है क्योंकि वह स्वयं किसी अन्य का अवयव नहीं है। इसलिए उसको अन्त्य अवयवी कहा जाता है। अतः भोग का आश्रय शरीर माना जाता है, न कि हाथ-पाँव आदि; भले ही काँटा आदि हाथ पर चुभता है। मोटर आदि में जो गति होती है, उसको चेष्टा नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें आत्मा का संयोग नहीं है।

"मूर्तद्रव्यों से आत्मा के अवच्छिन्न होने का अर्थ यह है कि मूर्तद्रव्यों के साथ आत्मा का जैसे संयोग सम्बन्ध होता हैं, उसी प्रकार उनके साथ उसका अवच्छेदकता नाम का एक और भी सम्बन्ध होता है। यह अवच्छेदकता कोई अन्य पदार्थ नहीं होता, किन्तु मूर्तद्रव्यस्वरूप ही होता है, इसलिए इसे स्वरूप-सम्बन्ध विशेष भी कहा जाता है।"[54]

3. इन्द्रिय

इसका विश्लेषण प्रत्यक्ष प्रकरण में कर दिया गया है।

4. अर्थ नामक प्रमेय का स्वरूप

न्यायसूत्र में परिगणित बारह प्रमेयों में से 'अर्थ' भी एक है। 'अर्थ' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में स्वयं नैयायिकों में भी मतभेद रहा है। सूत्रकार गौतम ने अर्थ के अन्तर्गत गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द नामक पाँच इन्द्रियार्थों (जो कि क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के गुण हैं) का समावेश किया है। इस प्रकार न्यायदर्शन में अर्थ शब्द का संकेतार्थ है—गन्ध आदि पाँच गुण। वात्स्यायन के अनुसार आत्मा आदि बारह प्रमेयों के अतिरिक्त द्रव्य, गुण, कर्म,

सामान्य, विशेष समवाय आदि भी प्रमेय हैं, किन्तु मोक्ष प्राप्ति की दृष्टि से गौतम ने केवल बारह की ही चर्चा की।

वैशेषिकदर्शन में अर्थ शब्द का संकेत द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थों में किया गया है।[55]

तर्कभाषा में केशव मिश्र ने अर्थ शब्द के प्राचीन न्याय और वैशेषिक दर्शन में प्रचलित संकेत का परित्याग कर उसमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छ: भाव पदार्थों का समावेश किया है। उनका यह भी कथन है कि प्रमाण आदि का अन्तर्भाव भी इन छ: (द्रव्य में सभी भाव पदार्थों का और गुण में प्रमाणों का) में हो सकता है, किन्तु उनके ज्ञान का विशेष प्रयोजन (निःश्रेयसाधिगम) होने के कारण उनका पृथक् परिगणन किया गया है। न्याय और वैशेषिक का सम्मिश्रण करने की दृष्टि से केशवमिश्र ने न्याय के प्रमाण आदि सोलह पदार्थों के साथ ही अर्थ के अन्तर्गत वैशेषिक के द्रव्य आदि छ: पदार्थों का भी वर्णन किया।

वात्स्यायन ने वैशेषिक दर्शन में परिगणित छ: पदार्थों को भी प्रमेय के रूप में स्वीकार किया किन्तु आत्मा आदि बारह प्रमेयों के तत्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति और उनके मिथ्या ज्ञान से संसार बन्धन के कारण न्यायसूत्र में उनके ही प्रतिपादन के औचित्य का समर्थन किया गया है।[56] इसका यह आश्रय है कि प्रमाण आदि का पृथक्-पृथक् विश्लेषण करने से ही न्यायविद्या को उपनिषदों में प्रतिपादित अध्यातम विद्या से पृथक् सिद्ध किया जा सकता है।

उपर्युक्त रूप से न्याय-वैशेषिक प्रकरणों में अर्थ के अन्तर्गत—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय को समाविष्ट किया गया है। तर्क संग्रह में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श को गुणों में समाविष्ट किया गया है।

न्याय सूत्र में परिगणित अर्थ नामक प्रमेय के भेदों का संक्षिप्त विवरण यहाँ तर्क भाषा में अपनाई गई पद्धति के अनुसार दिया जा रहा है।

अर्थ के अन्तर्गत केशव मिश्र ने वैशेषिक में उल्लिखित द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय का परिगणन किया है।

(क) द्रव्य का स्वरूप और भेद

द्रव्य के यों तो अनेक लक्षण किये जा सकते हैं, किन्तु सामान्यत: यह माना जाता है जो किसी कार्य का समवायिकारण होता है, वह द्रव्य कहलाता है।[58]

द्रव्य के जो नौ भेद बताये गये हैं, उनका संक्षिप्त विवरण अन्नंभट्ट के अनुसार इस प्रकार है—

1. **पृथ्वी**—गन्धवाले द्रव्य का नाम पृथ्वी है। वह नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार की होती है। नित्य परमाणु रूप है और अनित्य कार्यरूप (घट, पट)। कार्यरूप पुनः शरीर, इन्द्रिय और विषय भेद से तीन प्रकार का होता है।

2. **अप्**—जिसका स्पर्श शीतल हो, वह जल कहलाता है। जल भी दो प्रकार का होता है—नित्य और अनित्य। नित्य परमाणुरूप है और अनित्य कार्यरूप। शरीर (वरुण लोक में) इन्द्रिय (रसन) तथा विषय (सरित्समुद्रादि) भेद से कार्यरूप जल पुनः तीन प्रकार का होता है।

3. **तेज**—जिसमें उष्ण स्पर्श हो, वह तेज कहलाता है। तेज दो प्रकार का होता है—नित्य और अनित्य। परमाणु रूप में तेज नित्य होता है, और अग्नि आदि के रूप में अनित्य। कार्यरूप तेज शरीर (सूर्य) इन्द्रिय (चक्षु) और विषय भेद से तीन प्रकार का होता है। विषय चार प्रकार के हैं—भौम (बह्नि), दिव्य (विद्युत्) उदर्य (जठराग्नि) और आकरज (सुवर्ण, रजत आदि)।

4. **वायु**—जो रूप रहित हो और स्पर्शवान हो वह वायु कहलाता है। वायु भी दो प्रकार का होता है—नित्य और अनित्य। नित्य परमाणुरूप होता है और अनित्य कार्यरूप। कार्यरूप वायु शरीर (वायु लोक) इन्द्रिय (त्वक्) और विषय (वृक्षादिकम्पन) भेद से तीन प्रकार का होता है। शरीर में संचरण करने वाला वायु प्राण है। यद्यपि वह एक ही है किन्तु स्थान तथा क्रिया भेद से वह प्राणवायु, अपानवायु, समानवायु, उदानवायु और व्यानवायु के रूप में पाँच प्रकार का होता है।

5. **आकाश**—जिसमें शब्द स्वरूप गुण समवायसम्बन्ध से विद्यमान रहता है, वह आकाश है। आकाश एक, विभु और नित्य है।

6. **काल**—भूत, भविष्य और वर्तमान के व्यवहार के कारणभूत द्रव्य को काल कहा जाता है। काल एक, सर्वव्यापक और नित्य है।

7. **दिक्**—पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं के व्यवहार के कारण को दिक् कहते हैं। दिशा भी एक, नित्य और सर्वव्यापक है।

8. **आत्मा**—जिस द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से ज्ञान रहता है, वह आत्मा है। वह आत्मा दो प्रकार का होता है—जीवात्मा और परमात्मा। परमात्मा

एक है और जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न, व्यापक और नित्य है। (आत्मा का विस्तृत विश्लेषण इसी अध्याय में अन्यत्र किया गया है।)

9. **मन**—जिस इन्द्रिय से सभी प्रकार के सुख दुःख की उपलब्धि हो, वह मन कहलाता है। वह हर एक जीवात्मा में भिन्न-भिन्न है, अनन्त, परमाणुरूप तथा नित्य है (मन का विस्तृत विश्लेषण इसी अध्याय में आगे किया गया है)।

द्रव्यों के सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि नैयायिक 'तम' की गणना द्रव्यों में नहीं करते। मीमांसकों के मतानुसार 'तम' (अन्धकार) द्रव्य है, क्योंकि वह पृथ्वी आदि सब द्रव्यों के विलक्षण होता है, उसमें गति, रूप, दिकक्ृत और कालकृत, परत्व, अपरत्व, संयोग विभाग, परिमाण आदि भी विद्यमान रहते हैं[59] किन्तु नैयायिक इस मत का खण्डन करते हुये कहते हैं कि तम में गति और नीलरूप किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। तम तो तेजस् का अभाव मात्र है। उसमें रूप और गति का वर्णन भ्रमात्मक है।

(ख) गुण का स्वरूप और भेद

कणाद के अनुसार समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में आश्रय लेने का जिसका स्वभाव हो, जो स्वयं गुण का आश्रय न हो, संयोग और विभाग का कारण न हो और अन्य किसी की अपेक्षा न रखता हो, वह गुण नामक पदार्थ है।[60] केशव मिश्र के मत में जो सामान्य (जाति) से युक्त हो असमवायिकारण बनने वाला हो, स्पन्दन रहित (क्रियावान् न हो) हो और द्रव्य पर आश्रित हो, वह गुण कहलाता है।[61] विश्वनाथ ने द्रव्याश्रित, निर्गुण और निष्क्रिय को गुण कहा है।[62]

कणाद ने निम्नलिखित सत्रह गुणों का उल्लेख किया है--(1) रूप, (2) रस, (3) गन्ध, (4) स्पर्श, (5) संख्या, (6) परिमाण, (7) पृथक्त्व; (8) संयोग, (9) विभाग, (10) परत्व, (11) अपरत्व, (12) बुद्धि, (13) सुख, (14) दुःख, (15) इच्छा, (16) द्वेष और (17) प्रयत्न।

प्रशस्तपाद ने वैशेषिक सूत्र (1–1–6) में उल्लिखित 'च' पद को आधार बनाकर निम्नलिखित सात गुणों को जोड़कर गुणों की संख्या 24 तक पहुँचा दी—(1) गुरुत्व, (2) द्रवत्व, (3) स्नेह, (4) संस्कार, (5) धर्म, (6) अधर्म और (7) शब्द।

शंकर मिश्र के मतानुसार कणाद ने इन सात गुणों का परिगणन नहीं किया क्योंकि ये तो प्रसिद्ध हैं ही।

कुछ विद्वानों ने (1) लघुत्व, (2) मृदुत्व, (3) कठिनत्व और (4) आलस्य को जोड़कर गुणों की संख्या 28 करने का प्रयास किया है, जबकि कई आचार्यों ने (1) परत्व, (2) अपरत्व और पृथक्त्व को अनावश्यक मानकर गुणों की संख्या 21 बताई है। किन्तु सामान्यतया यही माना जाता है कि वैशेषिक दर्शन में गुणों की संख्या 24 है। नव्यन्याय में परत्व अपरत्व को विप्रकृष्टत्व और सनिकृष्टत्व या ज्येष्ठत्व और कनिष्ठत्व में अन्तर्निहित मान लिया गया है और पृथक्त्व को अन्योन्याभाव का ही एक रूप बताया गया है। अत: नव्यन्यायिक 21 गुण मानते हैं। विश्वनाथ ने उपर्युक्त चौबीस गुणों का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप से किया है—

(1) आश्रयद्रव्यों की मूर्तामूर्तता परक

(क) केवल मूर्त द्रव्यों में रहने वाले,[64] (ख) केवल अमूर्तद्रव्यों में रहने वाले,[65] (ग) मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के द्रव्यों में रहने वाले।

(2) आश्रय संख्या परक

इन गुणों में से कुछ केवल एक-एक द्रव्य में रहते हैं और कुछ एकाधिक द्रव्यों में। संयोग, विभाग, संख्या, अनेकाश्रित गुण हैं और अन्य एकाश्रित।[66]

(3) सामान्य-विशेष-परक

विश्वनाथ ने गुणों का वर्गीकरण (i) सामान्य और (ii) विशेष रूप में भी किया है। उनके मतानुसार सामान्य गुण हैं—संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, असांसिद्धिक, द्रवत्व, गुरुत्व, तथा वेग-संस्कार।

विशेष गुण हैं—बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक, द्रवत्व, धर्म, अधर्म, भावना, संस्कार तथा शब्द।

(4) इन्द्रियग्राह्यतापरक

विश्वनाथ ने यह भी बताया है कि इन्द्रियग्राह्यता के आधार पर भी गुणों का निम्नलिखित रूप से वर्गीकरण किया जा सकता है—

(1) **एकेन्द्रियग्राह्य**—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द।

(2) **द्वीन्द्रियग्राह्य**—(चक्षु और त्वक् से) संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग-सं०।

(3) **अतीन्द्रिय**—गुरुत्व, बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा भावना-संस्कार।

गुणों का संक्षिप्त विवरण केशव मिश्र द्वारा उल्लिखित क्रमानुसार निम्न-लिखित हैं—

रूप

केवल चक्षु द्वारा ग्रहण किये जाने वाले विशेष गुण को रूप कहते हैं। यहाँ पर ग्रहण का आशय है लौकिक प्रत्यक्ष-योग्य जाति का आशय। 'चक्षुमात्र' शब्द के प्रयोग का यह आशय है कि चक्षु से भिन्न बहिरिन्द्रिय द्वारा रूप का ग्रहण नहीं होता। अन्तरिन्द्रिय मन पर यह बात लागू नहीं होती। रूप पृथ्वी, जल और तेज इन तीनों द्रव्यों में रहता है और शुक्ल, नील, रक्त, पीत, हरित, कपिश और चित्र भेद से सात प्रकार का होता है। प्राचीन न्याय में रूप को व्याप्यवृत्ति माना गया है और नव्यन्याय में अव्याप्यवृत्ति (एकदेशवर्ती)।

रस

जीभ से प्रत्यक्ष होने वाले गुण का नाम रस है। रस छः प्रकार का होता है—मधुर, अम्ल, लवण, कटु तथा कषाय। रस पृथ्वी और पाकज है और जल में रहता है। पृथ्वी में छः प्रकार का रस रहता है किन्तु जल में केवल मधुर रस रहता है और वह अपाकज होता है। चित्ररस की सत्ता को नैयायिकों ने स्वीकार नहीं किया, क्योंकि आँख किसी वस्तु के विस्तृत भाग के रूपों को एक साथ देख सकती है किन्तु जीह्वाग्र एक समय एक ही रस का ग्रहण कर सकता है।

गन्ध

घ्राण इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य गुण को गन्ध कहते हैं। सुगन्ध और दुर्गन्ध के भेद से यह दो प्रकार का होता है और केवल पृथ्वी में रहता है और अनित्य है। सुगन्ध और दुर्गन्ध अनुभव गम्य हैं। नैयायिकों ने चित्रगन्ध की सत्ता को भी स्वीकार नहीं किया। जल में गन्ध का जो आभास होता है, वह पृथ्वी के संयोग के कारण संयुक्त समवाय सम्बन्ध से होता है।

स्पर्श

जिस गुण का केवल त्वचा से प्रत्यक्ष होता है, वह स्पर्श कहलाता है। स्पर्श तीन प्रकार का होता है और चार द्रव्यों में रहता है—शीत (जल में), उष्ण (तेज में) तथा अनुष्णताशीत (पृथ्वी और वायु में)। यह पृथ्वी, जल, तेज और वायु में रहता है। नव्य नैयायिक कठिन और सुकुमार को भी स्पर्श का भेद मानते हैं, जबकि प्राचीन नैयायिक उनको संयोग के अन्तर्गत समाविष्ट करते हैं।

संख्या

एक दो आदि व्यवहार के कारण को संख्या कहा जाता है। दूसरे शब्दों में संख्या वह सामान्य गुण है, जो एकत्व आदि व्यवहार का निमित्त होता है। वह नौ द्रव्यों में रहती है और एक से लेकर परार्ध पर्यन्त होती है। संख्या दो प्रकार की होती है—एक द्रव्य में रहने वाली और अनेक द्रव्यों में रहने वाली-द्वित्व त्रित्व आदि। एकत्व भी दो प्रकार का होता है—(क) नित्य जो पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु तथा आकाश, काल, दिक् आत्मा और मन इन नित्य पदार्थों में रहता है और (ख) अनित्य, जो अपने आश्रय घट-पट आदि के समवायी कारण तन्तु आदि अनित्य पदार्थों में रहता है। इन पदार्थों के नाश से तद्‌गत एकत्व भी नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार पट का रूप अपने समवायी कारणों के रूप से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार पट का एकत्व भी अपने समवायी कारणों के एकत्व से उत्पन्न होता है। द्वित्वादि नामक संख्या तो सभी द्रव्यों में अनित्य होती है।

द्वित्व संख्या की उत्पत्ति दो द्रव्यों में जैसे 'यह एक घट है' 'यह भी एक घट है' इस अपेक्षाबुद्धि से होती है। द्वित्व दो द्रव्यों का गुण है, अतः दो द्रव्य द्वित्व के समवायिकारण होते हैं और दोनों द्रव्यों के दोनों एकत्व असमवायिकारण होते हैं एकत्व की अपेक्षाबुद्धि निमित्त कारण होती है। अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्व का भी नाश हो जाता है।

साधारणतया तो संख्या एक प्रतीतिमात्र है, किन्तु न्यायवैशेषिक की दृष्टि से रूप आदि के समान संख्या भी एक गुण है। संक्षेपतः द्वित्व आदि की उत्पत्ति (द्वित्वोदय प्रक्रिया) वैशेषिकों के अनुसार इस प्रकार है—

प्रथम क्षण में	—	इन्द्रिय का घटद्वय से सम्बन्ध।
द्वितीय क्षण में	—	एकत्वसामान्य का ज्ञान।
तृतीय क्षण में	—	एक यह, एक यह, इस प्रकार की अपेक्षाबुद्धि का उत्पन्न होना।
चतुर्थ क्षण में	—	द्वित्व संख्या की उत्पत्ति।
पंचम क्षण में	—	द्वित्वत्व सामान्य (जाति) का ज्ञान।
षष्ठ क्षण में	—	द्वित्व संख्या का ज्ञान।
सप्तम क्षण में	—	द्वित्व हंख्या विशिष्ट दो घट व्यक्ति का ज्ञान।
अष्टम क्षण में	—	द्वित्व ज्ञान से आत्म संस्कार।[67]

मीमांसकों का यह कथन है कि अपेक्षाबुद्धि द्वित्व की उत्पादिका नहीं बल्कि व्यंजिका है। जबकि वैशेषिक उसे उत्पादिका मात्र मानते हैं। नैयायिकों के अनुसार अपेक्षाबुद्धि द्वित्व की उत्पादिका भी हो सकती है। इसका आशय यह हुआ कि उनके मतानुसार वह व्यंजिका भी है। वैशेषिक नैयायिकों के ऐसे कथन का विरोध करते हुये अपेक्षा बुद्धि के उत्पादिका मात्र होने में निम्नलिखित अनुमान का सहारा लेते हैं—

साध्य— द्वित्व आदि संख्या अपेक्षाबुद्धि का व्यंग्य नहीं।
हेतु— द्वित्व आदि संख्याओं के अनेकाश्रित होने के कारण (व्याप्ति जो जो अनेकाश्रित हैं वे अपेक्षाबुद्धि के व्यंग्य नहीं होते)।
दृष्टान्त— पृथकत्व आदि गुण।

द्वित्वादिकी गिवृत्ति के क्रम का भी वैशेषिक में निम्नलिखित रूप से निरूपण किया गया है—

विषयों के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष से लेकर संस्कार तक जो आठ क्षण दिखाये गये हैं, उनमें से तीसरे क्षण में अपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होती है। वह अपने से उत्तरवर्ती चतुर्थक्षण में द्वित्व का उत्पादन करती है और द्वितीय क्षण में उत्पन्न एकत्वजाति के ज्ञान का नाश भी करती है। इसी प्रकार पंचम क्षण में उत्पन्न होने वाला जो द्वित्वत्वज्ञान है, वह अपने से उत्तरवर्ती षष्ठ क्षण में द्वित्व संख्या ज्ञान को उत्पन्न करता है और ठीक उसी समय तृतीय क्षण में उत्पन्न होने वाली अपेक्षाबुद्धि का नाश भी करता है। सप्तम क्षण में 'ये दो द्रव्य हैं'—ऐसा ज्ञान होता है उसी के साथ चतुर्थ क्षण में उत्पन्न द्वित्व-संख्या का भी विनाश हो जाता है। (क्योंकि द्वित्व संख्या के कारणस्वरूप अपेक्षा बुद्धि का विनाश इसके पूर्व ही हो चुका रहता है) द्रव्य का ज्ञान हो जाने (सप्तम क्षण) के बाद जब अष्टम क्षण में संस्कार की उत्पत्ति होती है, ठीक उसी समय द्वित्व संख्या के ज्ञान का भी विनाश हो जाता है। इसके बाद (अष्टम क्षण में उत्पन्न) संस्कार के बाद (नवें क्षण में) दो द्रव्यों का ज्ञान भी नष्ट हो जाता है।[68]

परिमाण

मान के व्यवहार अर्थात् दो सेर आदि नापने और तौलने के असाधारण कारण को परिमाण कहा जाता है। परिमाण नौ द्रव्यों में रहता है और अणु, महत्, दीर्घ और ह्रस्व भेद से चार प्रकार का होता है। परिमाण का नित्य और अनित्य के रूप में भी वर्गीकरण किया जाता है। नित्य द्रव्यों में रहनेवाला परिमाण नित्य और कार्यद्रव्यों यानी अनित्यद्रव्यों में रहनेवाला परिमाण अनित्य

होता है। कार्यगत परिमाण के तीन उपभेद हैं—(1) संख्यायोनि, (2) परिमाणयोनि तथा (3) प्रचययोनि।

(1) **संख्यायोनि**—जो परिमाण संख्या से उत्पन्न हो वह संख्यायोनि कहलाता है। जैसे कि द्वियणुक का परिमाण संख्यायोनि है, क्योंकि वह ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होने वाली परमाणुओं की द्वित्व संख्या से उत्पन्न होता है।

(2) **परिमाणयोनि**—किसी परिमाण से उत्पन्न होने वाला अन्य परिमाण परिमाणयोनि कहलाता है। जैसे चतुरणुक आदि का महत् परिमाण अपने आशय चतुरणुक के समवायिकारण त्र्यणुक आदि के महत् परिमाण से उत्पन्न होता है।

परमाणुओं का अणु परिमाण (परम अणु) और आकाश आदि विभु द्रव्यों का महत् परिमाण (परम महत्) नित्य होता है। न उसकी उत्पत्ति होती है और न विनाश।

द्वयणुक के अणुपरिमाण और त्र्यणुक के महत् परिमाण को क्रमशः परमाणु और द्वयणुक के परिमाण से उत्पन्न न मानकर संख्या से उत्पन्न मानने का यह कारण है कि जो परिमाण किसी अन्य परिमाण का कारण होता है, वह अपने सजातीय और अपने से उत्कृष्ट परिमाण को उत्पन्न करता है।

(3) **प्रचययोनि**—प्रचय अर्थात् अवयवों के शिथिल संयोग से उत्पन्न होने वाले परिमाण को प्रचययोनि कहते हैं। जैसे कि धुनी हुई रुई का महत् परिमाण अपनी आश्रयभूत धुनी हुई रुई के अवयवों के शिथिल संयोग से उत्पन्न होता है।

पृथक्त्व

पृथक्ता के व्यवहार के असाधारण कारण को पृथक्त्व कहा जाता है। यह दो प्रकार का होता है—जहाँ एक वस्तु में अन्य वस्तु से पृथक्ता प्रतीत होती है। वहाँ एक पृथक्त्व और जहाँ दो वस्तुओं में अन्य वस्तु या वस्तुओं से पृथक्ता प्रतीत होती है (जैसे घट और पट पुस्तक से पृथक् है) वहाँ द्विपृथकत्व आदि। एक पृथक्त्व नित्य द्रव्य में रहता हुआ नित्य होता है और अनित्य द्रव्य में रहता हुआ अनित्य। द्विपृथक्त्व आदि सर्वत्र अनित्य ही होता है, क्योंकि उसका आधार द्वित्व आदि संख्या है, जिसको अनित्य माना जाता है।

'यह घट उस घट से पृथक् है'—इस प्रकार का व्यवहार द्रव्यों के संबन्ध में प्रायः देखा जाता है। इस प्रकार की प्रतीति का निमित्त एक गुण माना जाता

है, वही पृथक्त्व है। अन्योन्याभाव के आधार पर यह प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि अन्योनाभाव तो 'घट पट नहीं है' आदि ऐसे उदाहरणों पर चरितार्थ होता है; जिनमें तादात्म्य का अभाव है। इस प्रकार पृथक्त्व की प्रतीति भावात्मक है जबकि अन्योन्याभाव की प्रतीति अभावात्मक होती है।

संयोग

जब दो द्रव्य इस प्रकार समीपस्थ होते हैं कि उनके बीच कोई व्यवधान न हो तो उनके मेल को संयोग कहते हैं। इस प्रकार संयोग एक सामान्य गुण है, जो दो द्रव्यों पर आश्रित रहता है। संयोग अव्याप्यवृत्ति होता है। उदाहरणतया पुस्तक और मेज का संयोग दो द्रव्यों से सम्बद्ध होता है, किन्तु यह संयोग दोनों द्रव्यों को पूर्ण रूप से नहीं घेरता, केवल उनके एक देश में रहता है। मेज के साथ पुस्तक के एक पार्श्व का और पुस्तक के साथ मेज के एक भाग का ही संयोग होता है। संयोग को केवल व्यवधानाभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि व्यवधानाभाव तो कुछ दूर पर स्थित द्रव्यों में भी हो सकता है। किन्तु संयोग में तो व्यवधानाभाव के साथ ही मेल होना भी आवश्यक है। संयोग तीन प्रकार का होता है—

(क) **अन्यतरकर्मज**—जैसे क्रियावान् श्येन के साथ क्रिया रहित स्थाणु का संयोग। यह संयुक्त होने वाले द्रव्यों में से किसी एक कर्म से उत्पन्न होता है। श्येन का कर्म असमवायिकारण होता है। यह कर्म समवाय सम्बन्ध से श्येन में और अभिमुख्य सम्बन्ध से स्थाणु में रहकर श्येन और स्थाणु के संयोग का कारण बनता है।

(ख) **उभयकर्मज**—दोनों द्रव्यों के कर्म से होने वाला संयोग, जैसे दो सक्रिय पहलवानों का संयोग।

(ग) **संयोगज-संयोग**—कारण और अकारण के परस्पर संयोग से उत्पन्न होने वाला कार्य और अकार्य का परस्पर संयोग संयोगजसंयोग कहलाला है। जैसे हाथ (कारण) और वृक्ष (अकारण) के संयोग से शरीर (कार्य) और वृक्ष (अकार्य) का संयोग।

संयोगनाश के दो कारण होते हैं आश्रय का नाश और विभाग।

संयोग का यह वर्गीकरण वैशेषिक की दृष्टि से है। नैयायिकों के मतानुसार तो संयोग के दो भेद होते हैं—जन्य और अजन्य। जन्य संयोग के तीन उपभेद होते हैं—(1) अन्यतरकर्मज (2) उभयकर्मज और (3) संयोगज। अजन्य

संयोग विभु द्रव्यों में होता है और उसका कोई अवान्तर भेद नहीं होता। वैशेषिक दर्शन आकाश, काल आदि विभु द्रव्यों के नित्य संयोग के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। विभु द्रव्यों में विप्रकर्ष भी नहीं है और विभुत्व के कारण उनमें संयोग मानना भी व्यर्थ है। आशय यह है कि वैशेषिक मत में नित्य एवं विभु द्रव्यों का परस्पर संयोग नहीं होता। फलस्वरूप आकाश का आत्मा के साथ अथवा दो आत्माओं का परस्पर संयोग नहीं होता।

विभाग

परस्पर मिले हुए पदार्थों के अलग-अलग हो जाने से संयोग का जो नाश होता है, उसको विभाग कहते हैं। वह सभी द्रव्यों में रहता है। केशव मिश्र के अनुसार 'यह द्रव्य से विभक्त है'—इस प्रकार के अलगाव की प्रतीति का असाधारण कारण विभाग कहलाता है। वह संयोगपूर्वक होता है और दो द्रव्यों में होता है। विभाग तीन प्रकार का माना गया है—

(क) अन्यतरकर्मज—जिन दो द्रव्यों का अलगाव होता है, उनमें से किसी एक के कर्म से उत्पन्न होने वाला विभाग अन्यतरकर्मज कहलाता है। जैसे पर्वत पर बैठा हुआ बाज उड़ जाता है तो एक (बाज) की क्रिया से ही पर्वत और बाज दोनों का विभाग हो जाता है।

(ख) उभयकर्मज—अपने आश्रयभूत दोनों द्रव्यों के कर्म से उत्पन्न होने वाला विभाग उभयकर्मज कहलाता है। जैसे अखाड़े में पैंतरा बदलने के लिए मल्लों के पीछे हटने के कर्म से उत्पन्न जो विभाग है, वह उभयकर्मज है।

(ग) विभागज—हाथ और वृक्ष के परस्पर विभाग से शरीर और वृक्ष का जो परस्पर विभाग होता है, वह विभागज विभाग कहलाता है।

विभागज—विभाग वैशेषिक के महत्त्वपूर्ण विषयों में से एक है। यह दो प्रकार का माना गया है—

(क) कारणमात्र विभागजन्य विभाग और,
(ख) कारण-अकारण-विभागजन्य विभाग।

कारणमात्र के विभाग से उत्पन्न विभाग की प्रक्रिया

प्रथम क्षण—पट में स्थित तन्तु में कर्म की उत्पत्ति।
द्वितीय क्षण—कर्म से उस तन्तु का अन्य तन्तु से विभाग,
तृतीय क्षण—पटोत्पादक तन्तु संयोग का नाश,
चतुर्थ क्षण—पट का नाश,

पंचम क्षण—सक्रिय तन्तु का विभाग उस आकाश भाग से जो पट का नाश होने से पूर्व पट से संयुक्त था।

यह विभाग पट के कारण तन्तु और अकारण आकाश भाग के बीच होता है और इसकी उत्पत्ति सक्रिय तन्तु और निष्क्रिय तन्तु के परस्पर विभाग से होती है। अतः सक्रिय तन्तु का पटसंयुक्त आकाशभाग के साथ जो विभाग होता है, वह कारणमात्र के विभाग से उत्पन्न विभाग है।[69]

अथवा

1. एक घट के दो कपालों में से एक कपाल में क्रिया,
2. कपालों में विभाग,
3. कपालों के विभाग से कपालों के संयोग का नाश,
4. घटनाश,
5. कपालद्वय के विभाग से कपाल का उस आकाश-प्रतेश से भी विभाग जिसके साथ घटनाश से पूर्व उसका संयोग था।

कारण-अकारण विभागजन्य-विभाग की प्रक्रिया

कारण और अकारण के विभाग से कार्य और अकार्य के विभाग को कारणाकारण के विभाग से जन्य विभाग कहा जाता है।

वृक्ष से संयुक्त हाथ को हटा लेने पर वृक्ष तथा हाथ के विभाग से वृक्ष तथा शरीर का विभाग हो जाता है। हाथ शरीर का कारण है जबकि वृक्ष अकारण है। इस प्रकार कारण (हाथ) और अकारण (वृक्ष) के विभाग से शरीर (कार्य) और वृक्ष (अकार्य) का भी विभाग हो जाता है। विभागज विभाग से संयोगज संयोग का नाश होता है।

परत्व और अपरत्व

'यह पर है, यह अपर है'—इस प्रकार के व्यवहार का असाधारण कारण परत्व एवं अपरत्व है। वे दो प्रकार के हैं—दिक्कृत और (ख) कालकृत।

(क) दिक्कृत परत्व-अपरत्व

एक ही दशा में स्थित दो द्रव्यों में 'यह द्रव्य इस द्रव्य के समीप है'—इस प्रकार के ज्ञान के सहयोग से दिशा और वस्तु के संयोग द्वारा समीपस्थ वस्तु में अपरत्व उत्पन्न होता है। अपरत्व की उत्पत्ति का साधन सन्निकर्ष है।

इसी प्रकार 'यह द्रव्य इस द्रव्य से दूर है'—ऐसी बुद्धि के सहयोग से दिग्-द्रव्य के संयोग से विप्रकृष्ट द्रव्य में परत्व उत्पन्न होता है। परत्व की उत्पत्ति का साधन विप्रकर्ष है।

(ख) कालकृत परत्व और अपरत्व

वर्तमान काल को आधार मानकर दो वस्तुओं का व्यक्तियों में एक अनियत दिशा में स्थित युवक तथा वृद्ध शरीरों में 'यह (युवक शरीर) इस (वृद्ध शरीर) कीअपेक्षा अल्पतर काल से सम्बद्ध' हो-इस अपेक्षाबुद्धिरूप निमित्तकारणके सहयोग से कालशरीर रूप असमवायिकारण से युवा मनुष्य के शरीररूप आश्रय में अपरत्व उत्पन्न होता है तथा 'यह (वृद्ध शरीर) इस (युवक शरीर) की अपेक्षा अधिक काल से सम्बन्ध रखता है' इस प्रतीति से वृद्ध शरीर में परत्व उत्पन्न होता है।

यह ज्ञातव्य है कि दिक्कृत परत्वापरत्व एक दिशा में स्थिति दो द्रव्यों में ही उत्पन्न हुआ करते हैं, भिन्न-भिन्न दिशाओं में स्थित द्रव्यों में नहीं, किन्तु कालकृत परत्वापरत्व के लिए पिण्डों का एक ही दशा में स्थित होना आवश्यक नहीं है।

गुरुतत्त्व

गुरुत्व उस धर्मविशेष (गुण) को कहते हैं, जिसके कारण किसी द्रव्य का प्रथम पतन होता है। किसी वस्तु की ऊपर से नीचे की ओर जाने की क्रिया का नाम पतन है। पतन क्रिया जिस वस्तु में होती है, वह वस्तु पतन का समवायिकारण होती है और स्वयं उस वस्तु का जो अपना भारीपन है वह उस का असमवायिकारण होता है। गुरुत्व के कारण वस्तु का पतन तभी होता जब वस्तु में संयोग, वेग या प्रयत्न का अभाव हो जाता है। अतः पतन का समवायि-कारण कोई न कोई द्रव्य होता है, असमवायिकारण गुरुत्व होता है और निमित्त कारण होता है संयोग आदि का अभाव। इस गुण का आश्रय पृथिवी और जल हैं। परमाणु का गुरुत्व नित्य होता है। परमाणु से भिन्न पृथिवी और जल का गुरुत्व अनित्य होता है, पहली पतन क्रिया से वस्तु में जो वेग उत्पन्न होता है, वह बाद की पतनक्रिया का असमवायिकारण है। वृन्त से टूट कर भूमि पर पहुँचने तक फल में अनेक क्रियाएँ होती हैं। उनमें पहली पतन क्रिया का असम-बायिकारण फल का गुरुत्व होता है और बाद की पतनक्रियाओं का असमवा-यिकारण पहली पतन क्रिया से उत्पन्न फलगत वेग होता है।

द्रवत्व

किसी तरल वस्तु के चूने, टपकचूने, या एक स्थान से दूसरे स्थान तक बहकर पहुँचने में अनेक स्पन्दनक्रियाएँ होती हैं। उनमें से प्रथम स्पन्दन का असमवायि-

कारण द्रवत्व (तरलता) कहलाता है, जो कि भूमि, तेज और जल में रहता है। घृत आदि पार्थिव द्रवत्व तथा सुवर्ण आदि में जो द्रवत्व है, वह नैमित्तिक (अग्निसंयोग जन्य) होता है, जबकि जल में जो द्रवत्व है वह स्वाभाविक है। पहली क्रिया के बाद की जो स्पन्दन क्रियाएँ होती हैं, उनका असमवायिकारण वेग होता है।

स्नेह—'चिकनापन' नामक जो गुण है, वह स्नेह कहलाता है। वह केवल जल में रहता है। स्नेह ऐसा गुण है, जिसके कारण पृथक्-पृथक् रूप से विद्यमान कण या अंश पिण्ड रूप में परिणत हो जाते हैं। स्नेह दो प्रकार का होता है—नित्य और अनित्य। जल के परमाणुओं में नित्य होता है और कार्यरूप जल में अनित्य। अनित्य स्नेह कारणगुणपूर्वक होता है और तभी तक रहता है, जब तक उसका आश्रय द्रव्य द्वयणुक आदि रहता है।

शब्द (गुण)

शब्द वह गुण है जिसका ग्रहण श्रोत के द्वारा किया जाता है। शब्द का आश्रय द्रव्य आकाश है। अत: यह आकाश का विशेष गुण भी कहा जाता है। शब्द दो प्रकार का होता है—ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। भेरी आदि से उत्पन्न शब्द ध्वन्यात्मक और कण्ठ से उत्पन्न शब्द वर्णात्मक कहलाता है। भेरी आदि देश में उत्पन्न शब्द और श्रोत तक कैसे पहुँचता है इस सम्बन्ध में नैयायिकों ने मुख्यत: जिन दो न्यायों का उल्लेख किया है, वे हैं—(क) वीचितरंग न्याय और (ख) कदम्बमुकुल न्याय।

वीचितरंगन्याय—जैसे पानी में पत्थर फेंकने पर पत्थर के सभी ओर गोलाकार लहर उठती है, उस लहर से दूसरी, दूसरी से तीसरी और इस प्रकार आगे आगे लहरें उठती रहती हैं, उसी प्रकार भेरी और दण्ड संयोग से अथवा बांस के फाड़ने से जो शब्द उत्पन्न होता है, उसमें सभी ओर वृत्ताकार रूप में दूसरा शब्द, दूसरे से तीसरा शब्द उत्पन्न होता है। जब ये शब्द-तरंगें श्रोत्र प्रदेश तक पहुँचती हैं, तब श्रोत्रदेश में स्थित शब्द को श्रोता ग्रहण कर लेता है। शब्द की उत्पत्ति की प्रक्रिया में वीचितरंग को उपमान मानने के कारण इस को वीचितरंगन्याय कहा जाता है।

कदम्बमुकुलन्याय—जैसे उर्वर भूमि में बोये गये कदम्ब के बीजकोश के सभी ओर अनेक पंखुड़ियाँ वृत्ताकार में विकसित होती हैं, और सभी ओर से पंखुड़ियों के आगे के भागों से उनमें भी आगे पंखुड़ियों का विकास होता रहता है,

उसी प्रकार एक शब्द से सभी ओर शब्दों की पंक्ति उत्पन्न होती है, इस प्रकार से उत्पन्न शब्दपंक्ति श्रोत द्वारा सुनी जाती है। प्रत्येक शब्द कदम्बमुकुल के समान सभी दिशाओं में शब्दज शब्दों को जन्म देता है, अतः इस न्याय को कदम्बमुकुलन्याय कहा जाता है।[69]

न्याय-वैशेषिक के अनुसार शब्द अनित्य है, जबकि वैयाकरण और मीमांसक और सांख्य उसको नित्य मानते हैं। मीमांसकों के मतानुसार उच्चारण के लिए किये जाने वाले यत्न से शब्दों की व्यंजना होती है, न कि उत्पत्ति। वैयाकरणों और नैयायिकों में वर्णात्मक शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ साम्य है। वैयाकरणों के अनुसार विवक्षा उत्पन्न होने पर आत्मा बुद्धि के साथ पदार्थों का अवधारण कर मन को प्रेरित करता है, मन शरीराग्नि को—शरीराग्नि वायु को और हृदय में विचरणशील यह वायु गतियुक्त होकर मन्द्र स्वर को उत्पन्न करता है, जो कि विभिन्न उच्चारण स्थानों में पहुँचकर अवर्ण आदि विभिन्न वर्णों के रूप में उत्पन्न होता है।[70]

नैयायिकों का भी यह मत है कि वर्णस्मृति विशिष्ट आत्मा और मन के संयोग से जब वर्णोच्चारण की इच्छा जागृत होती है तब कोष्ठस्थ वायु और आत्मा का संयोग होता है जिससे कि वायु ऊपर को उठता हुआ कण्ठ तालु आदि स्थानों पर अभिघात करता है। फलस्वरूप कण्ठ में वायु के अभिघातरूप निमित्त से कण्ठ और आकाश में संयोग उत्पन्न होता है। संयोग रूप असमवायिकारण से अकार, कवर्ग, हकार और विसर्जनीय वर्णों की उत्पत्ति होती है।[71] अन्य स्थानों से भी वायु का अभिघात होने से अन्य वर्णों की उत्पत्ति होती है। वक्ता के मुख से उच्चरित शब्द नहीं, अपितु उस शब्द से उत्पन्न अन्य शब्द श्रोता की श्रवणेन्द्रिय तक जाते हैं।

नैयायिक शब्द को अनित्य मानते हैं, अतः उनके मतानुसार प्रथम शब्द का नाश कार्य शब्द से और उसके बाद के शब्द का कभी कार्य शब्द से और कभी कारण शब्द से होता है।[72] इस प्रकार संयोगज, विभागज और शब्दज रूप से उपर्युक्त दोनों प्रकार के शब्दों के पुनः तीन-तीन भेद होते हैं।

बुद्धि

गुणों में बुद्धि का भी परिगणन किया गया है। बुद्धि आत्मा का गुण है क्योंकि आत्मा को ही मन तथा बाह्येन्द्रियों के द्वारा अर्थ का प्रकाश यानी ज्ञान होता है। अक्षपाद ने बुद्धि का एक स्वतन्त्र प्रमेय के रूप में उल्लेख किया है। इसका विस्तृत विश्लेषण इसी अध्याय में आगे किया गया है।

सुख

जिसको सभी प्राणी चाहें या जो सब लोगों को अनुकूल लगे, वह सुख कहलाता है। सुख न्याय-वैशेषिक के अनुसार आत्मा का एक विशेष गुण है। कतिपय आचार्यों के मत में "मैं सुखी हूँ"—इस प्रकार के अनुव्यवसाय में जिस ज्ञान की प्रतीति होती है, वह सुख कहलाता है।[73] आत्मा के उस गुण को भी कतिपय आचार्यों ने सुख कहा है, जिसका असाधारण कारण धर्म है।[74]

प्रशस्तपाद भाष्य में कारणभेद से चार प्रकार के सुखों का उल्लेख किया गया है—(1) सामान्यसुख, जो कि प्रिय वस्तुओं की उपलब्धि, अनुषंग आदि से प्राप्त होता है; (2) स्मृतिजसुख, जो कि भूतकाल के विषयों के स्मरण से होता है, (3) संकल्पज, जो अनागत विषयों के संकल्प से होता है और (4) विद्या शमसन्तोषादिजन्यसुख, जो कि पूर्वोक्त तीन प्रकार के कारणों से भिन्न विद्या आदि से जन्य एक विशिष्ट सुख होता है।[75]

सुख का वर्गीकरण (क) स्वकीय और (ख) परकीय भेद से भी किया जा सकता है। अपने सुख का तो अनुभव होता है, किन्तु परकीय सुख तो अनुमान द्वारा होता है। एक अन्य प्रकार का वर्गीकरण (क) लौकिक और (ख) पारलौकिक रूप से भी हो सकता है। लौकिक सुख के भी निम्नलिखित भेद माने जा सकते हैं—(1) वैषयिक, जो सांसारिक वस्तुओं के भोग से मिलता है; (2) मानसिक, जो कि इच्छित विषयों के अनुसरण से प्राप्त होता है; (3) आभ्यासिक, जो किसी क्रिया के लगातार करते रहने से प्राप्त है; और (४) आभिमानिक, जो वैदुष्य आदि धर्मों के आरोप की अनुभूति से प्राप्त होता है।

दुःख

गुणों की दुःख की भी गणना की गई है। दुःख साधारणतः पीड़ा को कहते हैं, जिसको सामान्यतः कोई भी नहीं चाहता। न्यायसूत्र में दुःख की गणना बारह प्रमेयों में की गई है। इसका विश्लेषण इसी अध्याय में आगे भी किया गया है।

इच्छा

केशव मिश्र ने राग को और अन्नंभट्ट ने काम को इच्छा कहा है। इच्छा का विस्तृत निरूपण प्रशस्तपाद भाष्य में उपलब्ध होता है। सामान्यतः अप्राप्त को प्राप्त करने की अभिलाषा इच्छा कहलाती है, प्राप्ति की अभिलाषा अपने लिये हो चाहे दूसरे के लिए। यह आत्मा का गुण है। इसकी उत्पत्ति स्मृतिसापेक्ष या

सुखादि सापेक्ष आत्ममनः संयोग रूपी असमवायिकारण से आत्मारूप समवायि-कारण में होती है। इसके दो प्रकार हैं : सोपाधिक तथा निरुपाधिक। सुख के प्रति जो इच्छा होती है, वह निरुपाधिक होती है और सुख के साधनों के प्रति जो इच्छा होती है, वह सोपाधिक होती है। इन दोनों प्रकारों की इच्छा के प्रमुख उपभेद हैं—(क) काम (मैथुन की इच्छा) (ख) अभिलाषा (अभ्यवहार यानी भोजन की इच्छा), (ग) राग (विषयों के प्रति पुनः पुनः आसक्ति) (घ) संकल्प (भविष्य में किये जाने वाले काम को करने की दृढ़ इच्छा) (ङ) कारुण्य (निःस्वार्थ होकर दूसरे के दुःखों को दूर करने की इच्छा) (च) वैराग्य (विषय आदि में दोष दर्शन से उनके त्याग की इच्छा) (छ) उपधा (दूसरों को ठगने की इच्छा), (ज) भाव (अन्तःकरण में गुप्त इच्छा)। इसी प्रकार स्पृहा (दूसरों के धन को प्राप्त करने की इच्छा), लोभ (दूसरों के धन को अन्यायपूर्वक भी प्राप्त करने की इच्छा) अत्यन्त तृष्णा (आवश्यक होने पर भी अपने धन को न छोड़ने की इच्छा) भी इच्छा के ही भेद हैं। चिकीर्षा (कार्य करने की इच्छा) जिहीर्षा (त्याग करने की इच्छा) आदि क्रिया भेद से भी इच्छा के अनेक रूप हो सकते हैं।

इच्छा प्रयत्न, स्मरण, धर्म, अधर्म आदि का कारण होती है।

द्वेष

केशव मिश्र और अन्नं भट्ट के अनुसार क्रोध का ही दूसरा नाम द्वेष है। प्रशस्तपाद के अनुसार द्वेष वह गुण है, जिसके उत्पन्न होने पर प्राणी अपने को प्रज्ज्वलित-सा अनुभव करता है। यह दुःखसापेक्ष अथवा स्मृति सापेक्ष आत्ममनः संयोग से उत्पन्न होता है, और प्रयत्न, स्मृति, धर्म और अधर्म का कारण है। द्रोह के भी कई भेद होते हैं, जैसे कि (क) द्रोह (उपकारी के प्रति भी अपकार कर बैठना), (ख) मन्यु (अपकारी व्यक्ति के प्रति अपकार करने में असमर्थ रहने पर अन्दर ही अन्दर उत्पन्न होने वाला द्वेष) (ग) अक्षमा (दूसरे के गुणों को न सह सकना अर्थात् असहिष्णुता) (घ) अमर्ष (अपने गुणों के तिरस्कार की आशंका से दूसरे में गुणों के प्रति विद्वेष), (ङ) अभ्यसूया (अपकार को सहन करने में असमर्थ व्यक्ति के मन में चिरकाल तक रहने वाला द्वेष)। ये सभी द्वेष पुनः स्वकीय और परकीय प्रकार से हो सकते हैं। स्वकीय द्वेष का ज्ञान मानस प्रत्यक्ष से और परकीय द्वेष का अनुमान आदि से होता है।

प्रयत्न

केशव मिश्र ने 'उत्साह को और अन्नं भट्ट ने 'कृति' को प्रयत्न कहा है। प्रशस्त-पाद के अनुसार प्रयत्न, संरम्भ और उत्साह पर्यायवाची शब्द हैं। प्रयत्न दो प्रकार

का होता है—(1) जीवन पूर्वक और (2) इच्छा द्वेष पूर्वक। सुप्तावस्था में वर्तमान प्राणी के प्राण तथा अपान वायु के श्वास-प्रश्वास रूप व्यापार को चलाने वाला और जाग्रदवस्था में अन्तःकरण को बाह्य इन्द्रियों से संयुक्त करने वाला प्रयत्न जीवनयोनि प्रयत्न कहलाता है। इसमें धर्म तथा अधर्म रूप निमित्त कारण की अपेक्षा करनेवाला आत्मा तथा मन का संयोग असमवायिकारण है। हित की प्राप्ति और अहित की निवृत्ति करानेवाली शरीर की क्रियाओं का हेतु इच्छा या द्वेषमूलक प्रयत्न कहलाता है। इसमें इच्छा अथवा द्वेष रूप निमित्त कारण की, अपेक्षा करनेवाला आत्मा तथा मन का संयोग असमवायिकारण है।

धर्म और अधर्म

अन्नं भट्ट ने विहित कर्मों से जन्य अदृष्ट को धर्म और निषिद्ध कर्मों से उत्पन्न अदृष्ट को अधर्म कहा है। केशवमिश्र के अनुसार सुख तथा दुःख के असाधारण कारण क्रमशः धर्म और अधर्म कहलाते हैं। इनका ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं, अपितु आगम या अनुमान से होता है। अनुमान का रूप इस प्रकार होगा—

देवदत्त के शरीर आदि देवदत्त के विशेष गुणों से उत्पन्न होते हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि ये कार्य होते हुये देवदत्त के भोग के हेतु हैं (हेतु) जैसे देवदत्त के प्रयत्न से उत्पन्न होनेवाली वस्तु वस्त्र आदि (उदाहरण) इस प्रकार शरीर आदि का निमित्त होनेवाले विशेष गुण ही धर्म तथा अधर्म है।

संस्कार

वरदराज के मतानुसार जिस गुण से वह कारण उत्पन्न होता है, जो कि उसी जाति का हो जिस जाति का कार्य है, (यद्यपि वह विजातीय होता है) तो वह संस्कार कहलाता है।[76] अर्थात् जब भी कोई गुण या कर्म बाह्य सहायता के बिना आन्तरिक शक्ति से ही उसी प्रकार का कार्य उत्पन्न कर दे तो वह संस्कार होता है। केशव मिश्र के अनुसार संस्कार सम्बन्धी व्यवहार का असाधारण कारण संस्कार कहलाता है।[77] संस्कार तीन प्रकार का होता है—वेग, भावना और स्थितिस्थापक। संस्कार के इन तीन भेदों में वैसे तो भावना ही वस्तुतः संस्कार है शेष दो संस्कार नहीं हैं, किन्तु कतिपय विद्वानों का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है कि इन तीनों में बाह्य कारणों के बिना स्वयं ही कार्य करने की क्षमता समानरूप से है।

(1) **वेग**—यह पृथ्वी, जल, तेज वायु तथा मन में रहता है। यह दो प्रकार का होता है : कर्मजन्य और वेगजन्य। कतिपय आचार्य वेग का एक ही

भेद (कर्मजन्य) मानते हैं, क्योंकि उनके मतानुसार वेग से नहीं अपितु वेगयुक्त द्रव्य के संयोग से अन्य संयुक्त द्रव्य में कर्म उत्पन्न होता है। वेग मूर्त्त पदार्थों में ही रहता है।

(2) **भावना**—यह गुण अनुभव जन्य तथा स्मृति का कारण होता है और केवल आत्मा में रहता है।[78] प्राचीन नैयायिकों के अनुसार भावना की उत्पत्ति अनुभव से होती है, जबकि नव्य नैयायिकों का यह मत है कि संस्कार का कारण है ज्ञानसामान्य न कि अनुभव। भावना से स्मृति उत्पन्न होती है। स्मृति ही इस संस्कार की सत्ता का प्रमाण भी है। "सादृश्य, अदृष्ट, चिन्ता आदि स्मृति के जनक संस्कार के उद्‌बोधक सहकारी होते हैं। आशय यह है कि पूर्वानुभव से जिस वस्तु का संस्कार आत्मा में सुप्तवत् पड़ा रहता है, उस वस्तु के सदृश किसी अन्य वस्तु का जब दर्शन होता है तब इस सदृशदर्शनरूप सहकारी का सन्निधान प्राप्त होने से उक्त संस्कार के उस वस्तु की स्मृति होती है।[79] आत्मवर्ती अन्य गुणों की अपेक्षा भावना नामक संस्कार अधिक स्थिर माना जाता है। भावना से स्मृति की उत्पत्ति होती है जबकि भावना और प्रत्यक्ष के मेल से प्रत्यभिज्ञा की।

(3) **स्थितिस्थापक**—स्थितिस्थापक वह गुण है, जो अन्यथा किये हुये पदार्थ को अपनी पूर्व अवस्था में ले आता है। यह गुण स्पर्श के आश्रयभूत द्रव्यों में रहता है। झुकाया हुआ धनुष पुनः उसी अवस्था में पहुँच जाता है। झुकाई हुई शाखा भी पुनः पहली स्थिति में पहुँच जाती है। यह देखकर कारण के रूप में उसमें विद्यमान स्थिति स्थापक गुण का अनुमान होता है।

(ग) कर्म का स्वरूप

कर्म का आशय है क्रिया या गति, जैसे चलना, फिरना आदि। कर्म मूर्त द्रव्य में ही रहता है। कणाद के अनुसार एक समय एक द्रव्य में रहता हो, गुण से भिन्न हो तथा संयोग एवं विभाग के प्रति साक्षात् कारण भी हो वह कर्म है।[80] प्रशस्तपाद ने कणाद के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुये कहा कि एक के चलने पर सब में चलने की उत्पत्ति नहीं होती और जिस स्थल में एक ही समय अनेकानेक की चलनक्रिया होती है, वहाँ भी कारण अनेक ही हैं, क्योंकि चलन-क्रियाओं के कार्य अभिघात तथा आधार में भेद है। कर्म के प्रमुख भेद पाँच हैं—उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमन।

ऊर्ध्व देश के साथ होनेवाले संयोग के प्रति कारणभूत क्रिया उत्क्षेपण और अधोदेश के साथ होनेवाले संयोग के प्रति कारणभूत क्रिया अपक्षेपण कहलाती

है। शरीर से सन्निकृष्ट संयोग का जनक कर्म आकुंचन तथा शरीर से विप्रकृष्ट संयोग का जनक कर्म है—प्रसारण। इनके अतिरिक्त अन्य सब कर्म गमन कहलाते हैं। भ्रमण, रेचन आदि अन्य भी असंख्य कर्म हैं, किन्तु उनका गमन में ही अन्तर्भाव हो जाता है। उत्क्षेपण आदि कर्म नियत दिग् देश संयोगानुकूल होते हैं, जबकि भ्रमण रेचन आदि अनियतदिग्देशसंयोगानुकूल होते हैं। इसके साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि उत्क्षेपण आदि इच्छा-सापेक्ष कर्म हैं जबकि रेचन आदि पर यह नियम लागू नहीं होता। उदाहरण के रूप में गेंद को मैदान में पटकने के बाद जो उछाल उसमें आता है, वह उत्क्षेपण नहीं कहला सकता। क्योंकि वह उत्प्लवन स्वतः होता है, किसी की इच्छा से नहीं।

(घ) सामान्य

केशव मिश्र के अनुसार अनुवृत्ति प्रत्यय के हेतु को सामान्य कहते हैं।[81] विश्वनाथ पंचानान के मत में जो नित्य हो और अनेक (एक से अधिक) वस्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहता हो, वह सामान्य कहलाता है।[82] अन्नं भट्ट का यही मत है किन्तु उन्होंने लक्षण में समवाय शब्द के स्थान पर अनुगत शब्द का प्रयोग किया है।[83] कणाद ने सामान्य और विशेष को बुद्धिसापेक्ष कहा है।[84] [सामान्य का विस्तार से विवेचन बारहवें अध्याय में किया गया है।]

(ङ) विशेष

घट आदि से लेकर द्वयणुक पर्यन्त प्रत्येक वस्तु का परस्पर भेद अपने-अपने अवयवों के भेद से माना जाता है, किन्तु अवयवों के आधार पर भेद करते-करते और स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाते जाते जब हम परमाणु तक पहुँचते हैं तो एक ऐसी भी स्थिति आ जाती है कि उसके भेद अवयव के आधार पर नहीं किये जा सकते क्योंकि परमाणु का अवयव होता ही नहीं है। ऐसी स्थिति में परमाणु आदि का पारस्परिक भेद बताने के लिये वैशेषिकों ने 'विशेष' नामक पदार्थ की कल्पना की है, और न्याय के उत्तरवर्ती ग्रन्थों में भी उसकी चर्चा की गई है। संक्षेप में 'विशेष' के लक्षण में जो दो बातें मुख्य हैं। एक तो यह कि विशेष वस्तुओं में पारस्परिक व्यावर्तन का अन्तिम तत्त्व या धर्म है। विशेष का कोई विशेष नहीं होता यानी यह स्वतोव्यावर्तक अर्थात् स्वयं को सबसे भिन्न करने वाला भी होता है इसीलिए इसको 'अन्त्य विशेष' कहा जाता है। दूसरी बात यह है कि विशेष केवल नित्य द्रव्यों अर्थात् पृथ्वी आदि चार प्रकार के अणुओं और आकाशादि चार विभु द्रव्यों में रहता है।[85]

'विशेष' के स्वरूप का सामान्य के संदर्भ में विस्तार से विवेचन बारहवें अध्याय में किया गया है।

(च) समवाय

जिन दो पदार्थों में कोई एक विनश्यत्ता की अवस्था को प्राप्त हुए बिना अपराश्रित ही रहता है, उनके बीच जो सम्बन्ध होता है, उसको समवाय कहते हैं। इन दो पदार्थों में से कोई एक पदार्थ (यथा पट) ही दूसरे (यथा तन्तु) पर आश्रित रहता है। दोनों का एक दूसरे पर आश्रित रहना आवश्यक नहीं है क्योंकि उदाहरणतया तन्तु तो बिना पट के भी रह सकता है।

प्राचीन नैयायिकों के अनुसार समवाय एक नित्य सम्बन्ध है, जबकि संयोग अनित्य सम्बन्ध है। अवयवों में अवयवी समवाय सम्बन्ध से रहता है। नव्यनैयायिक समवाय को नित्य नहीं मानते। वैसे प्राचीन नैयायिकी की दृष्टि में भी नित्यत्व का आशय यहाँ पर यह है कि कार्य को उत्पन्न किये बिना न इसे उत्पन्न किया जा सकता है और न कार्य को नष्ट किये बिना इसे नष्ट किया जा सकता है।

नैयायिकों के अनुसार समवाय गुण नहीं अपितु पदार्थ है और यह समवायियों में तादात्म्य सम्बन्ध से रहता है। प्राचीन नैयायिकों के मतानुसार समवाय का प्रत्यक्ष होता है किन्तु वैशेषिकों के अनुसार इसका अनुमान होता है। अन्नंभट्ट भी यहाँ पर वेशेषिक मत का ही अनुगमन करते हैं।[86]

मीमांसक और वेदान्ती समवाय सम्बन्ध को नहीं मानते। शंकराचार्य के अनुसार संयोग (गुण) द्रव्य में जिस सम्बन्ध से रहता है, वह समवाय है अतः समवाय पदार्थ नहीं हैं।[87] यदि तादात्म्य सम्बन्ध से द्रव्य में समवाय की अवस्थिति मानी जाये तो संयोग की ही द्रव्य में तादात्म्य सम्बन्ध से अवस्थिति क्यों न मानी जाए ?

जैसे कि पहले भी कहा गया, समवाय सम्बन्ध अयुतसिद्ध दो पदार्थों के बीच रहता है। अयुतसिद्ध का आशय है—जो न कभी संयुक्त सिद्ध किये जा सकें, और न विभाजित। ऐसे युग्मों के आधार पर अयुतसिद्ध सम्बन्ध पाँच प्रकार का माना गया है—(1) अवयव और अवयवी में, (2) गुण (रूप) और गुणी (घट) में, (3) क्रिया और क्रियावान में, (4) जाति (घटत्व) और व्यक्ति (घट) में तथा (5) विशेष और अधिकरण नित्य (आकाश, परमाणु आदि) द्रव्य में। अन्नं भट्ट ने समवाय केवल एक प्रकार का ही माना है।

समवाय सिद्धान्त के आधार पर ही न्याय-वैशेषिक दर्शनों को वस्तुवादी कहा जाता है। क्योंकि इसी पर कारणवाद और परमाणुवाद निर्भर करते हैं। बौद्धों के इस तर्क का कि अवयवी (वस्त्र) अवयवों (तन्तुओं) से भिन्न यानी परमाणु पुंज के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है, नैयायिक इस प्रकार खण्डन करते हैं कि परमाणु-पुंज का दर्शन नहीं होता, जबकि घट को देख कर यह प्रतीति होती है कि एक स्थूल घट है। अतः अवयव-अवयवी की पृथक् सत्ता अनुभव सिद्ध है।

(घ) अभाव

प्राचीन नैयायिकों और वैशेषिकों ने केवल भाव पदार्थों का उल्लेख किया था। किन्तु प्रकरणग्रन्थकारों ने न्याय-वैशेषिक परम्पराओं को संयुक्त रूप में आगे बढ़ाया है। उनके ग्रन्थों में अभाव का भी विश्लेषण किया गया है। वैसे पदार्थ के रूप में अभाव का प्रमुख रूप से प्रतिपादन शिवादित्य ने किया है।

कतिपय विद्वानों का यह कथन है कि कणाद ने **'कारणाभावात्कार्याभाव:'** और **'असतः क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम्'** जैसे सूत्रों में अभाव के पदार्थत्व को स्वीकार किया है।

वैसे अभाव का सामान्य अर्थ है—'निषेध—मुखप्रमाणगम्यत्व' अर्थात् 'न' शब्द से अभिलाप किये जानेवाले ज्ञान का विषय।[88]

माधवाचार्य के अनुसार अभाव उस पदार्थ को कहते हैं, जो समवाय सम्बन्ध से रहित होकर समवाय से भिन्न हो। ज्ञातव्य है कि द्रव्यों का समवाय सम्बन्ध अपने पर आश्रित गुणादि के साथ होता है। गुण और कर्म अपने आश्रय द्रव्य के साथ या अपने पर आश्रित सामान्य के साथ समवाय सम्बन्ध रखते हैं। अतः अभाव के लक्षण में 'असमवायत्वे सति' कहने से सभी पदार्थों की और 'असमवाय' कहने से स्वयं अभाव के समवायत्व की व्यावृत्ति हो जाती है।[89]

विश्वनाथ पंचानन ने अभाव के सर्वप्रथम दो भेद माने हैं—संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव, और संसर्गाभाव के तीन भेद किये हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव। अन्नंभट्ट ने अभाव के सीधे ही चार भेद बताये हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव। अन्नंभट्ट के अनुसार जिसका आदि न हो किन्तु अन्त हो वह प्रागभाव है, जैसे, उत्पत्ति से पूर्व घड़े का अभाव। प्रध्वंसाभाव आदि किन्तु अनन्त होता है, जैसे पत्थर पर पड़ने से घड़े का फूटना। ध्वंस के बाद भी यानी नष्ट होने के बाद भी जो कार्य उत्पन्न होता है, उसके सम्बन्ध में नैयायिकों का यह मत है कि वह तो नष्ट हुए कार्य से भिन्न कार्य

होता है। अत्यन्ताभाव अनादि तथा अनन्त होता है, जैसे वायु में रूप का अभाव है। इन तीनों अभाव में घट आदि के संसर्ग (संयोग, समवाय) का अभाव प्रकट होता है, इसलिये ये संसर्गाभाव कहलाते हैं। दो वस्तुओं में तादात्म्य का जो अभाव होता है, उसको अन्योन्याभाव कहते हैं, जैसे घट पट नहीं है। अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव दोनों ही त्रैकालिक यानी नित्य हैं किन्तु अत्यन्ताभाव संयोग-समवाय सम्बन्ध पर निर्भर है जबकि अन्योन्याभाव तादात्म्य-सम्बन्ध पर आधारित है। [अभाव के पदार्थत्व का विस्तृत विश्लेषण अध्याय चौदह में देखें।]

5. बुद्धि का स्वरूप

'बुद्धि' को न्यायशास्त्र में ज्ञान का पर्यायवाची माना गया है।[90] नैयायिकों ने बुद्धि को आत्मा का गुण बताया है। इसके पहले कि सांख्य आदि शास्त्रों में प्रतिपादित मतों का उल्लेख किया जाए, यह समीचीन होगा कि न्याय-वैशेषिक पद्धति से बुद्धि का विश्लेषण कर लिया जाए।

(क) न्याय वैशेषिक मत

सूत्रकार गौतम के अनुसार बुद्धि-उपलब्धि और ज्ञान पर्यायवाची शब्द हैं। जयन्त भट्ट का कथन है कि उपलब्धि और ज्ञान के केवल पर्यायवादी शब्द ही नहीं बल्कि ये बुद्धि के व्यवच्छेदक धर्म होने के कारण बुद्धि के लक्षण भी हैं। पर्यायों में भी लक्षणत्व रहता है।[91]

केशव मिश्र के अनुसार 'जो प्रकाश अर्थविषयक हो, वह बुद्धि है'[92] अन्नंभट्ट का मत है कि 'सर्वव्यवहार के आसाधारणकारणभूत गुण का नाम बुद्धि है और बुद्धि का ही दूसरा नाम ज्ञान है।[93] तर्कभाषा और तर्कसंग्रह में उल्लिखित उपर्युक्त लक्षणों को देखने पर आपाततः अन्नंभट्ट का कथन अधिक उपयुक्त लगता है, क्योंकि संसार में कोई भी व्यवहार तभी सम्भव है, जबकि व्यवहरणीय वस्तु का ज्ञान हो और किसी वस्तु का जब तक ज्ञान नहीं होता, तब तक उसके सम्बन्ध में व्यवहार का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु एक कठिनाई इस लक्षण में यह हो सकती है कि निर्विकल्पक ज्ञान में इस लक्षण को अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि उससे किसी प्रकार के व्यवहार का साक्षात् उदय नहीं होता।

शिवादित्य ने भी सप्तपदार्थी में आत्माश्रयप्रकाश को बुद्धि बताया है। जिनवर्धन (सप्तपदार्थी के टीकाकार) के अनुसार अज्ञान के अन्धकार को दूर कर अर्थों को प्रकाशित कराने वाला जो दीपतुल्य प्रकाश है, वही बुद्धि है। इस लक्षण में 'आत्माश्रय' पद का तात्पर्य आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला गुण है।

तर्कदीपिकाकार ने अनुव्यवसायगम्य ज्ञान को बुद्धि कहा है। इस प्रक्रिया में सर्वप्रथम इन्द्रिय के साथ विषय घट आदि का संयोग होता है। उसके बाद 'यह घट है' यह प्रत्यक्ष ज्ञान चेतन आत्मा के साथ विषय रूप से सम्बद्ध हो जाता है। फलस्वरूप 'मैं घटज्ञानवान् हूँ, 'ऐसी प्रतीति होती है इसी को अनु-व्यवसाय कहते हैं।' यह न्यायशास्त्र का मन्तव्य है।[94] सांख्य शास्त्र के अनुसार 'मैं घट को जानता हूँ,' यह अनुव्यवसाय है, जबकि वेदान्त के अनुसार 'यह घट है' इस ज्ञान को अनुव्यवसाय कहते हैं।

(ख) सांख्यमत

न्यायसूत्रकार के कथन के विपरीत सांख्यशास्त्रकारों का यह मत रहा है कि बुद्धि-उपलब्धि और ज्ञान विभिन्न तत्त्वों के वाचक हैं, वे पर्यायवाची नहीं हैं।

सांख्यशास्त्र में 'अन्त:करण' को 'बुद्धि', बुद्धि के अर्थाकार परिणाम को 'ज्ञान', और आत्मा में उस ज्ञान के प्रतिबिम्ब को 'उपलब्धि' कहा गया है। जयन्त भट्ट की न्यायमंजरी से यह विदित होता है कि सांख्य के इस भ्रम का अपनयन सूत्रकार गौतम ने इन शब्दों को पर्यायवाची मानकर किया।[95]

ईश्वर कृष्ण ने अध्यवसाय को 'बुद्धि' कहा है। ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य उसके सात्विक रूप और अज्ञान, अवैराग्य (राग) और अनैश्वर्य उसके तामस रूप बताये गये हैं। वाचस्पति मिश्र ने ईश्वर कृष्ण के इस कथन का विश्लेषण करते हुए कहा कि निश्चय बुद्धि का कार्य है, पर क्रिया (निश्चय) और क्रिया-वान् (बुद्धि) में अभेद मान कर निश्चय को ही बुद्धि कहा गया है। मनुष्य जब कोई काम करता है तो सर्वप्रथम बाह्येन्द्रियों से उसका आलोचन करता है, फिर मन से उसको करने का विचार या संकल्प करता है और तब 'मुझे यह करना है' इस प्रकार का निश्चय करता है। सांख्य दर्शन के अनुसार बुद्धि जड़ है, किन्तु पुरुष (चिति शक्ति यानी आत्मा) के सन्निधान से उसमें चैतन्य आ जाता है। बुद्धि वस्तुत: तो चेतन नहीं होती, परन्तु चेतन-सी प्रतीत होने लगती है।[97] प्रत्यक्ष प्रमाण के सन्दर्भ में 'अध्यवसाय' शब्द की व्याख्या करते हुये वाचस्पति मिश्र ने यह भी बताया है कि 'इन्द्रियों का विषयों के साथ सन्निकर्ष होने पर बुद्धिगत तमोगुण को अभिभव होने के साथ-साथ सत्वगुण का जो स्फुरण होता है, उसी को अध्यवसाय वृत्ति या ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान के साथ चेतन पुरुष का जो अनुग्रह (चेतन में समर्पण) होता है, उसी को फल, प्रमा या बोध भी कहते हैं।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार 'बुद्धि' 'ज्ञान' का पर्याय है, किन्तु सांख्य शास्त्र में बुद्धि प्रकृति से उत्पन्न सर्वप्रथम तत्त्व है, जिसका दूसरा नाम महत्तत्व भी है। न्याय-वैशेषिक में माने गये जीवात्मा का सब काम सांख्य के अनुसार 'बुद्धि' ही करती है और ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख आदि धर्म भी उसके ही माने जाते हैं,पुरुष (आत्मा) के नहीं। क्योंकि वे धर्म पुरुष के माने जाएँ तो उसे परिणामी (विकारयुक्त) भी मानना पड़ेगा। पर चेतनता पुरुष का ही धर्म माना गया है। पुरुष की चेतनता प्रकृति में प्रतिबिम्बित होती है। बुद्धि के साथ पुरुष का सम्बन्ध होने से संसार और बुद्धि के नष्ट होने से अपवर्ग की प्राप्ति मानी गई है। सांख्य-शास्त्र के अनुसार बुद्धि इन्द्रियों के मार्ग से बाह्य पदार्थ (घट, पट आदि) तक पहुँचती है। वहाँ पहुँचकर बुद्धि घट आदि के आकार में परिणत हो जाती है। बुद्धि का घट आदि के रूप में बदलना ही 'ज्ञान' कहलाता है। बुद्धि के स्वच्छ होने से पुरुष का बुद्धि में प्रतिबिम्ब पड़ता है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष में ज्ञान की प्रतीति भासती है। ज्ञान का इस प्रकार भासना ही 'उपलब्धि' कह-लाती है। यद्यपि चैतन्य बुद्धि में प्रतीत होता है, किन्तु दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह वह अतात्विक और अवास्तविक होता है। किन्तु बुद्धि का विषयाकार में परिवर्तन वास्तविक होता है उसी प्रकार जैसे कि फूंक की भाप से मैले हुये दर्पण में जो मलिनता होती है, वह वास्तविक होती है। जिस प्रकार दर्पण में भाप से आयी हुई मलिनता का मुख पर कोई असर नहीं होता, उसी प्रकार बुद्धि के विषयाकार में जो परिवर्तन होता है, उसका पुरुष पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार सांख्यशास्त्र के अनुसार पुरुष चैतन्यस्वरूप है, किन्तु सुख-दुःख इच्छा, ज्ञान आदि धर्म बुद्धि में रहते हैं।

सांख्य सिद्धान्त के खण्डन में नैयायिकों का यह कथन है कि ज्ञान आदि जिस अधिकरण में रहते हैं, वह चाहे आत्मा (न्याय के अनुसार) हो या बुद्धि (सांख्य के अनुसार), उसमें ही चेतनता रहती है। नैयायिकों की दृष्टि में ज्ञान के आश्रय से पुरुष को भिन्न मानने में कोई प्रमाण नहीं है। जड़ प्रकृति का कार्य होने से बुद्धि को जड़ मानना भी सांख्य की अपनी ही कल्पना है, जोकि नैयायिकों के मतानुसार ठीक नहीं है। ज्ञान के आश्रयभूत बुद्धि को नित्य माना जाये तो वह नित्य आत्मा का ही दूसरा नाम होगा। तत्काल उत्पन्न शिशु की भी दूध आदि में प्रवृत्ति होती है, इससे सिद्ध होता है कि जन्म-मरण का चक्र अनादि है। और प्रयत्न ज्ञान आदि का जो आश्रय है, वह भी अनादि और नित्य होगा और न्याय-वैशेषिक के अनुसार वह आत्मा ही हो सकता है।

वैशेषिक दर्शन में बुद्धि के दो भेद माने गये हैं : अविद्या और विद्या। अविद्या के चार भेद हैं : संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय तथा स्वप्न। विद्या भी चार प्रकार की बताई गई है : प्रत्यक्ष, लैंगिक. स्मृति एवं आर्ष। यह वर्गीकरण संभवतः इन्द्रियग्राह्यता के आधार पर किया गया। विश्वनाथ तथा अन्नंभट्ट आदि परवर्ती नैयायिकों ने स्मृति एवं अनुभव के रूप में दो भेद बताये हैं। स्मृति और अनुभव भी यथार्थ और अयथार्थ भेद दो-दो प्रकार के हैं। यथार्थ अनुभव प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द भेद के चार प्रकार का है, और अयथार्थ अनुभव संशय, विपर्यय और तर्क के भेद से तीन प्रकार का है। प्रतीत होता है कि यह वर्गीकरण काल को आधार मानकर किया गया। न्यायसूत्रकार ने बुद्धि के भेदों का वर्गीकरण नहीं किया क्योंकि उन्होंने बुद्धि का उल्लेख प्रमेय के रूप में किया है।

6. मन का स्वरूप

न्याय दर्शन में परिगणित बारह प्रमेयों में मन भी एक है। साधारणतया मन का अर्थ है—मनन का साधन। मन को अन्तरिन्द्रिय माना गया है साथ ही वह बाह्येन्द्रियानुग्राहक भी है।

(क) न्याय वैशेषिक मत

केशव मिश्र के अनुसार जिसमें मनस्तत्व जाति समवाय सम्बन्ध से रहे, उसको मन कहते हैं। मन अणु परिमाण है, आत्मा से संयुक्त होता है, सुख दुःख आदि का करण और नित्य है। इसमें संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और वेग ये आठ गुग रहते हैं। बाह्य इन्द्रियाँ मन के साहाय्य से ही अपने विषय का ग्रहण करती हैं, अतः मन सभी विषयों की उपलब्धि का साधन है। अतीन्द्रिय होने के कारण मन का साक्षात्कार नहीं होता। उसका अनुमान किया जा सकता है। अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार होगी—

(1) सुख आदि का अनुभव चक्षु आदि से भिन्न किसी करण द्वारा किया जाता है—प्रतिज्ञा;

(2) क्योंकि चक्षु आदि के न होने पर भी सुख का अनुभव हो सकता है,—हेतु;

(3) जो वस्तु जिसके बिना ही उत्पन्न हो जाती है, वह उससे भिन्न करण द्वारा साध्य होती है, जैसे पाकक्रिया कुठार के बिना उत्पन्न हो जाती है, वह उस कुठार से भिन्न अग्नि आदि करण से साध्य होती है।

(4) अतः सुख आदि का करण मन है।

विश्वनाथ पंचानन का भी यह कथन है कि सुख आदि के साक्षात्कार में मन ही करण है।[98] अन्नंभट्ट भी लगभग ऐसा ही कहते हैं।[99] तर्कदीपिका में यह भी स्पष्ट किया गया है कि 'मन स्वयं अस्पृश्य पदार्थ होते हुये भी क्रिया करने में समर्थ है'।[100]

मन का अणुत्व

मन के अस्तित्व के सम्बन्ध में सूत्रकार का यह कथन है कि एक साथ अनेक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकते। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियों के भिन्न एक ऐसा तत्त्व है जो भिन्न-भिन्न इन्द्रियज ज्ञानों को बारी-बारी से आत्मा के समक्ष उपस्थिति करता है। उसी को मन कहा जाता है।[101]

भाष्यकार वात्स्यायन ने सूत्रकार के मन को स्पष्ट करते हुये लिखा कि जिस प्रकार बाह्य प्रत्यक्ष के लिए नेत्र आदि इन्द्रियों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार सुख आदि के आन्तरिक प्रत्यक्ष के लिए आन्तरिक इन्द्रिय का होना आवश्यक है।

विषय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर भी कभी-कभी ज्ञान नहीं होता, इससे यह सिद्ध होता है कि तन्मनस्क होने पर ही ज्ञान होता है, अन्यमनस्क होने पर नहीं। वैशेषिक सूत्र में इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हुये यह कहा गया है कि इन्द्रिय-विषय-सन्निकर्ष ही ज्ञान की पर्याप्त कारण-सामग्री नहीं है, उसके लिए एक अन्य कारण की भी आवश्यकता है, उसी को 'मन' कहते हैं।[102] ज्ञान के अयौगपद्य के आधार पर यह भी सिद्ध होता है कि प्रत्येक शरीर में मन एक है और अणु रूप में विद्यमान रहता है।[103]

कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि शतावधानी लोग एक ही समय पर अनेक काम कर लेते हैं। किन्तु यह मन की अनेकता का नहीं, अपितु मन की द्रुतता और आशुकारिता का प्रतीक है। उसमें पौर्वापर्य तो होता है, किन्तु अलातचक्रवत् वह अनेक जगह दिखाई देता है। सुई से शतदल पत्र के भेदन में क्रम तो होता है, किन्तु समय का व्यवधान इतना सूक्ष्म रहता है कि वह दिखाई नहीं देता—तात्पर्य यह है कि मन एक समय में एक जगह ही रहता है, पर उसकी गति इतनी तीव्र है कि वह एक ही समय में अनेकत्र दिखाई देता है।

(ख) चार्वाक मत

भौतिकवादी चार्वाकों के अतिरिक्त सभी दर्शनों में इसको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। चार्वाक शरीर से अतिरिक्त किसी को सत्य नहीं मानते। उनके

मत में शरीर ही आत्मा है। चार्वाकों के मतानुसार चैतन्य की उत्पति और विनाश के साधनभूत तथा आधारभूत शरीर से अतिरिक्त जिस प्रकार आत्मा की कोई सत्ता नहीं, इसी प्रकार मन की भी नहीं है। अन्य सभी दर्शनों में देह से अतिरिक्त मन की सत्ता को स्वीकार किया गया है।

(ग) जैन मत

जैन दार्शनिक मन की सत्ता तो स्वीकार करते हैं, परन्तु वे मन को एक इन्द्रिय नहीं मानते। पाँच इन्द्रियाँ अपने विशेष गुण ग्राही होने से इन्द्रियाँ कहलाती हैं, परन्तु मन सर्वार्थग्राहक होने पर भी अनिन्द्रिय कहा जाता है। जैन दर्शन में मन को दो प्रकार का कहा गया है—द्रव्यमन व भावमन।[104] (द्रव्यमनो हि द्रव्येन्द्रियवत् पुद्गलारव्धम् भावमनस्तु अर्थग्रहणशक्तिव्यापाररूपम्।) द्रव्यमन कर्म संघात से उत्पन्न होता है। और भावमन चेतन पर्याय कहा जाता है।[105] जैन दार्शनिकों से मन को इन्द्रिय न मानकर और मन के दो प्रकारों का निर्देश कर मन के स्वरूप को अस्पष्ट, तथा कठिन सा बना दिया है।

(घ) बौद्धमत

बौद्ध दर्शन में देह, बुद्धि से अतिरिक्त मन की सत्ता को स्वीकार किया गया है। द्वादश आयतनों में मन की गणना की गई है।[106] शान्तरक्षित ने चक्षुरादि इन्द्रियों से अतिरिक्त मन की सत्ता को स्वीकार किया है।[107] परन्तु उनके मतानुसार वस्तुतः मन तत्त्व-विज्ञान से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। आचार्य शान्तरक्षित ने तत्वसंग्रह में कहा है—**'षण्णामनन्तरोद्भूतप्रत्ययो यो हि तन्मनः।'** मन को मानसिक प्रक्रियाओं का समूह कहा गया है। मन के अन्तर्गत दो प्रकार के पहलू समाविष्ट हैं, उद्देश्यपरक (Subjective) व वस्तुपरक (objective)। उद्देश्यपरक को मनस्, चित्त व विज्ञान कहा जाता है, जबकि वस्तुपरक में स्पर्श, चेतना, वेदना, संज्ञा संकार व अन्य मानसिक प्रक्रियाएँ भी समाविष्ट हैं। इस प्रकार बौद्धों के मत में मन सभी मानसिक प्रक्रियाओं का सम्मिश्रण है। कई स्थलों पर मन को चित व विज्ञान के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया गया है कहीं-कहीं मन को सक्रिय व चित को निष्क्रिय कहा गया है। बौद्ध दार्शनिक मन को क्षणिक ही स्वीकार करते हैं। शान्तरक्षित ने तत्त्व संग्रह में 'नित्ये तु मनसि प्राप्ताः प्रत्यया यौगपद्यतः' आदि कारिकाओं में मन के नित्यत्व का निषेध किया है। संयुक्त निकाय में मन को चंचल वानर की संज्ञा दी गई है। इसका कारण यह है कि चक्षुरादि नियत विषय हैं, जबकि मन का कोई विषय

नियत नहीं है। रूप, रस, आदि बाह्य विषयों में मन की विज्ञेयता स्वीकार की गई है। लंकावतारसूत्र में भी ऐसा ही कहा गया हैं।[108] विज्ञानेन विजानाति दृश्यं कल्पेति पंचभि:।

योग के समान ही बौद्ध दर्शन में भी सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए मन का नियमन करना कहा गया है।

(ङ) सांख्यमत

सांख्य दर्शन में मूल तत्त्व दो हैं, प्रकृति व पुरुष। सृष्टि के विकास का मूल प्रकृति है। प्रकृति से महत् अथवा बुद्धि और बुद्धि से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार दो प्रकार का होता है—सात्विक और तामस। सात्विक से पाँच ज्ञानेन्द्रियों व पाँच कर्मेन्द्रियों व मन की उत्पत्ति होती है। और तामस से पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। अहंकार से उत्पन्न होने के कारण सांख्यशास्त्र में मनस् को अनित्य माना गया है। प्रकृति व पुरुष के अतिरिक्त सभी तत्त्वों को भी अनित्य कहा गया है।[109] सांख्य के इस विचार की कि जिस प्रकार मिट्टी के पिण्ड से निर्मित घट अनित्य है, उसी प्रकार महत् से निर्मित मन भी अनित्य है।

सांख्य सूत्रों में मनस्, बुद्धि तथा अहंकार तीनों को अन्त:करण के रूप में स्वीकार किया गया है। बुद्धि का अध्यवसाय, अहंकार का अभिमान व मन का लक्षण संकल्प विकल्प करना बताया गया है। निर्विकल्पक व सविकल्पक सभी प्रकार के ज्ञानों में मन मुख्य कारण है। मन संकोच विकासशील होने से मध्यमपरिमाण है। मन को उभयेन्द्रिय कहा गया है, क्योंकि यह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों के कार्य करता हैं। अचेतन मन संकल्पविकल्प जैसा चेतनकार्य किस प्रकार करने में सक्षम है? सांख्य मत में इसके निवारणार्थ यह युक्ति दी गई कि जिस प्रकार तप्त लोहे का पिण्ड अग्नियुक्त हो जाता है, उसी प्रकार अचेतन अन्त:करण चेतन पुरुष के संयोग से चेतन गुणों से युक्त हो जाता है। अचेतन मनस् में चेतन के भ्रम का मूल कारण पुरुष और प्रकृति का संयोग ही है। सांख्य में मन को इन्द्रियों का नियन्त्रक बताया गया है।

इस प्रकार सांख्य का मनस् अचेतन, अभौतिक और अनित्य, मध्यम परिणाम वाला व ज्ञान का मुख्य साधन है।

(च) योगमत

'सांख्ययोगौ पृथक् बाला: प्रवदन्ति न पण्डिता:।' श्रीमद्भगवद् गीता की इस पंक्ति से यह स्पष्ट होता है कि तत्त्वत: योग दर्शन सांख्य दर्शन से अभिन्न

है। तात्विक अभिन्नता होते हुये भी मनस् के स्वरूप के विषय में दोनों दर्शनों में मतभेद है। सांख्य दर्शन में मनस् का मध्यम परिमाण है, जबकि योग दर्शन में उसको विभु परिमाण कहा गया है। मनस् को विभु परिमाण वाला मान लेने पर यह प्रश्न उठता है कि यदि मनस् विभु है तो प्रत्येक जीव को सर्वज्ञ होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है। प्रत्येक प्राणी के चित्त की विशेष विषय में ही प्रवृत्ति होती है। पर योग में यह कहा गया है कि विषय विशेष में प्रवृत्ति का कारण अदृष्ट है; और इसकी समाप्ति होने पर योगी सम्पूर्ण जगत् का साक्षात्कार कर सकता है। व्यास भाष्य में कहा गया कि विभु चित्त की वृत्ति संकोच-विकासिनी है, जो धर्मादि निमित्त की अपेक्षा रखती है।[110]

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने मनस् से विभुत्व का प्रतिपादन किया है।[111] तत्त्ववैशारदी में वाचस्पति मिश्र ने भी मन के विभुत्व को सिद्ध किया है।[112] मन को कार्य मान लेने पर मन के नित्यत्व के विषय में भी शंका उठती है। नित्य मनस् की महदादि से उत्पत्ति युक्ति संगत प्रतीत नहीं होती। नित्य तत्त्व तो अजन्य होता है। इसका समाधान विज्ञानभिक्षु ने इस प्रकार किया कि कार्य रूप व कारण रूप से मनस् के दो रूप हैं। कार्य रूप से मनस् अनित्य और कारण रूप से मनस् नित्य, विभु और अभौतिक है।

इस प्रकार मनस् के परिमाण के सम्बन्ध में सांख्य का योग से वैपरीत्य प्रदर्शित होता है।

(छ) मीमांसा मत

मीमांसा के दोनों सम्प्रदायों में मनस् के विषय में विशेष मतभेद इस प्रकार है :

(1) **गुरु मत**—तार्किकों के समान ही मीमांसक भी मन को सुखदुःखादि के प्रत्यक्ष में करण होने से अन्तरिन्द्रिय स्वीकार करते हैं।[113] प्रभाकर के मतानुसार आत्म-मनस्-संयोग ज्ञान का असमवायि कारण है। आत्मा ज्ञान का समवायिकारण है। इन दोनों का संयोग आत्मा के प्रयत्न से या पूर्व जन्म के कर्मों से उत्पन्न अदृष्ट के कारण होता है। संयोग की यह परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। मनस् की गति ज्ञान का असमवायि कारण नहीं है, क्योंकि यदि मनस् की गति को ज्ञान का असमवायि कारण माना जाये; तो मनस् की एक और गति को उस गति का समवायि कारण मानना पड़ेगा। अतः, आत्मा ज्ञान का समवायिकारण और आत्म-मनस् संयोग ज्ञान का असमवायि कारण है। आत्मा

को अपने विशेष गुणों का ज्ञान मनस् के द्वारा ही होता है और यह बाह्य कारणों-चक्षु, श्रोत्रादि के व्यापारों में भी सहायक है। प्रभाकर के मतानुसार मन अणु परिमाणवाला है और यदि मन को विभु मानें तो आत्मा तो विभु है ही। दो निरवयव विभु द्रव्यों में परस्पर संयोग न हो सकेगा।[114]

(2) **भाट्टमत**—कुमारिल के मतानुसार भी मन को सुखादि के साक्षात्कार में करण माना गया है व इसे अन्तरिन्द्रिय स्वीकार किया गया है।[115] परन्तु इनके मत में मन को अणु परिमाण वाला नहीं अपितु विभु परिमाण वाला माना गया है।[116] वह एक ऐसा द्रव्य है जिसको हम आत्मा के समान छू नहीं सकते। वह आत्मा व आकाश के समान विभु है। मन को विभु मान लेने पर यह आपत्ति खड़ी हो जाती है कि उसका इन्द्रियों से संयोग किस प्रकार संगत माना जाये, क्योंकि विभु द्रव्य का सभी वस्तुओं से स्वतः संयोग होता है। किन्तु भाट्ट मत में इसके समाधान में यह कहा गया है कि जिस प्रकार आत्मा विभु है और शरीर रूपी उपाधि के कारण उसका इन्द्रियों से सम्बन्ध संगत हो जाता है, उसी प्रकार मनस् का भी, शरीर रूपी उपाधि को कारण मान लेने पर, इन्द्रियों से सम्बन्ध संगत हो जाता है।

इस प्रकार भाट्टमत का नैयायिकों और प्रभाकर मीमांसकों से इसके परिमाण के विषय में विशेष मतभेद हो जाता है।

(ज) वेदान्त मत

अद्वैत वेदान्त में मनस् अन्तःकरण का ही रूप है। मनस्, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि नामों से पुकारा जाने वाला अन्तःकरण ही वृत्तिभेद से सुख-दुःख बन्ध तथा मोक्ष का कारण है।[117] संशय, निश्चय, काम आदि इसके धर्म कहे गये हैं। श्रुतियों के अनेक उद्धरण मन व बुद्धि की सदृशता के द्योतक हैं। मनस् का प्रत्यक्ष सभी प्राणियों को अहंभाव से होता है। अन्तःकरण ही संशय करने पर मनस् निश्चय करने पर बुद्धि, गर्व करने पर अहंकार और स्मरण करने पर चित्त कहलाता है। अन्तःकरण भौतिक और तेजस प्रधान है नींद के अतिरिक्त वह अन्य सब दशाओं में क्रियाशील रहता है। **'तन्मनो कुरुत'** व **'एतस्माज्जायते प्राणों मनः सर्वेन्द्रियाणि च'** इत्यादि श्रुतियाँ मनस् के अनित्यत्व व परिच्छिन्नत्व को सिद्ध करती हैं, साथ ही मनस् के भौतिकत्व को भी सिद्ध करती है। ब्रह्म सूत्रभाष्य में मन के इन्द्रियत्य का उल्लेख किया गया है। कुछ वेदान्ती मन के इन्द्रियत्व को नहीं, पर करणत्व को स्वीकार करते हैं। परन्तु इसके अन्तः-करणत्व को तो सभी ऐकमत्व से स्वीकार करते हैं।[118]

सांख्य के पुरुष की भाँति चेतन साक्षी तत्त्व है। साक्षी और अन्तःकरण की मिश्रित अवस्था जीव की जानने, संकल्प करने और अनुभव करने की शक्ति है। यह मिश्रित अवस्था मुक्ति तक बनी रहती है। मुक्ति के बाद यह मनस् अपने कारण माया में लीन हो जाता है और साक्षी अपना स्वरूप खोकर ब्रह्म में लीन हो जाता है। प्रत्येक प्रकार के वाह्य तथा आन्तरिक प्रत्यक्षों का साधन मनस् है। प्रत्यक्ष के समय, अन्तःकरण मनस् की वृत्ति, वस्तु का आकार गहण कर लेती है, वृत्ति के विषयाकार हो जाने के पश्चात् साक्षी अपनी चेतना से वृत्ति को प्रकाशित कर देता है, तदनन्तर ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्ती मनस् को एक अन्तःकरण का रूप ही स्वीकार करते हैं।

रामानुज के मतानुसार अन्तःकरण मन एक ही है। वह अन्तरिन्द्रिय है, परिच्छिन्न है। परन्तु सांख्यमत के समान इन्होंने मन को उभयेन्द्रिय नहीं, अपितु केवल ज्ञानेन्द्रिय माना है। स्मृति आदि के करण होने से मन को इन्द्रिय कहा गया है और एक ही मन को वृत्तिभेद से बुद्धि, चित्त आदि कहा गया है रामानुज के मतानुसार स्मृति आदि के करण होने से मन को इन्द्रिय माना गया है।

7. प्रवृत्ति का स्वरूप

न्याय सूत्रकार ने 'प्रवृत्ति' की भी गणना प्रमेयों मे की हैं। प्रवृत्ति का आशय है—कार्यों को करने में प्रवृत्त होना। प्रवृत्ति प्रमुख रूप से तीन प्रकार की होती है—वाणी, मन तथा शरीर से।[119] प्रवृत्ति प्रायः धर्म या अधर्म की निमित्त या जनक होती है। सूत्रकार ने इस सन्दर्भ में 'वाक्' और 'शरीर' के साथ 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु वात्स्यायन के अनुसार 'बुद्धि' का आशय यहाँ पर मन है।

सर्व प्रथम किसी कार्य से प्राप्तव्य फल का ज्ञान होता है, तत्पश्चात् फल की इच्छा होती है, तदनन्तर अभीष्ट सिद्धि के साधन का ज्ञान होता है, फिर उस साधन को काम में लाने की इच्छा होती है और तब उस कार्य की ओर प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति के प्रमुखतः दो भेद होते हैं—पुण्या और पापा। पुण्या प्रवृत्तियों के दस उपभेद इस प्रकार होते हैं—

(1) शारीरिक = रक्षा, सेवा और दान।
(2) मानसिक = दया, अस्पृहा और श्रद्धा।
(3) वाचिक = सत्य, हित, प्रिय और स्वाध्याय।[120]

पाप प्रवृत्तियों के उपभेद ये हैं—

(1) शारीरिक = हिंसा, स्तेय, व्यभिचार ।
(2) मानसिक = नास्तिक्य, द्रोह, परद्रव्याभीप्सा
(3) वाचिक = असत्यभाषण, कटुवचन ।[121]

8. दोष का स्वरूप

दोष तीन प्रकार के होते हैं—(1) राग, द्वेष और (3) मोह। जिसके द्वारा किसी विषय में आसक्ति होती है, उसको राग कहा जाता है। राग के भेदों में काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा, लोभ, माया और दम्भ की गणना होती है। जिसके द्वारा किसी विषय से विरक्ति होती है, उसे द्वेष कहते हैं, द्वेष के भेद ये हैं—क्रोध, ईर्ष्या, असूया, द्रोह, अमर्ष और अभिमान। किसी विषय के सम्बन्ध में जिसके द्वारा भ्रान्ति होती है, उसको मोह कहते हैं। मोह के भेद ये हैं—विपर्यय, संशय, तर्क, मान, प्रमाद, भय और शोक।

9. प्रेत्यभाव का स्वरूप

नैयायिकों का यह सिद्धान्त है कि मृत्यु से आत्मा का नाश नहीं होता। एक शरीर से सम्बन्धविच्छेद के बाद वह नवीन शरीर में प्रवेश करता है। उद्योतकर के अनुसार आत्मा की अन्य शरीर में संक्रान्ति ही प्रेत्यभाव है[122] गौतम के अनुसार मरकर उत्पन्न होने (जन्म लेने) का नाम 'प्रेत्यभाव' है।[123] वात्स्यायन ने सूत्रकार के मन्तव्य का विश्लेषण करते हुये लिखा कि उत्पन्न होने का अर्थ है—आत्मा का देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और वेदना से पुनः सम्बन्ध। जन्म-मरण की परम्परा का पुनः-पुनः होना अनादि है। जब तक अपवर्ग नहीं हो जाता, तब तक प्रेत्यभाव चलता रहता है।

जहाँ तक यह प्रश्न है कि जीवात्मा यदि नित्य है तो पुनर्जन्म के साथ उसका सम्बन्ध कैसे होता है, इसका उत्तर यह है कि निष्प्राण शरीर के साथ भोग प्रयोजक संयोग रूप सम्बन्ध का नाश, यानी पूर्व शरीर की समाप्ति तथा नये सेन्द्रिय समनस्क सप्राण शरीर के साथ भोगप्रयोजक संयोग सम्बन्ध का लाभ होता है और शरीर के साथ जीवात्मा के सम्बन्ध का क्रम अनादिकाल से टूटता और जुड़ता चलता रहता है।[124]

10. फल का स्वरूप

फल का अर्थ है भोग यानी सुख अथवा दुःख का साक्षात्कार यानी प्रत्यक्ष अनुभव। वात्स्यायन के अनुसार साधनों सहित सुख दुःख का अनुभव फल कहलाता हैं। सूत्रकार गौतम ने फल की भी बारह प्रमेयों में गणना की है।

फल कर्मजन्य होता है। कुछ कर्मों का फल तुरन्त मिलता है। कुछ का कालान्तर में और कुछ का जन्मान्तर में। **'स्वर्गकामो यजेत'** जैसे वाक्यों में विहित कर्मों के फल जन्मान्तर में प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार वृक्ष सिंचनादि क्रिया के नष्ट हो जाने के बाद उनके प्रभाव से हुई रसपाकादि क्रिया द्वारा फल देने में समर्थ होता है, उसी प्रकार कर्म करने से धर्म तथा अधर्म नामक अदृष्ट संस्कार उत्पन्न होता है, जिससे कालान्तर में स्वर्गादि फल प्राप्त होता है।[125] जैसे वृक्ष की जड़ और पत्तों आदि का आधार एक ही है अतः जड़ के सिंचन से शाखाओं में फल तो प्राप्त हो सकते हैं, वैसे ही एक शरीर से किये हुये यज्ञ का फल अन्य शरीर को मिलता है क्योंकि दोनों का आशय आत्मा एक ही है। सुख आत्मा में ही रहता है,[126] अतः यह कहना ठीक नहीं कि 'यज्ञादि कर्म और उनका स्वर्गादिक फल एक आश्रय में नहीं रहता।'

'पुत्रकामोयजेत'—जैसे वाक्यों में पुत्रादि को भी यज्ञ का फल बताया गया है किन्तु वह गौण प्रयोग है। तथ्य यह है कि जैसे प्राणों का रक्षक होने के कारण 'अन्नं वै प्राणाः' ऐसा कहा जाता है, वैसे ही यज्ञ का वास्तविक फल तो सुख ही है किन्तु यज्ञादि के माध्यम से मिलने के कारण पुत्रादि को फल कहा गया है।[127]

11. दुःख का स्वरूप

जिससे पीड़ा प्रतीति हो, वह दुःख कहलाता है। वात्स्यायन के मतानुसार जिसकी कोई इच्छा न करे और जो सबको प्रतिकूल लगे, वह दुःख है। विश्वनाथ का कथन है कि दुःख की उत्पत्ति अधर्म से होती है। सांख्यशास्त्र में दुःख तीन प्रकार के माने गये हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। केशव मिश्र ने दुःख के निम्नलिखित 21 भेद गिनाये हैं :—1 शरीर, 6 इन्द्रियाँ (घ्राण, रसन, चक्षु त्वक्, श्रोत्र और मन); 6 विषय (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द योग्यआत्मगुण); इन छः विषयों के इन्द्रियजन्य अनुभव; 1 सुख और 1 दुःख।

इक्कीस प्रकार के दुःखों में सुख की भी गिनती की गई है। सुख की सत्ता नित्य नहीं होती। सुख का उदय सुखानुकूल विषयों पर मनुष्य का आधिपत्य होने से होता है। आधिपत्य के लिए बौद्धिक अथवा शारीरिक श्रम की आवश्यकता पड़ती है। श्रम से दुःख होता है। अतः सुख साधनों के अर्जन और रक्षण में श्रम और विनाश में दुःख ही दुःख होता है। तात्पर्य यह है कि दुःखहीन सुख की कहीं कोई सत्ता नहीं है। दूसरे शब्दों में सुख दुःख में अविनाभाव सम्बन्ध है। अतः सुख गौण वृत्ति से दुःख की ही कोटि में आता है।

12. अपवर्ग का स्वरूप

न्याय दर्शन में तत्त्वज्ञान से निःश्रेयसाधिगम की बात कही गई है और बारह प्रमेयों में 'अपवर्ग' की भी गणना की गई है। अपवर्ग का अर्थ है—मोक्ष, और मोक्ष का अर्थ है—इक्कीस प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति।[128]

सूत्रकार गौतम के मतानुसार दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्याज्ञान इनमें से उत्तर-उत्तर के विनाश से पूर्व-पूर्व का विनाश हो जाने से अपवर्ग की प्राप्ति होती है। वात्स्यायन ने सूत्रकार के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए लिखा कि "तत्त्वज्ञान के द्वारा मिथ्याज्ञान का नाश होता है। उसके परिणामस्वरूप दोषों का निवारण होता है, जिससे प्रवृत्ति लुप्त हो जाती है और फिर प्रवृत्ति के लुप्त हो जाने पर जन्म का बन्धन छूट जाता है। जिससे कि समस्त दुःख निवृत्त हो जाते हैं। दुःख का ऐसा समूल नाश, जिसके बाद फिर कभी कोई दुःख न हो पाये, आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति कहलाता है।"[129]

अपवर्ग की प्राप्ति किस प्रकार होती है? इस जिज्ञासा को इस तरह भी उल्लेख किया जा सकता है कि दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के उपाय क्या हैं?

केशवमिश्र के अनुसार शास्त्र का यथोचित अध्ययन करने से मनुष्य को समस्त पदार्थों का तत्त्वज्ञान होता है। पदार्थों के तत्त्व के विदित हो जाने पर सांसारिक विषयों में दुःखानुविद्धता की प्रतीति होती है, जिससे कि उनसे विरक्ति होती है और मुक्ति की इच्छा होती है। परिणामस्वरूप आत्मा के वास्तविक स्वरूप के चिन्तन में प्रवृत्ति होती है। चिन्तन के परिपाक से आत्मा का साक्षात्कार होता है, जिससे कि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और मोह नामक पंचक्लेशों की निवृत्ति होती है। इन दोषों के निवृत्त हो जाने पर मनुष्य जो कुछ कर्म करता है वह निष्काम भाव से करता है जिससे नये धर्म या अधर्म का संचय नहीं होता। योगाभ्यास से प्राप्त शक्ति से पूर्वसंचित धर्म और अधर्म को जानकर उन्हें एक साथ ही भोग लेता है और जिस प्रारब्ध कर्म के लिए वर्तमान शरीर प्राप्त हुआ, उसका भी भोग कर लेता है। परिणामस्वरूप वर्तमान शरीर छूट जाने और नया शरीर उत्पन्न न होने के कारण शरीर आदि इक्कीस दुःखों की आत्यन्तिक हानि हो जाती है। इन दुःखों का नाश ही मोक्ष या अपवर्ग कहलाता है।

न्याय-दर्शन में अपवर्ग का जो स्वरूप बताया गया है, उसके साथ ही अन्य दर्शनों में वर्णित मोक्ष के स्वरूप की संक्षिप्त चर्चा करना भी अप्रासंगिक न होगा।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार आत्मा के ज्ञान आदि नौ गुणों का उच्छेद ही मुक्ति है। सांख्य दर्शन के अनुसार अपने वास्तविक स्वरूप कूटस्थ चैतन्य में पुरुष की अवस्थिति ही मोक्ष है, जो प्रकृति-पुरुष के विवेक से प्राप्त होता है। योग दर्शन में भी मोक्ष का ऐसा ही स्वरूप बताया गया है। मीमांसकों के मत में नित्यसुख की अभिव्यक्ति ही मोक्ष है, जो वेदविहित कर्मों के श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान से होती है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार अविद्या की निवृत्ति से उपलक्षित 'सच्चिदानन्द ब्रह्म' ही मोक्ष है, जिसके उपाय हैं—श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि चार्वाकों के अनुसार मृत्यु ही मोक्ष है। बौद्धों के विचार में ज्ञान के विषय-सम्पर्करूप कालुष्य को निराकृत कर उसकी निर्मल धारा को प्रवाहित करना ही निर्वाण है, जो कि सर्वं क्षणिकम्, सर्वं स्वलक्षणम, सर्वं दुःखं, सर्वं शून्यम्, इस आर्यचतुष्टय को जीवन में उतारने से सम्पन्न होता है। जैन दर्शन के अनुसार सम्यक् ज्ञान सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र्य के द्वारा आत्मा के वास्तविक स्वरूप को आवृत करने वाले समस्त कर्मों के क्षय के अनन्तर आत्मा का जो ऊद्र्ध्वगमन होता है, वही मोक्ष है।

13. ईश्वर का अस्तित्व और स्वरूप

न्याय सूत्र में ईश्वर का उल्लेख तो है, पर उसका विश्लेषण नहीं मिलता। वात्स्यायन ने कुछ पूर्वपक्ष के रूप में और कुछ अपनी दृष्टि से ईश्वर का विश्लेषण किया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि न्याय-दर्शन में ईश्वर को विचार का प्रमुख विषय उत्तरवर्ती आचार्यों ने बनाया। वात्स्यायन के अनुसार गुणों से विशिष्ट आत्मा ही ईश्वर है।[123] इस संदर्भ में सर्वाधिक उल्लेखनीय समाधान जयन्त भट्ट की न्यायमंजरी और उदयनाचार्य की न्यायकुसुमांजलि में उपलब्ध होते हैं। किन्तु इससे पहले कि नैयायिकों के मतानुसार ईश्वर पर विचार किया जाय, अन्य दार्शनिकों के मतों का संक्षिप्त उल्लेख करना भी अप्रासंगिक न होगा।

ईश्वर विषयक चर्चा के संदर्भ में दर्शनों को दो वर्गों में रखा जा सकता है—अनीश्वरवादी और ईश्वरवादी।

[क] अनीश्वरवादी

भारतीय दर्शनों में से चार्वाक, ईश्वर को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं करते; बौद्ध और जैन भी ईश्वर को तो नहीं मानते, किन्तु बुद्ध और अर्हत् के प्रति उनके अनुयायी ईश्वरवत् ही निष्ठावान् दिखाई देते हैं। सांख्य, मीमांसक,

तथा वैयाकरण भी ईश्वर को तो नहीं मानते किन्तु क्रमशः पुरुष, कर्म और परा (वाणी) को वे लगभग वही महत्व देते हैं, जो ईश्वरवादी लोग ईश्वर को देते हैं।

[ख] ईश्वरवादी

न्याय, वैशेषिक, योग तथा वेदान्त में ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। किन्तु इन दर्शनों में भी ईश्वर-विषयक अनेक पहलुओं के विश्लेषण में पर्याप्त मतभेद हैं।

भारतीय दर्शनों में से चार्वाक सर्वाधिक अनीश्वरवादी दर्शन है। ईश्वर की सत्ता को न मानने के सम्बन्ध में चार्वाक के प्रमुख तर्क ये हैं कि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि किसी ने भी उसको इन्द्रियों की सहायता से नहीं देखा। उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। इस युक्ति के उत्तर में कि—'विश्व एक कार्य है और उसका एक कारण होना चाहिये, जो कि ईश्वर है'—चार्वाकों का यह कथन है कि यह युक्ति कार्यकारण सिद्धान्त पर और अनुमान पर आधारित है, और कार्यकारण सिद्धान्त तथा अनुमान को वे स्वीकार्य नहीं मानते। ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए यह भी कहा जाता है कि ईश्वर का वर्णन वेद में मिलता है अतः यह यथार्थ है, किन्तु चार्वाक वेद की प्रामाणिकता को भी स्वीकार नहीं करते। विश्व के निमित्त कारण के रूप में ईश्वर को मानना चार्वाकों की दृष्टि में अनावश्यक है, क्योंकि उनके मतानुसार भूत ही विश्व के उपादान और निमित्त कारण हैं।

उदयनाचार्य ने संक्षेपतः ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली पाँच प्रकार की विप्रतिपत्तियों का निम्न-लिखित रूप से उल्लेख किया है—

(1) परलोक का साधक अदृष्ट नाम का कोई भी अलौकिक पदार्थ नहीं है (चार्वाकों का तर्क)।

(2) ईश्वर को माने बिना ही वेदप्रामाण्य से अदृष्ट की प्रवृत्ति तथा अदृष्ट द्वारा परलोक को सिद्ध करने वाले यज्ञादि का अनुष्ठान हो सकता है (मीमांसकों का तर्क)।

(3) ईश्वर की असत्ता को सिद्ध करने वाला प्रमाण उपलब्ध है; (यथा अनुपलम्भसनाथ चक्षु से ईश्वराभाव का ग्रहण होता है। (बौद्धों का तर्क)।

(4) ईश्वर के रहने पर भी वह प्रमाण नहीं हो सकता (जैनों का तर्क)

(5) ईश्वर की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं है (सांख्यों का तर्क है कि ईश्वर साधक प्रमाणों के न होने से ईश्वर असिद्ध है।)

ज्ञातव्य है कि चार्वाक कार्यकारण सिद्धान्त को नहीं मानते। वे स्वभाववाद को मानते हैं। नैयायिकों के मतानुसार यदि अदृष्ट की सत्ता सिद्ध हो जाय तो उसके प्रेरक ईश्वर की सत्ता भी सिद्ध हो जाती है। इसी दृष्टि से चार्वाक की अदृष्ट सम्बन्धी विप्रतिपत्ति का निरसन करते हुए उदयनाचार्य कहते हैं कि कार्य की उत्पति किसी निश्चित देश काल में होती है अतः उसका कारण-सापेक्षत्व स्वतः सिद्ध है। इसके अतिरिक्त बीजांकुर की तरह अनादि होने से, कार्य में वैचित्र्य दिखाई देने से, स्वर्गादि साधक यज्ञों में सब की प्रवृत्ति होने से तथा प्रत्येक जीव के सुख और दुःख की अनुभूति में व्यवस्था होने के कारण अदृष्ट की सत्ता है। और क्योंकि अदृष्ट अचेतन है, अतः उसका प्रेरक कोई चेतन होना चाहिए। वह ईश्वर है।[124]

आधुनिक विद्वानों में कुछ तो इस बात पर सहमत हैं कि मीमांसा-दर्शन अनीश्वरवादी नहीं है। खण्डदेव मिश्र का यह कथन उल्लेखनीय है कि 'उत्तरकालीन मीमांसकों ने मीमांसा में ईश्वर का समावेश भले ही कर दिया हो, किन्तु आरम्भिक मीमांसकों ने ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया था।' इस कथन से यह तो स्पष्ट ही है कि किसी-न-किसी स्तर पर मीमांसकों ने ईश्वर को स्वीकार किया। डा० राधाकृष्णन् ने भी यह कहा है कि "पूर्व मीमांसा की यह दरार (अर्थात् ईश्वर की मान्यता का अभाव) इतनी असन्तोषजनक थी कि परवर्ती रचनाकार धीरे-धीरे चोरी छिपे ईश्वर को ले आये"। जो भी हो, उदयनाचार्य द्वारा चर्चित द्वितीय विप्रतिपत्ति का सम्बन्ध मीमांसकों से ही है।

भारतीय दर्शनों में से बौद्ध भी अनीश्वरवादी हैं। बुद्ध का उद्देश्य इस बात का पता लगाना था कि मनुष्य को दुःखों से छुटकारा कैसे मिल सकता है। ईश्वर सम्बन्धी प्रश्नों को बुद्ध ने मौन रह कर टाल दिया। उनका यह कथन था कि मानव की बुद्धि सीमित है, अतः वह ईश्वर का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। बुद्ध के अनुसार ईश्वर में विश्वास करना ऐसा ही है जैसे किसी कल्पित सुन्दरी से प्रेम करना। इस दृष्टिकोण को एक प्रकार का अज्ञेयवाद कहा जा सकता है। बुद्ध के अनुसार विश्व का संचालन प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम से होता है। विश्व की समस्त वस्तुएँ कार्य-कारण की शृंखलामात्र हैं। अतः बुद्ध ने अपने शिष्यों को ईश्वर पर निर्भर न रह कर 'आत्मदीपो भव' का उपदेश दिया।

यों तो बौद्धों की पूरी परम्परा ही निरीश्वरवादी रही है, किन्तु कल्याणरक्षित (829 ई० के लगभग) ने ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन करने के लिए 'ईश्वरभंग कारिका' लिखी, जिसका उदयाचार्य ते कुसुमांजलि में प्रबल युक्तियों से खण्डन किया है। तृतीय विप्रतिपत्ति के रूप में उदयन ने बौद्ध मत की चर्चा की है।

महात्मा बुद्ध के मत ने जब धर्म का रूप ग्रहण किया, तो अनेक शिष्यों ने दार्शनिक पक्ष में अनीश्वरवादी होने के बावजूद बुद्ध को लगभग वही स्थान दे दिया, जो कि अन्य धर्मावलम्बी ईश्वर को देते आये हैं।

जैन दर्शन का सिंहावलोकन करने पर वैसे यह विदित होता है कि यद्यपि जैन धर्म में ईश्वर का खण्डन किया गया है, किन्तु जैन धर्म में तीर्थंकारों की जो कल्पना की गई है, वह एक प्रकार से ईश्वर का विकल्प ही तो है। तीर्थंकारों में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त सुख का निवास माना गया है। यद्यपि वे ईश्वर नहीं हैं, किन्तु उनमें ईश्वरत्व निहित माना गया है।

जैन दार्शनिकों का यह मत है कि यह किसी प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं होता कि विश्व एक कार्य है, अतः उसके कारण के रूप में ईश्वर की कल्पना करना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि न तो प्रत्यक्ष से होती है, और न अनुमान से। जैनों का यह भी कथन है कि यदि संसार नित्य है तो उसके निर्माता का प्रश्न ही नहीं उठता और यदि वह कार्य है तो ईश्वर निरवयव होने के कारण किस प्रकार उपादानों से उसका निर्माण कर सकता है? संसार को कार्य मानकर ईश्वर का कारण के रूप में न्याय में जो उपस्थापन किया गया है, वह जैनियों की दृष्टि में त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि संसार को कार्य मानने के लिए जैनियों के मत में कोई संतोषजनक आधार नहीं है। यदि सावयव होने के कारण संसार को कार्य माना जाये तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि नैयायिकों ने सावयव आकाश को तो कार्य नहीं माना है। चतुर्थ विप्रतिपत्ति के रूप में उदयन ने जैन मत का उल्लेख किया है।

सांख्य दर्शन भी ईश्वर को जगत् का कारण मानने में इस तर्क के आधार पर आपत्ति करता है कि ईश्वर को मानने पर जीवों का स्वातन्त्र्य और अमरत्व बाधित हो जाता है; यद्यपि विज्ञानभिक्षु आदि कुछ आचार्य ऐसे भी हैं, जो यह समझते हैं कि युक्ति तथा शास्त्र दोनों से ईश्वर की सिद्धि हो सकती है, किन्तु अधिकतर सांख्याचार्य निरीश्वरवादी हैं। उनका विचार है कि प्रकृति नित्य होने पर भी परिणामी है, अतः वही जगत् का आदि कारण है। यदि जीव ईश्वर का

अंश है, तो उसमें ईश्वरीय शक्ति होनी चाहिए जो कि देखने में नहीं आती। दूसरे यदि जीव ईश्वर की सृष्टि है तो वे नश्वर हैं।

जिन आचार्यों की दृष्टि में सांख्य निरीश्वरवादी है, उनमें से वाचस्पति मिश्र और अनिरुद्ध मुख्य हैं। उनका कथन है कि यदि विश्व नित्य और अपरिवर्तनशील है तो ईश्वर का रूपान्तर विश्व में कैसे हो सकता है ? यदि ईश्वर को विश्व का कारण माना जाए तो ईश्वर का विश्व के रूप में परिवर्तित होना आवश्यक है, क्योंकि सांख्य के अनुसार कार्य कारण का ही परिवर्तित रूप हुआ करता है। अत: विश्व का कारण ईश्वर नहीं, बल्कि प्रकृति है, क्योंकि वह नित्य होने के साथ परिणामी भी है। कुसुमांजलि में पंचम विप्रतिपत्ति के रूप में सांख्यमत की चर्चा की गई है।

द्वितीय विप्रतिपत्ति के उत्तर में उदयनाचार्य का यह कथन है कि वह वेद वाक्यों का प्रामाण्य वक्ता के प्रामाण्य (परत:) पर निर्भर है और ईश्वर के अतिरिक्त वेद का कोई वक्ता नहीं माना जा सकता।[125] तृतीय विप्रतिपत्ति का निरसन इस आधार पर किया गया है कि प्रत्यक्ष योग्य की अनुलब्धि होने पर ही यह कहा जा सकता है कि अनुपलब्धि से भी अभाव सिद्ध है. किन्तु प्रस्तुत स्थल में ईश्वर तो दर्शन के योग्य ही नहीं है। अत: दर्शन मात्र के अभाव के आधार पर उसके अस्तित्व का निषेध नहीं किया जा सकता।[126] चतुर्थ विप्रपत्ति का प्रत्याख्यान उदयन के मतानुसार इस प्रकार हो जाता है कि यथार्थ अनुभवत्व ही प्रमात्व है और इस तरह का प्रमात्व नित्य ईश्वर ज्ञान में भी निर्विरोध माना जा सकता है।[127]

पांचवीं विप्रपत्ति (अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं है) का प्रत्याख्यान करते हुये ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए उदयनाचार्य ने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत लिये हैं—

1. जगत् एक कार्य (सावयव) है, अत: उसका कोई निमित्त कारण होना चाहिये। परमाणु (लघुतम परिमाणु) और आकाश (महत्परिमाणु) के बीच के सभी अवान्तर द्रव्य सावयव हैं, अत: वे अनित्य तथा कार्य द्रव्य हैं। कार्य का लक्षण है—सावयवत्व, जैसे घट, पट आदि। ब्रह्माण्ड में परमाणु और आकाश केवल ये दो द्रव्य निरवयव हैं अत: वे नित्य माने जाते हैं। (2) ईश्वर के बिना अदृष्ट परमाणुओं में गति का संचार नहीं हो सकता। (3) जगत को धारण करनेवाला भी कोई होना चाहिये, (4) पदों में अर्थ व्यक्त करने की शक्ति ईश्वर से ही आती है, (5) वेद परमार्थत: सत्य हैं, उनको देखकर उनके वक्ता ईश्वर

का अस्तित्व प्रमाणित होता है। (6) श्रुति से ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित होता है, (7) वेद वाक्य पौरुषेय हैं, और वेदकर्त्ता पुरुष विशेष ही ईश्वर है, (8) द्वित्वादि संख्या के संदर्भ में अपेक्षा बुद्धि का आश्रय परिशेषानुमान के आधार पर ईश्वर ही हो सकता है।[128]

न्याय शास्त्र के अनुसार आत्मा दो प्रकार का होता है। (1) जीवात्मा और (2) परमात्मा। परमात्मा को ही ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर विश्व की सृष्टि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि के परमाणुओं का करता है। परमाणुओं में गति का संचालन ईश्वर करता है। परमाणु अदृष्ट और अचेतन होने के कारण विश्व को धारण करने में सक्षम नहीं है। संसार के नैतिक अनुशासन के लिए ईश्वर संसार का संहार कर देता है। जीवात्माओं को कर्म करने की शक्ति भी ईश्वर ही प्रदान करता है।

न्याय की ईश्वर सम्बन्धी मान्यता के विरुद्ध जो आपत्तियाँ अन्य मतावसम्बियों ने उठाई हैं, वे प्रमुख रूप से इस प्रकार हैं—

(1) यदि ईश्वर पूर्ण है तो वह विश्व की सृष्टि किस प्रयोजन से करता है।[129] ईश्वर की कोई निजी इच्छा नहीं हो सकती क्योंकि इस तरह तो वह अपूर्ण माना जायेगा। यदि वह करुणावश संसार को बनाता तो विश्व सुखमय होता।[130]

(2) ईश्वर को कर्त्ता मानने पर उसको शरीर से युक्त भी मानना पड़ेगा क्योंकि शरीर के बिना कोई कार्य नहीं किया जा सकता। यदि वह शरीर से युक्त है तो उसका शरीर किसने बनाया? स्वयं वह अपना शरीर नहीं बना सकता और दूसरा शरीर कर्त्ता मानने पर आनन्त्य दोष हो जाएगा।[131]

(3) न्याय की एक युक्ति के अनुसार वेद के प्रामाण्य का आधार ईश्वर है और ईश्वर के एक अन्य तर्क के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व का आधार वेद है।[132]

उपर्युक्त तर्कों का खण्डन जयन्त और माधवाचार्य ने क्रमशः न्यायमंजरी तथा सर्वदर्शन संग्रह में निम्नलिखित रूप से किया है—

1. यह ईश्वर का स्वभाव है कि वह कभी तो संसार का सृजन कर देता है और कभी विनाश। क्रीड़ा के लिए संसार का निर्माण करने पर भी उसकी क्रिया शक्ति समाप्त नहीं होती। सुख दुःख के उपभोग से श्रान्त प्राणियों को विश्रान्ति

देने के लिए वह सृजन व संहार करता है। इससे उसका ईश्वरत्व समाप्त नहीं हो जाता। जीवों के कर्म भिन्न हैं, अतः फल में भी विषमता स्वाभाविक है।

2. चार्वाक आदि जब वेदों को भी किसी का कार्य मानते हैं, तो उन्हें यह भी मानना ही चाहिए कि पृथ्वी आदि का निर्माण भी किसी ने किया होगा। बौद्ध भी किसी पदार्थ को नित्य नहीं मानते और कार्यद्रव्य का तो कर्त्ता मानना ही पड़ेगा। प्रत्यक्षानुपलब्धि ईश्वर के अभाव का हेतु नहीं है। ईश्वर आत्मा के समान अशरीरी है। ज्ञान, चिकीर्षा, प्रयत्न आदि के रूप में उसका कर्तृत्व चरितार्थ होता है। कर्तृत्व के लिए ये तीनों तत्त्व पर्याप्त हैं।

3. ईश्वर का अस्तित्व निम्नलिखित अनुमान से सिद्ध होता है—

क्षित्यादिकं सकर्तृकम्, कार्यत्वात्, घटवत्।

4. नैयायिकों का तो यह कथन है कि 'ईश्वर का ज्ञान वेद से होता है और वेद की उत्पत्ति ईश्वर से हुई'। इसमें अन्योन्याश्रय दोष ही नहीं है। दोष तब होता, जब यह कहा जाता है कि ईश्वर की उत्पत्ति वेद से और वेद की उत्पत्ति ईश्वर से हुई।

जैसे कि पहले कहा गया, न्याय के समान योग और वेदान्त में भी ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया गया। किन्तु इन शास्त्रों में भी कुछ अवान्तर वैषम्य हैं।

अद्वैत वेदान्त में माया द्वारा आवृत्त ब्रह्म को ईश्वर कहा गया है। ईश्वर ब्रह्म का विवर्त है, अतः वस्तुतः वह ब्रह्म का ही व्यावहारिक रूप है। वह ब्रह्म और जगत् के बीच की कड़ी है। उसको कार्यब्रह्म भी कहा जाता है। ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है और ईश्वर की व्यावहारिक। जो नाम रूपात्मक अनादि जगत् बीज रूप में ईश्वर के अन्दर विद्यमान रहता है, वही माया है और उसी को ईश्वर की शक्ति कहा जाता है। सृष्टि और प्रलय अनादि जगत की अवस्थाएँ हैं। ईश्वर जगत् का साक्षी है। वह धर्म-अधर्म से परे है। वह नित्य शुद्ध तथा चैतन्य है। न्याय-दर्शन के अनुसार ईश्वर करुणा और इच्छा के कारण सृष्टिकर्त्ता व्यक्ति है। वह पिता की तरह जगत् की सृष्टि तथा पालन करता है। सृष्टि का प्रयोजन जीव का आध्यात्मिक उत्थान है।

शंकर ने ईश्वर को उपादान तथा निमित्तकारण दोनों माना है जबकि न्याय के अनुसार ईश्वर केवल निमित्त कारण है। न्याय ईश्वर की सिद्धि सामान्यतोदृष्ट अनुमान के आधार पर सिद्ध करता है, किन्तु शंकर का यह मत है कि ईश्वर

का अस्तित्व तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसमें तो श्रुति ही प्रमाण है। ज्ञातव्य है कि पाश्चात्य दार्शनिक कान्ट का भी यही मत है। शंकर के मत में प्रत्येक निमित्त कारण में केवल ज्ञान ही पर्याप्त है, जबकि नैयायिकों के अनुसार उसमें ज्ञान के साथ ही इच्छा और प्रयत्न भी आवश्यक हैं। शंकर के अनुसार इच्छा और प्रयत्न को आवश्यक मानने पर पूर्वस्रष्टा और उसके भी पूर्वस्रष्टा की कल्पना करनी पड़ेगी, जिसमें अनवस्था दोष हो जायेगा।

उपर्युक्त चर्चा के समाहार के रूप में यह कहा जा सकता है कि नैयायिकों के अनुसार ईश्वर ब्रह्माण्डकुलाल है। वह मकड़ी की तरह अपने भीतर से नहीं बल्कि कुम्भकार की तरह परमाणुओं (जो नित्य हैं) से सृष्टि की रचना करता है। इस प्रकार वह उपादान कारण नहीं, अपितु केवल निमित्त कारण है। ईश्वर का कोई शरीर नहीं, किन्तु अशरीरी होते हुये भी आत्मा की तरह वह इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न इन तीन गुणों से युक्त है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा कर्म-फल दाता है। वह कर्म और फल का संयोजक है। वात्स्यायन के कथनानुसार जैसे पिता अपनी सन्तान का हित करता है वैसे ही ईश्वर भी प्राणीमात्र का हित करने वाला पिता है।[134]

दसवें अध्याय के सन्दर्भ

1. मुक्तावल्या दिनकरी टीका, (मद्रास 1923 संस्करण), पृ० 51; अस्त्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः प्रमेयम्, न्या० भा० 1.1.9.

2. तत्रात्मसामान्यवानात्मा। स च देहेन्द्रियव्यतिरिक्तः प्रतिशरीरं भिन्नो नित्यो विभुश्च, त० भा० पृ० 180 (शुक्ल संस्करण) न्या० सू० 1.1.10.

3. इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगम्—वै० सू० 3.2.4

4. आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम्, कारिका।

5. किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् चैतन्यमुपजायते।

6. कुम्भादिष्वनुपलब्धेरहेतुः, न्या० सू० 3.2.36

7. केशनखादिष्वनुपलब्धेः न्या० सू० 3.2.51.

8. न पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः, न्या० सू० 3.2.48

9. सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात्, न्या० सू० 3.1.7.
   एकविनाशे द्वितीयाविनाशात् नैकत्वम्, न्या० सू० 3.1.9

10. इन्द्रियान्तरविकारात्, न्या० सू० 3.1.12

11. ज्ञातुर्ज्ञान साधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम्, न्या० सू० 3.1.17

12. संघातपरार्थत्वात्, त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
    पुरुषोऽस्ति—भोक्तृभावात्, कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ।। सा० का० 17.

13. त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं, प्रसवधर्मि।
    व्यक्तं, तथा प्रधानं, तद्विपरीतस्तथा च पुमान्। सां० का०, 11

14. जन्म-मरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
    पुरुषबहुत्वं सिद्धं, त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ।। सां० का० 18.

15. मी० सू० 1.1.5.

16. 'Jaimini does not offer any detailed proof of the reality of atman, but seems to accept the arguments of the Vedanta on the question.'—Radhakrishnan, S. In. Phil. Vol. II. p. 407-408.

17. श्लो० वा० आत्मवाद 74-75;
बुद्धीन्द्रियशरीरेभ्यो भिन्नात्मा विभुर्ध्रुवः ।
नानाभूतः प्रतिक्षेत्रमर्थज्ञानेषु भासते ।। स० सि० से० 6 : 206

18. शा० दी० पृ० 348-49

19. स्वयंप्रकाशत्वेन, विषयप्रतीतिगोचरत्वेन (प्रक० पंचिका, पृ० 151)

20. श्लो० वा० आत्म-वाद 74-75, 107. 142-43,

21. आत्मनोऽस्ति-अंशद्वयं चिदंशोऽचिदंशश्च; चिदंशेन द्रष्टृत्वमचिदंशेन ज्ञानसुखादि परिणामित्वं 'माम् अहं जानामि' इति ज्ञेयत्वं च ।
पी० शास्त्री : पूर्वमीमांसा, पृ० 95
और देखें विव० प्रमे० संग्रह Thibott's Eng. trans. Indian Thought Vol. I, p. 357.

22. आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिध्यति । न चेदृशस्य निराकरणं संभवति, आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते न स्वरूपम् । नहि अग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते ।
शां० भा० 2.3.7;
'Like Descarts, Samkara finds the basis of truth in the immediate self certainty which in untouched by any of the doubt cast on other things.'
—Radhakrishnan, S. I. Phil. Vol. II. p. 476.

23. सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति नाहमस्मीति । शां० भा० 1 : 1, 1,

24. अपरोक्षात्वाच्च प्रत्यगात्मा-प्रसिद्धेः । शां० भा० 1 : 1, 1.

25. भ० गी० पर शां० भा० 18 : 50,

26. शां० भा० 1 : 1, 4.

27. सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः । शां० भा० 1 : 1, 1

28. विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ० 323-28.

29. शां० भा० 2:2, 28; स्वयं ज्योतिःस्वरूपत्वात् शां० भा० 1:3, 22; विवेकचू० मणि पृ० 239; शां० भा० 3:2, 16, 1:3, 19, 22; 1:1, 4 सत्यत्वम्, स्वमहिमाप्रतिष्ठितत्वम्, सर्वगतत्वम्, सर्वात्मत्वम्, शां० भा० 1:3, 9,

30. Kant's account of its difference from the empirical ego, which is a product of conditions, applies to, Samkara's Atman.—R. K. In. Phil. Vol. II p. 484.

31. मुण्डक उ० 1.1.

32. अनयोरेव द्वयोर्जगदर्तिनः सर्वेऽपि भावा अन्तर्भवन्ति षड० द० समु०, पृ० 211.

33. 'The soul is directly percieved just as the external things are. It is not a mere Symbolic object indicated by a phrase or a description. This is directly against the view of the great Mimansa authority, Prabhakara.'
—Dasgupta. A Hist. In. Phil. Vol. I, p. 188.

34. चैतन्यलक्षणो जीवः, षड द० समु० का० 49.

35 'A peculiar feature of the Jain theory is its dactrine that there are souls even in inorganic objects, like metals and stone.'
—Radhakrishnan, S. 2nd Poil. Vol. I. p. 322.

36. 'The anti-atma argument of Buddhism is mainly and consistently directed against the notion of a soul, which was not only a persistent unchanging, blissful transmigrating superphenomenal being, but was also a being wherein the Supreme Atman or world soul was immanent one with it, in essence and as a bodily or mental factor issuing its flat.'
—Rhys Davids, Buddhist Psychology, p. 31.

37. 'Proceeding of the Aristotalian Society.' Vol. 19, p. 284.

'Buddha clearly tells us what the self is not, though he does not give any clear account of what it is. It is however wrong to think that there is no self at all according to Buddha.'—In. Phil. Vol. I. p. p 386.

38. Concept of soul in In. Phil. Sukla, P. C., 66. J. N. Sinha, Hist. In. Phil. Vol. II, p. 291.
39. वै० सू० 3 : 2, 6,
40. वै० सू० 3 : 2, 8.
41. पदा० धर्म सं०, पृ० 69, वै० सू० 3 : 1, 19.
42. प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतिइन्द्रियान्तरविकारसुखदुःखेच्छाद्वेष-प्रयत्नाश्चात्मनो लिंगानि । वै० सू० 3/2/4.
43. अशरीरिणामात्मनां न विषयावबोधः न्या० क० पृ० 57, व पृ० 279 भी देखें ।
44. आत्मा जीवोऽनेको नित्यो मूर्तो विभुर्द्रव्यं च । षड् द० समु० पृ० 409.
45. व्यवस्थातो नाना । वै० सू० 3 : 2, 20.
46. शास्त्रसामर्थ्यात् वै० सू० 3 : 2, 21; न्या० क० पृ० 86,
47. न्या० क०, पृ० 87-88.
48. एककर्तृकत्वं ज्ञानेच्छाप्रवृतीनां समानाश्रयत्वम् । न्या० भा० 3 : 2, 34.
49. न्या० वा० 1/1/10.
50. चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्, न्या० सू० 1.1.11
51. चेष्टा तु हिताहितप्राप्तिपरिहारार्था क्रिया नतु स्पन्दनमात्रम् । त०भा०
52. न्या० भा० 1. 1. 11
53. तस्य भोगायतनमन्त्यावयवि शरीरम्, त०भा० (सं० शुक्ल, बदरीनाथ) पृ० 221.
54. शुक्ल, बदरीनाथ, तर्कभाषाव्याख्या, पृ० 221.
55. अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु, वै० सू० 8-2-3.
56. अस्त्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः प्रमेयम्, तद्भेदेन चापरिसंख्येयम् । अस्य तु तत्त्वज्ञानादपवर्गो मिथ्याज्ञानात्संसार इत्यत एतदुपदिष्टं विशेषेणेति, न्या० भा० 1.1. 9.

57. अर्थाः षट् पदार्थाः। ते च द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाः प्रमाणादयो यद्यप्यत्रैवान्तर्भवन्ति, तथापि प्रयोजनवशात् भेदेन कीर्तनम् त० भा० (शुक्ल, बदरीनाथ) पृ० 215.

58. द्रवति ऊर्ध्वं गच्छति इति द्रुः (वृक्षः) द्रु इव इस अर्थ में द्रु धातु से यत् प्रत्यय होकर द्रव्य शब्द बना; द्रव्यत्वजातिमत्त्वम्, गुणवत्त्वम्, क्रियावत्त्वम् समवायिकारणं द्रव्यम्, त० भा० (सं० ब० शुक्ल), पृ० 239.

59. तमः खलु चलं नीलं परापरविभागवत्।
प्रसिद्धद्रव्यवैधर्म्यान्निवभ्यो त्तुमर्हति ॥

60. द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्, 1. 1. 16.

61. सामान्यवान्, असमवायिकारणम् अस्पन्दात्मा गुणः। सच द्रव्याश्रित एव, त० भा० (शुल्क) पृ० 260

62. तर्क दीपिका, पृ० 16.

63. वै० सू० 1. 1. 6.

64. रूपं रसः स्पर्शगन्धौ परत्वमपरत्वकम्।
द्रवत्वस्नेहवेगाश्च मता मूर्तगुणा अमी ॥ कारि०

65. धर्माधर्मौ भावना च शब्दो बुद्धयादयोऽपि च।
एते मूर्तगुणाः सर्वे विद्वद्भिः परिकीर्तिताः ॥ कारि०

66. संयोगश्च विभागश्च संख्या द्वित्वादिकास्तथा।
द्विपृथक्त्वादयस्तद्वदेतेऽनेकाश्रिता गुणाः ॥
अतः शेषगुणाः सर्वे मया एकैकवृत्तयः, का० 89, 90.

67. आदाविन्द्रिय सन्निकर्षघटनादेकत्वसामान्यधी
रेकत्वोभयगोचरामतिरतो द्वित्वं ततो जायते।
द्वित्वत्वप्रमितिस्ततोऽनुपरतो द्वित्वप्रमानन्तरम्,
द्वे द्रव्ये इति धीरियं निगदिता द्वित्वोदयप्रक्रिया ॥
—स० द० सं० (ऋषि) पृ० 420.

68. आदावपेक्षाबुद्ध्या हि नश्येदेकत्वजाति धीः।
द्वित्वोदयसमं पश्चात् सा च तज्जातिबुद्धितः ॥
द्वित्वाख्यगुणधीकाले, ततो द्वित्वं निवर्तते।

अपेक्षाबुद्धिनाशेन द्रव्यधी जन्मकालतः ॥
गुण बुद्धिर्द्रव्यबुद्धया संस्कारोत्पत्तिकालतः ।
द्रव्यबुद्धिश्च संस्कारादिति नाशक्रमो मतः ॥
—स० द० सं० (ऋषि-सं०) वृ० 423.

69. शुक्ल, बद्रीनाथ, तर्कभाषा व्याख्या, पृ० 305

70. आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनोयुङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥
मारुतस्तूरसि चरन्मद्रं जनयति स्वरम्,
—पाणिनीय शिक्षा, 6–7

71. आत्ममनसः संयोगात्स्मृत्यपेक्षाद् वर्णोचारणेच्छा तदनन्तरं प्रयत्न-स्तमपेक्षमाणादात्मवायुसंयोगाद् वायौ कर्म जायते। स चोर्ध्वं गच्छत् कण्ठादीनभिहन्ति । ततः स्थानबायुसंयोगापेक्षमाणात् स्थानाकाशसंयोगात् वर्णोत्पत्तिः । वै० भा०

72. प्रथमादि शव्दानां च स्वकार्यशब्देनैव नाशः चरमस्य तूपान्त्यशब्देनोपान्त्यशब्दनाशेन वा नाशः, दिनकरी ।

73. तर्कदीपिका, पृ० 159.

74. कणाद रहस्यम्, पृ० 122.

75. प्रशस्तपादभाष्यम् (सुखप्रकरण) पृ० 211.

76. यज्जातीयः समुत्पाद्य स्तज्जातीयस्य कारणम् ।
स्वयं यस्माद् विजातीयः संस्कारः स गुणो भवेत्, ता० र० 5.48.

77. संस्कारव्यवहारासाधारणकारणं संस्कारः, त० भा० (शु०) पृ० 327.

78. अनुभवजन्यास्मृति हेतुर्भावना आत्ममात्रवृत्तिः, त० सं० (व्याख्याकार भार्गव, दयानन्द) पृ० 176.

79. शुक्ल, ब०, त० भा० व्याख्या, पृ० 328.

80. चलनात्मकं कर्म, त० दी०; त० भा० (श्री नि०) 243.; एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्, वै० सू० 1. 1. 17.

81. अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्, त० भा० (श्री नि०) पृ० 244.

82. नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्, न्या० सि० मु०

83. नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्, त० सं० (स० भार्गव) पृ० 177.

84. सामान्यं विशेष इति बुध्यपेक्षम्, वै० सू० 1.2.3.

85. विशेषो नित्यो नित्यद्रव्यवृत्तिः। व्यावृत्तिबुद्धिमात्रहेतुः; अन्त्यो नित्य-द्रव्यवृत्तिविशेषः परिकीर्तितः का० 10; नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एवं, त० सं०।

86. अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः;
तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः।
अनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते ॥ त० भा० (श्री नि०) पृ० 27.

87. शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र, 2.2.17

88. नञ्पदप्रतीतिविषयत्वम् अभावत्वम्, भावभिन्नत्वमभावत्वम् द्रव्यादि-षट्काभाववत्वम्, शुक्ल० त० भा० व्याख्या; न्या० सि० मु०; प्रति-योगिज्ञानाधीनविषयत्वम्, सिद्धान्तचन्द्रोदय।

89. स चासमवायत्वे सत्यसमवायः, स० द० सं० (हि० भा० ऋषि), पृ० 444.

90. बुद्धिरुपलब्धिज्ञानमित्यनर्थान्तरम्, न्या० सू० 1.1.15,

91. पर्यायप्रयोगस्यैव लक्षणक्षमत्वात्, न्या० सं०

92. अर्थप्रकाशो बुद्धिः, त० भा०

93. सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्, त० सं०

94. बुद्धित्वसामान्यवती आत्माश्रयः प्रकाशो बुद्धिः, स० प०;
अज्ञानान्धकारतिरस्कारकारकसकलपदार्थप्रकाशकः प्रदीप इव देदीप्यमानो यः प्रकाशः सा बुद्धिः, जिनवर्द्धिनी; जानामीत्यनुव्यव-सायगम्यज्ञानत्वम्।

95. एवं हि सांख्या संगिरन्ते बुद्धिरन्या
ज्ञानमन्यदुपलब्धिरन्येति तद्भ्रमापनयनायै
वमुच्यते बुद्धिरूपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्।

96. अध्यवसायो बुद्धिधर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्'
सात्विकमेतद् रूपं तामसमस्माद् विपर्यस्तम् ॥

97. तत्र योऽयं कर्तव्यमिति विनिश्चयश्चितिसन्निधानादापन्न चैतन्याया-बुद्धेः, सोऽध्यवसायः—बुद्धेरसाधारणो व्यापारः, तदभेदा बुद्धिः सां० त० कौ० 23;

बुद्धितत्त्वं हि प्राकृतत्वादचेतनं, तदोयोऽध्यवसायोऽप्यचेतनः घटा-दिवत्………चितिच्छायापत्या अचेतनाऽपि बुद्धिस्तदध्यवसायोऽप्यचेतनश्चेतनवद् भवति (सां० त० कौ० 5) तस्मात् तत्संयोगाद-चेतनं चेतनावदिति लिंगम्, सां० का० 20

98. साक्षात्कारे सुखादीनां करणं मन उच्यते।

99. सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः

100. मनसो लक्षणं च स्पर्शरहितत्वे सति क्रियावत्वम्, तर्क दीपिका।

101. युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः मनसो लिंगम्।

102. आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिंगम्, वै० सू० 3. 2. 1.

103. ज्ञानायौगपद्यात् एकं मनः; न्या० सू० 3–2–59.
अयौगपद्यात् ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहोच्यते, भा० प०।

104. इन्द्रियं चक्षुरादि, अनिन्द्रियं मनः, प्रमे० रत्नमाला, पृ० 71. एवं मनोऽपि द्वेधा इष्टव्यमिति। प्रमे० कम० मार्त०, पृ० 230 निर्णय सा०

105. 'मनोऽपि द्वेधा-भावमनो द्रव्यमनश्चेति। भावमनो लब्ध्युपयोगलक्षणं चेतनपर्यायः। द्रव्यमनश्च··· गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानाभि-मुखस्यात्मनोऽनुग्राहकाः पुद्‌गला वीर्यविशेषावजैनसमर्था मनस्त्वेन परिणता इति कृत्वा पौद्‌गलिकम्।' तत्वा० वृ० 1.14; 5.19.

106. ज्ञानेन्द्रियाणि पंचैव तथा कर्मेन्द्रियाणि च।
मनोबुद्धिरिति प्रोक्तं द्वादशायतनं बुधैः॥ स० द० सं०

107. 'चक्षुरादि-अतिरिक्तं हि मनोऽस्माभिरपीष्यते।' तत्त्व सं० 631, पृ० 209.

108. चित्तं मनश्च विज्ञानं लक्षणार्थं प्रकल्पते।
चित्तेन चीयते कर्म मनसा च विचीयते। संकावतारसूत्रम्

109. प्रकृतिपुरुषयोरन्यत् सर्वमनित्यम्। सां० सू० 5-72.

110. वृत्तिरेवास्य विभु: संकोचविकासिनीत्याचार्य:, तच्च धर्मादिनिमित्तापेक्षमिति ।'—यो० सू० भा० 4.10.

111. धर्माधर्मवासनाश्रयतया प्रतिपुरुषमन्त:करणं नित्यम् । तच्च नाणु सम्भवति, योगिनां सर्वावच्छेदेन एकदा अखिलसाक्षात्कारसम्भवात् । नाप्यन्त:करणं मध्यपरिमाणं सम्भवति, प्रलये विनाशेनादृष्टाद्याधारताऽनुपपत्ते: । अत: परिशेषतोऽन्त:करणं विभ्वेव सिध्यतीति, यो० वा० 4

112. 'मनस: कार्यत्वात् परिच्छिन्नत्वेऽपि गगनमण्डलवत् त्रैलोक्यव्यापित्वात् गगनादिव्यापित्वमेव मनोविभुत्वमित्येवं समाधानं वाचस्पतिमिश्रेणोक्तम् ।' त० वै० 4.10.

113. मनसोऽभ्युपगमे च सकलात्मगुणोदय एव प्रमाणम् । बुद्धिसुखदु:खेच्छाद्वेषप्रयत्नादृष्टसंस्काराणां नवानामपि वैशेषिकगुणानां मन: संयोगेनैवोत्पत्तेरिति । प्रक० पं० पृ० 330 (ब० हि० वि०)

114. मनश्चान्त: शरीरं परमाणुपरिमाणम् । तत् खलु द्रव्यभूतं संयोगगुणभागितयेष्यते । प्रक० पं० पृ० 332. (ब० हि० वि०)

115. मनसस्तित्वन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षा धी: सुखादिषु ।
मनसा संप्रयुक्तो हि तानात्मा प्रतिपद्यते ।। श्लो० वा० 4.83

116. 'मनस्तु विभु तद्देहे च कार्यावहमिति ।' म० भेयो० पृ० 9

117. 'वृत्तिभेदेन मनोबुद्ध्यहंकारचित्तव्यपदेशभाजनमन्त: करणमेव सुखदु:खबन्धमोक्षादिसर्वव्यवहारकारणं व्यवहारमात्रस्यैवान्त:करणवृत्तिविशेष जन्यत्वादित्यद्वैतवेदान्तिन: प्राहु: ।' ब्रह्म० सू० शा० भा० 2.4.17

118. मनोदशेन्द्रियाध्यक्षं हृत्पद्मगोलके स्थितम् ।
तच्चान्त:करणं बाह्येष्वस्वातन्त्र्याद् विनेन्द्रियै: ।। पंचदशी 2.12.13
'रामानुजीयानां वेदान्तिनां मते एकमेवान्त:करणं मन:, तच्चान्तरिन्द्रियं, सांख्यमतवदेव सात्विकाहंकारोपादानकं परिच्छिन्नं च ।'
—ब्रह्म सू० शां० भा० 4.2.3,

119. प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भ:, न्या० सू०

120. शरीरेण दानं परित्राणं परिचरणं च, वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्याय चेति, मनसा दयामस्पृहां श्रद्धां चेति, सेयं धर्माय, न्या० भा०, 1.1.2

121. दोषैः प्रयुक्तः शरीरेण प्रवर्तमानो हिंसास्तेय प्रतिषिद्धमैथुनान्याचरति, वाचाऽनृतपरुषसूचनाऽसम्बद्धानि, मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यं चेति, सेयं पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्माय, न्या० भा० 1.1.1

122. पूर्वोपात्तशरीरादिपरित्यागादन्यशरीरसंक्रान्तिः, (प्रेत्यभावः) न्या० वा०, 1.1.19

123. पुनरुत्पत्तिः, प्रेत्यभावः न्या० सू० 1.1.19.

124. उत्पन्नस्य सम्बद्धस्य सम्बन्धस्तु देहेन्द्रियमनोबुद्धिवेदनाभिः पुनरुत्पत्तिः पुनर्देहादिभिः सम्बन्धः न्या० भा० 1.1.19.

125. ससाधानसुखदुःखपभोगः फलम्, न्या० भा० 1.1.9; न्या० भा०, 4-1-48.

126. प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः, न्या० सू० 4-1-52.

127. पुत्रादिसम्बन्धात् फलं प्रीतिलक्षणमुत्पद्यते इति पुत्रादिषु फलवदुपचारः यथान्ने प्राणशब्दोऽन्नं वै प्राणा इति, न्या० भा० 4-1-54.

128. दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः, न्या० सू० 1.1.2.

129. तद्वा निवर्त्य सजातीयस्य दुःखस्य पुनस्तत्रानुत्पादः, स० द० सं०

130. ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्, न्या० सू० 4-1-19;
गुणविशिष्टमात्मान्तरम् ईश्वरः। तस्यात्मकल्पात् कल्पान्तरा नुपपत्तिः अधर्ममिथ्याज्ञानप्रमादहान्या धर्मज्ञानसमाधिसम्पदा च विशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः तस्य च धर्मसमाधिफलमणिमाद्यष्टविधमैश्वर्यम्। न्या० भा० 4-1-20.

131. सापेक्षत्वादनादित्वात् वैचित्र्याद् विश्ववृत्तितः।
प्रत्यात्मनियमात् भुक्तेरस्ति हेतुरलौकिकः॥

132. प्रमायाः परतन्त्रत्वात् सर्ग-प्रलयसम्भवात्।
तदन्यस्मिन्ननाश्वासात न विधान्तरसम्भवः, न्या० कु० 2.1.

133. योग्यादृष्टिः कुतोऽयोग्ये प्रतिबन्धिः कुतस्तराम्।
क्वाऽयोग्यं बाध्यते शृंग क्वाऽनुमानमनाश्रयम्। न्या० कु० 3.1.

134. मितिः सम्यक् परिच्छित्तिः तद्वत्ता च प्रमातृता।
तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते। न्या० कु० 4.5.

135. कार्यायोजनाधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः, श्रुतेः ।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वजिदव्यय,, न्या० कु० 5.1

136. अवाप्तसर्वानन्दस्य रागादिरहितात्मनः ।
जगदारंभमाणस्य न विद्मः किं प्रयोजनम्, न्या० मं० (विज० सं०) पृ० 192,

137. करुणाऽमृतसंसिक्त हृदयो वाजगत् सृजन् ।
कथं सृजति दुर्वार दुःखप्राग्भारदारुणम्, वही

138. अशरीरस्य कर्त्तृत्वं दृश्यते नहि कस्यचित् ।
देहोऽप्युत्पत्तिमानस्य देहत्वाच्चैत्रदेहवत्
स्वयं निजशरीरस्यनिर्माणमिति साहसम्
कर्त्रन्तरकृते तस्मिन्नीश्वरानन्त्यमापतेत्—न्या० मं०, पृ० 191

139. किंचागमस्य प्रामाण्यं तत्प्रणीतत्वहेतुकम् ।
तत्प्रामाण्याच्च तत्सिद्धि रित्यन्योन्याश्रयं भवेत् ।।

140. न्या० मं० (विज० सं०), पृ० 194.

141. आप्तकल्पश्चायम् यथा पिताऽपत्यानां तथा पितृभूत ईश्वरो भूतानाम्, न्या० भा० 4.1.21.

अध्याय 11

कार्य–कारण–सम्बन्ध

1. कारण की संकल्पना

ज्ञान से सम्बद्ध अनेक समस्याओं के विश्लेषण में कहीं न कहीं और किसी न किसी रूप में कार्य-कारण का पहलू विचारणीय हो ही उठता है। कारण और कार्य के लक्षणों के अतिरिक्त कारण के भेदों और कार्य की पूर्व सत्ता असत्ता आदि के सम्बन्ध में भी भारतीय आचार्यों का ऐकमत्य नहीं रहा। यहाँ कारण-कार्य के स्वरूप पर संक्षेप में चर्चा की जा रही है।

2. कारण का लक्षण

कारण और कार्य की धारणाएँ परस्पर सापेक्ष हैं। किसी एक सोपान या संदर्भ में जो कार्य है, वही किसी दूसरे सोपान या संदर्भ में कारण कहलाता है। तात्पर्य यह है कि कारणता और कार्यता के आश्रय परिवर्तनशील हैं। हाँ इतना निश्चित है कि किन्हीं दो निश्चित तथ्यों, घटनाओं या वस्तुओं में कार्य-कारण सम्बन्ध ही तो कारण का अस्तित्व पहले और कार्य का अस्तित्व बाद में होता है। अतः सामान्यतया क्रम की दृष्टि से यही माना जाता है कि कारण कार्य का नियत पूर्ववर्ती होता है। हाँ उनके ज्ञान का क्रम निश्चित नहीं है। वैसे, इस सम्बन्ध में और भी कई बातें विचारणीय हैं। कारण के लक्षण निम्न-लिखित रूप से किये गये हैं—

(क) नैयायिकों के मतानुसार जो अन्यथासिद्ध न हो, नियत हो और कार्य का पूर्ववर्ती हो, वह कारण कहलाता है।[1]

(ख) मीमांसकों का यह कथन है कि कार्य के साथ जिसकी अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति हो, वह कारण कहलाता है।[2]

(ग) जिसका अभाव कार्य के अभाव का प्रयोजक हो वह कारण है।[3] यह परिभाषा इस मन्तव्य पर आधारित है कि कारण के अभाव से ही कार्य का अभाव होता है।

उपर्युक्त में से दूसरे लक्षण को नैयायिक ठीक नहीं मानते क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक की अनिवार्यता मानने पर विभु द्रव्यों (आकाश, काल, दिक्, आत्मा और ईश्वर) में कारणत्व सिद्ध न हो सकेगा, क्योंकि किसी भी दिक् काल में उनका अभाव न होने के कारण किसी भी कार्य में उनका व्यतिरेक सम्भव नहीं होगा। तीसरे लक्षण में भी यह दोष है कि यह भी आकाश आदि विभु द्रव्यों के संदर्भ में ठीक नहीं घटता।

नैयायिकों के अनुसार कारण का कार्य से पूर्वभाव होता है। पूर्वभाव का अर्थ यहाँ पर अव्यवहित पूर्ववर्तिता है। अन्यथा बहुत वर्षों पूर्व विद्यमान तन्तु भी पट का कारण माना जाने लगेगा। कारण की परिभाषा में यदि नियत शब्द का समावेश न किया जाता तो, पट निर्माण के पूर्व अकस्मात् आगत रासभ आदि में भी कारण की अतिप्रसक्ति हो जाती। अन्यथासिद्ध को भी कारण नहीं कहा जा सकता। उदाहरणतया कुम्हार का पिता घट के संदर्भ में अन्यथा सिद्ध है। अतः वह घट का कारण नहीं माना जा सकता।

इस संदर्भ में यह आशंका की जा सकती है कि 'अन्यथासिद्ध' में ही 'नियत' का भी समावेश हो जाता है, फिर 'नियत' शब्द का अलग से उल्लेख करने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान इस प्रकार हो जाता है कि 'नियत' शब्द से कार्य-पूर्ववर्ती अन्यथासिद्ध पदार्थों की और अन्यथासिद्ध शब्द से कार्यनियत पूर्ववर्ती अन्यथासिद्ध पदार्थों की व्यावृत्ति होती है।[4]

जो जिस कार्य का नियतपूर्ववर्ती होते हुये भी उस कार्य का कारण नहीं कहा जाता, वह उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है।[5] विश्वनाथ ने निम्न-लिखित प्रकार से इसके पाँच भेदों का निर्देश किया है—

(1) जिस कार्य के जो-जो धर्म कारणतावच्छेदक होते हैं, वे सब उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होते हैं। जैसे घट के सन्दर्भ में दण्डत्व।

(2) जिस पदार्थ में कार्य की नियतपूर्ववर्तिता का ज्ञान उस कार्य के कारण के द्वारा होता है, वह पदार्थ भी उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है। जैसे घट के सन्दर्भ में दण्डगत रूप।

(3) जिस पदार्थ में कार्य की नियत-पूर्ववर्तिता किसी अन्य कार्य की नयत-पूर्ववर्तिता के ज्ञान के पश्चात् ही होती है, वह पदार्थ भी उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है। जैसे (शब्द कारण के रूप में) घट के प्रति आकाश अन्यथासिद्ध है।

(4) जिस पदार्थ में कार्य की नियत-पूर्ववर्तिता उस कार्य के कारण की नियतपूर्ववर्तिता के ज्ञान के बिना ज्ञात नहीं हो सकती, वह पदार्थ भी उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है, जैसे, घट के सन्दर्भ में कुम्हार का पिता।

(5) जिस कार्य के प्रति जितने अवश्यक्लृप्त लघु और नियतपूर्ववर्ती होते हैं, उन सबसे जो भिन्न अतिरिक्त होता है, वह उस कार्य के प्रति अन्यथा सिद्ध होता है। जैसे घट के सन्दर्भ में रासभ।[6]

3. कारण के भेद

न्याय-वैशेषिक में कारण के तीन भेद माने गये हैं—(क) समवायिकारण, (ख) असमवायिकारण और (ग) निमित्तकारण। मीमांसकों आदि ने प्रथम को समवायिकारण न कहकर उपादान कारण कहा है, किन्तु न्याय वैशेषिक अपनी समवाय सम्बन्धी मान्यता के आधार पर इसको समवायिकारण कहते हैं, न कि उपादान कारण। समवाय का अस्तित्व स्वीकार न करने और समवायिकारण को न मानने के कारण मीमांसक आदि असमवायिकारण को भी स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार लौकिक कारण के दो ही भेद हैं: (क) उपादानकारण और (ख) निमित्तकारण। नैयायिकों के अनुसार तीन कारणों का स्वरूप निम्नलिखित है—

(क) समवायिकारण

जिस कारण में कार्य समवेत हो यानी समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता हो, वह समवायिकारण कहलाता है। जैसे तन्तु पट का समवायिकारण है। यह ज्ञातव्य है कि जो कारण किसी कार्य का एक विशेष सन्दर्भ में समवायिकारण होता है, वही दूसरे संदर्भ में किसी अन्य कार्य का निमित्त कारण भी हो सकता है। उदाहरणतया तन्तु पट का समवायिकारण है, किन्तु तन्तु से जब कोई वस्तु बाँधी जाती है तो वह निमित्त कारण होता है। अतः कारण का स्वरूप परिवर्तनशील है।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, मीमांसक आदि समवाय की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या वे ठीक उसी को उपादान कारण कहते हैं जिसको नैयायिकों ने समवायिकारण कहा? कुछ विद्वानों का विचार है कि इन दोनों में अन्तर है। उदाहरण के रूप में कपालद्वय को घट का समवायिकारण और मिट्टी को घट का उपादान कारण कहा जा सकता है। किन्तु यह बात स्पष्टतया न तो नैयायिकों ने मानी, न ही

मीमांसकों ने। फिरभी, साधारणतया यह कहा जा सकता है कि नैयायिक जिसको समवायि कारण कहते हैं, वही मीमांसकों के मतानुसार उपादान कारण है।

(ख) असमवायिकारण

जो समवाय सम्बन्ध से समवायिकारण में रहता हो तथा समवायिकारण के कार्य का जनक हो, वह असमवायिकारण कहलाता है। उदाहरणतया कपालद्वयसंयोग घट का असमवायिकारण है। इसी प्रकार तन्तुसंयोग पट का असमवायिकारण है।

'असमवायी' शब्द का अर्थ यह मानना उचित नहीं है कि "वह कारण जो समवाय सम्बन्ध से कार्य का आश्रय न हो" क्योंकि ऐसा शाब्दिक अर्थ करने पर उसकी निमित्त कारण में अतिव्याप्ति हो जाएगी।

केशव मिश्र ने 'तन्तुरूप' को पट रूप का असमवायिकारण बतलाया है। किन्तु यहाँ पर यह आपत्ति की जा सकती है कि 'तन्तुरूप' पटरूप के समवायिकारण पट में प्रत्यासन्न नहीं है अतः वह असमवायिकारण कैसे माना जा सकता है? इस शंका का समाधान यह है कि समवायिकारण के समवायिकारण में जो प्रत्यासन्न हो, वह भी असमवायिकारण माना जाता है।

समवायिकारण केवल द्रव्य होता है और असमवायिकारण केवल गुण और कर्म ही होते हैं।[7]

(ग) निमित्तकारण

जो किसी कार्य का समवायिकारण और असमवायिकारण न होते हुये भी कारण हो, वह निमित्तकारण कहलाता है। उदाहरण के रूप में पट के संदर्भ में बेमा निमित्त कारण है। बेमा पट में समवेत नहीं है। वह स्वसमवायि-समवाय सम्बन्ध से भी पट में प्रत्यासन्न नहीं है, फिर भी वह कारण है, क्योंकि पट के प्रति वह अनन्यथासिद्ध और पूर्ववर्ती है।

यह ज्ञातव्य है कि भावात्मक कार्यों के तो तीन प्रकार के कारण होते हैं, किन्तु अभावात्मक कार्यों (ध्वंस) का केवल निमित्त कारण ही होता है। कतिपय आचार्यों का यह कथन भी है कि तीनों कारणों में निमित्त कारण प्रधान होने के कारण करण कहलाता है और अन्य दो कारण सहकारी हैं। किन्तु यह मत सर्वमान्य नहीं है।

4. कारण और करण

उपर्युक्त तीनों कारणों के सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि क्या ये तीनों अलग-अलग अवसरों पर करण होते हैं ? क्या केवल निमित्त कारण ही करण होता है ? अथवा तीनों मिलकर करण होते हैं। केशव मिश्र ने सातिशय कारण को करण कहा है अन्नंभट्ट के अनुसार असाधारण कारण ही करण है। किन्तु जयन्त भट्ट प्रभृति ऐसे नैयायिकों का मत भी ध्यान देने योग्य है, जो किसी एक कारण को नहीं, अपितु समग्र कारण समूह को ही करण मानने के पक्ष में हैं।

जो आचार्य सातिशय या असाधारण कारण को करण कहते हैं, उनके मतानुसार सातिशय या असाधारण शब्द का क्या अर्थ है, यह बात भी विचारणीय है। एक मत यह है कि जिसके न रहने पर कार्य की कभी भी उत्पत्ति न हो सके, वह असाधारण कारण है। केशव मिश्र के अनुसार जो कारण सब कारणों में से उत्कृष्ट हो, वह सातिशय कहलाता है।

कुछ लोगों के विचार में व्यापारयुक्त असाधारण कारण ही करण कहलाता है। **'तज्जन्य: तज्जन्यजनकश्च व्यापार:'** इस परिभाषा के अनुसार घट के संदर्भ में चक्रभ्रमण व्यापार है, जो घट के निमित्त कारण दण्ड से उत्पन्न होता है। अत: दण्ड व्यापारयुक्त हुआ। इस प्रकार दण्ड में ही अतिशयता है। अत: वही साधकतम है। साधकतम का अर्थ यदि 'अविलम्ब से कार्योत्पादक' माना जाए, तो प्रत्यक्ष प्रमा में इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष, और अनुमान में परामर्शज्ञान को ही करण मानना होगा। इस प्रकार किसी कार्य की उत्पत्ति में कारण तो तीन होते हैं; किन्तु उनमें से निमित्त कारण में कुछ विशेषता रहती है, क्योंकि व्यापार उसी में रहता है।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, जयन्त भट्ट का यह मत है कि कोई कार्य अनेक कारणों के सन्निधान से होता है। उनमें से किसी एक के भी अभाव में कार्य नहीं हो सकता। फिर अतिशयता किसी एक में कैसे मानी जा सकती है? सन्निधान, साकल्य या सामग्री में ही अतिशयता है, अत: सामग्री ही करण है। सन्निपत्यजनकत्व (अव्यवहितत्व) में भी अतिशयता मानना उचित नहीं है क्योंकि दूर स्थित कारणों के अभाव में भी तो कार्य नहीं होता। सहसा कार्य जनकत्व को भी अतिशय कहना ठीक नहीं। उदाहरणतया घनघोर वर्षा में रात के समय एकाएक बिजली चमकने पर यदि किसी कामिनी का मुख दिखाई दे तो बिजली की चमक में ही, अतिशय मानना उचित नहीं। क्योंकि यदि कामिनी न हो तो उसके दर्शन कैसे हो सकते हैं ? प्रस्तुत संदर्भ में कामिनी कर्म कारक है किन्तु

सहसा कार्यजनकत्व को ही यदि कारण माना जाएगा तो कर्मकारक भी करण की कोटि में जा जाएगा। इस प्रकार जयन्त के अनुसार अतिशयता सामग्री (कारण कूट) में है। अतः वही करण है [8]

5. कारण और कार्य

कारण और कार्य के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में भी अनेक मत प्रचलित हैं। उनके स्वरूप की भी संक्षेप में चर्चा करना अनुपयुक्त न होगा।

(क) स्वभाववाद

चार्वाकों के अनुसार कारण से कार्य की उत्पत्ति स्वाभाविक रूप से होती है। इसी को अकस्मात् उत्पत्ति भी कहा जाता है। मनुष्य स्वभाव से ही सुखी या दुःखी है। धर्म अधर्म उसके कारण नहीं हैं। मयूर को कोई चित्रित नहीं करता, कोयल को मधुर स्वर कोई अन्य प्रदान नहीं करता। आग ऊष्ण और जल शीतल होता है। कटि में तीक्ष्णता स्वतः, उद्भूत होती है। यह इनका स्वभाव है। चार भूतों के सम्मिश्रण से जीव की उत्पत्ति होती है। चेतना भी सम्मिश्रण से उसी तरह उत्पन्न होती है जैसे कि पान के पत्ते, सुपारी, चूना, कत्था मिलने पर लाल रंग स्वतः उत्पन्न हो जाता है। चार्वाक के विचार में ईश्वर जगत् का कारण नहीं है। जगत का कोई कर्त्ता नहीं, वह अकस्मात् यानी स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है।

(ख) आरम्भवाद (असत्कार्यवाद)

कारण और कार्य में बुद्धिभेद, शब्दभेद, आकारभेद, कार्यभेद तथा संख्याभेद मानने के कारण नैयायिक और वैशेषिक कारण और कार्य में पार्थक्य स्वीकार करते हैं। जबकि अन्य दार्शनिकों का यह कथन है कि (क) कारण से कार्य को भिन्न मानते हुये दोनों के बीच नैयायिकों ने जो समवाय-सम्बन्ध बताया है वह कल्पना गौरव ही है, (ख) पट में तन्तु और पट इन दो वस्तुओं की पृथक्-पृथक् प्रतीत नहीं होती और (ग) कार्य कारण का भेद अनुपलब्धि प्रमाण से भी बाधित होता है। इन आशंकाओं का उत्तर नैयायिक इस प्रकार देते हैं कि यदि तन्तु और पट में भेद न माना जाये तो तन्तु में भी पट बुद्धि होने लगेगी। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक में कार्य को कारक व्यापार से उत्पन्न माना गया है। इसी को असत्-कार्यवाद कहा गया है। जो कुछ भी उत्पन्न होता है, वह पहले असत् था।[9] सत्ता के साथ सम्बन्ध होना ही उत्पत्ति है। नैयायिकों की दृष्टि में उत्पत्ति से पूर्व कार्य की सत्ता नहीं होती।

नैयायिकों और वैशेषिकों के अनुसार समवायी, असमवायी और निमित्त ये तीनों प्रकार के कारण अपने से भिन्न कार्य का उत्पादन यानी आरम्भ करते हैं, अतः यह सिद्धान्त आरम्भवाद भी कहलाता है।

सत्कार्यवादी यह आक्षेप करते हैं कि यदि कार्य असत् है तो तिल के समान बालू से भी तेल की उत्पत्ति होनी चाहिये, किन्तु नैयायिकों का इस संदर्भ में यह कहना है कि तिल में तेल का प्रागभाव है जबकि बालू में तेल का अत्यन्ताभाव है।

[ग] संघातवाद

सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक सम्प्रदायों के बौद्धों के अनुसार कारण अपने विनाश के द्वारा ही कार्य का उत्पादक होता है। संघात, प्रतिक्षण नवीन रूप में उत्पन्न होता है। इसी को अभाव से भाव की उत्पत्ति का नाम दिया गया है। शून्यवादी (माध्यमिक) बौद्धों के अनुसार कार्य का कोई सत्‌रूप कारण नहीं होता। शून्य ही कार्यरूप में भासित होता है। इसी को वे असत्‌ख्यातिवाद कहते हैं। योगाचार मतानुयायी (विज्ञानवाद) बौद्धों के अनुसार विज्ञान ही बाह्य पदार्थों के रूप में भासित होता है। उनके आत्मख्यातिवाद के मूल में भी यही धारणा विद्यमान है।

[घ] परिणामवाद [सत्कार्यवाद]

सांख्य पातंजल तथा रामानुजाचार्य परिणामवाद को मानते हैं। उनके अनुसार सारा प्रपंच मूल प्रकृति या माया का ही परिणाम है। परिणाम का अर्थ है—तात्विक अन्यथाभाव। जैसे दूध का दही बन जाना। अतः कार्य कारण का परिणाम है यानी कार्य परिणामावस्था से पूर्व कारणावस्था में रहता है।

[ङ] विवर्तवाद

अतात्विक अन्यथा भाव को विवर्त कहा गया है। अद्वैत वेदान्त में इस मत का प्रतिपादन किया गया है। उदाहरण के रूप में रस्सी को जब साँप समझ लिया जाता है तो रस्सी अपने वास्तविक रूप को नहीं छोड़ती। यही बात पानी में उठने वाले बुद्‌बुदों के बारे में भी कही जा सकती है। अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार अखिल प्रपंच भी ब्रह्म का विवर्त है। इसी को अभ्यास भी कहा जाता है।

[च] प्रतिबिम्बवाद

अद्वैतवादी होने पर भी कार्य कारण के सम्बन्ध में तान्त्रिक लोग प्रतिबिम्बवाद को मानते हैं। उनका यह कथन है कि जिस प्रकार दर्पण से बाहर रहने वाले मुख आदि पदार्थों का प्रतिबिम्ब दर्पण में भासित होता है, उसी प्रकार ब्रह्म में भी प्रतिबिम्बरूप जगत् भासित होता है। यद्यपि प्रतिबिम्ब का कारण बिम्ब

ही होता है किन्तु यहाँ बिम्ब उपादान कारण न होकर निमित्त कारण है। बिम्ब रूप निमित्तकारण जगत् है, उसके अभाव में भी बिम्ब स्थानीय माया के सम्बन्ध से ही ब्रह्म में जगत् रूप प्रतिबिम्ब का भान होता है।

तान्त्रिकों का यह भी कथन है कि आरम्भवाद को स्वीकार करने पर उनका अद्वैतवाद खण्डित होने लगेगा। परिणामवाद मानने पर ब्रह्म को विकारी मानना होगा, जबकि वह नित्य तथा कूटस्थ है। संघातवाद श्रुति और अनुमान के विरुद्ध है। विवर्तवाद भी स्वीकार्य नहीं क्योंकि रज्जु में सर्प की प्रतीति के समय रज्जु का भान नहीं होता। उसी प्रकार ब्रह्म में प्रपंच की प्रतीति के समय ब्रह्म का भान नहीं होना चाहिये था। जबकि अद्वैतवादी यह मानते हैं कि 'घटोऽस्ति' 'घटः सत्' जैसे स्थलों में सद्रूप में ब्रह्म का भान होता है।

6. समाहार

स्वभाववाद के प्रवर्तक चार्वाक स्वभाव के अतिरिक्त और किसी चीज को कारण नहीं मानते। न्याय-वैशेषिक के अतिरिक्त कोई भी अन्य दर्शन कार्य और कारण में भेद नहीं मानता। वे इन दोनों के बीच समवाय सम्बन्ध के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार उपादान की एक विशेष अवस्था ही तो कार्य कहलाती है। अतः कार्य और कारण में भेद कैसे माना जा सकता है?

उदयनाचार्य ने चार्वाकों द्वारा प्रयुक्त 'अकस्मात्' शब्द की पाँच व्याख्याएँ करते हुए कादाचित्कत्व का खण्डन किया[10] और यह सिद्ध किया है कि कारण-कार्य सम्बन्ध अनिवार्य है। तन्तु से ही पट की उत्पत्ति होती है। तन्तु और पट में कारण-कार्य सम्बन्ध अनुभव सिद्ध है।

सांख्य-योग में सत्कार्यवाद का प्रवर्तन किया गया है। इसके लिये ईश्वर कृष्ण ने पाँच तर्क प्रस्तुत किये हैं।[11] किन्तु नैयायिकों के अनुसार कारण और कार्य में अभेद मानना उचित नहीं है। "कारण सत् है और उसमें अभिन्न कार्य भी सत् है" यह कथन असिद्ध हेत्वाभास से ग्रस्त है।[12] यदि तन्तु में पट पहले से ही विद्यमान है तो तन्तु में पट की उपलब्धि क्यों नहीं होती? यदि यह कहा जाये कि पट उस समय अनभिव्यक्त रहता है तो यह भी प्रश्न उठेगा कि अनभिव्यक्ति का अर्थ क्या है? यदि अनभिव्यक्ति का अर्थ उपलब्धि का अभाव है तो यह असत्कार्य ही हुआ। यदि अनभिव्यक्ति का अर्थ प्रयोजन के सम्पादक रूप का अभाव है तो यह भी असत्कार्यवाद ही हुआ। इस प्रकार नैयायिकों के मतानुसार असत्कार्यवाद को स्वीकार करने में कोई अनौचित्य नहीं है।

ग्यारहवें अध्याय के संदर्भ

1. अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्, त० भा० (हिन्दी व्याख्या) शुक्ल, बदरीनाथ, पृ० 26
2. कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्, वही, पृ० 32
3. कार्यव्यतिरेकप्रयोजकव्यतिरेकप्रतियोगित्वं कारणत्वम्
4. शुक्ल, बदरीनाथ, त० भा० व्याख्या, पृ० 29.
5. ······वही ·· पृ० 30
6. एते पंचान्यथासिद्धा दण्डत्वादिकमादिमम् , घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम् । तृतीयं तु भवेद् व्योम, कुलालजनकोऽपरः । पंचमो रासभादिः स्यादेतेष्वावश्यकस्त्वसौ । कारिकावली 28.23
7. समवायिकारणत्वं द्रव्यस्येति विज्ञेयम् ।
गुणकर्ममात्रवृत्ति ज्ञेयमसमवायिहेतुत्वम् ।। भा० प० 23.
8. फलोत्पादाविनाभाविस्वभावत्वमवश्यतया कार्यजनकत्वमतिशयः । स च सामग्र्यन्तर्गतस्य न कस्यचिदेकस्य कारकस्य कथयितुं पार्यते । सामग्र्यास्तु सोऽतिशयः सुवचः । सन्निहिता चेत् सामग्री सम्पन्नमेत् फलमिति सैवातिशयवती, न्या० मं० 1.13.
9. यदसत् तत् क्रियते इति नेयं वचनव्यक्तिरपितु याक्रियते तदसदिति । न्या० मं० 2-94
10. हेतुभूति निषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न च ।
स्वभाववर्णना नैवमवधेर्नियतत्वतः ।। न्या० कु०
11. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणाभावाच्च सत्कार्यम् ।। सां० का०
12. तदसिद्धमसिद्धेन साधितम् । कार्यकारणयोः स्वरूपशक्ति-संस्थान भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्, न्या० क० 343

अध्याय 12

सामान्य और विशेष

1. 'सामान्य' का स्वरूप

न्याय-वैशेषिक के विचारणीय विषयों में 'सामान्य' का भी एक विशिष्ट स्थान है। इस सन्दर्भ में विभिन्न आचार्यों ने जो मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं, उनकी रूपरेखा निम्नलिखित है—

(क) वैशेषिक मत

कणाद ने जिन छः पदार्थों के साधर्म्य (अनुगत धर्म) और वैधर्म्य (विपरीत धर्म) के ज्ञान के द्वारा उत्पन्न तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति का उल्लेख किया है, उनमें से सामान्य भी एक बताया है।[1] उनका यह भी कथन है कि सामान्य के दो रूप होते हैं—(1) सामान्य अर्थात् केवल अनुवृत्ति बुद्धि से सम्बद्ध सामान्य तथा (2) सामान्यविशेष अर्थात् अनुवृत्ति और व्यावृत्ति रूप उभयविधबुद्धि से सम्बद्ध-सामान्य।[2] सूत्रकार कणाद ने सामान्य का कोई स्पष्ट लक्षण नहीं दिया। प्रशस्तपाद ने कणाद के कथन को स्पष्ट करते हुये यह कहा कि सामान्य का उपर्युक्त प्रथम रूप परसामान्य कहलाता है और द्वितीय रूप अपरसामान्य। पर (व्यापक) सामान्य केवल सत्ता है जिसमें महाविषयत्व यानी सर्वाधिक देशवृत्तिता है। उससे केवल अनुगत प्रतीति ही होती है। सामान्याश्रय द्रव्यादि तीन पदार्थों में वह अनुगत बुद्धि को ही उत्पन्न करता है, न कि व्यावृत्तिबुद्धि को। जिस प्रकार परस्पर भिन्न चर्म, वस्त्र, कम्बल आदि द्रव्यों में 'नील-नील' इत्याकारक एकाकार ज्ञान होता है, उसी प्रकार से भिन्न-भिन्न पृथिवी आदि नौ द्रव्यों, रूप आदि चौबीस गुणों और उत्क्षेपण आदि पाँच कर्मों में भी 'सत्-सत्' ऐसा एकाकार ज्ञान होता है। अपर सामान्य अनुगतबुद्धि और भेदबुद्धि दोनों का कारण होता है अतः वह सामान्य-विशेष कहलाता है। उदाहरणतया द्रव्यत्व पृथिवी, जल आदि नौ द्रव्यों में अनुगत बुद्धि का कारण है किन्तु गुण और कर्म से वह भेदबुद्धि का कारण भी है। अतः वह सामान्य तथा विशेष उभयरूप है।

द्रव्यत्व गुणत्व आदि सामान्य द्रव्य गुण आदि पदार्थों से भिन्न हैं। द्रव्यादिकों से भिन्न होने के कारण ही सामान्य नित्य है[3] यदि दोनों में अभेद हो तो सामान्य का भी द्रव्यादि के समान उत्पत्ति तथा नाश होने लगे।

अनुगताकार ज्ञान रूप सामान्य का लक्षण प्रत्येक व्यक्ति में विलक्षण न होने से तथा भेद में प्रमाण न होने के कारण भी सामान्य अपने आधारभूत व्यक्तियों में एक ही है।[4]

'सामान्य' अपने विषय में समवाय सम्बन्ध से रहता है। यद्यपि सामान्य अनियत देश होने के कारण, सर्वत्र उत्पन्न होने वाले स्वविषयक गो व्यक्तियों के समान वहाँ पर वर्तमान अश्वादि व्यक्तियों में भी सम्बद्ध हो सकता है, किन्तु गोत्व जाति के अभिव्यंजक सास्नादि रूप अवयव-संस्थान के गो रूप व्यक्तियों में नियत होने के कारण गोत्व जाति का गो व्यक्तियों में ही समवाय है, न कि अश्व आदि पिण्डों में।[5]

(ख) न्यायमत

वात्स्यायन के अनुसार जो पदार्थ अनेक (द्रव्यरूप) व्यक्तियों में एक समान ज्ञान होने का निमित्त बनता है, उसको सामान्य कहा जाता है।[6] उत्तरवर्ती प्रकरण ग्रन्थकारों ने भी सामान्य का लगभग ऐसा ही लक्षण किया है।[7] आशय यह है कि जो एक है, नित्य है और अनेकों में समवेत रहता है, उसको सामान्य कहते हैं। सामान्य को ही जाति भी कहा गया है। 'यह गाय है, यह गाय है' इस रूप में होने वाली समानाकारक बुद्धि ही सामान्य है। नैयायिकों के अनुसार सामान्य की उपलब्धि व्यक्ति की उपलब्धि के अधीन है। जाति और व्यक्ति की उपलब्धि साथ-साथ होती है। उनमें कालकृतभेद नहीं होता। सामान्य व्यक्ति में समवाय सम्बन्ध से रहता है, जो अयुतसिद्ध दो पदार्थों के बीच ही रहता है।

उन सामान्यों की प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती, जिनके आश्रय इन्द्रियग्राह्य नहीं है, जैसे—अणुत्व। वे अनुमानगम्य हैं। व्यक्ति की उपलब्धि के बिना सामान्य की उपलब्धि नहीं होती।[8] किन्तु सामान्य नित्य है, अतः उसका अस्तित्व व्यक्ति के अनुपलब्धि काल में भी बना रहता है। जयन्तभट्ट का यह कथन है कि जातिविहीन व्यक्ति की उपलब्धि नहीं हो सकती।

(ग) बौद्धमत

बौद्ध दार्शनिकों के मतानुसार 'सामान्य' केवल नाम-मात्र यानी संज्ञामात्र है। अर्थात् वह वास्तविक नहीं अपितु कल्पनामात्र है। वे पदार्थ को क्षणिक

मानते हैं और जाति या सामान्य की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। अनेकों घटों में 'यह घट है, यह घट है'—ऐसा जो ज्ञान होता है उसका कारण वे अपोह को मानते हैं। अपोह का अर्थ है अतद्व्यावृत्ति यानी तद्भिन्नभिन्नत्व। अतः उनके मतानुसार घटभिन्न-भिन्नत्व सभी घटों का अनुगमक है। यह ज्ञातव्य है कि बौद्धों के मतानुसार अपोह ही एकाकार प्रतीति का कारण है न कि सामान्य। विभिन्न गो व्यक्तियों में उपलब्ध जिस समान धर्म को वैशेषिकों ने सामान्य कहा है, वह बौद्धों के कथनानुसार 'अगोव्यावृत्तिरूप' अपोह है।

बौद्धों के अनुसार बाह्य जगत् सत्ता के पृथक्-पृथक् और विविक्त क्षणों का नाम है। उन क्षणों में पारस्परिक संगति या सातत्य एक विचारमात्र है। वह कल्पना प्रसूत है, वास्तविक नहीं है। बौद्ध 'स्वलक्षण' के अतिरिक्त अन्य किसी को वास्तविक नहीं मानते।[10] उनका यह भी कथन है कि सामान्य को मानने पर उसका भी सामान्य मानना होगा और इस प्रकार अनवस्था हो जायेगी। बौद्धों के इस तर्क का खण्डन कुमारिल इस आधार पर करते हैं कि सामान्य में जो सामान्यत्व है वह शब्दमात्र है जबकि सामान्य का अपना पृथक् अस्तित्व है। उदयनाचार्य ने इसको अनवस्था के कारण जातिबाधक उपाधि कहा है।

नैयायिकों और वैशेषिकों ने अपोहवाद का खण्डन करते हुये यह कहा कि विभिन्न पिण्डों में जो एकाकार स्फुरण होता है, वह विधि मुखेन होता है निषेध मुखेन नहीं। अतः गोत्व आदि धर्मों को अतद्व्यावृत्ति न मान कर भावात्मक सामान्य के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिये।

सामान्य को मानने के विरुद्ध बौद्धों का यह भी तर्क है कि गोत्व न तो गाय में रहता है, न गौभिन्न में। यदि गोत्व गौओं में अनुवृत्ति का कारण है तो क्या वह गाय में रहता है या गायभिन्न में? यदि गोत्व गाय में पहले ही रहता है तो सामान्य के रूप में उसका अस्तित्व मानना व्यर्थ है। यदि वह अंगों में माना जाये तो अश्व आदि में भी उसकी प्रसक्ति हो जायेगी। अतः गोत्व को अनुवृत्ति का कारण मानना उचित नहीं है।

बौद्धों के इस तर्क का खण्डन उद्योतकर ने यह कहकर किया कि गोत्व से पहले कोई प्राणी न तो गाय कहला सकता है न गाय भिन्न। गोत्व के योग से पहले वस्तु (गाय) का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता।[11]

[घ] जैन मत

जैन मत में सामान्य की सत्ता को स्वीकार तो किया गया है, किन्तु सामान्य के स्वरूप के सम्बन्ध में उनका वैशेषिकों से मतभेद है।

वैशेषिकों के अनुसार सामान्य व्यक्ति से भिन्न है, जब कि जैनों के अनुसार वह व्यक्ति से भिन्न नहीं है। जैन दार्शनिक सामान्य को बौद्धों की तरह नाम-मात्र नहीं मानते। जैन लोग व्यक्तियों में अनुस्यूत नित्य सामान्य को नहीं मानते। उनके अनुसार प्रत्येक पदार्थ में सामान्य और विशेष दोनों धर्म पाये जाते हैं। अतः प्रत्येक पदार्थ अनुगत प्रत्यय और व्यावृत्ति प्रत्यय का विषय है। विभिन्न व्यक्तियों में जो एकाकार प्रतीति होती है वह सादृश्यास्तित्व के कारण होती है। सादृश्यास्तित्व ही सादृश्यसामान्य या तिर्यक् सामान्य कहलाता है। संक्षेपतः जैनों के अनुसार सामान्य अपने वर्ग के व्यक्तियों में पाया जाने वाला धर्म है, किन्तु वह व्यक्ति से भिन्न नहीं है।[12]

[ङ] मीमांसक मत

[1] सामान्य और आकृति में ऐक्य

मीमांसकों ने सामान्य (जाति) को स्वीकार किया है, किन्तु वे सामान्य और व्यक्ति के बीच समवाय सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते। भाट्ट मीमांसक जाति-व्यक्ति, गुण-गुणी आदि में समवाय के स्थान पर भेदाभेद सिद्धान्त को मानते हैं, जबकि नैयायिकों का यह मत है कि जाति व्यक्ति में समवाय सम्बन्ध से रहती है।

भाट्ट मीमांसकों के अनुसार सामान्य आकृति रूप है।[13] जाति का आशय है आकृति। कुमारिल ने जाति और आकृति का सम्बन्ध आन्तरिक माना है। इसी आन्तरिक सिद्धान्त को उन्होंने स्वाभाविक सम्बन्ध या तादात्म्य कहा है।

कुमारिल का यह भी कथन है कि प्रत्येक पदार्थ एवं व्यक्ति के अन्दर सामान्य तथा विशेष दोनों तत्त्व रहते हैं। जाति तथा व्यक्ति परस्पर आश्रित हैं। सामान्य और विशेष में भेद भी है और अभेद भी। अतः उनमें भेदाभाव रूप तादात्म्य है। भेद में अभेद कैसे होगा ? इस असंगति के सम्बन्ध में कुमा-रिल का यह कहना है कि जिस वस्तु का जैसा स्वभाव हो उस पर प्रश्नचिन्ह नहीं लगाया जा सकता।[14]

कुमारिल के इस मत पर कि सामान्य का अर्थ आकृति है, अनेक आपत्तियाँ की जाती हैं। सामान्य का अर्थ आकृति मानने पर 'वायुत्व' का सामान्य कैसे कहा जाएगा ? जग किन्हीं भी वस्तुओं जैसे दो गौओं की आकृति पूर्ण रूप से एक जैसी कभी नहीं होती तो फिर आकृति को सामान्य कैसे कहा जा सकता है? आँख फूटने या टाँग टूटने आदि के कारण गाय की आकृति बदल भी सकती

है। गाय की मूर्ति में भी तो गाय की आकृति होती है। अत: नैयायिकों के अनुसार आकृति और सामान्य भिन्न-भिन्न माने जाने चाहिए।[15]

(2) सामान्य और सादृश्य में अन्तर

कुछ लोग तादाम्य के बजाय सादृश्य को सामान्य का आधार मानते हैं उनके विचार में 'गौ' शब्द ऐसे अनेक प्राणियों का बोध कराता है जिनमें कोई भी तत्त्व समान नहीं है, किन्तु जो एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं।

किन्तु कुमारिल का इस मत के विरुद्ध यह तर्क है कि सादृश्य उपर्युक्त रूप में तो एक सम्बन्ध कहलायेगा, जब कि सामान्य स्वयं में कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि सादृश्य जिन दो वस्तुओं में माना जाता है उनमें एक-जैसे सामान्यों, गुणों और सम्बन्धों का सहअस्तित्व तो पहले से ही मानना होगा।[16] अन्यथा सादृश्य का आधार ही क्या रहेगा।

न्याय-वैशेषिक का यह मत है कि जहाँ कहीं समानता की प्रतीति होती हो, वहाँ सब जगह जाति या सामान्य नहीं माना जा सकता। अनेक घटों में समानता की प्रतीति का कारण घटत्व है किन्तु सारे भारत-वर्ष के लोगों में हमें 'भारतीयता' के रूप में जिस समानता की प्रतीति होती है, वह काल्पनिक है, उसका बाह्य-जगत् में कोई अस्तित्व नहीं है, अत: वह जाति न होकर उपाधि है। इसके विपरीत गोत्व, घटत्व आदि नित्य हैं, उनका बाह्य जगत में अस्तित्व है। भारतीयता एक कल्पना है। उसकी कल्पना हमने अपने मन या बुद्धि से की है। अत: वह सामान्य या जाति नहीं है।

[3] सामान्य और समष्टि में अन्तर

सामान्य और समष्टि में भी अन्तर है। उदाहरणतया वन वृक्षों का समष्टि रूप है, किन्तु गौ गोमात्र भी समष्टि नहीं है।

प्रभाकर के अनुसार सामान्य व्यक्ति से भिन्न होता है। उसका प्रत्यक्ष ज्ञान-होता है।[17] सामान्य और व्यक्ति के बीच समवाय सम्बन्ध है। किन्तु समवाय सम्बन्ध न तो एक होता है और न ही नित्य। कुमारिल के अनुसार व्यक्ति और सामान्य के बीच तादात्म्य सम्बन्ध होता है, न कि समवाय। इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि वैशेषिकों के मतानुसार समवाय एक, नित्य सम्बन्ध तो है किन्तु वह प्रत्यक्षगम्य नहीं है, जब कि नैयायिक उसे एक तथा नित्य के साथ ही प्रत्यक्षगम्य भी मानते हैं। ब्राह्मणत्व जैसे कुछ सामान्यों का प्रत्यक्ष नहीं होता

किन्तु जयन्त भट्ट का यह कहना है कि ऐसे सामान्यों का प्रत्यक्ष किसी अन्य व्यक्ति के उपदेश की सहायता से होता है।[18]

[च] वेदान्तमत

वेदान्त में विशेषों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाता। उनके अनुसार 'सत्ता' के अतिरिक्त अन्य कुछ भी वास्तविक नहीं है, यह ज्ञातव्य है कि बौद्ध 'स्वलक्षण' को ही सत्य मानते हैं अन्य किसी चीज को नहीं। अतः वेदान्तियों का मत बौद्धों के मत से नितान्त भिन्न है।

वेदान्तियों के उपर्युक्त कथन पर यह आपत्ति की जाती है कि यदि 'विशेषों' का कोई अस्तित्व न हो तो एक वस्तु को दूसरी वस्तु से भिन्न कैसे माना जा सकता है? इसी प्रकार बौद्धों के मत पर भी यह आक्षेप किया जा सकता है कि यदि सामान्य का अस्तित्व न हो तो विभिन्न व्यक्तियों का 'गाय' जैसे जातिवाचक शब्दों द्वारा कैसे उल्लेख किया जा सकता है? इस प्रकार बौद्धों और वेदान्तियों—दोनों के ही मत स्वीकरणीय नहीं हैं। वस्तुतः सामान्य के बिना विशेष का और विशेष के बिना सामान्य का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता।

2. सामान्य और व्यक्ति

[क] सामान्य की सर्वगतता

सामान्य की अवस्थिति और अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में तीन मत प्रचलित हैं—

(1) सामान्य सर्वगत है, वह सर्वव्यापक है अर्थात् सभी सामान्य सभी विशेषों में समानरूप से रहते हैं। किन्तु उनकी अभिव्यक्ति अपने ही वर्ग के विशेषों में होती है। उदाहरणतया गोत्व अश्व आदि में भी रहता है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति गौओं में ही होती है।[19]

(2) सामान्य सर्वव्यापक है किन्तु सभी सामान्य सभी विशेषों में नहीं रहते। प्रत्येक सामान्य केवल अपने ही वर्ग के विशेष में रहता है। सामान्य समवाय सम्बन्ध से अपने ही वर्ग के विशेष के साथ सम्बद्ध रहता है। अन्य वर्ग के विशेषों के साथ नहीं।

(3) सामान्य सर्वव्यापक नहीं है और वे केवल उसी स्थान पर रहते हैं, जहाँ उनसे सम्बद्ध विशेष हो।[20]

इनमें से प्रथम मत का खण्डन करते हुए, उद्योतकर ने कहा कि सभी सामान्य सभी विशेषों में नहीं रहते हैं। सामान्य तो अपने विषय में सर्वत्र रहता है,

इसलिए वह सर्वमत कहलाता है।[21] इस कथन से यह प्रतीत होता है कि उद्योतकर द्वितीय मत को मानते हैं। द्वितीय मत का स्पष्ट समर्थन वैसे वाचस्पति मिश्र ने किया है। उनका विचार है कि कुछ वस्तुएँ साथ-साथ अवस्थित होने पर भी परस्पर सम्बद्ध नहीं होती हैं। इसी प्रकार सामान्य भी यद्यपि सभी वस्तुओं के साथ विद्यमान रहता है किन्तु सम्बन्ध उसका केवल अपने ही वर्ग के व्यक्तियों से होता है।[22] प्रथम मत का प्रबलता से उल्लेख जयन्त भट्ट ने किया और वे ही इसके उद्भावक भी प्रतीत होते हैं। किन्तु इसके साथ ही जयन्त ने तृतीय मत का भी उल्लेख किया, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि जयन्त अपने समय में प्रवर्तित मतों का परिचय मात्र दे रहे हैं वैसे, तृतीय मत का स्पष्ट उद्भावन श्रीधर ने किया था।

(ख) बौद्धों की आपत्तियाँ

अपने वर्ग के विशेषों में कोई सामान्य कैसे रह सकता है ? इस संदर्भ में बौद्धों ने निम्नलिखित आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं।

(1) सामान्य गतिहीन है अतः वह उस स्थान पर कैसे जा सकता है जहाँ पर विशेष का जन्म होता है ?

(2) यदि सम्बद्ध स्थान पर सामान्य (जैसे गोत्व) का अस्तित्व विशेष (जैसे गाय) के जन्म से पहले से मान लिया जाए तो सम्बद्ध स्थान भी गाय माना जाने लगेगा।

(3) सामान्य और विशेष का साथ-साथ जन्म भी नहीं माना जा सकता क्योंकि नैयायिक तो सामान्य को नित्य मानते हैं।

(4) सामान्य अवयव रहित होता है अतः वह विशेषों में खण्डशः भी नहीं रह सकता।

(5) सामान्य सम्पूर्ण रूप से भी विशेषों में नहीं रह सकता, क्योंकि यह तो तब हो सकता है जब कि सामान्य अपने पहले आश्रय को छोड़कर दूसरे में चला जाये और ऐसा मानने पर तो पहला आश्रय सामान्यविहीन हो जाएगा।

उपर्युक्त में से प्रथम तीन आपत्तियों का समाधान तो नैयायिकों द्वारा इस प्रकार किया जाता है कि सामान्य नित्य और सर्वव्यापक होते हुए भी केवल अपने वर्ग के विशेषों से ही सम्बद्ध होते हैं।

चौथी आशंका के संदर्भ में जयन्त भट्ट का यह कथन है कि सामान्य अपने वर्ग के विशेष में पूर्णरूप से रहता है। यदि वह उसी समय उसी वर्ग के दूसरे विशेष में भी दिखाई देता है तो इसमें हानि ही क्या है ?

3. सामान्य और उपाधि में अन्तर

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, सामान्य तथा समानता में अन्तर है। समानता मात्र को ही जाति नहीं माना जा सकता क्योंकि वह तो कल्पना है। ऐसी कल्पना जाति न होकर उपाधि कहलाती है। उपाधि के रूपों की चर्चा न्याय-वैशेषिक में निम्नलिखित रूप से की गई है—उदयनाचार्य का यह कथन है कि किसी समान धर्म को सामान्य तभी माना जा सकता है, जबकि उसमें निम्नलिखित बातों का अभाव हो—

[क] व्यक्ति का अभेद [आश्रय की एकलता]

जो धर्म केवल एक ही व्यक्ति (आश्रय) में रहता है वह सामान्य नहीं, अपितु उपाधि कहलाता है। जैसे आकाशत्व केवल एक आकाश में रहता है, अतः वह सामान्य नहीं कहला सकता।

[ख] व्यक्तियों की तुल्यता [पर्यायवाचकता]

घट और कलश पर्यायवाची शब्द हैं। मोटे तौर से देखने पर किसी को यह भ्रम हो सकता है कि 'घटत्व' और 'कलशत्व' अलग-अलग सामान्य हैं। किन्तु ऐसा समझना भूल है। यहाँ सामान्य तो एक ही है। घटत्व और कलशत्व उसके पर्यायवाची नाम हैं। अतः पर्यायवाचकता सामान्य का आधार नहीं बन सकती। वह उपाधि कहलायेगी।

[ग] संकर [दो धर्मों का सांकर्य]

एक-दूसरे के अभाव के साथ रहने वाले दो धर्मों का किसी एक आश्रय में रहना संकर कहलाता है। संकर जिन धर्मों में हो, उनको जाति नहीं कहा जा सकता। 'भूतत्व' और 'मूर्तत्व' दो धर्म हैं। भूतत्व धर्म—पाँचों भूतों अर्थात् पृथ्वी जल, तेज, वायु और आकाश में रहता है। मूर्तत्व धर्म भी पृथ्वी, जल, तेज और वायु तथा मनस् में तो रहता है किन्तु आकाश में नहीं रहता। आकाश, काल, दिक् और आत्मा विभु परिमाण हैं और मूर्तत्व अविभु परिमाण वाले पदार्थों में ही रहता है। इस प्रकार भूतत्व और मूर्तत्वधर्म सामान्य रूप से पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चारों में ही रहते हैं। बाकी द्रव्यों में से किसी में केवल भूतत्व रहता है और किसी में केवल मूर्तत्व। आकाश में भूतत्व है मूर्तत्व नहीं और मनस् में मूर्तत्व है, भूतत्व नहीं। इस प्रकार 'परस्परात्यन्ताभाव समानाधिकरण' वाले होने के कारण 'भूतत्व और मूर्तत्व' को न तो पृथक्-पृथक् और न ही संकर रूप में सामान्य माना जा सकता। अतः यह जाति नहीं अपितु उपाधि कहलायेगा।

भूतत्व आकाश में मूर्तत्वाभाव के साथ तथा मूर्तत्व मन में भूतत्वाभाव के साथ रहता है। अतः संकर दोष ग्रस्त होने के कारण ये जाति की कोटि में नहीं आते।

उपर्युक्त कथन को इस प्रकार रखा जा सकता है कि किसी एक दृष्टिकोण (सामान्य धर्म) के आधार पर कुछ वस्तुओं को एक वर्ग में रखने पर भी यदि किसी अन्य दृष्टिकोण(सामान्य धर्म) के आधार पर उनमें से कुछ वस्तुएँ दूसरे वर्ग में समाविष्ट हो जाएँ और कुछ नहीं तो इस प्रकार के विभाजन में विद्यमान धर्म संकर धर्म कहलायेंगे। उदाहरणतया भूत और अभूत के रूप में वर्गीकृत करने पर पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश भूत वर्ग में और मनस् अभूत वर्ग में गिना जाएगा। इन्ही को मूर्त और अमूर्त वर्गों में विभाजित करने पर पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन मूर्त वर्ग में तथा आकाश अमूर्त वर्ग में गिना जायेगा। यानी दो प्रकार से वर्गीकरण करने पर आकाश और मन एक ही वर्ग में नहीं रहते अतः भूतत्व और मूर्तत्व संकर धर्म हैं यानी सामान्य नहीं अपितु उपाधि हैं।

[घ] घनवस्था [कल्पना का आनन्त्य]

यदि द्रव्यत्व, पृथ्वीत्व आदि सामान्यों में भी द्रव्यत्वत्व, पृथ्वीत्वत्व आदि के रूप में अन्य सामान्यों का अस्तित्व माना जाये तो उनमें भी 'त्व' प्रत्यय जोड़कर अन्य जातियाँ मानी जाने लगेंगी। अतः जाति में जाति नहीं मानी जानी जाहिए। यदि कोई द्रव्यत्वत्व जैसे धर्म का उल्लेख करता है तो यह जाति नहीं अपितु उपाधि कहलायेगा। सारांश यह है कि जाति को जाति क आश्रय नहीं माना जा सकता।

[ङ] रूपहानि [लक्षणहानि]

विशेष अनन्त माने गये हैं। वे नित्य पदार्थों को एक-दूसरे से अलग करते हैं। विशेष केवल विशेष ही हैं। एक विशेष अपने को दूसरे विशेष से भी अलग करता है। उसका अपना स्वरूप ही 'विशेष' है। सामान्य कई पदार्थों में समानरूप से रहता है जबकि विशेष केवल विशेष ही होता है। ऐसी स्थिति में भी यदि कोई कहे कि विशेष में विशेषत्व जाति रहती है तो यह उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर तो विशेष पदार्थ का जो स्वरूप बताया गया है, वही नष्ट हो जाएगा। ऐसा होते हुए भी यदि कोई विशेषत्व जैसे धर्म का उल्लेख करें तो वह जाति नहीं अपितु उपाधि माना जाएगा। कोई भी जातिमान् पदार्थ स्वतोव्यावृत्त नहीं होता।

(च) असम्बन्ध (सम्बन्ध का न बन सकना)

'समवाय' एक सम्बन्ध है, यदि समवाय में 'समवायत्व' जाति मानी जाए तो यह प्रश्न उठता है कि समवायत्व जाति समवाय में किस सम्बन्ध से रहेगी ? जाति अपने वर्ग के व्यक्ति में समवाय सम्बन्ध से रहती है। 'समवायत्व' को जाति मानने पर तो यह भी कहना पड़ेगा कि वह समवाय में समवाय सम्बन्ध से रहता है। जब कि तथ्य यह है कि एक समवाय में दूसरा समवाय नहीं रह सकता। इस प्रकार समवायत्व का समवाय के साथ रहने के लिए कोई सम्बन्ध ही नहीं बनता। अतः समवायत्व जाति नहीं अपितु उपाधि है।[28]

यह ज्ञातव्य है कि न्याय-वैशेषिक में उपर्युक्त जातिबाधक तत्त्वों को ध्यान में रखते हुए सात पदार्थों में से केवल प्रथम तीन में (द्रव्य, गुण और कर्म) में ही सामान्य का अस्तित्व स्वीकार किया गया है, अवशिष्ट चार पदार्थों में नहीं।

4. सामान्य का भेद

सामान्य के पर, अपर और परापर नाम से तीन भेद किये हैं। इनको ही क्रमशः व्यापक, व्याप्य और व्याप्यव्यापक भी कहा जा सकता है। नव्य नैयायिकों ने सखण्ड और अखण्ड के रूप में भी सामान्य के दो भेद किये हैं। सखण्ड को अनित्य तथा विनाशी और अखण्ड को नित्य तथा अनिवाशी भी कहा जाता है।

(क) क्षेत्र की दृष्टि से

(1) **पर**—जिस जाति का क्षेत्र अधिक हो वह पर कहलाती है। सत्ता सबसे बड़ी जाति है। वह द्रव्य, गुण और कर्म में रहती है। इससे बड़ी अर्थात् छहो या सातों पदार्थों में रहने वाली कोई जाति नहीं है। यह ज्ञातव्य है कि सत्ता और अस्तित्व में अन्तर है। अस्तित्व तो सामान्य विशेष, समवाय और अभाव में भी रहता है। अतः सत्ता शब्द एक विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसका आशय है—द्रव्य, गुण और कर्म में रहने के कारण सर्वाधिक देशव्यापी सामान्य। इसी को पर कहा जाता है।

(2) **अपर**—पर जाति से जो भिन्न है, यानी उसकी अपेक्षा कम देश में व्याप्त है, वह अपर सामान्य कहलाता है। इसी को व्याप्य जाति भी कहा जाता है। पर (सत्ता) और परापर (द्रव्यत्व) की अपेक्षा अल्पदेशवृत्ति होने के कारण घटत्व, पटत्व आदि अपर जाति हैं। मधुरत्व, अम्लत्व आदि भी अपर जाति की कोटि में आयेंगे क्योंकि इनसे छोटी कोई जाति नहीं है।

(3) **परापर**—जो जाति अपने से बड़ी जाति से छोटी तथा अपने से छोटी जाति से बड़ी हो, उसमें परत्व और अपरत्व दोनों धर्म रहते हैं। अतः वह परापर जाति कहलाती है। उदाहरणतया द्रव्यत्व जाति सत्ता की अपेक्षा छोटी और घटत्व, पटत्व की अपेक्षा अधिक देश व्यापी है, अतः वह परापर जाति है। वैशेषिक सूत्र, भाषा परिच्छेद आदि में पर और अपर इन दो भेदों का उल्लेख है, किन्तु जगदीश तर्कालंकार ने परापर नामक तीसरे भेद का भी परिगणन किया है।

(ख) सम्बन्ध की दृष्टि से

(1) **अखण्ड सामान्य**—जिस सामान्य का पदार्थ से साक्षात् या सीधा सम्बन्ध हो, वह अखण्ड सामान्य कहलाता है। जैसे, द्रव्यत्व और कर्मत्व। इनका द्रव्य और कर्म से साक्षात् सम्बन्ध है; द्रव्यत्व द्रव्य का वास्तविक धर्म है। अतः वह जाति या अखण्ड सामान्य कहला सकता है।

(2) **सखण्ड सामान्य**—जो धर्म परम्परा से या अपेक्षावश किसी पदार्थ में रहते हों, वे सखण्ड सामान्य कहलाते हैं। उदाहरणतया दण्डित्व धर्म किसी व्यक्ति में अपेक्षावश ही रहता है। दण्ड के हटते ही दण्डित्व भी हट जायेगा। अतः यह परम्परा सम्बद्ध धर्म है। साक्षात् सम्बद्ध धर्म नहीं। सखण्ड सामान्य को उपाधि भी कहते हैं।[24]

5. सामान्य के सम्बन्ध में ग्रीक दार्शनिकों का दृष्टिकोण

पाश्चात्य दर्शन में 'वस्तुवाद' के दो अर्थ लगाये जाते हैं—एक तो यह कि सामान्यों का व्यक्तियों में रहते हुये भी स्वतन्त्र अस्तित्व है, और दूसरा यह कि—बाह्य वस्तुओं की अपनी निजी सत्ता है यानी उनके बोध से उनकी सत्ता भिन्न है। पहले अर्थ में वस्तुवाद का नामवाद से संघर्ष है जो यह मानता है कि 'सामान्यों' की कोई निजी सत्ता नहीं है, यह कल्पनामात्र है। और दूसरे अर्थ में आदर्शवाद से जो यह मानता है कि बाह्य वस्तुओं की सत्ता उनके बोध से भिन्न और कुछ नहीं है। बाह्यवस्तुएँ अपने ज्ञान से पृथक् अपना निजी अस्तित्व रखती हैं—यह सिद्धान्त इस धारणा पर आधारित है कि सामान्य की पृथक् सत्ता है यानी सामान्य उन व्यक्तियों से भिन्न है, जिनमें वह रहता है।

सामान्य के सम्बन्ध में प्लेटो, ओकम और अरस्तू के विचार विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं।

(क) प्लेटो का मत

प्लेटो के अनुसार-सामान्य की सत्ता स्वतन्त्र है। उदाहरण के रूप में संसार में अनेक सुन्दर वस्तुएँ हैं। उन सबमें जो सामान्य विज्ञान है वह उन सब वस्तुओं से भिन्न है। प्लेटो के अनुसार सामान्य का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता। सामान्य एक वर्गगत धारणा है किन्तु वह मानसिक या काल्पनिक नहीं अपितु वास्तविक है। सामान्य एक सारगुण है। वह वस्तुओं में साम्य के ग्रहण तथा वैषम्य के त्याग से ज्ञात होता है। सामान्य और व्यक्ति में भेद है। सामान्य नित्य है और व्यक्ति अनित्य है।

(ख) विलियम ओकम का मत

विलियम ओकम का मत प्लेटों के मत से भिन्न है। ओकम के अनुसार विशेष ही सत् है। हमारा ज्ञान उसी पर आधारित है। सामान्य तो एक धारणा-मात्र या कल्पनामात्र है। हम व्यक्तियों को देख कर उनके सारगुणों को अलग करके उनके आधार पर ही सामान्य का निर्माण करते हैं। अतः सामान्य कल्पना प्रस्तुत यानी संज्ञामात्र है। ओकम के ये तर्क सामान्य के विघटन के लिए कर्तरिका का काम करते हैं।

(ग) अरस्तू का मत

यद्यपि अरस्तू का जन्म ओकम से पहले हुआ, किन्तु प्लेटो के वस्तुवाद और ओकम के संज्ञावाद की अपेक्षा अरस्तू के विचार मध्यमार्गी हैं। प्लेटो ने सामान्य को विशेष का कारण माना और ओकम ने विशेष को सामान्य का कारण कहा। अरस्तू के अनुसार दोनों सापेक्ष हैं। सारगुणों का निर्माण किसी वर्ग के व्यक्तियों से होता है किन्तु वे सारगुण व्यक्तियों में ही रहते हैं। अरस्तु के कथन का सार यह है कि सामान्य व्यक्तिनिष्ट होता है। उसकी सत्ता व्यक्ति सापेक्ष है।[25]

6. विशेष का स्वरूप

(क) विशेष और सामान्य

कणाद ने सामान्य और विशेष को बुध्यपेक्ष बतलाया है। वैसे मोटे तौर पर कहा जाये तो विशेष सामान्य का ठीक उलटा है। निरवयव तथा नित्य द्रव्य का विशिष्ट व्यक्तित्व ही विशेष कहलाता है। प्रशस्तपाद के अनुसार जो पदार्थ उत्पत्ति तथा विनाश से रहित होने के कारण पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु इन चार द्रव्यों के 'अन्त्य' शब्द के वाच्य परमाणुओं तथा आकाश, काल, दिक्, आत्मा

और मन इन पाँच नित्य द्रव्यों में रहते हैं और अपने से भिन्न द्रव्यों से अपने आधारभूत द्रव्य की स्वयं व्यावृत्ति मात्र करते हैं, वे विशेष कहलाते हैं और अनन्त द्रव्यों में रहने के कारण अनन्त कहलाते हैं।[26] सावयव और अनित्य कार्यद्रव्यों में भेद करने के लिए विशेष की आवश्यकता नहीं होती। विशेष तो निरवयव और नित्य द्रव्यों में ही रहते हैं। ऐसे द्रव्य असंख्य हैं। अतः विशेष भी निरवयव नित्य और असंख्य है। उनका प्रत्यक्ष नहीं होता।

विशेष पदार्थ में दो कार्य सम्पन्न होते हैं, एक तो यह कि यह पदार्थों में परस्पर भेद का कारण है और दूसरा यह कि एक विशेष स्वयं अपने को दूसरे विशेषों से भी व्यावृत्त करता है। सामान्य अनुवृत्ति प्रत्यय का हेतु है और विशेष व्यावृत्तिप्रत्यय का।

विशेष के लक्षणों में दो बातें मुख्य हैं, एक तो यह कि विशेष अन्तिम है। उसके आगे कोई अन्य विशेष नहीं होता, और दूसरी यह कि वह नित्य द्रव्यों में ही रहता है।

'विशेष अन्तिम होता है'—इस कथन का आशय यह है कि जैसे सबसे अधिक देश वाली 'जाति' को सत्ता कहा जाता है उसी प्रकार ऐसे सबसे छोटे धर्म को जो केवल एक ही पदार्थ में रहे विशेष कहा जाता है। सामान्य-विशेष की सर्वाधिक व्यापक अन्तिम सीमा का नाम सत्ता है और निम्नतम सीमा का नाम विशेष है। विशेष केवल एक पदार्थ में रहता है अतः वह सामान्य नहीं हो सकता। वह केवल विशेष ही रहता है।

'विशेष नित्य द्रव्यों में रहता है'—इस कथन का यह आशय है कि घट आदि कार्यों का सूक्ष्म से सूक्ष्मतम रूप ढूंढते-ढूंढते हम अन्त में द्वयणुक तक पहुँचते हैं। द्वयणुक से भी सूक्ष्म 'अणु' होता है, किन्तु वह कार्यद्रव्य नहीं होता। द्वयणुक के जो अवयव यानी दो अणु हैं, वे अलग-अलग व्यक्ति हैं और नित्य हैं। विशेष उन्हीं भिन्न-भिन्न और नित्य व्यक्तियों में रहते हैं।

अणु का कोई अवयव नहीं होता, अतः यह प्रश्न उठता है कि एक परमाणु का दूसरे से भेद कैसे समझा जाए? यानी परमाणुओं के पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व का आधार क्या है? इसी आधार के रूप में विशेष की कल्पना की गई है। वैशेषिकों की यह मान्यता है कि द्वयणुक का निर्माण करने वाले प्रत्येक परमाणु में एक विशेष नामक पदार्थ रहता है जो आश्रयभूत परमाणु को दूसरे परमाणु से भी पृथक् करता है। एक विशेष का दूसरे विशेष से भेद करने वाला भी विशेष ही

है। विशेष स्वयं अपना विभेदक है। विशेष का स्वभाव ही व्यावृत्ति है अतः उसके सम्पर्क से सजातीय परमाणु भी एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। विशेष को माने बिना परमाणुओं का एक दूसरे से भेद नहीं हो सकता। इस संदर्भ में एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि यदि एक विशेष का दूसरे विशेष से भेद स्वयं ही हो जाता है तो एक परमाणु का दूसरे परमाणु से भेद भी स्वयं ही क्यों नहीं हो जाता। इस शंका का समाधान प्रशस्तपाद ने यह कह कर दिया कि विशेष का तो स्वभाव ही व्यावृत्ति है जबकि परमाणु का स्वभाव व्यावृत्ति नहीं है। इसके साथ एक परमाणु का दूसरे परमाणु से तादात्म्य है जबकि एक विशेष का दूसरे विशेष से तादात्म्य नहीं है।[27]

विशेष के सम्बन्ध में एक शंका यह भी उठाई जाती है कि योगजधर्म के सामर्थ्य से योगियों को जैसे अतीन्द्रित पदार्थों का दर्शन होता है, वैसे ही उन्हें बिना विशेष के ही ज्ञान हो जाएगा फिर उनको 'विशेष' की क्या आवश्यकता है? प्रशस्तपाद इस शंका का समाधान इस प्रकार करते हैं कि योगियों को भी जो ज्ञान होता है वह बिना निमित्त के नहीं हो सकता।[28]

विशेष का निरूपण उत्तरवर्ती नैयायिकों ने भी वैशेषिकों के समान ही किया है। वरदराज के अनुसार जो जाति से रहित हो, और परमाणु एवं आकाश आदि नित्यद्रव्यमात्र में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला हो वह विशेष कहलाता है।[29] न्यायसिद्धान्त मुक्तावली आदि में भी ऐसा ही कहा गया है।

(ख) 'विशेष' और 'स्वलक्षण'

दिङ्नाग ने बाह्यजगत् में अस्तित्व रखने वाले तत्त्व को स्वलक्षण कहा है। स्वलक्षण भी परमाणुओं के समान अनन्त हैं। प्रत्येक स्वलक्षण अन्य स्वलक्षणों से व्यावृत्त यानी सर्वथा अलग है।

धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष के विषय को स्वलक्षण कहा है। प्रत्यक्ष चार प्रकार का माना गया है—इन्द्रियज, मानस, स्वसंवेदन तथा योगज। इन सब का विषय स्वलक्षण है। जिस विषय की समीपता और असमीपता के ज्ञान के प्रतिभास में भेद हो, वह स्वलक्षण है। वही परमार्थ सत् है। वही वस्तु में अर्थक्रिया कराता है।[30] (स्वलक्षण से भिन्न को सामान्य लक्षण कहा जाता है। वह अनुमान का विषय है)। मोक्षाकर गुप्त का यह कथन है कि देश, काल, आकार आदि से नियत असाधारण वस्तुरूप स्वलक्षण होता है।[31] वस्तुसत् की इकाई को स्वलक्षण कहा गया है। स्वलक्षण अर्थक्रियाकारी और परिवर्तन की भी इकाई होने के कारण क्षणिक है।

न्याय-वैशेषिक का अणु द्रव्य रूप है। उसमें गुण रहते हैं। किन्तु दिङ्नाग ने जिसको स्वलक्षण कहा है, वह द्रव्य (गुणों का आश्रय) नहीं अपितु गुण या धर्म के रूप में उल्लिखित किया गया है। वैसे वह गुण भी नहीं माना जा सकता (क्योंकि गुण उसको कहा जाता है जो समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में रहता है)। अणु में गुण, जाति तथा विशेष नामक पदार्थ रहते हैं किन्तु स्वलक्षण में कोई धर्म नहीं रहता। स्वलक्षण अपना आश्रय भी है और व्यावर्तक धर्म भी जबकि विशेष व्यावर्तक तो है, किन्तु उसका आश्रय अणु है।

वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्धों के स्वलक्षणवाद के मुकाबले में अणु-वाद को प्रभावी बनाने या बनाये रखने के लिए न्यायवैशेषिक में विशेष का सिद्धान्त प्रवर्तित और परिपुष्ट किया गया। अथवा यह भी हो सकता है कि वैशेषिक के इस सिद्धान्त की तुलना में अपना भी एक सिद्धान्त खड़ा करने की दृष्टि से बौद्धों ने 'स्वलक्षण' की धारणा का प्रवर्तन किया हो। जो भी हो विशेष और स्वलक्षण की धारणाओं में कुछ ऊपरी साम्य होते हुये भी स्वभावगत अन्तर है। स्वलक्षण वस्तुतः बौद्धों द्वारा मनमाने ढंग से गढ़ी गई इकाई है। इस पर कोई अन्य पर्यायवाचक नाम लागू नहीं होता। वही वस्तुसमूह या वस्तुश्रृंखला जो कपड़े के रूप में देखी जाने पर कपड़ा-स्वलक्षण कहलाती है, धागे के रूप में देखी जाने पर धागा-स्वलक्षण कहलायेगी। जबकि विशेष स्वयं नित्य है और उसका आश्रय भी नित्य है।

न्याय-वैशेषिक में परिगणित प्रमेयों को प्रायः मीमांसकों ने भी स्वीकार किया है, किन्तु विशेष को मीमांसकों ने भी पदार्थ नहीं माना है।

7. समाहार

सामान्य और विशेष से सम्बद्ध उपर्युक्त मतों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि भारतीय चिन्तन सामान्य के बारे में दो धाराओं में प्रवर्तित हुआ (क) वस्तुवादी (बौद्धेत्तर) और (ख) प्रज्ञप्तिवादी यानी संज्ञामात्रवादी (बौद्ध)। वस्तुवादी भी दो वर्गों में विभक्त रहे हैं—(1) समवाय को प्रत्यक्ष गम्य मानने वाले (नैयायिक) और (2) समवाय को अनुमानगम्य मानने वाले (वैशेषिक)। जैन, मीमांसक और सांख्य समवाय को मानते ही नहीं। उनके अनुसार '**घट**' और '**घटत्व**' बिना किसी मध्यवर्ती समवाय के सीधे ही संयुक्त हो जाते हैं और बौद्ध तो सामान्य को भी नहीं मानते।

समवाय के प्रत्यक्षत्व की समस्या पर उपर्युक्त मतभेद के अतिरिक्त न्याय वैशेषिक के आचार्यों का मत सामान्य के बारे में एक-जैसा रहा है। सामान्यों के सर्वगतत्व की समस्या भी विवाद का विषय रही है। स्वयं वैशेषिकों में ही इसके बारे में दो धारणाएँ प्रचलित हुईं। एक तो यह कि सामान्य वहीं पर रहते हैं, जहाँ उनके वर्ग के विशेष उपस्थित रहते हैं (इस मत के प्रतिपादक प्रशस्तपाद थे) और दूसरी धारणा यह रही कि सामान्य अप्रकट रूप में सर्वत्र रहते हैं।

जिन लोगों ने सामान्य को स्वीकार्य नहीं माना, उनमें बौद्धों का प्राधान्य रहा। बौद्धों ने विशेष की तुलना में अपना स्वलक्षण नामक सिद्धान्त प्रस्तुत किया किन्तु पूर्वोक्त प्रकार से दोनों में अन्तर है। यद्यपि उपर्युक्त रूप में सामान्य और विशेष के सम्बन्ध में भी भारतीय दर्शनों का ऐकमत्य नहीं रहा, फिर भी न्याय-वैशेषिक की पदार्थमीमांसा में इनका महत्त्व स्वतः सिद्ध है।

बारहवें अध्याय के संदर्भ

1. वै० सू० 1.1.4.
2. सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्, वै० सू० 1.2.3.
3. लक्षणभेदादेषां द्रव्यगुणकर्मभ्यः पदार्थान्तरत्वं सिद्धम्। अत एव च नित्यत्वम्।
4. द्रव्यादिषु वृत्तिनियमात् प्रत्ययभेदाच्च परस्परतश्चान्यत्वम्। प्रत्येकं स्वाश्रयेषु लक्षणविशेषाद् विशेषलक्षणाभावाच्चैकत्वम्।
5. यद्यप्यपरिच्छिन्नदेशानि सामान्यानि भवन्ति तथाप्युपलक्षणनियमात् कारणसामग्रीनियमाच्च स्वविषयसर्वगतानि, वै० भा० (अनुवाद ढुण्ढिराज शास्त्री) पृ० 282.
6. योऽर्थोऽनेकत्र प्रत्ययानुवृत्तिनिमित्तं तत्सामान्यम्. न्या० भा०, 2.2.68.
7. नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्, सि० मु०;
   नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्, त० सं०
8. न व्यक्त्या बिना सामान्यस्फुरणं कारणाभावात्। व्यक्तिस्फुरणसामग्री-निविष्टा हि जातिस्फुरणसामग्री, न्या० कु० पृ० 262
9. यथा रूपाद्यसम्बद्धा न व्यक्ति रुपलभ्यते। तथैव-जात्ययुक्तेति का ते व्यसनसन्ततिः, न्या० मं०
10. तत्त्वसंग्रह पंजिका, पृ० 1.9; तुकी० पृ० 486
11. न च प्राग् गोत्वयोगाद् वस्तु विद्यते। न चाविद्यमानं गौरित्यगौरिति च शक्यं व्यपदेष्टुम्। यदैव वस्तु तदैव गोत्वेनाभिसम्बध्यत इत्यनास्पदो विकल्पः, न्या० वा० पृ० 669, Shastri D.N., p. 528
12. सिंह, बी० एन०, वैशेषिकदर्शन का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० 151
13. जातिरेवाकृतिं प्राह व्यक्ति विज्ञायते तया।
    सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनम्॥ श्लो० वा० 3
14. Critique of Indian Realism, p. 342
15. Bhatt, G. P.—Epistemology of Bhatt School of Purva Mimansa, p. 410.
16. श्लो० वा०, आकृति 67-74
17. जातिराश्रयतो भिन्ना प्रत्यक्षज्ञानगोचरा।

18. उपदेश-सहाय-प्रत्यक्ष-गम्यत्वात्, न चौपदेशापेक्षाणात् तस्य अप्रत्यक्षत्वं भवितुमर्हति गोत्वादि प्रत्यक्षस्यापि सम्बन्धग्रहणकाले तदपेक्षत्वदर्शनात्, न्या० नं० 1, 204.
19. सर्वसर्वगता वा स्यात्, न्या० मं०, 1-273.
20. पिण्ड सर्वगताऽपि वा, न्या० म० 1-273
21. व्यक्तिसर्वगतत्वेऽपि स्वयूथ्यैः कैश्चिदाश्रिते, न्या० मं० 1-286
22. केन सर्वगतत्वं जातेरभ्युपगम्यते, अपितु स्वविषये सर्वत्र वर्तत इति सर्वगतेत्युच्यते, न्या० वा० पृ० 667 सन्ति हि केचिद् भावा ये सहावस्थानेऽपि परस्परम् असम्बद्धा तथा सामान्यमपि सर्वासम्बद्धमपि सर्वैः सहावतिष्ठते, न्या० वा० ता० टी०, पृ० 512
23. व्यक्तेरभेद स्तुल्यत्वं संकरोऽथामनवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः ॥
24. सामान्यं द्विविधम् अखण्डं सखण्डं चेति। तत्र अखण्डं साक्षात् संबद्धं सामान्यं जातिः इत्युच्यते। यथा सत्ता द्रव्यत्वकर्मत्वादि। सखण्डं तु परम्परया सम्बद्धं सामान्यम् उपाधि इत्युच्यते। यथा प्रमेयत्वज्ञेयत्वादि दण्डित्वकुण्डलित्वादि च, दीधि० 2 पृ० 81.
25. Stoce, W. T.; A Critical History of Greek Philosophy, P. 194
26. विनाशारम्भरहितेषु नित्येषु अण्वाकाशकालदिगात्ममनस्सु प्रतिद्रव्यमैककशो वर्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः प्रशस्तपादभाष्यम्, विशेषप्रकरणम्, पृ० 284
27. अन्त्यविशेषेष्विव परमाणुषु कस्मान्न स्वतः प्रत्ययव्यावृत्तिः कल्प्यते इति चेन्न तादात्म्यात्, प्र० भा० पृ० 287.
28. अन्त्यविशेषमन्तरेण योगिनां न योगजाद्धर्मात् प्रत्ययव्यावृत्तिः प्रत्यभिज्ञानं वा भवितुमर्हति, प्र० भा० पृ० 287.
29. जातिरहितत्वे सति नित्यद्रव्यमात्रवृत्तिः अजातिरेकवृत्तिश्च विशेष इति कथ्यते। अन्त्यो नित्यद्व्यवृत्तिः विशेषः न्या० सि० मु०
30. यथार्थस्थ सन्निधानासंनिधानाभ्याम् ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत्स्वलक्षणम् न्यायबिन्दुः, पृ० 16.
31. स्वलक्षणमित्यसाधारणं वस्तुस्वस्वरूपं देशकालाकारत्तियतम् बौ० त० भा०, पृ० 34.

अध्याय 13

समवाय

1. समवाय की संकलपना

समवाय की वैशेषिक दर्शन में एक पृथक् पदार्थ के रूप में परिगणित किया गया है। समवाय की छठे पदार्थ के रूप में परिगणना भी वैशेषिक दर्शन की विशिष्टता का एक प्रमुख कारण है। न्यायदर्शन में समवाय का निरूपण एक सम्बन्ध के रूप में किया गया है जबकि वैशेषिक दर्शन में समवाय को एक सम्बन्ध ही नहीं, अपितु छठा पदार्थ भी माना गया है। अन्य दर्शनों में समवाय का खण्डन किया गया है। सांख्य योग, भाट्ट मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध और जैन दर्शनों में इसके निरसन में विभिन्न तर्क प्रस्तुत किये गये हैं। यद्यपि न्याय-दर्शन की भी समवाय की संकलपना के साथ सहमति है, फिर भी प्रमुखतः यही माना जाता है कि समवाय वैशेषिक नय का ही एक प्रमुख सिद्धान्त है। वैशेषिक में पहले द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष और समवाय ये छः ही पदार्थ माने गये थे। बाद में अभाव को भी पदार्थ मानकर उनकी संख्या सात हो गई। वस्तुवादी न्याय-वैशेषिकों ने ब्रह्माण्ड में तीन प्रमुख सम्बन्धों की कल्पना की (1) संयोग सम्बन्ध (2) स्वरूप सम्बन्ध और (3) समवाय सम्बन्ध। इनमें से संयोग सम्बन्ध और स्वरूप सम्बन्ध को तो वैशेषिकों ने पदार्थ नहीं माना, किन्तु समवाय का पृथक् पदार्थत्व भी स्वीकार किया। इस प्रकार वैशेषिकनय में समवाय का सर्वाधिक महत्त्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री जैसे विद्वानों का तो यह भी कहना है कि यदि द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य और विशेष ये पाँच पदार्थ वैशेषिक दर्शन के ढाँचे के लिये ईंटों के समान हैं तो समवाय उन ईंटों को मिलाने वाले गारे मसाले के समान है।[1] वैशेषिकों की यह मान्यता है कि (1) धर्मी (2) धर्म और (3) उनके बीच विद्यमान सम्बन्ध ये तीनों ही वस्तुसत् हैं और भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। उदाहरणतया पट (धर्मी), श्वेत (धर्म) तथा उनको जोड़ने वाला समवाय ये तीनों भिन्न-भिन्न

पदार्थ और वस्तुसत् हैं। इसी मान्यता के आधार पर ही वैशेषिकों ने समवाय की संकलपना का ढाँचा खड़ा किया है।

2. समवाय का स्वरूप

समवाय की परिभाषा बताते हुए महर्षि कणाद कहते हैं कि "यहाँ यह है" (इह इदम् इति)—ऐसे कथनों में निर्दिष्ट कार्य और कारण के बीच जो सम्बन्ध विद्यमान रहता है, वह समवाय कहलाता है। जैसे सत्ता नामक पर-सामान्य एक है (इहेदमिति यतः कार्य कारणयोः स नम्बन्धः वै०सू० 7.2.26) कणाद का यह भी कथन है कि वैसे ही समवाय भी एक ही है। आचार्य प्रशस्तवाद ने कणाद के उपर्युक्त कथनों का विश्लेषण और विस्तार करते हुए यह बताया कि अयुत सिद्ध यानी कभी पृथक् न रह सकने वाले ऐसे आश्रय और आश्रितों के बीच विद्यमान वह सम्बन्ध समवाय कहलाता है, जो "यह (आश्रित) यहाँ (आश्रय में) हैं"—इस प्रतीत का हेतु हो (अयुतसिद्धाना माधार्यादारभूतानां यः सम्बन्धः इहप्रत्यय हेतुः स समवायः द्रव्यगुणकर्म सामान्य विशेषाणां कार्यकारण भूतानाम् अकार्यकारण भूतानां वाऽयुतासिद्धानाम् आधार्या-धारभावेनावस्तानाम् "इह हदमिति" बुद्धिर्यतो भवति यतश्चासर्व गतानाम् अधिगता न्यत्वानाम् अविष्वग्भावः स समवायारव्यः सम्बन्धः कथम्? यथा इह कुण्डे दधि" इति प्रत्ययः सम्बंधे सति दृष्टः तथा "इह तन्तुषु पटः इति प्रत्ययर्शनात् इत्येषा सम्बन्ध इति ज्ञायते।) केशव मिश्र के अनुसार अयुत सिद्ध यानी पृथक्-पृथक् न रह सकने वाले जिन दो पदार्थों में एक नाश को प्राप्त न होने की (अविनश्यत्) अवस्था में दूसरे पर आश्रित ही रहता है, वे दोनों अयुत सिद्ध कहलाते हैं। पट 'अवयवी' जबतक नाश को प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक वह तन्तुओं (अवयवों) पर आश्रित होकर ही रहता है। अयुत-सिद्धतापरक समवाय सम्बन्ध के कारण ही "इह तन्तुषु पटः" इस प्रकार कहा जाता है। समवाय सम्बन्ध के दो अर्थ हैं (1) "यह अयुत सिद्ध आधेय और आधार में यहाँ यह है"—इस प्रतीति का निमित्त होता है और (2) दो परि-च्छिन्न परिमाण वाले भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले पदार्थों में पृथक्ता नहीं होने देता।

समवाय्यते "सम्+अव्+अय्+घञ् इति समवायः समूहः सम्बन्ध विशेषः"—इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी समवाय का अर्थ है—मेल कराने वाला एक घनिष्ट सम्बन्ध, जिससे जुड़ने वाली दो वस्तुओं में से एक का नाश होने तक दूसरी को उससे अलग नहीं किया जा सकता।

उदयनाचार्य का यह विचार है कि "अयुत सिद्ध वे पदार्थ होते हैं, जो अयुत यानी साथ-साथ प्राप्त होते हैं और जिनकी साथ-साथ प्राप्ति ही समवाय कहलाती है। उदयन किरणावली में यह कहते हैं कि प्राप्तिलक्षण ही समवाय है (अयुताः प्राप्ताश्च ते सिद्धाश्चेत्ययुतसिद्धाः प्राप्ता एव सन्ति न नियुक्ता इति यावत् तेषां सम्बन्धः प्रापिलक्षणः समवायः। तथा च नित्या प्राप्तिः समवायः इति लक्षणं सूचित भवति किरणावली सू० 25-26)। किन्तु लक्षणावली में उन्होंने यह बताया कि "नित्यसम्बन्ध" ही समवाय है, और अपने इस मन्तव्य को उन्होंने वैकल्पिक रूप से इस प्रकार भी व्यक्त किया है "समवेतत्वरहित—सर्वाऽन्योन्याभावसमानाधिकरणभावः समवाय (ल०व०) शिवादित्य का यह कथन है कि—नित्यसम्बन्ध ही समवाय है जो स्वयं असमवेत ही रहता है—

नित्यः सम्बन्धः समवायः, स०प०

वादिवागीश्वर का यह विचार है कि इह प्रत्यय का विषयी भाव नित्य सम्बन्ध ही समवाय है—

नित्यसम्बन्धः समवायः इहप्रत्ययविषयीभावः, (मानमनोहर, पृ० 130)
शंकर मिश्र के मतानुसार असमवेत भावत्व ही समवायत्व है—

तत्रासमवेतभावत्वं समवायत्वम् (कणादरहस्यम्)

इस परिभाषा के अतिरिक्त शंकर मिश्र ने वैकल्पिक रूप से यह भी कहा कि—

स्वाश्रयान्योन्याभावासमानाधिकरणपदार्थविभाजको
पाधिमत्वं वा स्वाश्रयातिरिक्तपदार्थमात्रप्रति-
योमिकान्योन्याभावसमानाधिकरणपदार्थविभाजको-
पाधिमत्वं वा (कणाद रहस्यम्—पृ० 169)।

विश्वनाथ के अनुसार अवयव और अवयवी का गुण और गुणी का, क्रिया और क्रियावान् का तथा नित्य द्रव्य और विशेष पदार्थ का परस्पर जो सम्बन्ध है, वही समवाय है—

(क) घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः॥ (भाषापरिच्छेदः का०।)

(ख) अवयवावयविनो, जातिव्यक्त्योः, गुण गुणिनोः,
क्रिया क्रियावतोः, नित्यद्रव्यविशेषयोश्च यः
सम्बन्धः स समवायः
(भाषा परिच्छेदः का० ।। न्याय सिद्धान्त मुक्तावली)

श्रीधर ने न्याय वैशेषिक मत का समाहार सा करते हुए समवाय की यह परिभाषा बताई कि—"अपने सम्बन्धियों के स्वातन्त्र्य का अपहरण करनेवाला वहीं सम्बन्ध समवाय कहलाता है, जिनके द्वारा परस्पर भिन्न-भिन्न दो वस्तुओं का अतिसंश्लेष सूचित होता है—

परस्परोपसंश्लेषो भिन्नानां तत्कृतो भवेत् ।
समवायः स विज्ञेयः स्वातन्त्र्यप्रतिरोधकः ।। (न्याय क०—786)

उपर्युक्त लक्षणों का विवेचन करने के अनन्तर समवाय के स्वरूप के सम्बन्ध में जो प्रमुख तथ्य उजागर होते हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

1. समवाय असत्कार्यवाद पर आधारित है ।
2. समवाय संयोग से तथा द्रव्यादि से भी भिन्न एक पृथक् पदार्थ है ।
3. समवाय दो या उससे अधिक अयुतसिद्ध पदार्थों के मध्य रहने वाला सम्बन्ध है ।
4. समवाय एक तथा नित्य है ।
5. समवाय स्वयं कहीं भी समवेत होकर नहीं रहता, अपितु अपने सम्बन्धियों में स्वरूप सम्बन्ध से रहता है ।
6. समवाय गुण, कर्म, सामान्य और विशेष को द्रव्य से; सामान्य को गुणों और कर्मों से; तथा अवयवी को अवयवों से सम्बद्ध करता है।
7. समवाय नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्षगम्य है, किन्तु वैशेषिकों के अनुसार वह अनुमेय है ।

3. असत्कार्यवाद और समवाय

महर्षि कणाद ने यह बताया कि कार्य और कारणभूत पदार्थों में "यहाँ यह है"—इस प्रकार का जो भाव रहता है, वह समवाय सम्बन्ध कहलाता है । प्रशस्तपाद ने सूत्रकार के कथन का विश्लेषण करते हुए यह बात भी जोड़ी कि केवल कार्य और कारणभूत पदार्थों में ही नहीं, अपितु कार्य कारण भाव से

रहित वस्तुओं में भी समवाय सम्बन्ध हो सकता है, यदि वे वस्तुएँ अयुत सिद्ध हों और उनमें आधाराधेयभाव विद्यमान हो। प्रशस्तपाद के इस मन्तव्य को प्राय: सभी उत्तरवर्त्ती वैशेषिकों ने भी अंगीकृत किया, और प्राय: यह माना कि कारण वस्तु में कार्य की वृत्तिता के व्यवहार का निमित्त जो सम्बन्ध होता है, वह समवाय कहलाता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि न्याय वैशेषिक में असत्कार्यवाद को स्वीकार किया गया है, और जयन्त भट्ट ने भी यह कहा कि समवाय सम्बन्ध के आधार पर ही यह माना जाता है कि अपनी उत्पत्ति से पहले कारण में अविद्यमान कार्य उसी कारण से उत्पन्न होता है तथा उसी कारण से सर्वथा भिन्न होता हुआ भी कार्य, उस कारण का एकदेशवर्ती बनता है। इस प्रकार समवाय के परिणाम-स्वरूप ही कारण और कार्य के बीच देशभेद नहीं रह जाता।[2] श्रीधर ने भी इसी मत की पुष्टि करते हुए यह बताया कि समवाय के दोनों सम्बन्धी तप्त लोहे और अग्नि की भाँति पिण्डीभूत रूप में ही दृष्टगोचर होते हैं।[3] वैशेषिकों द्वारा उपादान कारण को समवादि कारण कहने के पीछे भी यही भावना प्रबल रही कि उपादान कारण वही होता है जो कार्य के साथ समवाय सम्बन्ध से रहता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि वैशेषिक दर्शन में असत्कार्यवाद की आधारशिला के रूप में या कारण-कार्य सिद्धान्त की व्याख्या हेतु ही समवाय सम्बन्ध की कल्पना की गई। कणाद ने भी कारण और कार्य के बीच होने वाली इहेदम् की प्रतीति के हेतु को ही समवाय बताया है। समवाय को इसी कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध कहा गया कि कार्यकारण में समवेत रहकर ही उत्पन्न होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि समवाय के विकास का क्रम भी कारणता पर आधारित रहा है। आरम्भ में तो सम्भवत: अवयवी–अवयव यानी केवल एक युग्म के बीच विद्यमान सम्बन्ध को ही समवाय कहा गया होगा, किन्तु बाद में इसका क्षेत्रविस्तार गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान्, जाति और व्यक्ति तथा विशेष और नित्य द्रव्य इन अन्य चार युग्मों तक कर दिया गया। पर-माणुओं और नित्य द्रव्यों में रहने वाले विशेष के बीच विद्यमान सम्बन्ध को भी समवाय माना गया।[4] विश्वनाथ पंचानन का इस संदर्भ में यह कथन है कि अनन्तस्वरूप सम्बन्ध मानने के स्थानपर एक समवाय सम्बन्ध को मान लेने में लाघव है, अत: ऐसा किया गया।[5] किन्तु डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री जैसे आधुनिक विद्वानों का यह मत है कि समवाय को केवल लाघव के उद्देश्य से ही नहीं,

अपितु इसलिए भी अतिरिक्त पदार्थ माना गया है कि यह न्याय-वैशेषिक चिन्तन का मूल आधार है ।[6]

4. समवाय का अतिरिक्त पदार्थत्व

सूत्रकार कणाद का यह कथन है कि जिस प्रकार सत्ता जाति द्रव्य, गुण में रहती हुई भी उनसे भिन्न है, उसी प्रकार समवाय भी द्रव्य गुण या कर्म नहीं अपितु उनसे पृथक् एक अतिरिक्त पदार्थ है ।[7] प्रशस्तपाद का भी यह मत है कि जिस प्रकार सत्तारूप सामान्य या द्रव्यत्वादिरूप सामान्य स्वसदृश प्रतीतियों के उत्पादक होने के कारण द्रव्यादि आश्रयों से भिन्न हैं, उसी प्रकार समवाय के अनुयोगी द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष और सामान्य में यह प्रतीतियाँ होती हैं । अतः समवाय भी द्रव्यादि पदार्थों से भिन्न एक स्वतन्त्र पदार्थ है। वैशेषिकों का आशय यह है कि जैसे पृथिवी आदि में अनुगत प्रतीति के कारण द्रव्य को पृथ्वी आदि से भिन्न एक अतिरिक्त पदार्थ माना जाता है, उत्प्रेक्षण आदि में अनुगत प्रतीति के कारण कर्म को उत्प्रेक्षादि से भिन्न एक पदार्थ माना जाता है, तथा द्रव्य गुण कर्म में अनुगत प्रतीति के कारण द्रव्यगुण से भिन्न सत्ता समान्य को स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार समवाय भी द्रव्यादि पाँच पदार्थों में इहेदमिति प्रत्यय के कारण द्रव्यादि से भिन्न एक अतिरिक्त पदार्थ माना जाता है ।[8]

5. समवाय का आश्रितत्त्व

उद्योतकर का यह विचार है कि समवाय पंचपदार्थवृत्ति पद से अभिधेय है अतः वह अनाश्रित है । यानी समवाय कहीं आश्रित होकर नहीं रहता ।[9] पट में तन्तुओं की जो समवेत प्रतीति होती है वह मिथ्या प्रत्यय है ।[10] वाचस्पति मिश्र ने वार्तिकार के मत का खण्डन करते हुए यह कहा कि इस तरह से तो यह भी कहा जा सकता है । गाय और गाय शब्द दोनों ही गोपदवाच्य हैं, अतः जैसे गाय के सींग होते हैं, वैसे ही शब्द के भी सींग होने चाहिए ।[11] प्रशस्तपाद ने भी उद्योतकर के मत के विपरीत समवाय की गणना आश्रित पदार्थों में की है ।[12] श्रीधराचार्य का यह विचार है कि आश्रितत्त्व का अभिप्राय यहाँ परतन्त्र रूप से ज्ञात होना ही है, सभवाय सम्बन्ध से कहीं रहना नहीं। क्योंकि समवाय कहीं भी समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता ।[13]

6. समवाय का स्वात्मस्वत्व

वेदान्त में चर्चित तादात्म्य या स्वरूप सम्बन्ध में दो वस्तुएँ स्वतः ही सम्बद्ध होती हैं । उनसे पृथक् सम्बन्ध नाम की कोई वस्तु नहीं होती किन्तु

वैशेषिकों के अनुसार सम्बन्ध दो वस्तुओं को जोड़ता भी है और उनसे सर्वथा भिन्न भी होता है। अतः उसमें स्वात्मस्वत्व है। आशय यह है कि समवाय अपने आश्रयों में न तो संयोग सम्बन्ध से रहता है न समवाय सम्बन्ध से, अपितु स्वात्मस्वत्व यानी स्वरूपसम्बन्ध से रहता है।[14] जैसे द्रव्य गुण और कर्म में सत्ता जाति के रहने के लिए किसी दूसरे सत्ता सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही एक ही स्वरूप के एवं समन्धाऽभिन्न सत्ता के लिए किसी दूसरे सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं होती।[15] मीमांसा और अद्वैत वेदान्त में केवल तादात्म्य को ही सम्बन्ध माना गया है।

बौद्धदर्शन किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करता, बौद्धों के अनुसार सभी प्रकार की वस्तुसत्ता असम्बद्ध तथा पृथक्-पृथक् क्षणों में स्थित है। अतः उनके बीच कोई सम्बन्ध नहीं है। जो सम्बन्ध कल्पित किये जाते हैं, वे वास्तविक नहीं होते। किन्तु वैशेषिक दर्शन के अनुसार सभी सम्बन्धों की बाह्य वस्तुगत सत्ता है। अतः वैशेषिकों की दृष्टि में समवाय एक सम्बन्ध भी है और बाह्य पदार्थ भी।

7. समवाय के स्वरूप सम्बन्धत्व का निरसन

समवाय स्वरूप सम्बन्ध से अवयव अवयवी आदि में रहता है, किन्तु समवाय स्वयं स्वरूप सम्बन्ध नहीं है। विशिष्ट प्रतीति के नियामक को सम्बन्ध कहा जाता है। समवाय की अपने अनुयोगियों में रहने के लिए किसी अन्य वृत्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती, वह स्वतः ही उनमें अवस्थित रहता है। इसलिए इसको स्वतन्त्र कहा जाता है।[16] सम्बन्धियों के भिन्न होने पर भी सम्बद्ध प्रतीति का नियामक ही सम्बन्ध कहलाता है।

सम्बन्ध विशेषण और विधेय से पृथक् होता है। विशेषण वस्तुतः विधेय का एक अंश होता है, जबकि सम्बन्ध वह वैशिष्ट्य है, जो किसी वस्तु की विधेयता में अथवा चित्रण में उसकी विशेषता के रूप में ही सम्मिलित होता है।[17]

शब्दों के मध्य अर्थों का सम्बन्ध वाक्य रचना के माध्यम से संकेतित किया जाता है।[18] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सम्बन्ध दो वस्तुओं के मध्य स्थित बन्धन को सूचित करता है।

8. समवाय का सम्बन्धत्व

संयोग और समवाय में यह अन्तर है कि संयोग सदा दो द्रव्यों के बीच

ही होता है, किन्तु समवाय तन्तु और पट जैसे दो द्रव्यों के बीच भी हो सकता है और भिन्न-भिन्न वर्ग की वस्तुओं जैसे द्रव्य एवं गुण तथा द्रव्य एवं कर्म आदि अन्य पदार्थों के बीच भी हो सकता है। तात्पर्य यह है कि संयोग एक ही वर्ग की दो वस्तुओं में होता है जबकि समवाय एक ही वर्ग अथवा भिन्न-भिन्न वर्ग की वस्तुओं के बीच भी हो सकता है। प्रशस्तपाद ने संयोग और समवाय में चार प्रकार का अन्तर बताया है—

(1) संयोग सम्बन्ध युत वस्तुओं के मध्य घटित होता है, जबकि समवाय अयुतसिद्ध वस्तुओं में ही होता है।

(2) संयोग के तीन प्रमुख प्रकार हैं—अन्यतरकर्मज, उभजकर्मज और संयोगज, जबकि समवाय (जैसे कि तन्तु और पट के बीच) में इन तीनों में से किसी भी प्रकार के कर्म की अपेक्षा नहीं होती। समवाय अपने आश्रयीभूत पदार्थों के उत्पादक कारणों की सत्ता में विद्यमान रहता है। विभाग से संयोग का नाश हो जाता है, किन्तु नित्य होने के कारण विभाग से समवाय के नाश का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

(3) संयोग दो वस्तुओं के बीच होता है, जबकि समवाय सम्बन्ध सदा आधार और आधेयभूत वस्तुओं में ही होता है।

वैशेषिक दर्शन में संयोग को गुण और समवाय को पदार्थ माना जाता है, इसका कारण संभवतः यह है कि संयोग द्रव्य का वैशेषणिक धर्म है। अतः उसको गुण कहा गया है, श्रीधराचार्य का यह मत है कि संयोग की प्रतीति में तो उसके प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों सम्बन्धियों का ज्ञान होता है, जबकि समवाय के प्रतियोगी और अनुयोगी एकाकार होकर भासित होते हैं। जैसे आग और लोहे का जलता हुआ गोला भिन्न-भिन्न होते हुए भी समवाय के कारण एक प्रतीत होते हैं। आधुनिक विद्वानों में से डा० राधा कृष्णन् का यह कथन है कि संयोग एक बाह्य सम्बन्ध है, जबकि समवाय एक आभ्यन्तर सम्बन्ध है।[19] इस मत के विपरीत प्रो० हिरियन्ना ने यह कहा कि—वैशेषिक बाह्यार्थवादी है। बाह्यार्थवाद में इस प्रकार के आभ्यन्तर सम्बन्ध का तालमेल नहीं बैठता।[20] प्रो० यदुनाथ सिन्हा के मतानुसार समवाय एक घनिष्ट सम्बन्ध तो है, पर वह आभ्यन्तर सम्बन्ध नहीं है।[21] प्रो० कालिदास भट्टाचार्य और प्रो० एन० एस० द्रविड़ का यह कथन है कि पाश्चात्य दर्शन में सम्बन्ध के आभ्यान्तर और बाह्य नामक जो दो भेद बताये गये हैं, वे भारतीय दर्शनों में

स्वीकार्य नहीं हैं, क्योंकि भारतीय दर्शनों में स्वीकृत सम्बन्धों में से कोई भी एकान्ततः बाह्य और एकान्ततः आभ्यन्तर नहीं है।[22]

9. समवाय का एकत्व या नानात्व

पदार्थतत्त्वनिरूपण के रचयिता सुप्रसिद्ध नव्यनैयायिक रघुनाथ शिरोमणि, पदार्थमंजरीकर्त्ता वेणीदत्त तथा प्रभाकर मीमांसकों के अतिरिक्त न्यायवैशेषिक के सभी आचार्यों ने समवाय का एकत्व माना है। वैशेषिकसूत्र में कणाद ने यह कहा कि समवाय एक ही है, क्योंकि समवाय की एकता सत्ता जाति की एकता से ही सिद्ध है, साथ ही समवाय के अनेकत्व का साधक कोई लिङ्ग भी नहीं है।[23]

प्रशस्तवाद ने भी यही कहा है कि संयोग की तरह समवाय में अनेकत्व नहीं होता, इसके कोई भेद नहीं होते। जिस प्रकार द्रव्य गुण और कर्म में रहनेवाला "सत्ता" नामक सामान्य एक ही है, उसी प्रकार "यह यहाँ है" इस प्रकार की प्रतीति का हेतु होने के कारण समवाय भी एक ही है। समवाय में अवान्तर भेद का निदर्शक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अतः अपने सभी अनुयोगियों और प्रतियोगियों में रहनेवाला समवाय एक ही है।[24] नित्य होने के कारण भी समवाय एक है। शंकर मिश्र ने भी समवाय के एकत्व का युक्ति-पूर्वक समर्थन किया है।[25] न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार का यह विचार है कि समवाय एक ही है यद्यपि जिन वस्तुओं का समवाय होता है, वे, वे अनेक हैं, और इस प्रकार यद्यपि व्यवहार भेद से समवाय में अनेकत्व प्रतीत होता है, तथापि वस्तुतः वह एक ही है।

न्याय की परम्परा के विरुद्ध रघुनाथ शिरोमणि ने यह कहा कि समवाय में एकत्व नहीं अपितु नानात्व होता है। क्योंकि यदि समवाय एक ही माना जाएगा तो जल में गन्ध आदि गुणों को भी स्वीकार करना पड़ेगा। इसकी अपेक्षा यह मानना अधिक युक्ति संगत है कि भिन्न-भिन्न आश्रयों में रहनेवाले समवाय भिन्न-भिन्न होते हैं। किन्तु उन सब समवायों में अनुगत अखण्डोपाधि समवाय एक ही होता है।[26]

वेणीदत्त ने भी पदार्थमंजरी में रघुनाथ शिरोमणि के मत का समर्थन करते हुए समवाय का नानात्व स्वीकार किया है।[27] न्याय सिद्धान्त मुक्तावली की दिनकरी टीका में में यह मन्तव्य नव्यमत के रूप में उल्लिखित है।[28] प्रभाकर मीमांसकों ने भी समवाय का नानात्व माना है। किन्तु वैशेषिसूत्रोपरस्कार में

शकर मिश्र यह कहते हैं कि समवाय सम्बन्ध का एकत्व मानने पर भी द्रव्यों में कर्मत्व गुणत्व आदि का सांकर्य नहीं होता, क्योंकि आधर-आधेय के नियम के कारण संकर हो ही नहीं सकता।[29]

इस प्रकार सार रूप में यह कहा जा सकता है कि वैशेषिक दर्शन के अनुसार समवाय एक तथा नित्य है।

10. समयाय सम्बन्ध का नित्यत्व

प्रतियोगियों और अनुयोगियों के अनित्य होने पर भी समवाय, संयोग के समान अनित्य सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि सत्ता जाति की तरह वह भी अकारण है।[30]

जैसे किसी भी प्रमाण से उसके कारणों की उपलब्धि न होने के कारण सत्ता जाति को नित्य माना जाता है, वैसे ही समवाय का भी नित्यत्व माना जाता है। समवाय का कोई उत्पादक कारण नहीं होता।

11. समवाय की प्रत्यक्षगम्यता

उद्योतकर प्रभृति प्राचीन न्यायिकों का यह मत है कि अभाव की तरह समवाय का बोध भी विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष से होता है।[31] वार्तिकार उद्योतकर के इस कथन का न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका में विस्तार करते हुए वाचस्पति मिश्र यह कहते हैं कि समवाय का ग्रहण सामान्य इन्द्रिय संयोग से नहीं हो सकता, क्योंकि समवाय द्रव्य की कोटि में नहीं आता। जब तक इन्द्रियों से कोई वस्तु सम्बद्ध नहीं, तब तक इन्द्रियाँ उसको प्राप्त करके उसका प्रकाशन नहीं कर सकतीं। इन्द्रियों का यह स्वभाव है कि वे किसी वस्तु को प्राप्त करके ही उसका प्रकाशन करती हैं। इस प्रकार विशेषण विशेष्य भाव नामक सन्निकर्ष से ही समवाय का बोध होता है।[32]

12. समवाय की अतीन्द्रियता और अनुमानगम्यता

प्रशस्तपाद ने समवाय को अतीन्द्रिय माना है। उन्होंने इस मान्यता के दो प्रमुख कारण बताये हैं। एक तो यह कि सम्बन्धों के संयोग और समवाय नामक वो दो सुविख्यात रूप हैं, उनमें से किसी एक सम्बन्ध के आधार पर भी प्रत्यक्षगम्य पदार्थों में सत्ता की वृत्ति के समान समवाय की वृत्ति नहीं देखी जाती। दूसरा कारण यह है कि समवाय में स्वात्मगत संवेदन नहीं होता। अर्थात्

समवाय में स्वयं अपने आत्मा यानी रूप विषय में कोई संवेदन (भान) उपलब्ध नहीं होता। अतः संयोगादि द्वारा सम्पन्न अनुयोगी और प्रतियोगी की प्रतीति से भिन्न "यह यही है"—इस प्रकार की प्रतीत या बुद्धि से समवाय का प्रत्यक्ष नहीं, अपितु अनुमान होता है।[33]

श्रीधर ने न्यायकन्दली में यह स्पष्ट किया है कि प्रत्यक्ष दीखने वाली घट पट आदि वस्तुओं के साथ, सत्ता की वृत्ति रहती है। इसी कारण संयुक्त समवाय सन्निकर्ष से उनका प्रत्यक्ष होता है।

किन्तु समवाय का कोई भी प्रत्यक्ष प्रयोजक सम्बन्ध अपने सम्बन्धियों के साथ नहीं होता, इसीलिये समवाय को अतीन्द्रिय कहा जाता है। सम्बन्ध के प्रत्यक्ष के लिये उसके दोनों सम्बन्धियों का पृथक्-पृथक् रूप से प्रत्यक्ष होना आवश्यक है। किन्तु समवाय की विद्यमानता में भी उसके सम्बन्धियों का पृथक्-पृथक् रूप से ज्ञान नहीं होता बल्कि दोनों सम्बन्धियों की ऐक्यबद्ध प्रतीति होती है। श्रीधर का यह मत है कि इसी अन्तर को स्पष्ट करने के लिये प्रशस्तपाद ने समवाय की प्रत्यक्षगम्यता का निरसन करते हुए स्वात्मगत संवेदनाभावाच्च यह कथन किया है। इस प्रकार श्रीधर ने इस विचार की पुष्टि की है कि समवाय अतीन्द्रिय तथा अनुमेय है।[34]

व्योम शिक्षाचार्य ने प्रशस्तपाद भाष्य की टीका व्योमवती में समवाय की अनुमेयता से सम्बद्ध भाष्यांश में यह कहा कि "इह तन्तुषु पटः" यह ज्ञान आधेय से अनुरक्त आधार को विशेषित करता है, न कि समवाय से अनुरक्त आधार को। इस प्रकार स्वात्मगत संवेदन का अभाव होने से इहबुद्धि में समवाय अप्रत्यक्ष यानी अनुमेय ही है।[35]

न्याय लीलावतीकार श्री वल्लभाचार्य का यह मत है कि जो विशिष्ट व्यवहार भावमात्रविषय होता है, तथा अबाधित होता है, वह सम्बन्ध नियत होता है, अर्थात् वह विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध के रहने पर ही उत्पन्न होता है। जिस प्रकार कि "सघटं भूतलम्" इस प्रकार का विशिष्ट व्यवहार। किन्तु "सघटं भूतलम्" इत्यादि विशिष्ट व्यवहारों में भासित होनेवाले संयोग सम्बन्ध का भान 'इह गवि गोत्वम्'—इस प्रकार के जात्यादि गोचर विशिष्ट व्यवहारों में बाधित है। अतः उन विशिष्ट व्यवहारों में भासित होनेवाले सम्बन्ध का पर्यवसान समवाय में होता है।[36]

13. समवाय का खण्डन और उसका समाधान

वैशेषिकदर्शन असत्कार्यवादी है और सांख्य सत्कार्यवादी। आरम्भवाद

की व्याख्या के लिए वैशेषिकों द्वारा की गई समवाय की संकल्पना को सांख्य-योग, भाट्ट मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध और जैन दार्शनिकों ने स्वीकार नहीं किया। सांख्य दर्शन के अनुसार समवाय का कोई अस्तित्व नहीं है, क्योंकि समवाय को पृथक् मानने का कोई आधार नहीं है।[37] सांख्यों का यह कथन है कि "नीलो घट:"—जैसी प्रतीतियों में स्वरूप सम्बन्ध है, न कि समवाय या तादात्म्य। हाँ, यदि स्वरूप को ही तादात्म्य कहा जाय तो सांख्य को कोई आपत्ति नहीं है। समवाय के खण्डन में भगवद्पाद शंकराचार्य ने ये तर्क प्रस्तुत किये हैं कि—

(1) यदि संयोग अपने संयोगी द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहता है तो फिर समवाय को भी समवायी पदार्थ में रहने के लिए एक अन्य समवाय की आवश्यकता होगी और प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा।

(2) वैशेषिक दर्शन में समवाय की स्थापना हेतु जिस अयुतसिद्ध सम्बन्ध की स्थापना की गई है, उसका अपृथग्देशत्व अपृथक् कालत्व और अपृथक्भावत्व में से कोई भी अर्थ ग्रहण करने पर वैशेषिक सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। युतसिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध संयोग है, और अयुतसिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध समवाय है। वैशेषिकों का यह सिद्धान्त शंकर की दृष्टि से अग्राह्य है, क्योंकि कार्य से पूर्वकाल में सिद्ध कारण की, कार्य के योग के बिना असिद्धि नहीं है। कार्यकारण को परस्पर सम्बद्ध करने के लिए वेदान्त में समवाय जैसे किसी सम्बन्ध को स्वीकार नहीं किया गया, अपितु उन दोनों को परस्पर अभिन्न या तदात्म माना गया है। वेदान्त में वस्तुत: कारण और कार्य एक ही पहलू के दो पक्ष हैं, वे दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं, जिनको जोड़ने के लिये समवाय जैसे सिद्धान्त की कल्पना करनी पड़े। प्रभाकर मीमांसक समवाय को मानते हैं, पर उनका समवाय वैशेषिक समवाय से भिन्न है। प्रभाकर मीमांसकों के अनुसार समवाय नित्य नहीं है। और सम्बध्यमान वस्तुओं के अनुसार जन्य भी है, अजन्य भी है प्रत्यक्ष भी है तथा अप्रत्यक्ष भी है। वह एक नहीं अनेक है।[40] भाट्ट मीमांसकों का यह मत है कि समवाय पृथक पदार्थ नहीं है और असुतसिद्ध पदार्थों के मध्य रहने वाला "समवाय" उन पदार्थों से भिन्न कोई सद्वस्तु नहीं है, अपितु उन वस्तुओं का स्वरूप ही है। भाट्ट मीमांसक "नीलो घट:"—इस प्रकार की प्रतीति में नील और घट के बीच तादात्म्य मानते हैं, न कि समवाय।[41]

योगदर्शन में भी तादात्म्य को ही सम्बन्ध माना गया और वेदान्त में तादात्म्य को ही अध्यास कहा गया है। शब्द और अर्थ के बीच जो सम्बन्ध है, वह योगदर्शन के अनुसार तादात्म्य है। उदाहरणतया, गो शब्द की—सास्नादिमान् अर्थ में अध्यस्तता है, इसलिए गौ शब्द से सास्नादिमान् अर्थ की प्रतीति होती है।[42]

वैयाकरणों ने अनेकत्र वैशेषिक सम्मत समवाय का उल्लेख किया और कहीं-कहीं उसको स्वीकार-सा किया, किन्तु अन्यत्र उसको अङ्गीकृत नहीं किया। भर्तृहरि ने यह माना कि शब्द, समवाय सम्बन्ध से आकाश में रहता है, अतः आकाश शब्द का समवायिकारण है। इसी प्रकार समवाय के कारण जाति से व्यक्ति का बोध होता है।[43] हेलाराज ने भी आकाश, गगन आदि शब्द आकाशख्य अर्थ को समवाय सम्बन्ध के कारण निर्दिष्ट करते हैं। समवाय का अर्थ भी हेलाराज ने वैशेषिकों के समान ही किया है।[44] किन्तु अन्ततः वैयाकरणों ने समवाय को न तो सम्बन्ध माना नहीं पदार्थान्तर। उन्होंने अपने मन्तव्य को इस प्रकार से उपस्थापित किया कि शब्दशास्त्र में वस्तुतः दो प्रकार के ही सम्बन्ध स्वीकृत किये जा सकते हैं और वे हैं—योग्यता तथा तादात्म्य। योग्यता का विश्लेषण करते हुए भर्तृहरि यह कहते हैं कि जैसे इन्द्रियों का अपने विषयों जैसे चक्षु का रूप के साथ योग्यता रूप अनादि सम्बन्ध है, उसी प्रकार शब्दों का भी अपने अर्थों के साथ योग्यतारूप अनादि सम्बन्ध है।[45]

हेलाराज ने तादात्म्य को "कार्यकारणभाव" संज्ञा से भी अभिहित किया है। उनके अनुसार "इह कपालेषु घटः" "इह तन्तुषु पटः" इत्यादि प्रतीतियों में कार्यकारणभाव रूप सम्बन्ध है। इनके पारस्परिक अध्यास को तादात्म्य कहा जाता है। यह तादात्म्य सम्बन्ध योग्यता और कार्यकारणभाव से पृथक नहीं है। इस प्रकार तादात्म्य कार्यकारणभाव का नामान्तर है। यही सम्बन्ध है, न कि समवाय। नागेश भट्ट भी तादात्म्य को ही सम्बन्ध मानते हैं और उनके दो भेद बताते हैं (क) औपाधिक भेद मूलक और (ख) अभेदमूलक। जैसे कि **"नीलत्वेन घटत्वेन च अवच्छिन्नो घटः"**—इस प्रतीति में नील और घट का उपादि भेद है। किन्तु **"नीलत्वेन अभिन्नो घटः"**—इस प्रतीति में नील से भिन्न घट का या घट से भिन्न नील का नहीं, अपितु उनका अभेदरूप से ग्रहण होता है।[46] शब्द का अर्थ के साथ तादात्म्यरूप सम्बन्ध होने के कारण ही प्रणव का उसके वाच्य ईश्वर से अभेद सम्बन्ध है। इसी आधार पर यह माना जाता है कि प्रणव के जप से ईश्वर का साक्षात्कार होता है।

उपर्युक्त रूप से यह स्पष्ट होता है कि सांख्य योग, भाट्टमीमांसा और अद्वैत वेदान्त में समवाय को स्वीकार नहीं किया गया। प्रभाकर मीमांसकों ने समवाय को माना तो सही पर उसका नित्यत्व तथा एकत्व स्वीकृत नहीं किया। वैयाकरण भी आपाततः तो समवाय को स्वीकृत करते हुए से दिखाई देते हैं, किन्तु अन्ततः वैयाकरणों ने भी समवाय के सम्बन्धत्व को स्वीकार्य नहीं समझा। नैयायिकों और वैशेषिकों में भी यह अन्तर रहा कि जहाँ नैयायिक समवाय को अभाव के समान विशेषण-विशेष्य भावरूप सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष-गम्य मानते हैं, वहाँ वैशेषिकों की दृष्टि से वह अनुमानगम्य है। इस प्रकार यद्यपि समवाय का सम्बन्धत्व और पदार्थान्तरत्व अन्य अधिकतर दर्शनों को मान्य नहीं हुए, फिर भी वैशेषिक नय में इसका अपना विशिष्ट महत्त्व है, और यह तो स्पष्ट ही है, कि वैशेषिक का असत्कार्यवाद भी वैशेषिक के समवाय सिद्धान्त पर ही आधारित है।

तेरहवें अध्याय के सन्दर्भ

1. डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्र, क्रिटिक आफ इण्डियन रियलिज्म. पृ० 375
2. न्या० मं० भाग—1, पृ० सं० 285
3. अत्र सम्बन्धिनौ अय: पिण्ड-वह्निवत् पिण्डीभूतावेप प्रतीयेते, न्या० क० पृ० 752
4. Exactly considered, the relation of the whole avayavi to its parts appears to have been the starting point in the formulation of the category of infesence, Frathwellner E.I.P., Vol. I p. 246.
5. अनन्तस्वरूपाणां सम्बन्धकल्पने गौरवाल्लाधवा देव समवाय सिद्धि:, न्या० सि० मु०
6. C.I.R. D. N. Shastri, P. 377; IPS, Hiriyanna, Vol. I, p. 43.
7. द्रव्यत्वगुणत्व प्रतिषेधो भावेन व्याख्यात: वै० सू० 7/2/27.
8. भाव: सत्ता, यथा सत्ता न द्रव्याद्यात्मिका विलक्षण बुद्धि वेद्यत्वात्, तथा समवायोऽपि तत एव द्रव्तादिभ्यो भिन्न: । उप० 7.2.27.
9. पंचपदार्थवृत्ति शब्दविषयत्वात् परमाणुवदनाश्रित: समवाय: इति न्या० वा० 1.1.5
10. मिथ्याप्रत्यय एवेस इति० न्या० वा० 2.1.31
11. न्या० वा० ता० टी०
12. आश्रितत्वं चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्य:, प्र० पा० भा० पृ० 8
13. आश्रितत्वंच परतन्त्रतयोपलब्धि: न समवायलक्षणा वृत्ति, समवाये तद्भावात् न्या० क० पृ० 41
14. सामान्यादीनां त्रयाणां स्वात्मसत्वम्, प्र०पा०भा० पृ० 6
15. प्र०पा०भा०; वैशेषिक दर्शन में पदार्थनिरूपण, पृ० 534

16. यद्यप्येक: समवाय: सर्वत्र स्वतन्त्र:, प्र०पा०भा० पृ० 295
17. Problem of Relation in Indian Philosophy, N.S. Dravid.
18. शाब्दबोधे चैकपदार्थे अपरपदार्थस्य संसर्ग: संसर्गमर्यादया भासते, व्युत्पत्तिवाद, पृ० 2
19. I.P. Vol. I, p. 217; I.P.S. p. 115 ;
20. H.I.P. Vol. I, p. 140
21. OCR. p. 11
22. PRIP, pp. 47-50
23. तत्त्वं भावेन, वै०सू० 7.2.28
24. न च संयोगवभावात्वम् भाववालिंलगाविशेषद् विशेषलिंगा भावाच्च। तस्मात् भाववत् सर्वत्रैक: समवाय: प्र०पा० भा० पृ० 259
25. यथैका सत्ता सर्वत्र सद्बुद्धिप्रवर्तिका तथैक एव समवाय: सर्वत्र समवेत-बुद्धिप्रवर्तक: स्वलिंगविशेषाविशेषलिंगाभावाच्च, न हि समवायस्य विशेषलिंग भेदकं लिंगमाकलयामो येन नानात्वमभ्युपगच्छाम:, वै० सू० उपस्कार: 7.2.28
26. समवायोऽपि च नैको जलादे गंन्धादिमत्वप्रसंगात् परन्तु नातैव। समवायत्वं तु पुनरनुगतम् अखण्डोपाधिरिति, प०त०नि० पृ० 97
27. समवायोऽपि च नैको, जलादे गंन्धादिमत्वप्रसङ्गात्, परन्तु नानैव, प०म०, पृ० 35
28. पृथिव्यां गन्धस्य समवाय: न जले इत्यादिप्रतीते: समवायस्य नानात्व-मिति नव्या:।
29. उप० पृ० 442
30. सम्बन्ध्यनित्वेऽपि न संयोगवदनित्यं भावद्दका रणत्वात्, प्र०पा०भा०
31. समवायेचाभावे च विशेषणविशेषय भाषादिति, न्या० वा०
32. न्या०वा०ता०टी०
33. अतएवातीन्द्रिय: सत्तादीनामिव प्रत्यक्षेषु वृत्यभावात् स्वात्मगत संवेदना-भावाच्च। तस्मादिह बुद्ध्यनुमेय: समवाय इति, प्र०पा०भा० पृ० 263

34. यथेन्द्रियेण संयोगप्रतिभासो नैव समवायप्रतिभासः
सम्बन्धिनोः पिण्डीभावोपलम्भात् अतोऽयमप्रत्यक्षः, न्या० क०

35. तथाहि इह तन्तुषु पट इति ज्ञानम् आधेयानुरक्ताधारं विशेषयन्न, न समवायानुरक्तमिति स्वात्मगतसंवेदनाभावादिह बुद्धावप्रत्यक्ष एव समवायः, व्योमवती

36. जात्यादिगोचरो विशिष्टव्यवहारः सम्बन्धनियतः भावमात्रविषयाबाधित-विशिष्टव्यवहारत्वात् सघटं भूतलमिति व्यवहारवत्, न्या० ली०; न्यायवैशेषिक तथा अन्य भारतीय दर्शन, नरेन्द्र अवस्थी, पृ० 175

37. न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात्, सां० सू० 5.99

38. यथैव ह्यणुभ्यामत्यन्तभिन्नं सद् द्वयणुकं समवायलक्षणेन सम्बध्यते, एवं समवायोऽपि समवायादिभिः सम्बध्येत अत्यन्तभेदसाम्यात् ततश्च तस्य तस्य अन्योऽन्यः सम्बन्धः कल्पयितव्य इत्यनवस्थैव दोषः प्रसज्येत. ब्र० सू० 2.2.13

39. गुणादिकं गुण्यादिना भिन्नाऽभिन्नं समानाऽधिकृतत्वात्, अद्वैतसिद्धि, पृ० 59

40. त्रिविधः सन्निकर्षः संयोगः संयुक्तसमवायः समवायश्चेति, प्र० प० पृ० 134

41. प्रभाकरमीमांसकैस्तु समवायोऽभ्युपगम्यते वैशेषिकवत् । परं वैशेषिकमते स एको नित्यश्च. प्रभाकरमते नित्ययोः समवायो नित्यः अनित्ययो-स्सोऽनित्य इति महदन्तरम्, प्र०प०टि० पृ० 92

42. पदपदार्थयोरितरेतराऽध्यासरूपः स्मृत्यात्मको योऽयं शब्दः सोऽयमर्थः । योऽयमर्थः सोऽयं शब्द इत्येवभितरेतराऽध्यासरूपः सङ्केतो भवतीति । एवमेते शब्दार्थप्रत्यया इतरेतराध्यासात् सङ्कीर्णोऽयं गौरिति शब्दो गौरित्ययमर्थो गौरिति ज्ञानम् व्या०भा०, यो०सू०, 3.17

43. समवायात् स्व-आधारः स्वा च जातिः प्रतीयते ।
एकार्थसमवायात्तु गुणाः स्वाधार एव ये ॥

44. अपृथक् सिद्धानामिह बुद्धिहेतुः समवायः यथा इह कपालेषु घटः, हेला० वा० प० 3-2-17

45. इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा ।
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा ।।
सम्बन्धशब्दे सम्बन्धो योग्यतां प्रति योग्यता ।
समयाद्योग्यतासंवित् मातापुत्रादियोगवत् ।। वा०प० 3.3.30-32

46. (क) आत्मान्तरस्य येनाऽत्मा तदात्मेवावधार्यते, वा०प० 3.3.9

(ख) कार्यकारणयोऽवयवाऽवयविनोर्धर्म धर्मिणो र्जाति तद्वतार्गुणगुणि-नोरपदार्थान्तरत्वेऽपि तादात्म्येनाऽवसायः, हेला० वा०प० 3.3.9

(ग) तादात्म्यञ्च तद्भिन्नत्वे सति तदभेदेन प्रतीयमानत्वम् न०म० पृ० 34

अध्याय–14

अभाव

1. वैशेषिकों की अभाव विषयक अवधारणा

अभाव की संकल्पना के आधार पर ही न्याय-वैशेषिक में असत्कार्यवाद को स्वीकार किया गया है। असतकार्यवाद का आशय यह है कि उत्पत्ति से पहले वस्तु अनुपलब्ध रहती है और वस्तु के ध्वंस के बाद भी वस्तु अनुपलब्ध हो जाती है। अतः गोपीनाथ कविराज जैसे विद्वानों का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि अनुपलब्धि अपने आप में क्या है, इस की व्याख्या भी अभाव के विवेचन के द्वारा ही सम्भव होती है।[1]

कतिपय विद्वानों का यह विचार भी ध्यातव्य है कि वैशेषिक सूत्र में भी निःश्रेयस को जीवन का लक्ष्य माना गया है।[2] और उसको अभाव रूप से निर्देश किया गया है।[3] लीलावतीकार ने भी इस ओर संकेत किया है कि निःश्रयस में उपयोगी होने के कारण अभाव का पदार्थत्व कणाद को भी अभीष्ट रहा होगा।[4] किन्तु यह हो सकता है कि तार्किक परिधि से अभाव को बाहर समझने के कारण कणाद ने अभाव के बारे में कुछ न कहना ही उचित समझा हो।[5]

2. अभाव का पृथक् पदार्थत्व

कणाद और प्रशस्तपाद ने स्पष्टतः अभाव का उल्लेख नहीं किया। इस सन्दर्भ में प्रशस्तपाद भाष्य की टीका व्योमवती में व्योमविभवाचार्य (नवीं शती) ने तथा किरणावली में उदयनाचार्य (10वीं शती) के ये कथन ध्यान देने योग्य हैं कि महर्षि ने तो केवल भावरूप पदार्थ के निरूपण की प्रतिज्ञा की थी, अभाव रूप पदार्थ की नहीं।[6] इस प्रकार कई विद्वानों की यह मान्यता है कि यद्यपि कणाद ने अभाव का पृथक पदार्थ के रूप में उल्लेख नहीं किया फिर भी उनको अभाव की सत्ता मान्य थी।

प्रशस्तपादभाष्य की टीका में व्योमशिव ने अभाव को भाव का उपसर्जन माना तथा उसका प्रतिभासन भाव के अधीन स्वीकार किया।[7]

उदयनाचार्य ने किरणावली में यह बताया कि अभाव का निरूपण प्रतियोगी के निरूपण के अधीन होता है।[8] किन्तु लक्षणावली में उदयनाचार्य यह कहते हैं कि अभाव नमर्थप्रत्ययविषयक है और वह निषेधार्थक प्रतीति का विषय है।[9] जैसा कि पहले भी कहा गया है, स्वयं प्रशस्तपाद ने अभाव का एक पदार्थ के रूप में परिगणन नहीं किया और अभाव (अनुपलब्धि) को अनुमान में समाहित माना। अतः यह स्पष्ट है कि अभाव की एक पृथक् पदार्थ के रूप में स्थापना प्रशस्तपाद के समय तक नहीं हुई थी।

अभाव के भेदों का उल्लेख सूत्रकार कणाद ने किया था, किन्तु वह उल्लेख प्रायः तार्किक था, तात्त्विक नहीं, उसका आशय यह था कि "किसी वस्तु का न होना ही अभाव है" और इस रूप में प्रशस्तपाद ने अभाव को अनुमान का विषय माना। अतः श्री शेर वात्स्की का यह कथन गलत है कि "प्रशस्तपाद ने मीमांसकों की तरह अभाव के पदार्थत्व का खण्डन किया"।[10] क्योंकि श्रीधराचार्य ने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि प्रशस्तपाद ने अभाव का भावपारतन्त्र्य मानने के कारण उल्लेख नहीं किया, न कि इसलिए कि वह अभाव को मानते ही नहीं थे।[11]

न्यायकन्दली में श्रीधराचार्य ने अभाव की सिद्धि के सन्दर्भ में यह कहा कि अभाव का पृथक् प्रमेयत्व न मानने वाले लोगों से यह पूछा जाना चाहिए कि नास्ति-इत्याकारक बुद्धि का विषय कौन है? यदि वे कहें कि कोई नहीं तो उनका यह कथन महायानियों के निरालम्बनवाद के समर्थन के समान ही माना जाएगा। जबकि तथ्य यह है कि अभाव का पदार्थत्व नहीं माना जाएगा, तो छहों भाव पदार्थों में परस्पर भेद भी नहीं किया जा सकेगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि न्यायवैशेषिक में अभाव की पृथक् पदार्थ के रूप में जो संकल्पना की गई है, वह युक्तिसंगत है। इस सन्दर्भ में पं० गोपीनाथ कविराज का यह कथन विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि मुक्ति की निषेधात्मक कल्पना और असत्कार्यवाद के सिद्धान्त की मान्यता के कारण अभाव को एक पृथक् पदार्थ मानने के लिए न्याय वैशेषिकों को बाध्य होना पड़ा।[12]

वैशेषिकों के अनुसार वस्तुसत्ता के दो रूप होते हैं—भावरूप और अभाव रूप। द्रव्य, गुण कर्म सामान्य विशेष और समवाय ये छः पदार्थ भावरूप

माने गये हैं। जबकि अभाव रूपिणी वास्तविकता की स्वीकृति के रूप में अभाव नामक सातवें पदार्थ की कल्पना की गई है।[13] कणाद ने पदार्थोद्देश में "अभाव" की गणना नहीं की। अतः अधिकांश विद्वानों का यह मत है कि कणाद ने अभाव के पदार्थ का निर्देश नहीं किया। प्रशस्तपादभाष्य, न्यायसूत्र, और न्यायभाष्य में भी अभाव के पदार्थत्व का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। किन्तु कतिपय विद्वानों की यह मान्यता है कि न्यायवैशेषिक के असत्कार्यवाद में मूलतः अभाव के पदार्थत्व के बीज निहित हैं, और न्यायभाष्यकार वात्स्यायन के कथनों में तो अभाव का पदार्थत्व स्पष्टतः संकेतित किया गया है।[14] वैसे कतिपय अन्य विद्वानों का यह विचार है कि वात्स्यायन के कथन का आशय तो केवल मात्र इतना है कि "जिस प्रमाण से सत् का ग्रहण होता है उसी प्रमाण से असत् का ग्रहण भी होता है। यानी अभाव का ज्ञान भी वास्तविक ज्ञान है किन्तु इस कथन से यह सिद्ध नहीं होता कि वात्स्यायन अभाव को एक पृथक् पदार्थ मानते हैं।[15]

वात्स्यायन के कथन में अभाव का पदार्थ के रूप में उल्लेख या संकेत हुआ कि नहीं इस सन्दर्भ में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न मत व्यक्त किये हैं। उनमें से कुछ का यहाँ उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

श्चेरबात्स्की यह कहते हैं कि वात्स्यायन के अनुसार वस्तुसत्ता के दो पक्ष होते हैं—अस्तित्व और अनस्तित्व। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व भी हो सकता है और अनस्तित्व भी। इस प्रकार न्यायवैशेषिक सम्मत छः पदार्थों में अभाव को भी जोड़ दिया गया। किन्तु वात्स्यायन के उत्तरवर्ती कतिपय आचार्यों ने इस मान्यता को स्वीकार नहीं किया। यहाँ तक कि प्रशस्तपाद ने भी अभाव के पदार्थत्व का कोई निरूपण नहीं किया। प्रभाकर मीमांसकों और बौद्धों ने तो अभाव के पदार्थत्व का प्रबल खण्डन भी किया है।[16]

डा० जानकीवल्लभ भट्टाचार्य का यह कथन है कि अभाव के पृथक् पदार्थत्व की अवधारणा का समारम्भ करते हुए वात्स्यायन ने निषेधात्मक प्रतीति को सत् मानने के साथ-साथ उस प्रतीति से संकेतित अभाव पदार्थ की वास्तविकता को भी स्वीकार किया। अभाव भी वस्तुसत्ता का एक रूप है।—भावपदार्थ भावात्मक प्रतीति का और अभाव पदार्थ अभावात्मक प्रतीति का विषय बनता है प्रतीति भेद ही वस्तुसत्ता के भेद का आधार है।[17]

न्यायवैशेषिक की एक मूलभूत अवधारणा यह है कि प्रत्येक प्रतीति बाह्य-वस्तु पर आधारित होती है।[18] बाह्य पदार्थ का आशय है—सद्वस्तु या

वस्तुसत् । प्रतीतिात्मक अभाव भी होती है । अतः अभावात्मक प्रतीति का आधार भी कोई पदार्थ ही होना चाहिए । उसी को वैशेषिकों ने अभाव कहा है । निषेधात्मक वाक्य से वस्तुसत्ता का बोध न होने के कारण अभाव को वाह्यपदार्थ मानने में आपत्ति की जा सकती है, पर इस आपत्ति का समाधान इस प्रकार हो जाता है कि "सभी वाक्य किसी न किसी वास्तविकता को ही व्यक्त करते हैं, अतः निषेधात्मक वाक्य भी वस्तुसत्ता का ही बोध करवाते हैं। उदाहरणतया जब हम यह कहते हैं कि "यह पट नहीं है, तो इसमें यह सिद्ध होता है कि अभाव भी एक पदार्थ है । किसी वस्तु के किसी स्थान पर न होने का आशय यह नहीं है कि वह वस्तु असत् या अवास्तविक है, हाँ यह अन्तर अवश्य है कि अभावीय स्थल पर वह भावरूप नहीं, अपितु निषेधात्मक पदार्थ माना जाता है ।[19]

वैसे वैशेषिक दर्शन के कतिपय सूत्रों में अभाव शब्द का समावेश उपलब्ध होने के कारण कतिपय विद्वानों का यह मत है कि सूत्रकार कणाद को भी अभाव की बाह्य वस्तु सत्ता स्वीकार्य थी ।[20] इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि कणाद ने भले ही पदार्थ के रूप में अभाव का कोई लक्षण न बताया हो किन्तु अभाव के चारों भेदों का तो उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया ही है ।[21] इसी प्रकार अक्षपाद गौतम भी न्यायसूत्र में अभाव का उल्लेख तो करते ही हैं ।[22]

यद्यपि प्रशस्तपाद ने पदार्थों की गणना में अभाव का समावेश नहीं किया और अभाव (अनुपलब्धि) के पृथक् प्रमाणत्व का निरसन[23] करते हुई उसको अनुमान में अन्तर्गत समझा । किन्तु उत्तरवर्ती वैशेषिकों ने अभाव को स्पष्ट रूप से एक पृथक् पदार्थ माना ।

3. अभाव का लक्षण

अभाव के सांकेतिक उल्लेख तो न्यायवैशेषिक के आरम्भिक ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते ही हैं, तथापि उसका विधिवत् पदार्थत्व सप्तपदार्थों में ही सर्वप्रथम निरूपित किया गया है । शिवादित्य 10वीं शती के अनुसार अभाव वह पदार्थ है, जिसका ज्ञान उसके प्रतियोगी के ज्ञान पर आधारित होता है ।[24] उदयनाचार्य (984 ई० 10वीं शती) यह कहते हैं कि अभाव वह है जो "नञर्थक ज्ञान का विषय हो ।"[25]

जयन्तभट्ट (नवीं शती) के अनुसार 'नास्ति'—इस प्रकार के ज्ञान का जो गम्य हो, वह अभाव कहलाता है ।[26] गंगेशोपाध्याय (12वीं शती) ने

अभाव की प्राय: वैसी ही परिभाषा की, जैसी शिवादित्य ने दी थी।[27] न्याय-सिद्धान्तमुक्तावली में विश्वनाथ पंचानन (17वीं शती) यह कहते हैं कि "द्रव्यादि छहों पदार्थों के अन्योन्याभावत्व को ही अभाव कहा गया है।[28] न्यायकन्दली में श्रीधर (10वीं शती) में भी यह कहा कि अभाव का ज्ञान अपने प्रतियोगी (भाव) के ज्ञान के अधीन ही होता है[29] अर्थात् अभाव का ज्ञान भावाश्रित रहता है। वादिवादीश्वर का यह विचार है कि अभाव समवाय से भिन्न असमवायी होता है"।[30] सर्वदर्शन संग्रह में भी ऐसा ही कहा गया कि "अभाव वह है जो स्वयं भी समवाय नहीं होता और किसी अन्य में समवाय संबंध से सम्बद्ध भी नहीं रहता है।[31]

उपर्युक्त कथनों का सार इस प्रकार माना जा सकता है कि अभाव का अस्तित्व नहीं, अपितु अभाव का ज्ञान भाव पर आश्रित है। अभाव के द्वारा विषय का ज्ञान "नास्ति"—अर्थात् नञर्थक प्रतीतियों द्वारा गम्य होता है। द्रव्य, गुण, कर्म. सामान्य और विशेष ये पांच पदार्थ अपने आधार में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, और समवायी कहलाते हैं, जबकि समवाय और अभाव कहीं भी समवाय सम्बन्ध से नहीं रहते, अत: ये दोनों असमवायी पदार्थ कहलाते हैं। समवाय से अभाव की पृथक्ता की सिद्धि तथा अतिव्याप्ति का वारण इस प्रकार से होता है कि न्यायवैशेषिक के आचार्यों ने समवाय के लक्षण में असमवायी शब्द का और अभाव के लक्षण में असमवायी शब्द के अतिरिक्त 'समवायान्य' शब्द का भी प्रयोग किया है।[32]

4. अभाव और असत्कार्यवाद की पारस्परिक सापेक्षता

असत्कार्यवाद का आशय यह है कि कारण, कार्य से पहले विद्यमान रहता है और कार्य अपनी उत्पत्ति से पहले असत् रहता है। इसी बात को कुछ अन्य विद्वान् इस प्रकार कहते हैं कि कार्य अपने पूर्ववर्ती अभाव से अव्यवहित होता है। इस प्रकार असत्कार्यवाद का न्याय वैशेषिक सिद्धान्त अभाव के पृथक् पदार्थत्व की संकल्पना पर आश्रित है। असत्कार्य वाद की पुष्टि के लिए ही न्याय वैशेषिकों को कार्य की उत्पत्ति के पूर्व और विनाश के अनन्तर अभाव का अस्तित्व मानना पड़ा।

सांख्य योग दर्शन में प्रकृतिवाद एवं सत्कार्यवाद को स्वीकार किया गया है, अत: उनमें अभाव जैसे किसी पदार्थ को मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। वैशेषिक सूत्रकार कणाद ने प्रागभाव का निरूपण करते हुए यह कहा कि "जब

तक अपने कारणों से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो जाती, तब तक उसके विषय में क्रिया, गुण आदि व्ययदेशों का अभाव रहता है। अतः यह सिद्ध होता है कि वैशेषिकों के अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व असत् ही रहता है। अतः यह मानना असंगत न होगा कि अभाव की संकल्पना, वैशेषिकदर्शन के असत्कार्यवाद की स्वाभाविक परिणति है और असत्कार्यवाद की संकल्पना वैशेषिक दर्शन द्वारा स्वीकृत अभाव के पदार्थत्व की अनिवार्य परिणति है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अभाव के पदार्थत्व के बिना असत्कार्य वादपरक कार्यकारण सिद्धान्त, और असत्कार्यवाद के बिना अभाव के पदार्थत्व की संकल्पना सम्भव नहीं थी। अतः अभाव के पदार्थत्व का सिद्धान्त न्याय वैशेषिक के आरम्भिक ग्रन्थों में संकेतरूप में तथा उत्तरवर्ती ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित और स्वीकृत किया गया है।

5. अभाव और निषेध की पारस्परिक सापेक्षता

"भाव" पद के साथ नञ् उपसर्ग का समास होने पर "अभाव" पद की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार व्युत्पत्ति के अनुसार "अभाव" निषेधपरक प्रतीतियों का आश्रय है और इसका साधारण अर्थ है—"किसी वस्तु का किसी स्थानविशेष पर न पाया जाना।" वैसे नञ् का अभाव ही नहीं अपितु विरोध भी है यथा "घटोनाऽस्ति" इस पद में न 'अस्ति' का विरोधी है।

निषेध के दो रूप होते हैं पर्युदास और प्रसज्यप्रतिषेध, मतिलाल का यह विचार है कि पर्युदास में प्रतिबद्धता पक्ष प्रतिषेध पक्ष से प्रबल होता है, जबकि प्रसज्य प्रतिषेध में प्रतिषेधपक्ष, प्रतिबद्धता पक्ष से अधिक प्रबल होता है। उदाहरणतया "शरीर अचेतन है।" इस वाक्य में प्रतिबद्धता पक्ष प्रबल है, जबकि "मनुष्य संसार का स्रष्टा नहीं है"। इस वाक्य में प्रतिषेध पक्ष प्रबहन है।[33]

वैसे "**पर्युदास**" अन्योन्याभाव अर्थ में रूढ़ है, जैसे कि '**घटः पटोन**' यहाँ पर घट और पट में अन्योन्याभाव है और "**प्रसज्य प्रतिषेध**" अन्यक्ताभाव अर्थ में रूढ़ है। **प्रसज्य अर्थात्, पसक्तिम् आरोप्य प्रतिषेधः** जैसे कि "वायौ रूपं नाऽस्ति" यहाँ पर पहले वायु में रूप का आरोप करके फिर उसका निषेध किया गया है।

6. अभाव और अपवर्ग की पारस्परिक सापेक्षता

न्याय वैशेषिक में निःश्रेयस मुक्ति या अपवर्ग की कल्पना निषेधात्मक

है। अतः कतिपय विद्वानों का यह मत है कि न्यायवैशेषिकों ने अभाव के पदार्थत्व का उपन्यास अपवर्ग की व्याख्या के लिए किया है। मुक्ति का स्वरूप बताते हुए अक्षपाद कहते हैं कि मनुष्य की इच्छा की पूर्ति में जो बाधक है, वह दुःख है और उस दुःख से अत्यन्त विमोक्ष ही अपवर्ग है।[34] उदयनाचार्य ने तो यह भी स्पष्ट किया कि दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही निःश्रेयस है और इस सन्दर्भ में कोई विशेष विवाद भी नहीं है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अपवर्ग की संकल्पना के साथ ही अभाव की संकल्पना भी न्यायवैशेषिक में जुड़ी रही है। "अपवर्ग सुख की प्राप्ति में नहीं, अपितु दुःख की निवृत्ति में है। ऐसा मानना ही यह सिद्ध कर देता है कि यदि अभाव को पदार्थ न माना जाए तो न्याय वैशेषिक के अपवर्ग की सिद्धान्त की स्थापना ही नहीं हो सकती।[35] इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि न्याय वैशेषिक के आरम्भिक ग्रन्थों में अभाव का पृथक् पदार्थ के रूप में उल्लेख न होने पर भी अपवर्ग को अन्तिम लक्ष्य मानने के कारण तथा दुःख के आत्यन्तिक अभाव को ही अपवर्ग मानने के कारण अभाव का पदार्थत्व अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार कर लिया गया था। उत्तरवर्ती न्यायवैशेषिकों ने तो अभाव को न केवल एक पृथक् पदार्थ माना अपितु अपवर्ग की एक पृथक् प्रमेय के रूप में गणना न कर उसको अभाव में ही अन्तर्भूत मान लिया अथवा एक निर्देश में ही दोनों का निर्देश मान लिया। तर्क संग्रह की चन्द्रिका नामक व्याख्या में तो यह स्पष्ट रूप से ही कह दिया गया है कि अपवर्ग दुःख निषेध रूप है अतः वह निषेध रूप अभाव के अन्तर्गत समाविष्ट है।[36]

7. अभाव के पदार्थत्वविरोधी मतों की समीक्षा

बौद्धों के अनुसार अभाव कोई पदार्थ नहीं है। 'यहाँ घट नहीं है' यह वाक्य "खाली भूतल" का संकेत करता है, "घट का न होना" इसका तो कभी भी प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। अभाव या निषेध का तो केवल अनुमान किया जा सकता है। तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर अभाव केवल "खाली भूतल" है और तार्किक दृष्टि से विचार करने पर अभाव "खाली भूतल" का ज्ञान है।[37] बौद्ध विशेषण विशेष्य भाव जैसे किसी सन्निकर्ष को भी स्वीकार नहीं करते। वे अभाव को एक मानसिक कल्पना मानते हैं, बाह्य वास्तविकता नहीं। किन्तु जयन्त भट्ट ने बौद्ध मत का खण्डन करते हुए यह कहा कि अन्य विधि विकल्पों की तरह अभाव की भी स्पष्ट प्रतीति होती है, अतः अभाव को केवल मानसिक विकल्प नही कहा जा सकता।[38]

अद्वैत वेदान्त के आचार्यों के अनुसार अभाव की वास्तविक सत्ता नहीं है। अभाव की प्रतीति व्यावहारिक दृष्टि से सत् होने पर भी वह वास्तविक नहीं है, अपितु, माया के सदृश है। अभाव न तो सत् है और न असत्। वह दोनों प्रकार की ऐकान्तिकता से भिन्न एक बीच का मार्ग है।[39] कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि अद्वैतवेदान्त में अभाव की वस्तुसत्ता उस प्रकार से नहीं मानी गई, जैसी कि वैशेषिक दर्शन में स्वीकृत की गई है।

सांख्य दर्शन के अनुसार कार्य कारण में पहले से ही विद्यमान रहता है। सांख्यों की यह मान्यता है कि भाव और अभाव के बीच अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त दशा का ही अन्तर है। सांख्य में अत्यन्ताभाव जैसी किसी अवधारणा को स्वीकार नहीं किया गया है। अतः सांख्यमतानुसार अभाव एक पृथक् पदार्थ नहीं है।

प्राभाकर मीमांसक अभाव को पृथक् पदार्थ न मानकर उसको आधार से तदात्म रूप मानते हैं। उदाहरणतया जब भूतल में घटाभाव भी प्रतीति होती है तो प्राभकर मीमांसकों के अनुसार वहाँ पर अभाव कोई नवीन वस्तु नहीं अपितु भूतल का घट रहित रूप ही है। अतः अभाव अधिकरण कैवल्यमात्र है, अन्य कुछ नहीं। अभाव को अधिकरणात्मक मानने में कल्पनालाघव भी है, क्योंकि अभाव के जो आधार (भूतल आदि) होते हैं, वे तो पदार्थ हैं ही। अतः उनके अतिरिक्त अभाव को पदार्थ मानने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।[40] अभाव को एक पृथक् पदार्थ मानने पर अनवस्था दोष भी प्रसक्त हो जाएगा। क्योंकि जैसे घटाभाव घट से पृथक् माना जाएगा वैसे ही घटाभाव का अभाव भी घटाभाव से पृथक् होगा और इस प्रकार अनवस्था दोष उपस्थित हो जाएगा। सांख्य योग और प्राभाकर मीमांसकों के उपर्युक्त तर्कों का निरसन करते हुए न्यायवैशेषिक के आचार्य यह कहते हैं कि अनन्त आधारों के स्वरूप को अभाव मानने से भूतल में घटाभाव भूतलस्वरूप तथा पर्वत में घटाभाव पर्वत स्वरूप होगा अतः इनकी अपेक्षा अभाव को ही पदार्थ मानने में लाघव है। घटाभाव को अधिकरणस्वरूप मानने पर आधार और आधेय की पृथक्-पृथक् रूप से प्रतीति भी नहीं हो सकती। अन्नंभट्ट तो यहाँ तक कहते हैं कि अभाव का पृथक् पदार्थत्व माने बिना तो सांख्य के कैवल्य का निर्वाचन भी नहीं हो सकेगा।[42] श्रीधराचार्य का यह कथन भी महत्त्वपूर्ण है कि भूतल में कण्टकाभाव के प्रत्यक्ष के लिए जिस कारण समूह की आवश्यकता होती है उसमें भूतल के साथ-साथ कण्टकाभाव के साथ भी इन्द्रिय का सन्निकर्ष

आवश्यक है। भूतल पर जिस समय कण्टक रहता है, उस समय कण्टकाभाव नहीं रहता। भूतल का प्रत्यक्ष होने पर भी कण्टकाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः अभाव एक पृथक् एवं स्वतन्त्र पदार्थ है। अभाव आधार स्वरूप नहीं है, यह इन तथ्य से भी सिद्ध होता है कि भूतल का प्रत्यक्ष होने पर भी कण्टकाभाव का प्रत्यक्ष नही होता।

जिस इन्द्रिय से जिस वस्तु का ग्रहण होता है, उसी इन्द्रिय से उस वस्तु के अभाव का भी ग्रहण होता है। यदि अभाव को आधार स्वरूप माना जाएगा तो अभाव का ग्रहण उस इन्द्रिय से न हो सकेगा, जिससे कि उसके प्रतियोगी की प्रतीति होती है।

प्राभाकर मीमांसकों द्वारा निर्दिष्ट अनवस्था दोष के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिकों का यह कथन है कि द्वितीय अभाव (यानी घटाभावाभाव) घट के समान ही होता है। घटाभाव यदि भूतल ही माना जाए तो घट के भूतल पर रहने पर भी अभाव की प्रतीति होनी चाहिए, जो कि अनुभव के विपरीत है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्राभाकर मीमांसकों आदि ने अभाव के पदार्थत्व के सम्बन्ध में जो आपत्तियाँ उठाई हैं, वे न्याय वैशेषिकों की दृष्टि से अमान्य हैं।

8. अभाव के भेदोपभेद

पदार्थ के रूप में अभाव का स्पष्ट रूप से उल्लेख न करते हुए भी सूत्रकार कणाद ने अभाव के (क) प्रागभाव (ख) प्रध्वंसाभाव (ग) अत्यन्ताभाव तथा (घ) अन्योन्याभाव नामक चार भेद निर्दिष्ट किये। शिवादित्य, उदनाचार्य तथा श्रीधराचार्य ने भी अभाव के इन्हीं चार भेदों का निरूपण किया। विश्वनाथ ने पहले तो अभाव के दो भेद बताये--

(1) संसर्गाभाव और (2) अन्योन्याभाव तथा बाद में संसर्गाभाव के (क) प्रागभाव (ख) ध्वंसाभाव और (ग) अत्यन्ताभाव ये तीन भेद बताये[43] जयन्त भट्ट ने भी अभाव के प्रमुखतः दो ही भेद माने हैं—(1) प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव। उन्होंने अन्य भेदों का भी उल्लेख किया किन्तु उनको प्रागभाव के अन्तर्गत ही समाविष्ट माना।[44] न्यायकन्दलीकार श्रीधराचार्य ने भी अभाव के प्रायः वे ही भेद माने, जिनका उल्लेख सूत्रकार कणाद ने किया था। न्यायवैशेषिक में प्रचलित अभाव के इन चार भेदों का निरूपण निम्नलिखित रूप से उपलब्ध होता है—

क. प्रागभाव

कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व असत् है। यदि कार्य (जैसे घट) अपनी उत्पत्ति से पूर्व सत् यानी विद्यमान होता तो उत्पन्न हुए घट की भाँति अनुत्पन्न घट (यानी मिट्टी के परमाणुओं) में भी क्रिया तथा गुण का सद्भाव दिखाई देता। ऐसा नहीं होता, अतः यह सिद्ध होता है कि उत्पत्ति से पूर्व घट का प्रागभाव होता है। यानी घट नहीं रहता है। प्रागभाव अनादि होते हुए भी अनन्त नहीं, अपित सान्त होता है।[45] क्योंकि प्रतियोगी भूत वस्तु की उत्पत्ति के साथ ही प्रागभाव का विनाश हो जाता है। अन्नंभट्ट के अनुसार प्रागभाग में तीन विशेषताएँ होती हैं—

(क) प्रागभाव अपने प्रतियोगी (जैसे घट) के समवायिकारण (जैसे मिट्टी के परमाणुओं) में रहता है।

(ख) प्रागभाव अपने प्रतियोगी का जनक होता है।

(ग) "कार्य उत्पन्न होगा"—इस प्रकार के कथन का हेतु भी प्रागभाव ही कहलाता है।[46]

इस प्रकार किसी घट को देखकर यह कहा जा सकता है कि घट की उत्पत्ति के पूर्व घट का जो अभाव अनादि काल से चला आ रहा था और घट की उत्पत्ति होते ही नष्ट हो गया वह प्रागभाव कहलाता है।[47] यह समवायि-कारण और कार्य के बीच की दशा है। कार्योत्पादक जिन आठ हेतुओं में प्रागभाव भी एक है, वे इस प्रकार हैं—ईश्वर, ईश्वरेच्छा, ज्ञान, प्रयत्न, अदृष्ट (धर्म अधर्म) काल, दिशा तथा प्रागभाव।

ख. प्रध्वंसाभाव

शिवादित्य के अनुसार सादि और अनन्त को प्रध्वंसाभाव कहा जाता है।[48] श्रीधराचार्य के अनुसार उत्पन्न हो चुके कार्य का अपने स्वरूप से च्युत होना ही प्रध्वंसाभाव है। यह अभाव उत्पत्तिमान् होने पर भी विनाशशील नहीं है, क्योंकि एक बार विनष्ट हो जाने पर ठीक उसी रूप में किसी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती।[49] उदयनाचार्य का यह कथन है कि पूर्वकाल ही जिसकी अवधि है, वह प्रध्वंसाभाव है। वल्लभाचार्य ने भी लगभग ऐसा ही कहा है।[50] विश्वनाथ ने जन्य अभाव को ध्वंसाभाव कहा है।[51] कार्य के नष्ट होने पर यह उत्पन्न होता है। अतः यह सादि है। किन्तु एक बार उत्पन्न हो जाने पर ध्वंसाभाव का कभी नाश नहीं होता। अतः यह

अनन्त है। अन्नंभट्ट ने प्रागभाव के समान प्रध्वंसाभाव की भी तीन विशेषताएँ बताई हैं—

क. प्रध्वंसाभाव अपने प्रतियोगी कार्य के ध्वंस से जन्य होता है।

ख. यह भी अपने प्रतियोगी कार्य के समवायिकारण में पाया जाता है।

ग. "नष्ट हो गया"—इत्यादि व्यवहार का हेतु यही प्रध्वंसाभाव होता है।

प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव कार्य से सम्बद्ध हैं। प्रागभाव कार्य की उत्पत्ति से पूर्व रहनेवाला अभाव है और प्रध्वंसाभाव कार्य के नाश के पश्चात् रहनेवाला अभाव है। रघुनाथ शिरोमणि ने "प्रध्वंसाभाव के प्रागभाव" तथा 'प्रागभाव के प्रध्वंसाभाव' की चर्चा करते हुए यह प्रतिपादित किया कि इन दोनों स्थितियों को भी माना जाना चाहिए, क्योंकि घटादि की सत्व दशा में सम्बद्ध घट का न तो प्रागभाव दिखाई देता है न ध्वंसाभाव। वेणीदत्त ने भी रघुनाथ के मत का समर्थन किया।[52] किन्तु इन कथनों से उत्तरवर्त्ती आचार्यों का ऐकमत्य नहीं पाया जाता।

ग. अत्यन्ताभाव

शिवादित्य के अनुसार अनादि और अनन्त संसर्गाभाव को अत्यन्ताभाव कहा जाता है।[53] उदयनाचार्य का यह कथन है कि पूर्वकाल और उत्तरकाल इन दोनों अवधियों से रहित संसर्गाभाव ही अत्यन्ताभाव हैं।[54] विश्वनाथ ने अपने मन्तव्य को इस प्रकार प्रकट किया कि नित्य संसर्गाभाव ही अत्यन्ताभाव है।[55] अन्नंभट्ट ने यह बताया कि जिसका प्रतियोगी तीनों कालों में से किसी से भी संस्पृष्ट नहीं होता, वह अत्यन्ताभाव कहलाता है।[56]

अभाव के ये तीनों भेद संसर्गाभाव के अन्तर्गत समाविष्ट हैं। संसर्गा उन सम्बन्धों का सामान्य नाम है, जिनके आधार पर कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु में रहती है। उदाहरणतया घट अपने अधिकरण भूतल में संयोग सम्बन्ध से रहता है और गन्ध अपने अधिकरण पृथ्वी में समवाय सम्बन्ध से रहती है, अतः संयोग और समवाय वृत्तिनियामक सम्बन्ध हैं। उपर्युक्त तीनों प्रकार के संसर्गाभाव में संयोग आदि सम्बन्धों से प्रतियोगी के रहने का निषेध होता है।

घ. अन्योन्याभाव

परस्पर वर्तमान दो द्रव्यों में एक-दूसरे का जो अभाव रहता है, वह अन्योन्याभाव कहलाता है। उदाहरणतया घट पट नहीं है, ऐसे कथनों में घट

का पट में और पट का घट में अभाव है। इसको तादात्म्याभाव भी कहा जा सकता है। शिवादित्य के मतानुसार तादात्म्य का निषेध ही अन्योन्याभाव है।[57] उदयनाचार्य ने तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिकाभाव को अन्योन्याभाव कहा है।[58] विश्वनाथ और अन्नंभट्ट ने भी लगभग इन्हीं शब्दों में अन्योन्याभाव की परिभाषा दी है।[59] तादाम्य का अर्थ है—तत्स्वरूप होना, जैसे कि घट स्वरूप घट ही हो सकता है। अर्थात् घट में घट ही तादाम्य सम्बन्ध से रह सकता है। पट जैसी कोई दूसरी वस्तु तादात्म्य सम्बन्ध से घट में नहीं रह सकती। अन्योन्याभाव नित्य ही होता है, क्योंकि दो वस्तुओं के बीच तादात्म्य का अभाव कभी भी नष्ट नहीं होता है। इतरेतराभाव से अत्यन्ताभाव के पार्थक्य का निर्देश करते हुए न्यायकन्दलीकार श्रीधराचार्य यह कहते हैं कि "जहाँ प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों की सत्ता रहती है, किन्तु एक के तादात्म्य का दूसरे में निषेध किया जाता है, वहाँ इतरेतराभाव माना जाता है, जबकि अत्यन्ताभाव में सर्वथा असद्भूत, यानी केवल बुद्धि में आरोपित वस्तु का किसी आश्रय में यह कभी भी इस प्रदेश में नहीं है—इस प्रकार का प्रतिषेध रहता है। जैसे—द्रव्यादि छः पदार्थों से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है।

अन्योन्याभाव अत्यन्ताभाव से भिन्न प्रकार के सम्बन्ध पर आश्रित रहता है। अन्योन्याभाव में एक वस्तु दूसरी में तादात्म्य सम्बन्ध से रहने वाले अभाव की प्रतियोगी होती है। जबकि अत्यन्ताभाव में वह संयोग या समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले अभाव की प्रतियोगी होती है। उदाहरणतया 'भूतल घट नहीं हैं' इस प्रतीति में दोनों के तादात्म्य का निषेध किया गया है, जबकि "भूतल पर घट नहीं है" इस प्रतीति में तादात्म्य का ही नहीं, अपितु संयोग आदि सभी प्रकार के सम्बन्धों का निषेध किया गया है। अभिप्राय में भेद न होने पर भी वाक्य विन्यास या कथन विधि के भेद से अभाव का नाम बदल जाता है। उदाहरणतया "पट में घटत्व नहीं है"। अथवा "पट घट नहीं है"। इन वाक्यों का आशय एक ही है। फिर भी निषेध के कथन भेद से अभाव का नाम बदल जाता है। प्रथम वाक्य अत्यन्ताभाव का उदाहरण है, जबकि दूसरा वाक्य अत्योन्याभाव का। इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अत्यन्ताभाव में संसर्ग का और अन्योन्याभाव में तादात्म्य का निषेध होता है।

9. अभाव की प्रत्यक्षगम्यता

वैशेषिक सूत्रकार कणाद ने अभाव का एक पृथक् पदार्थ के रूप में उल्लेख न करने पर भी उसके चार प्रकारों का परिगणन स्पष्ट रूप से किया और यह भी बताया कि अभाव के ये चारों भेद प्रत्यक्षगम्य हैं।[60] इसके विपरीत प्रशस्तपाद ने यह कहा कि "जैसे उत्पन्न हुआ कार्य, कारण के सद्भाव में लिङ्ग होता है, वैसे ही अनुत्पन्न कार्य कारण के असद्भाव में लिङ्ग होता है। और इस प्रकार यह मत प्रकट किया कि अभाव अनुमान का विषय है।"[61] किन्तु प्रशस्तपाद ने अभाव के पृथक् पदार्थ का निर्देश नहीं किया और उत्तरवर्ती वैशेषिकों को प्रशस्तपाद का यह मत भी स्वीकार्य नहीं हुआ कि अभाव अनुमान का विषय है फलतः उन्होंने अभाव को एक पृथक् पदार्थ मानने के साथ-साथ यह भी निरूपित किया कि अभाव प्रत्यक्षगम्य है। वैसे किरणावली में यह भी कहा गया है कि अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष से भी हो सकता है और अनुमान से भी।[62] तथापि न्यायवैशेषिक की सामान्य मान्यता यह है कि अभाव प्रत्यक्षगम्य है। विशेषण विशेष्य भाव सन्निकर्षमूलक प्रत्यक्ष से अभाव का प्रत्यक्ष होता है—इस बात का स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम न्यायवार्तिक में उपलब्ध होता है। उद्योतकर ने ही संयोग, संयुक्तसमवाय संयुक्तसमवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय तथा विशेषण-विशेष्य भाव इन छः सन्निकर्षों का विधिवत् परिगणन किया।[63] प्रथम तीन सन्निकर्ष संयोग सम्बन्ध पर, चतुर्थ और पंचम समवाय सम्बन्ध पर, तथा अन्तिम सन्निकर्ष विशेषणता पर आधारित है। प्रथम से द्रव्य का, द्वितीय से गुण कर्म का, तृतीय से गुणों की जाति यानी गुणत्व का, चतुर्थ से शब्द गुण का, पंचम से शब्दत्व का, तथा छठे से अभाव का प्रत्यक्ष होता है।[64] अभाव का सीधा प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः न्यायवैशेषिक में यह माना जाता है कि अभाव का उसके आश्रय द्रव्य के विशेषण के रूप में प्रत्यक्ष होता है।[65] नैयायिक समवाय का प्रत्यक्ष भी इसी विधि से मानते हैं।

उद्योतकर तो स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि जिस इन्द्रिय से किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होता है, उसी से उस वस्तु की जाति तथा अभाव का भी प्रत्यक्ष होता है।[66] अभाव की अनुमेयतापरक प्रशस्तपादप्रवर्तित मान्यता का निरसन करते हुए श्रीधराचार्य ने यह कहा कि भूतल का ज्ञान इन्द्रियसन्निकर्ष से होता है। यदि भूतल पर घट नहीं है तो घट के अभाव का ज्ञान भी प्रत्यक्ष से ही क्यों न मान लिया जाए?[67]

भाट्ट मीमांसकों ने अभाव के पदार्थत्व को स्वीकार करते हुए भी अभाव की प्रत्यक्षग्राह्यता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। उनका यह कथन है कि अभाव और इन्द्रिय के बीच कोई सम्बन्ध नहीं रह सकता। नैयायिकों ने जिस विशेषणता सिद्धान्त की कल्पना की है, वह मीमांसकों को स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि अभाव का कोई रूप रंग नहीं होता। स्वरूपतः वह प्रत्यक्ष-योग्य सभी गुणों से रहित है। विशेषण-विशेष्य भाव कोई सन्निकर्ष नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध के केवल तीन ही रूप हो सकते हैं—संयोग, समवाय तथा इन दोनों का संयुक्तरूप। अद्रव्य होने के कारण अभाव भूतल के साथ संयुक्त नहीं हो सकता और अगुण होने के कारण वह भूतल में समवेत भी नहीं हो सकता, विशेष्य-विशेषणभाव कोई ईकाई भी नहीं है, क्योंकि विशेषणभाव केवल विशेषण में और विशेष्यभाव केवल विशेष्य में रहता है। अतः भाट्ट मीमांसकों के अनुसार अभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इन तर्कों के आधार पर अभाव के प्रत्यक्षत्व का निरसन करते हुए भाट्ट मीमांसकों ने यह भी कहा कि निषेधस्वरूप पदार्थ का ग्रहण निषेधात्मक प्रमाण से ही होना चाहिए जिसको मीमांसकों ने अनुपलब्धिनामक प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। अभाव है और उसका ज्ञान किसी अन्य प्रमाण से नहीं होता अतः अभाव स्वयं ही एक प्रमाण है। वही अनुपलब्धि कहलाता है।[68] मीमांसकों के मत का निरसन करते हुए जयन्त भट्ट प्रभृति नैयायिकों ने कहा कि "अभाव अवस्तु है, किन्तु उसके साथ सन्निकृष्ट न होने पर भी चक्षु से अभाव की प्रतीति तो होती है। इस प्रकार अभाव का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। रूप के न होने और साक्षात् चक्षुसंयोग के न होने पर भी विशेषण-विशेष्यभाय सन्निकर्ष से अभाव का प्रत्यक्ष होता है (अनुपलब्धि के प्रमाणत्व का विस्तृत विवेचन आठवें अध्याय में किया गया है)।

मीमांसकों और न्यायवैशेषिकों में अनुपलब्धि के प्रमाणत्व पर मतभेद उत्तरवर्ती काल में भी बने रहे हैं। नैयायिक चार ही प्रमाण मानते हैं, किन्तु भाट्ट मीमांसकों ने अनुपलब्धि सहित छः प्रमाण माने हैं। इस प्रकार अभाव की प्रत्यक्ष ग्राह्यता के सिद्धान्त पर सभी दर्शनों का ऐकमत्य नहीं है, फिर भी नैयायिकों ने और प्रशस्तपाद को छोड़कर अन्य वैशेषिकों ने अभाव को प्रत्यक्ष ग्राह्य ही माना है।

10. अभाव का तात्त्विक महत्त्व

वस्तुतत्त्व या सत्य के अन्वेषण में निषेध (नेति-नेति) की प्रक्रिया का भी

अपना विशिष्ट महत्त्व है। ऐसे दार्शनिकों की संख्या काफी बड़ी है, जिन्होंने निषेध या शून्य को दार्शनिक चिन्तन का प्रेरक माना है। हेगेल के अनुसार निषेधात्मकता ही विश्व का सार है।[69] भाव पदार्थों का ग्रहण प्रमाणों के द्वारा स्वतन्त्र रूप से हो जाता है, किन्तु अभाव का ग्रहण प्रतियोगी के प्रतिषेध के रूप में ही होता है। भाव पदार्थ स्वतः गृहीत होते हैं, जबकि अभाव का ग्रहण प्रतियोगी भाव के निषेध पर आधारित होता है। इस प्रकार यद्यपि प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में अभाव पर चिन्तन किया गया है, फिर भी वैशेषिक दर्शन में भाव की तरह अभाव की भी वस्तुसत्ता मानी गई है। हाँ, भाव और अभाव में यह अन्तर तो वैशेषिकों ने भी माना ही है कि अभाव का ज्ञान भावपरतन्त्र होता है। प्रतिषेध रूप अभाव का तो यह प्रमुख लक्षण है कि वह उसी के अधीन है, जिसका वह प्रतिषेध करता है। प्रतिषेध के बिना अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता।[70] न्यायवार्तिककार ने इसी तथ्य को इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि भाव स्वतन्त्र होता है और अभाव परतन्त्र। भाव की सत्ता उसकी अपनी उपलब्धि की नियामक है, जबकि अभाव की सत्ता में उसके प्रतियोगी की उपलब्धि नियामक है। इस प्रकार भाव के समान अभाव का भी अपना महत्त्व है और उसको अपेक्षित मान्यता वस्तुवादी न्याय वैशेषिक में ही दी गई है।

चौदहवें अध्याय के सन्दर्भ

1. History and Bibliography of the Nya Vaisheshik Literature, M. M. Gopinath Kaviraj, Vol. II p. 117.
2. वैं०सू० 1.1.4
3. वैं०सू० 5.2.18
4. Problem of Negation as a seperate category in vaisheshik system, P. 463
5. वस्तुतो मोक्षस्याभावरूपतया सोऽभ्यर्हित:, न्यायलीलावती प्रकाश, पृ० 17
6. (क) प्रतिज्ञातं हि महर्षिणा यद् भावरूपं तत्सर्वममिधास्यामि, व्योमवती
   (ख) महर्षिणा प्रतिज्ञातं हि तेन-यद्भावरूपं तत् सर्वममिधास्याम: ।
7. भावोपसर्जनतया प्रतिभासनात्, व्योमवती, पृ० 20
8. अभावस्तु स्वरूपवानपि पृथक् नोद्दिष्ट: । प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वात्, न तु तुच्छत्वात्, किरणावली, पृ० 6
9. लक्षणावली प्रकाश, पृ० 26
10. Buddhist Logic, Vol. I, p. 93
11. अभावस्य पृथगनुपदेम: भावपारतन्त्यात्, ततु अभावात्, न्या०क०पृ०18
13. It was under a metaphysical, rather than a logical necessity that abhāva had to be postuleted in this system and the necessity thus felt, was two fold arising (a) from the fundamental assumption of the school that moksha is really negative and (b) from its doctrine of Asatkārsyavāda, GHBNV p. 25
13. अभिधेय: पदार्थ: । स द्विविध:—भावाभावभेदात् । तत्र नञर्थविषयत्वरहितप्रत्ययविषयो भाव: । स षोठा द्रव्यादिभेदात् तथा नञर्थप्रत्ययविषयोऽभाव: । लक्षणावली, पृ० 1–2

14. न्यायभाष्य पीठिका 1.1.1
15. D. N. Shastri, C.I.R., p 377
16. Sterbatsky, F. Buddhist Logic, Vol. I, p. 92-93
17. Bhattacharya. J. B.; Negation, P. 13.
18. संविदेव भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्, न्या० वा०ता०टी०; न्या० सू० 2.1.36
19. All judgements refer to reality and negative judgements form no exception to this rule. I.P.S. Vol. I. 138.
20. (क) कारणाभावात् कार्याभावः वै०सू० 1.2.1

    (ख) असतः क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम्, वै०सू० 9.1.3
21. वै०सू० 9.1.1–10
22. असत्यर्थे नाभाव इति चेत् ?. न-अन्यलक्षणोपपत्तेः न्या०सू० 2.2.9
23. अभावोऽप्यनुमानमेव, प्र० पा० भा०, पृ० 180
24. प्रतियोगिज्ञानाधीनज्ञानोऽभावः स० प०, पृ 62
25. नञर्थप्रत्ययविषयोऽभावः, लक्षणावली, पृ० 26
26. नास्तीति ज्ञानगम्यत्वम्, न्या० मं० भाग–1, पृ० 56
27. अथाभावो भावात्मैव, त०चि०
28. द्रव्यादिषट्कान्योन्याभाव इति, न्या० सि० मु० पृ० 69
29. अभावस्य तु प्रतिषेधस्वभावस्य स्वरूपमेव यस्यायं प्रतिषेधः स्यात्तदधीनम्। अतस्तत्प्रतिषेध्यमन्तरेण तदभावस्य स्वरूपान्तराभावात् न्या० क० पृ० 545
30. समवायान्योऽसमवाय्यभावः, मानमनोहर, पृ० 134
31. असमवायत्वे सत्यसमवायित्वम्, स०द०स०, पृ० 444
32. (क) वैशेषिकदर्शन में पदार्थ निरूपण, शशिप्रभा कुमार, पृ० 559

    (ख) Shivaditya has done a great service to the realists of the Nyaya-Vaisheshika schools of thought by shifting the dependent nature of negation from the

side of existena to the side of consciousness, Negation, p. 14.

33. Just as the Madhyamika emphasises the denial aspect of negation, the Nyaya-Visheshika may be said to be emphasising the commitment aspect of negation in a somewhat unique way, Motilal, B. K., EIGI PA, p. 164.

34. बाधनालक्षणं दुःखम् । तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः न्या०सू० 1.1.21

35. अतिरिक्ताभावानङ्गीकारे भोक्षस्यासाध्यतापत्तेश्च, न्या०कौ० पृ० 123

36. त०स० चन्द्रिका व्याख्या (मुकुल भट्ट गाडगिल)
निर्णयसागर, बम्बई, 1912, पृ० 86

37. Bhattachrya, Negation, p. 20

38. न्या० मं० भाग–1, पृ० सं० 51

39. Negation, p. 70

40. केवलाधिकरणादेव नास्तीति व्यवहारोपपत्तावभावो न पदार्थान्तरम्—इति गुरवः, त०दी०पृ० 63

41. (क) घटो हि न प्रतीयते तदभावस्तु प्रतीयते, न्या०मं०भाग-1, पृ० 58

(ख) नन्वस्तु अभावानामाधिकरणात्मकत्वं लाधवादिति चेत्, न्या० सि० मु० पृ० 75

(ग) अभावाभावो भाव एव नातिरिक्तः अनवस्थाप्रसंगात् त० दी० पृ० 63

(घ) अनन्ताधिकरणात्मकत्वकल्पनाऽपेक्षयाऽतिरिक्तत्वकल्पनाया एवं लाधीयस्त्वात् न्या० सि०मु० पृ० 75

42. अभावानङ्गीकारे कैवल्यस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्, त०दी० पृ० 63

43. अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः ।
प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च ।
एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते ॥

44. उत्पन्नस्य विनाशो वा तदनुत्पाद एव वा।
अभावस्तत्वतोऽन्ये तु भेदास्त्वौपाधिकाः मताः।
न प्रागभावाद् अन्येतु मिद्यन्ते परमार्थतः ॥

न्या० मं० भाग-1, पृ० 59

45. अनादिः सान्तः प्रागभावः, स०प०

46. प्रतियोगिसमवायिकारणवृत्तिः प्रतियोगिजनको भविष्यतीति व्यवहार-हेतुः प्रागभावः, त०दी० पृ० 6

47. (क) विनाशयभावत्वं प्रागभावत्वम्, न्या० सि० मु०

(ख) उत्तरकालावधिरभावः प्रागभावः, लक्षणावली, पृ० 26

48. सादिरनन्तः प्रध्वंसाभावः, स०प०

49. उत्पन्नस्य रूपच्युतिः प्रध्वंसाभावः, सचोत्पत्तिमानप्यविनाशी भावस्य पुनरनुपलम्भात् न्या० कं० पृ९ 556

50. (क) पूर्वकालावधिरभावः प्रध्वंसाभावः, लक्षणावली. पृ० 26

(ख) प्रागेकावधिरभावो ध्वंसः, न्या० ली० पृ० 567

51. जन्याभावत्वं ध्वंसत्वम्, न्या० सि० मु० पृ० 73

52. ध्वंसप्रागभावयोश्चातिरिक्तौ एव प्रागभावध्वंसौ घटादेः सत्वकाले तस्य प्रागभावध्वंसौ न स्तः इत्यबाधिताभावप्रत्ययात्

प०त०नि० पृ० 69, तथा प०मं० पृ० 28

53. अनादिरनन्तः संसर्गाभावोऽत्यन्ताभावः, स०प० पृ० 86

54. उभयावधिरहितः संसर्गाभावोऽत्यन्ताभावः, लक्षणावली, पृ० 26

55. नित्यसंसर्गाभाववत्वंमत्यन्ताभावत्वम्, न्या० सि० मु० पृ० 73

56. त्रैकालिक संसर्गावच्छिन्न प्रतियोगिताकोऽन्यन्ताभावः त०स० पृ० 62

57. तादात्म्यनिषेधोऽन्योन्याभावः, स० प० पृ० 87

58. लक्षणावली

59. अन्योन्याभावत्वं तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिकाभावत्वम्,
न्या॰ सि॰ मु॰ पृ॰ 72

तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकोऽन्योन्याभाव: यथा घट: पटो न भवतीति, त॰स॰ पृ॰ 62

60. वै॰ सू॰ 9.1.6-9

61. अभावोऽप्यनुमानमेव यथात्पन्न कार्य, कारणसद्भावे लिङ्, गम्, एवम् अनुत्पन्नं कार्य, कारणासद्भावे लिङ् गम्, प्र॰पा॰भा॰ पृ॰ 180

62. सचाभाव: क्वचित् प्रत्यक्ष: क्वचिच्चानुमानिक इति लोकसिद्ध मेवेत्यर्थ कि॰ पृ॰ 327

63. न्या॰ वा॰, न्या॰ सू॰ 1.1.4

64. (क) भाववत् अभावोऽपि इन्द्रियग्रहणयोग्य एव। कार्यदर्शनाद् एव चास्येन्द्रिय सम्बन्धोऽपि कश्चित् कल्पयिष्यते, न्या॰क॰पृ॰ 544

(ख) न्या॰ क॰ पृ॰ 463

65. तदभावविशिष्ट भूतलग्रहणम्, न्या॰क॰ पृ॰ 544

66. येनेन्द्रियेण या व्यक्ति: गृह्यते, तेनैवेन्द्रियेण तज्जाति: तदभावोऽपि गृह्यते, न्या॰ वा॰ 1.1.4

67. अपि चेन्द्रियसन्निकर्षाद् उपलभ्यमाने भूतलेऽभावज्ञानमपि भवति, अघटं भूतलम् इति तत्र भूतलस्येवाभावस्यापि प्रत्यक्षता किं नेष्यते, न्या॰ क॰ पृ॰ 544

68. प्रमाण पंचकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता॥ श्लो॰ वा॰ अभाव

69. Negation, J. B. Bhattacharya, Introduction, p. I

70. अभावस्य तु प्रतिषेधस्वभावस्य स्वरूपमेव यस्यायं प्रतिषेधः स्यात् तदधीनम् अतः स्तत्प्रतिषेधताभन्तरेण निरूपणमशक्यम्। अयमेव हि भावाभावयोर्विशेषो यदेकस्य विधिरूपतया ग्रहणम् अपरस्य त्वन्य प्रतिषेधमुखेन, न्या० क० पृ० 446-456

71. स्वतन्त्रपरतन्त्रोपलब्ध्यनुयब्धि कारणभावाच्च विशेषः, सत्तु खलु प्रमाणस्यालम्बनं स्वतन्त्रम् असत्तु परतन्त्रमन्यप्रतिषेधमुखेनेति, न्या० वा०, न्या० सू० 1.1.1



